'एषा शंकरभारती विजयते निर्वाणसंदायिनी'
(भगवान शंकर की मोक्षपद देने वाली
यह वाणी विजय को प्राप्त हो)

श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत

॥ श्रीः ॥

विवेकचूडामणिः

पण्डित मनोहरलाल शर्मा M. A.
'गुरुभक्तरत्न' द्वारा विरचित सप्तप्रकरणी
ओंकारी प्रदीपिका सहित।

(अद्वैतवेदान्तसिद्धान्त का सर्वांगीण संपूर्ण ग्रंथ)

प्रकाशक
मनोहरलाल शर्मा
१६२, चित्तरंजन एवेन्यू
कलकत्ता-७

प्राप्ति स्थान :—
महन्त जी
ओंकारमठ (दंडीवाड़ा)
पोस्ट—ब्रजघाट (गढ़मुक्तेश्वर)
जिला—मेरठ

लेखक की अन्य टीकाएँ

१. श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' पर 'ओंकारी प्रदीपिका' (अद्वैतवेदान्त का यह ग्रंथ संन्यासियों तथा प्रौढ मुमुक्षुओं के अभ्यास के लिये परम उपयोगी है।

२. श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'अपरोक्षानुभूतिः' पर 'चन्द्रकान्त प्रदीपिका' (अद्वैतवेदान्त का यह ग्रंथ स्त्री पुरुष सब के लिये उपयोगी है)

३. भगवान वेदव्यासप्रणीत अध्यात्मरामायणान्तर्गता 'श्रीरामगीता' पर 'ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका' (इस ग्रंथ में श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया है—छप रही है)।

प्रथमावृत्ति······१००० विक्रम सम्वत् २०२२ (सन् १९६५)

मुद्रक
जेनरल प्रिण्टिंग वर्क्स प्राइवेट लि०
८३, पुराना चीना बाजार स्ट्रीट,
कलकत्ता—१

आदिगुरु भगवान शंकराचार्य

[श्री गुरुदेव के आश्रम, ओंकारमठ (ब्रजघाट, गढ़मुक्तेश्वर) में श्री ओंकारेश्वर महादेव के मन्दिर में स्थापित आदि-गुरु श्रीमच्छंकरभगवत्पाद]

स्तुति

करोमि कायेन तवांघ्रिसेवां, ब्रवीमि वाचा तव पुण्यनाम।
ध्यायामि मूर्तिं तव हृत्सरोजे, प्रसीद शीघ्रं यतिराज मह्यम् ॥

महात्मा करपात्री स्वामी की सम्मति :—

पण्डित मनोहरलाल शर्मा द्वारा अद्वैत-वेदान्त ग्रंथ 'विवेक-चूडामणि' पर रचित 'सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' तथा 'अपरोक्षानुभूति' पर रचित 'चन्द्रकान्त प्रदीपिका' हिन्दी व्याख्या हमने सुनी। व्याख्या सरल, स्पष्ट, सुन्दर और प्रामाणिक है। मोक्षोन्मुख साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। व्याख्या सुन कर हमारा चित्त हर्षित हुआ।

करपात्री स्वामी, कलकत्ता, १-१०-६३

श्रीगुरुदेव
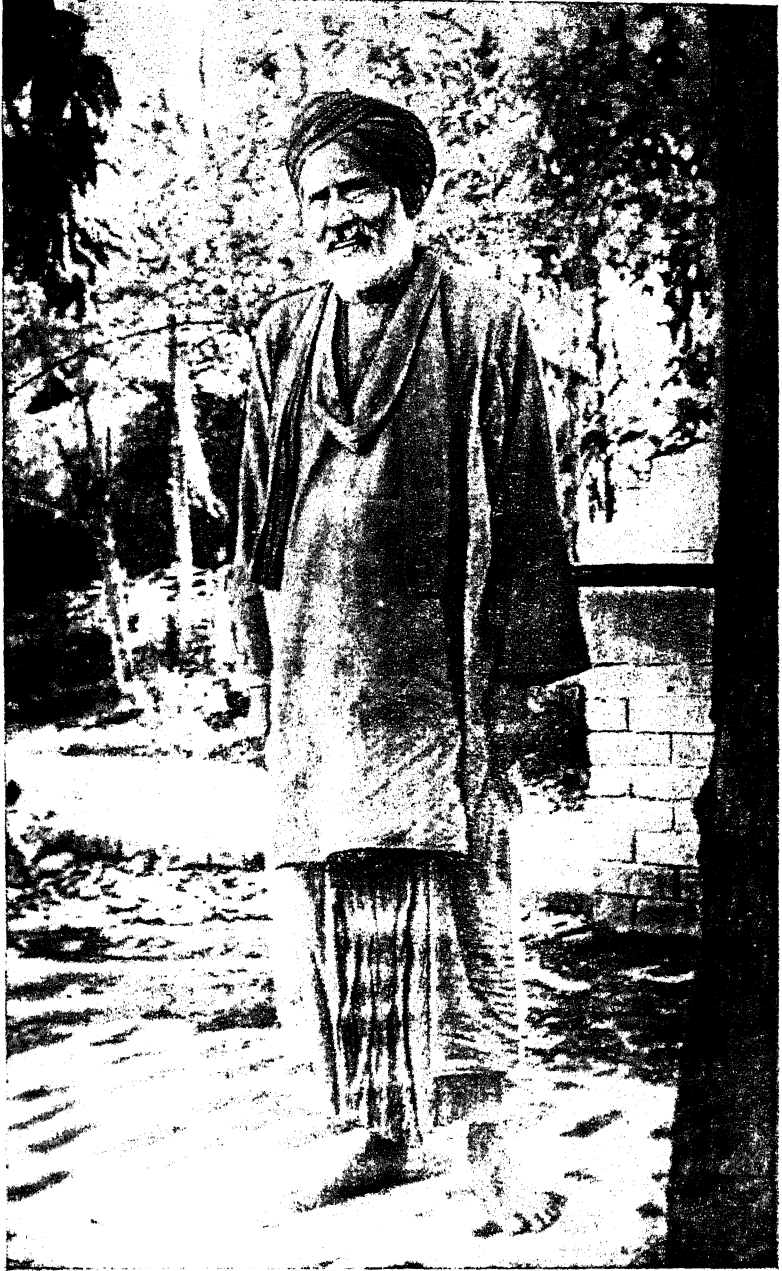
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महामहामण्डलेश्वर महावेदान्तकेसरी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद स्वामी ओंकाराश्रमजी महाराज दंडी, ओंकारमठाधिपति, ब्रजघाट (गढ़ मुक्तेश्वर)

ब्रह्मीभूत तिथि—जन्माष्टमी, विक्रम सम्वत् २०१५

Swami Satyarupananda

श्रीगुरुदेव कौन ?

(आज से ४७ वर्ष पहले । बनारस में दण्डीस्वामियों का अनन्त विज्ञान मठ । उस के अधिपति परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ स्वामी अनन्त विज्ञाना-श्रम वृद्ध दण्डीसन्यासी विराज रहे हैं। अभी-अभी ज्ञानचर्चा समाप्त हुई है और आश्रमवासी, दण्डी–सन्यासीगण उठ कर गये हैं। एक गौरवर्ण, सुगठितगात्र, देवदत्त नाम का युवा ब्रह्मचारी प्रवेश करता है ।)

देवदत्त—स्वामिन् ! नमो नारायणाय ।

स्वामी अनन्तविज्ञानाश्रम—नारायण, कैसे आगमन हुआ ?

देवदत्त—स्वामिन् ! मैं आपसे संन्यास लेने आया हूँ ।

स्वामी जी—संन्यास ! मैं इतनी छोटी आयुवाले को संन्यास नहीं दे सकता ।

देवदत्त—स्वामिन् ! मैं ने तो उपनिषदों में ऐसा सुना है कि ब्राह्मण को जब भी वैराग्य हो जाये, तभी संन्यास ले ले ।

स्वामी जी—क्या उपनिषद् भी जानते हो ?

देवदत्त—कुछ जानता हूँ ।

स्वामी जी—कौन-सी उपनिषद् जानते हो ?

देवदत्त—एक सौ आठ उपनिषदें ।

स्वामी जी—एक सौ आठ ! एक सौ आठ ! (ताली बजाते हैं।) दौड़ो रे संन्यासियो ! दौड़ो रे संन्यासियों ! (संन्यासी लोग शीघ्रता से आते हैं।)

संन्यासीगण—क्या हुआ स्वामिन् !

स्वामी जी—काशी में साक्षात् विश्वनाथ आये हैं। (देवदत्त की ओर संकेत करके) देखो, यह युवक १०८ उपनिषदें जानता है ।

सन्यासीगण (एकस्वर से)—एक सौ आठ ! पर, हाथ कंगन को आरसी क्या ? उपनिषदें मँगा कर परीक्षा लीजिये ।

देवदत्त—पुस्तकों की मुझे आवश्यकता नहीं, मुझे कंठ से याद हैं ।

स्वामी जी—कंठ से ! (ध्यानावस्थित हो जाते हैं) संन्यासीगण उपनिषदें लेकर आते हैं ।

एक संन्यासी—अच्छा, कठोपनिषद् सुनाओ।

देवदत्त—सुल्टी सुनाऊँ कि उल्टी।

संन्यासीगण—रे बाप रे! अच्छा, उल्टी सुनाओ। (स्वामी जी का ध्यान से उत्थान होता है। देवदत्त उपनिषद् सुनाने का उपक्रमण करता है। स्वामी जी बीच में निवारण करके स्नेह से पूछते हैं।

स्वामी जी—वत्स! क्या तुम ने गीता और ब्रह्म-सूत्र भी पढ़े हैं?

देवदत्त—मुझे श्रीगीता जी तथा ब्रह्म-सूत्र भगवान भाष्यकार के भाष्य सहित कण्ठस्थ हैं।

स्वामी जी—हे वत्स! मैं ने बहुत काल से संन्यास देना छोड़ दिया है, पर तुम्हें संन्यास दूँगा। तुम स्वयंज्योतिः हो।

संन्यासीगण—धन्य हो! धन्य हो!

यही ब्रह्मचारी संन्यास लेने के पश्चात् महात्मा श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महामहामण्डलेश्वर महावेदान्तकेशरी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद स्वामी ओंकारेश्वर जी महाराज दण्डी, ओंकारमठाधिपति, ब्रजघाट (गढ़मुक्तेश्वर) नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वामी जी का जन्म दिल्ली से सोलह मील पश्चिम में कंझावला नाम के ग्राम में संवत् १९४५ में धर्मप्राण वेदादिमर्यादा स्थापक ब्राह्मण-कुल में हुआ। इनके पिता का नाम पं० श्रीराम था। ये उत्कट शंकर-भक्त थे। स्वामी जी के दो अन्य भ्राता हुए। बड़े पं० यज्ञदत्त, छोटे पं० चन्दगीराम। छोटे भ्राता ने स्वामी जी से ही संन्यास लिया, और चन्द्रशेखराश्रम नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वामी जी के कुल में किसी को भी सन्तान नहीं हुई, क्योंकि साधारणतः ब्रह्मवेत्ताओं का कुल नहीं चलता और यदि सन्तान हो भी जाये तो वे भी ब्रह्मवित् ही होंगे। योगभ्रष्टों का जन्म ऐसे ही कुलों में होता है। महात्मा चन्द्रशेखर फरवरी १९५४ में ब्रह्मीभूत हो गये। स्वामी जी स्थानीय स्कूलों से मिडिल पास करके बनारस चले गये। वहाँ चार वर्ष व्याकरण पढ़ा। फिर लाहौर ओरियंटल कालिज में छः वर्ष पढ़े और वेदान्त-शास्त्रों का अध्ययन किया। छः महीने पं० जीवनदत्त ब्रह्मचारी की, गंगातट पर नरवरग्राम में स्थित पाठशाला में पढ़े। कुछ काल अध्यापन कार्य भी किया। स्वामी जी का विवाह ग्यारह वर्ष की अबोध आयु में हुआ। दो-तीन वर्ष पीछे स्त्री का देहान्त हो गया। ब्रह्मचर्य अवस्था में स्वामीजी ने धर्मतीर्थों में विशेषकर गंधमादन देवात्मा हिमालय में भ्रमण किया। उसके उपरान्त संन्यास ले लिया।

स्वामी जी से मेरा प्रथम संसर्ग रोहतक में १९३३ में हुआ जब कि मैं गवर्नमेंट कालिज का विद्यार्थी था। इसके पश्चात् २५ वर्ष तक मुझे उनका सत्संग मिला। अन्तिम पाँच वर्षों में तो मेरा तथा अन्य भक्तों का कल्याण करने के लिये वरावर जनवरी के आरम्भ में कलकत्ते आते और मेरे स्थान पर ठहर कर मेरी तथा अन्य भक्तों की सेवा ग्रहण करते। लगभग तीन महीने प्रति वर्ष यहाँ ठहरा करते।

अधिकतर स्वामी जी दिल्ली में यमुना तट पर ही रहते थे, गंगातट से इन्हें वड़ा प्रेम था। इनका संचार मेरठ, रोहतक, गुड़गावाँ जिलों में ही ज्यादा रहा है, वैसे तो इन्होंने समस्त भारत में का भ्रमण किया। अन्त में इन्होंने गंगातट ब्रजघाट (गढ़मुक्तेश्वर) में ओंकाराश्रम मठ की स्थापना की। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी गुरुवार संवत् २०१५ विक्रम (१ मई सन् १९५८) में ओंकारेश्वर महादेव के मन्दिर की स्थापना करके उसी वर्ष ठीक जन्माष्टमी के दिन (१७ सितम्वर, १९५८) ही गंगातट पर ब्रह्मीभूत हो गये। आप ने अपने सामने ही अपने शिष्य स्वामी माधो आश्रम को मठ का महंत नियुक्त किया। स्वामी माधो आश्रम योग्य व्यक्ति हैं, इन्होंने अपने पुरुषार्थ से मठ की उन्नति और प्रसार किया है।

स्वामी जी के सभी सैद्धान्तिक तत्त्व उनके जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में उतरे हुए थे। वालक के सदृश सरल, सूर्य के समान अप्रमादी, प्रारब्ध प्रवाह में निश्चेष्ट वहनेवाले, सर्वभूतों में करुणापूर्ण, जिज्ञासुओं के लिये ज्ञानभूमि शंकर, भक्तों के हितकारी आप भारतवर्ष की एक दिव्य विभूति थे। अन्तःकरण में अकम्प्य अद्वैतनिष्ठा, वाणी में भक्ति तथा व्यवहार में शास्त्रविहित कर्मकाण्ड आपकी विशेषता थी। आप कहा करते कि शास्त्रमार्गानुगमन निष्कण्टक पथ है। अद्वैतवेदान्त की सूक्ष्म और उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में आपको दक्षहस्त माना जाता था, और उसके निमित्त दूर-दूर से साधकवृन्द आपके पास आते थे।

कई वार आपसे अनुरोध किया गया कि वेदान्त विषय पर मौलिक ग्रंथों की रचना करें, तो आप यही कहते कि पुरातन महर्षियों ने और सर्वज्ञ आचार्यों ने ब्रह्मज्ञान संबंधी इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध करा रक्खी है कि लिखने को कुछ अवशेष नहीं रहता, अतः प्रधान आवश्यकता उसको समझने, अभ्यास करने और अनुभव में लाने की है।

कलकत्ते के भक्तों ने स्वामी जी से पूछा कि भगवान कृष्ण कौन हैं ? आपने तीन घंटे तक इस विषय पर प्रवचन दिया। लाला परमेश्वरीदास बुआनीवालों ने इसका टेप रिकार्डिंग किया (मशीन में भाषण वन्द किया) और अव इसको 'भगवान कृष्ण कौन ?' शीर्षक वाली पुस्तक में छपाया जा रहा है। भगवान कृष्ण के स्वरूप की इसमें नेत्रोन्मीलिनी मार्मिक आध्यात्मिक व्याख्या की है। ऐसा विशद

और उदार विवेचन विना गम्भीर अध्ययन, प्रौढ़ विचार तथा प्रत्यक्ष अनुभूति के संभव नहीं हो सकता।

आप की साधना विचारप्रधान रही। अन्तःकरण की स्थिरता के लिये उपासना का आश्रय भी लिया। परिपूर्ण यौवनवैभव में संन्यास लेना और उसको निवाहना खांडे की धार पर चलना है। वर्षों तक आपने धातु (पैसा, रुपये) को स्पर्श ही नहीं किया, और न कुटिया वनाई। वैराग्य सम्वल लिये निरन्तर भ्रमण ही करते रहते। भगवान कृष्ण की आपने विशेष उपासना की, कुल देवता होने से भगवान शंकर की विशेष कृपा रही। इनका साक्षात्कार भी हुआ। आप युवाकाल से ही वहुमूत्र रोग से पीड़ित रहे। आप किसी से चरण-स्पर्श नहीं करवाते थे, क्योंकि इससे शक्ति प्रवाह व्यर्थ नष्ट होता था, दूसरे उनको लघुशंका की शिकायत हो जाती थी। वे कहा करते कि जीवन्मुक्त महात्माओं को प्रायः एक असाध्य रोग रहता ही है। देहाध्यास तोड़ने के लिये उस रोग को प्रभु का वरदान समझना चाहिए। भगवान कृष्ण की उपासना करने से उन के आचारण में स्वाभाविक आकर्षण था। भक्तों के प्रति उनका अगाध स्नेह था, उन के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी। परन्तु वह सुख दुःख अदृढ था, वन्धनकारी नहीं। विश्व के प्रति उन का विशुद्धप्रेम था। नैमिषारण्य में प्रथम वार अवधूतशिरोमणि शुकदेव जी द्वारा शक्तिपात किये जाने पर आत्मसाक्षात्कार हुआ। साधारणतः अपने स्वरूप में ही मग्न रहते थे। द्वैतपरक विषयों में अहर्षित, यश-कीर्ति से विरक्त, धनादि में अलोभ और प्रपंच में अरुचि, सकामियों से दूरस्थ और निष्काम साधकों में प्रीतिवान उन का स्वभाव सा वन गया था।

आप न केवल ब्रह्मनिष्ठ महात्मा और अद्वैतवेदान्त के निरुपम विद्वान् ही थे, वरन् निगूढ़ सिद्ध पुरुष भी थे, आप का रोगहारी करस्पर्श तो प्रसिद्ध ही था। रोगी उन के स्पर्शमात्र से व्याधिमुक्त होता था। लाला टेकचन्द्र माजरे वाले प्रातःकाल आप को गंगास्नान के लिये ले जाया करते। एक दिन नहीं आये। किसी ने सूचना दी कि उन को बुखार है। आप तुरन्त उठे, और विना चौला पहने नग्नचरण उन के घर पहुँचे, बुखार १०२ डिग्री था। आप बोले, यदि तुम ने बुखार नहीं उतारा तो तुम्हारा नाम भक्तों की सूची से काट दूंगा, और उन को स्पर्श कर दिया। बुखार नदारद। ला० टेकचन्द चारपाई से उठे, स्नान और भोजन किया और स्वस्थ हो गये।

निवृत्तिमार्गी होने से प्राणान्तक संकट के विना अपने ईश्वरीय भाव का प्रदर्शन नहीं करते थे। फरवरी १९५६ में एक वार स्वामी जी को कलकत्ते से

भगवान तारकेश्वर (शंकर) के दर्शन के लिये ले गये। तारकेश्वर का मन्दिर कलकत्ते से पश्चिम में ३९ मील दूर है। हम भी साथ थे। ला० परमेश्वरी दास बुग्रानीवाले स्वयं गाड़ी का संचालन कर रहे थे। दर्शनोपरान्त जब वापिस चलने लगे तो आप ने कहा कि गाड़ी सावधानी से चलाना। परमेश्वरी दास जी एक विनयी मधुरभाषी उदार और चतुर व्यक्ति हैं। उन्होंने नम्रतापूर्वक हंस कर कहा कि गाड़ी में साक्षात् शंकर बैठे हैं, वे स्वयं चिन्ता करेंगे। उन्होंने मोटर को ५० मील की स्पीड से छोड़ दिया। सात आठ मील चलने के उपरान्त देखा कि सड़क के बायें किनारे गौओं का समूह मन्थरगति से जा रहा है। सहसा एक गो-वत्स सड़क के बीच में आन कूदा और गाड़ी के सन्मुख आ गया। बहुत बचाने की कोशिश की। पूर्ण ब्रेक भी लगाये, फिर भी मोटर के नीचे वह वत्स आ ही तो गया। 'डांय' कर के हृदय-विदारक चीत्कार हुआ। हड्डियां टूटने के कड़ाके सुनाई पड़े। कलेजा धक् से रह गया। अहो! अच्छे दर्शन करने गये गो-हत्या का महापातक सिर पर लाद चले। ला० परमेश्वरी दास के मुख पर हवाइयां उड़ने लगीं। उन्होंने झट से गाड़ी को बैक किया। लो! आश्चर्य है! वह वत्स गेंद की तरह उछला और सड़क पर भाग उठा। हम अवाक् रह गये। कहीं इस को वायु तो नहीं भड़क उठा, परन्तु देखा कि वह वत्स एक फर्लांग भागने के पश्चात् सड़क के एक किनारे स्वाभाविक स्वस्थगति से चलने लगा। पाप का पर्वत सा भय-भार विलीन हुआ। कुछ देर देख कर चल पड़े, स्पीड का भूत काफूर हो गया।

सन् १९५७ के आरम्भ में शिवरात्रि के समीप लाला मानसिंह माजरे वाले स्वामी जी को जगन्नाथ पुरी धाम ले गये। शिवरात्रि से अगले दिन स्वामी जी ला० मानसिंह को जगन्नाथ जी के मन्दिर में ले गये। मन्दिर में सन्नाटा था, भोग लगाते समय मन्दिर के प्रबन्धक दर्शकों से मन्दिर खाली करा देते हैं। स्वामी जी और मानसिंह जी दोनों ही पंडों से अदृश्य थे। भगवान के समक्ष पहुँच कर खड़े हो गये। स्वामी जी ने दंड प्रणाम तथा मानसिंह जी ने दंडवत् प्रणाम किया। स्वामी जी ध्यानस्थ हो गये। ला० मानसिंह ने देखा कि भगवान के मस्तक से एक महान् प्रकाशवान् दिव्य तेज निकला और स्वामीजी के मस्तक पर गिरा, और फिर उस प्रकाश में दोनों ही लय से हो गये। ला० मानसिंह उस आलोक के दर्शन कर गद्गद हो गये, रोमांच हो गया और हर्षातिरेक से अजस्र अश्रुपात हुआ और सब शरीर पसीने से लथपथ हो गया। वह अचेत से हुए स्वामी जी के चरणों में गिर पड़े, कुछ काल के उपरान्त वह दिव्य प्रकाश विलीन हो गया और ला० मानसिंह जी स्वस्थ हो गये और मन्दिर से लौट आये। स्वामी जी ने कहा

कि यद्यपि दण्डी संन्यासी किस को वर वा शाप नहीं देते ह, तो भी जो तेरी इच्छा हो मांग ले...... ।

पण्डित अम्वाप्रसाद दिल्लीवाले सकुटुम्व वद्रीनारायण की यात्रा के लिये गये । स्वामी जी को भी साथ में ले गये । यात्रा के मध्य में एकादशी का व्रत पड़ा । अम्वाप्रसाद जी की माता ने फलाहार का पूरा थाल भर कर स्वामी जी के समक्ष रख दिया । स्वामी जी ने कहा इतना फलाहार क्यों ? बुढ़िया बोली स्वामी जी ! आप के अतिरिक्त कौन फलाहार करेगा ? पौत्री तो मरी पड़ी है । स्वामी जी ने फलाहार हटाया, सव को एकत्रित किया, और भगवान शंकर की महिमा सुनाने लगे, यद्यपि भक्तजन कथा सुन रहे थे, परन्तु उस कन्या के वियोग में भीतर से रो रहे थे । कथा के उपरान्त स्वामी जी ने कहा, अव भोग लगाओं और अपनी पौत्री को भी भोग दो । लो ! वह कन्या भागती हुई आई और बोली स्वामी जी ! मैं ज्यादा भोग लूंगी । सव ने हर्ष के आंसू बहाए ।

शरीर त्यागने से पहले स्वामी जी नें मुझे दिल्ली से एक पत्र लिखा, परन्तु डाल न सके । लाला शिवशंकर दास सराफ दिल्ली वालों की सावधानी से वह पत्र मुझे उपलब्ध हुआ । उस में मेरे प्रति अन्तिम उपदेश के अतिरिक्त लिखा था कि श्रीकाशीविश्वनाथ उन्हें अपने धाम में चले जाने के लिये आ चुके हैं, और अव यह शरीरलीला समाप्त होगी ।

विनीत—**मनोहरलाल शर्मा**

—०—

विवेकचूडामणिमाहात्म्यम्

सुरासुरैः सागरमन्थनाद्यथा, रत्नानि लब्धानि चतुर्दशैव ।
तथैव वेदोदधिमन्थनाच्च, विवेकचूडामणिरीश्वरेण ।।१।।

जैसे देवता और असुरों ने समुद्र मन्थन कर १४ रत्न प्राप्त किये थे, उसी प्रकार भगवान शंकर ने वेदमहासागर को मन्थन कर 'विवेकचूडामणि' निकाला ।

अनेकभाष्येष्वमलं च विस्तृतं, ज्ञानं त्वदीयं मनुजा कथं तत् ।
प्राप्स्यन्ति तेषां सुखबोधनाय, ग्रन्थस्य चैकस्य दयाविधेया ।।२।।
तथेति तान् शिष्यगणान्दयालु, ग्रन्थं हि चूडामणिनामधेयम् ।
भक्तानुकम्पी प्रकटीचकार चैकीकृतं भाष्यसमस्तसारम् ।।३।।
ग्रंथोयऽममृतरसः श्रुतीनां सार एव च ।
प्रामाण्यमपि ग्रंथस्य श्रुतेः सादृश्यमेव हि ।।४।।

हे प्रभो ! आप को अद्वैत सिद्धान्त आप के अनेकों भाष्यों में विस्तृत हैं । उसको अचिरायु मनुष्य कैसे प्राप्त करेंगे । हे कृपालो ! उनके सुगम बोध के लिये आप एक ऐसे ग्रंथ की रचना करें जिस में आप के समूचे सिद्धान्त एक जगह एकत्रित हों । इस प्रकार शिष्यों से प्रार्थना किये जाने पर भक्तों पर दया करनेवाले करुणानिधि भगवान शंकर ने 'ऐसा ही हो' कह कर सर्व सिद्धान्तों का सार विवेकचूडामणि नामक ग्रंथ को अन्त में प्रकट किया ।

यह ग्रंथ सब श्रुतियों का निचोड़ा हुआ अमृतरस है और इस के श्लोक श्रुतियों के तुल्य प्रामाणिक हैं ।

श्रवणादित्रयं चव जीवन्मुक्तिगवेषणा ।
विविधा विषयाश्चान्ये पूर्णरूपेण योजिताः ।।५।।

इस में श्रवण मनन निदिध्यासन, जीवनमुक्ति तथा अन्य संबंधित विषय पूर्णरूप से समावेशित हैं ।

विज्ञस्वरूपस्य विबोधयित्रीं मोक्षार्थिपुंसामभिलाषदात्रीम् ।
विवेकचूडामणिनामधेयां नुमो वयं भेदविभञ्जनीम्वै ।।६।।

विशिष्ट ब्रह्म स्वरूप वताने वाली मुमुक्षुओं को परमशान्ति देनेवाली भेदभ्रम नाश वाली श्रीविवेकचूडामणि को हम प्रणाम करते हैं ।

पठनाच्छ्रवणादस्य नरस्तत्त्वविचारणात् ।
भवाम्बुधिं तरेत्सद्य नात्र कार्या विचारणा ।।७।।

इस ग्रंथ के पठन श्रवण और तत्त्व विचार से साधक संसार सागर से तुरन्त पार होए, इस में सन्देह नहीं करना चाहिए ।

चूडामणिश्च सर्वेषु यथा रत्नेषु शोभते ।
तथैव ज्ञानग्रंथेषु मणिः सर्वत्र राजते ।।८।।

जैसे रत्नों में चूड़ामणि का सर्वोपरि स्थान है, वैसे ही ज्ञान ग्रंथों में विवेक चूड़ामणि का स्थान है ।

शास्त्रजालं महारण्यं जीवनं स्वल्पमात्रकम् ।
मुक्तिमिच्छसि चेच्छीघ्रं भज चूडामणिं सखे ।।९।।

शास्त्र विस्तार महावन के तुल्य है, जीवन भी छोटा ही है, हे सखे ! यदि शीघ्रता से मोक्ष की इच्छा है तो विवेकचूडामणि का आश्रय ले ।

बहुनाऽत्र किमुक्तेन महेशमुखनिस्सृतः ।
ग्रन्थो मुमुक्षुबोधाय न भूतो न भविष्यति ।।१०।।

अधिक क्या कहें, यह ग्रंथ साक्षात् भगवान महेश के मुख से निकला है और मुमुक्षुओं के ज्ञान के लिये ऐसा ग्रंथ न हुआ है और न होगा ।

नानावागमृतैः समुद्धृतकरो मुक्तालिसत्सेवितः
पद्मोद्भासितकर्णिकाररचितो ह्यद्वैतसंशोभितः ।
श्रीमच्छङ्करदेशिकेन्द्ररचित श्चूडामणिद्योतक–
श्चूडान्तं प्रदिशंश्च शास्त्रसकलं ग्रन्थो ह्ययं राजते ।।११।।

नाना प्रकार की वाणीरूपी अमृत से परिपूर्ण मुमुक्षुभ्रमरों से अच्छी प्रकार सेवित कमल में खिले हुए कर्णिकार से रचित अद्वैत से सुशोभित जगद्गुरु श्रीमच्छंकराचार्य के द्वारा रचित सम्पूर्ण शास्त्र को चूडामणिपर्यन्त प्रकाशित करता हुआ यह विवेकचूडामणि नाम का ग्रन्थ सुशोभित है ।

ॐ

॥ श्रीविवेकचूडामणिः ॥

(सप्तप्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका सहित)

विषय सूची

पंचकोश निरूपण (त्वम्' पद का अर्थशोधन)

(१) अन्नमय कोश

५—विविध-प्रकरण

६—स्वनुभव प्रकरण

७ मुक्तावस्था प्रकरण

॥ ॐ ॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत

श्रीविवेकचूडामणिः

(सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका सहित)

मंगलाचरणम्

श्रीगणेशाय नमः

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौड़पादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ।।
श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् संततमानतोऽस्मि ।।१।।

ब्रह्मविद्या के आदिगुरु नारायण को तथा ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति तथा उसके पुत्र पराशर, वेदव्यास, शुकदेव, महान गौडपादाचार्य, योगीराज गोविन्दपादाचार्य, उनके शिष्य श्रीमच्छंकरभगवत्पाद और उनके शिष्यसमुदाय पद्मपाद, हस्तामलक, त्रोटकाचार्य तथा सुरेशाचार्य तथा अन्य ब्रह्मविद्या के हमारे गुरुजनों को मैं सदा प्रणाम करता हूँ ।

नमो देवि महाविद्ये नमामि चरणौ तव ।
सदा ज्ञानप्रकाशं मे देहि सर्वार्थदे शिवे ।।२।।

हे भगवति ब्रह्मविद्ये सरस्वति ! मैं आप के चरणों में प्रणाम करता हूँ । सब कामनाओं को फलित करनेवाली मंगलमयी देवी आप मेरी बुद्धि को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करें ।

ओंकारं परमानन्दं विद्यावारिधिमद्वयम् ।
मोहध्वान्तविनाशायाऽहस्करं तं नतोऽस्म्यहम् ।।३।।

मैं श्रीगुरुदेव स्वामी ओंकारश्रम जी दंडी को जो ब्रह्मविद्या के अगाध सागर हैं और ब्रह्मवित् होने से शुद्ध परमानन्दरूप ब्रह्म ही हैं, जो अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य के तुल्य हैं, प्रणाम करता हूँ ।

यस्य कारुण्यदृष्ट्यैव जडो भवति बोधवान् ।
महावेदान्तपञ्चास्यं यतिवर्यं नतोऽस्म्यहम् ।।४।।

जिन की कृपाकटाक्षमात्र से मूढ़ भी ज्ञानवान हो जाता है, ऐसे 'महावेदान्त-केसरी' श्रेष्ठ संन्यासी अपने गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।

स्वाराज्य–साम्राज्य–विभूतिरेषा, भवत्कृपा–श्रीमहिम–प्रसादात्।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने, नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु ॥५॥

हे श्रीगुरो ! आप की अकारण कृपा की महिमा के प्रसाद से मुझे निरंकुशा स्वतंत्रता के ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई है। आप महात्मा के लिए मेरा वारम्बार प्रणाम हो।

ओंकारवाच्यं सर्वं हि नामरूपं सदात्मकम्।
तद्गुरोः प्राप्तविज्ञाना 'ह्योंकारी' प्रविलिख्यते ॥६॥

साक्षात् ॐकार ही सब नामरूपात्मक है उसी नामवाले गुरुचरण ओंकाराश्रम जी से प्राप्त विज्ञान 'ओंकारी' प्रदीपिका टीका लिखी जाती है।

पालनाय गुरोराज्ञां मुमुक्षुगणहेतवे।
सप्तप्रकरणैर्युक्तां सुव्याख्यां विदधाम्यहम् ॥७॥

गुरुचरणों के आदेश पालन के लिये मुमुक्षुगण के हेतु सात प्रकारणोंवाली सुबोध व्याख्या यथाबुद्धि करता हूँ।

पंचविंशतिवर्षाणां प्राप्य संगं सुदुर्लभम्।
गुरोः सकाशाद्यल्लब्धं ज्ञानमेतत्प्रकाश्यते ॥८॥

२५ वर्षों तक गुरुचणों की सेवा में रहकर दुर्लभ संगति का लाभ लेकर उन्हीं से जो कुछ मुझे मिला है उसे ही यहाँ प्रकाशित किया जाता है।

समस्तवेदान्त - निरीक्षणेन, गुरोः कृपालेशविभावितेन।
मया सुपुण्येन समाहितात्मना, सम्प्रेरितेनाऽत्र व्यधायि टीका ॥९॥

दीर्घसमय तक नाना वेदान्त ग्रन्थों को गुरुकृपा से देखकर आलोडन विलोडन कर उन्हीं के प्रेरणावाक्यों से अति पुण्यवाला मैं प्रदीपिका लेखन में प्रस्तुत होता हूँ।

शास्त्रान्तरेषु सुचिरं विहितश्रमाणां, ज्ञानाम्बुधौत-मनसां विमलात्मकानाम्।
चेतोहरां विमल तत्त्वविकाशशीलाम्, व्याख्यां करोमि विशदां तिमिरांधनाशाम् ॥१०॥

आत्मानुसन्धान के निमित्त द्वैतपरक शास्त्रों में परिश्रम करके थके हुओं के लिये तथा तर्क रूपी जल से धुलने के कारण नष्ट हो गई है अन्तःकरण की स्थूलता जिनकी उनके लिये मैं, स्पष्ट, निर्मल अद्वैततत्त्व प्रकाशिनी, अज्ञानांधकार नाशिनी मनोहारिणी व्याख्या लिखता हूँ।

॥ श्रीः ॥

विवेकचूडामणिः

प्राक्कथन

'विवेक', ब्रह्मज्ञान, उस के उत्पादन करनेवाले ग्रन्थों में जिस का इतना ऊँचा स्थान और मूल्य हो जितना की मणियों में शीर्ष पर धारण की जाने वाली चूडामणि का, उस ग्रन्थ को 'विवेकचूडामणि' कहते हैं। इस ग्रंथ का जैसा नाम है, वैसा ही गुण है। ५८१ श्लोक में बंधा हुआ यह ग्रंथरत्न श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद के शिष्य श्रीमच्छंकरभगवत्पाद की अन्तिम रचना है। वेदान्त के आचार्य तथा ब्रह्मविद्याभिलाषी और प्रेमी घने आदर के कारण ,भगवान शंकराचार्य का नाम नहीं लेते, और संकेत के लिये इन को 'भगवत्पाद' अथवा 'भगवान् भाष्यकार' कहा करते हैं। आस्तिक पुरुष इन को देवाधिदेव, कैलाशाधिपति, त्रिपुरसंहारी ज्ञानमूर्ति साक्षात् भगवान शंकर ही मानते हैं। श्रीगुरुदेव कहा करते, 'श्रीविवेकचूडामणि साक्षात् शंकर का ज्ञान है। जो भी श्रद्धायुक्त होकर जिस शुभ संकल्प से भी इसका पाठ करेगा, विवेकचूडामणि उस उस मनोरथ को सिद्ध करेगी, इस में सन्देह मत करना। अकेली यही परिपूर्ण है।

अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त—इस महान ग्रंथ में भगवान भाष्यकार ने अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त कथन किया है। इस सिद्धान्त को संग्रहरूप से इस प्रकार कहा है :—

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा
ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो
ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ॥४७९॥

वेदान्त सिद्धान्त की यह घोषणा है कि ब्रह्म और जीव, ब्रह्म और जगत् एक हैं, उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अवस्थान मोक्ष है, इस संबंध में श्रुतियां प्रमाण है।

श्रीविवेकचूडामणि तथा श्रीगीता—इस मौलिक प्रामाणिक ग्रंथ की तुलना श्रीगीता से ही दी जा सकती है। श्रीगीताजी में १८ अध्याय, सात सौ श्लोक हैं। श्रीविवेकचूडामणि एक धारावाही ग्रंथ है, और ५८१ श्लोक हैं। श्रीगीता में प्रधानतः अनुष्टुप् छन्द हैं, पर श्रीविवेकचूडामणि में विविध दीर्घ छन्दों की छटा

है, यद्यपि श्लोकों की संख्या कम है, परंतु दीर्घ छन्दों के प्रचुर प्रयोग से श्रीविवेकचूडामणि श्रीगीता से अधिक विस्तृत ग्रंथ है। श्रीगीता सिद्धान्त ग्रंथ है, श्रीविवेक चूडामणि में प्रक्रिया और सिद्धान्त दोनों हैं। श्रीगीता जी में श्रुति प्रमाणों की इतनी वहुलता नहीं जितनी कि श्रीविवेकचूडामणि में हैं। दोनों ही ग्रंथ ब्रह्मविद्या के अमूल्यरत्न है, दोनों ही विचार प्रधान और फल में समान हैं, दोनों ही परिपूर्ण और निरपेक्ष हैं, दोनों ही ईश्वरों की कृतियां हैं।

ग्रंथ का आधार श्लोक—एक विरक्त तीव्र मुमुक्षु सद्गुरु की शरण में आकर अपनी असहाय व्यवस्था निवेदन करता है। सद्गुरु उस को अधिकारी जान कर उपदेश देते हैं, इस ग्रंथ में एक सप्तप्रश्नी श्लोक है, यही श्लोक इस ग्रंथ का मूलाधार है। श्लोक इस प्रकार है।

को नाम बंधः, कथमेष आगतः,
कथं प्रतिष्ठाऽस्य, कथं विमोक्षः।
कोऽसावनात्मा, परमः क आत्मा,
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ॥५१॥

इन प्रश्नों का उत्तर ही इस ग्रंथ का कलेवर है। इसी उत्तर में वेदान्त प्रक्रिया तथा सिद्धान्त निरूपण सम्मिलित है। इन सब का श्रवण करके भी शिष्य अपने स्वरूप में नहीं जागता है, तब श्रीगुरुदेव अपने उपदेश के साथ शक्तिपात करते हैं जिसके फलस्वरूप शिष्य का अज्ञान नष्ट हो जाता है और उसको निर्विकल्प समाधि में ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। इस के उपरान्त भी करुणामय श्री गुरुचरण जीवनन्मुक्त ब्रह्मवेत्ताओं के आचरण, विदेहमुक्ति, तथा अन्तिम सत्य वता कर शिष्य को विदा करते हैं।

विषय विभाजन—जैसे पहले कहा है कि यह ग्रंथ धाराप्रवाहिक है, इस में श्रीगीता के समान अध्याय नहीं हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर विषयों का विभाजन स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक श्लोक मुक्तक सा होने पर भी वह एक नियंत्रित प्रबंध के अन्तर्गत है। हम ने विषय को सुबोध वनाने के लिये अपनी प्रदीपिका को सप्त प्रकरणों में इस प्रकार विभाजित किया है।

प्रकरण	श्लोक
१—विषयामुख प्रकरण	१- ३६
२—श्रवण प्रकरण	३७-२६७
३—मनन प्रकरण	२६८-३५३
४—समाधि प्रकरण	३५४-३६५

इस के पश्चात् ६ श्लोकों में ग्रंथोपसंहार है—

ग्रंथ की विशेषतायें—यह ग्रंथ श्रुतियों का सार, परम, अतिगुह्य, मुमुक्षुओं के सुगमता से अपने स्वरूप का बोध कराने के लिये गुणवाला है।

(१) सर्ववेदान्तसार—

भगवान भाष्यकार वेदाभिमानी कहे जाते हैं। श्रीविवेकचूडामणि श्रुति-प्रमाणों से ओत-प्रोत है। श्रीभगवत्पाद श्रुतियों को इस ढंग से अपने श्लोकों में ग्रथित करते हैं कि विषयज्ञान में उनका सही उपयोग बैठता है। ग्रंथ के सिद्धान्त पक्ष में अध्यात्मोपनिषद्, तथा आत्मोपनिषद् के प्रायः सभी मन्त्रों का समावेश है। कुण्डिकोपनिषद् के भी मंत्र ज्यों के त्यों दिये गये हैं। श्रीगुरुदेव कहा करते कि इस ग्रंथ का प्रत्येक श्लोक ही मंत्र है।

(२) परम—

इस ग्रंथ में उन्होंने उपनिषदों के हृदय को खोल कर रख दिया है, और उनका यथार्थ तात्पर्य अपनी अमर वाणी में व्यक्त किया। श्रीगुरुदेव कहा करते कि श्रीविवेकचूडामणि साक्षात् भगवान् शंकर का ज्ञान है। इस के पठन, विचार तथा अभ्यास से परम कल्याणकारी फल मिलता है। भगवान भाष्यकार ने ब्रह्मविद्या के चार फल बताये हैं

> **निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः।**
> **दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो, विद्यायाः प्रस्तुतं फलम्॥**

सब वासनाओं से छुटकारा, निरंकुशा तृप्ति, विना यत्न के ब्रह्मानन्द की बाढ़, तथा प्रस्तुत दुःखों में अनुद्वेग—ब्रह्मविद्या के ये चार प्रत्यक्ष फल हैं।

(३) अतिगुह्य—

यह ग्रंथ न केवल श्रुतिसार और परम है परन्तु अतिगुह्य भी है। ब्रह्मविद्या के आचार्यों का यह नियम होता है कि विना अधिकारी के ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं करते। अधिकारी भी जब तक पूर्णरूप से शरणागत न हो तब तक, ब्रह्मवेत्ता इस विषय को नहीं खोलते। अधिकारी सन्मुख आने पर भी जब तक ब्रह्मवेत्ता के हृदय में प्रगाढ़ हर्ष न हो तब तक इस विद्या के देने के लिये उन की वाणी नहीं खुलती। इसलिये श्रीभगवत्पाद ने कहा है कि जो 'अपगतकलिदोष' हो, 'काम-

निर्मुक्त बुद्धि' हो, 'भवसुखविरत', 'प्रशान्तचित्त' अधिकारी हो, उसी को यह विद्या देनी चाहिये। अधिकारी को विद्या देने से विद्या की रक्षा होती है और वह सफल होती है।

(४) असकृत्—

ब्रह्मविद्या अति दुर्वच और सूक्ष्म होने से भगवान भाष्यकार ने एक ही विषय को पृथक्-पृथक् श्लोकों में बार-बार कहा है। कहीं मन के नाश से, कहीं वासना के नाश से, कहीं संकल्प के नाश से, कहीं अहंकार के नाश से, कहीं देहात्मबुद्धि त्याग से, कहीं विषयचिन्तन त्याग से मोक्ष बताया है। प्रयोजन यह कि विभिन्न रुचि-वाले साधक जिस प्रकार भी शास्त्र के रहस्य को समझ सकें, उसी प्रकार उन्होंने कहा है।

(४) सुखबोधोपपत्तये—

यह ग्रंथ मुमुक्षुओं के 'सुखबोधोपपत्तये' सुगमता से ब्रह्मज्ञान उत्पादन करने के लिये बनाया गया है। इस ग्रंथ में वेदान्त प्रक्रिया भी है, और सिद्धान्त निरूपण भी है। प्रारंभिक परिभाषाओं से लेकर वेदान्त के अन्तिम सिद्धान्त तक इस ग्रंथ में वर्णित है। जैसे बच्चे को गिनती, पहाड़े, जोड़, बाकी, गुणा, भाग सिखाकर फिर जटिल प्रश्न सिखाये जाते हैं, उसी प्रकार यह ग्रंथ वेदान्त प्रक्रिया और सिद्धान्तों की संपूर्ण कृति है। सिद्धान्तनिरूपण उन के लिये किये जाते हैं जो प्रक्रिया को जानते हों, प्रक्रिया से अनभिज्ञ सिद्धान्तों को नहीं समझ सकते। प्रत्येक दृष्टि से यह ग्रंथ सर्वाङ्गीण परिपूर्ण है।

(५) निरपेक्ष—

यह ग्रंथ अन्य ग्रंथों की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे श्रीगीता जी निरपेक्ष धर्म शास्त्र है वैसे ही श्रीविवेकचूडामणि भी निरपेक्ष वेदान्त ग्रंथ है। इस ग्रंथ के रहस्यों की कुंजी इसी ग्रंथ के भीतर है, और इसे समझने के लिये अन्य ग्रंथों की अपेक्षा नहीं। जैसे छाया धीरे-धीरे ढलती है, और दर्शकों को उस की प्रगति साधारणतः दृष्टिगोचर नहीं होती, उसी प्रकार इस ग्रंथ में विषय की प्रगति स्वाभाविक और असहसा हुई है, और बड़े दुर्बोध विषय को भी भगवान भाष्यकार ने मन्दगति से क्रमशः सरलतापूर्वक व्यक्त किया है। इस प्रकार की शैली का पालन करना सर्वज्ञ ईश्वरों से ही संभव है।

सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका

इस ग्रंथ की व्याख्या का नाम 'सप्तप्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' रक्खा है। श्री गुरुमुख से ग्रंथ पढ़ कर, उनका आदेश हुआ कि मैं इस के १०८ पाठ करूँ। पठन के पश्चात् अगले वर्ष उन का आदेश हुआ कि इस पर व्याख्या लिखूं। उन्हीं के आदेशानुसार यह व्याख्या लिखी गई है। और अब उनकी प्रसन्नता के लिये यह तुच्छ प्रयास उन्हीं के चरणों में अर्पित है। व्याख्या लेखन में मुझे जगद्गुरु चन्द्रशेखर भारती स्वामी की स्तुत्य संस्कृत टीका से सहायता मिली है। मैं उनका आभारी हूँ। इस प्रदीपिका में श्लोकों का सरल हिन्दी अर्थ पदों का अर्थ, व्याख्या, श्रुतिस्मृति के प्रमाण, परम्परागत सद्गुरुओं के अनुभव वचन, साधना के सूक्ष्म रहस्य दिये हैं। मुमुक्षुगण इस प्रदीपिका से निस्संदेह लाभ उठायेंगे। इस प्रदीपिका का भवसुखविरत, श्रुतिरसिक, ऊहापोहविचक्षण, मेधावी, मुमुक्षसमुदाय, संन्यासीगण आदर करें।

पं० ब्रह्मदत्त त्रिवेदी एम० ए० व्याकरणाचार्य साहित्यरत्न तथा पं० रामनाथ दाधीच साहित्य शास्त्री पुराण-सांख्य-स्मृति-काव्यतीर्थ ने प्रूफरीडिंग में तथा अन्य विषयों में मेरी सहायता की है, उस के लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

"एषा शंकरभारती विजयते निर्वाणसंदायिनी"

विनीत—
मनोहर लाल शर्मा

—०—

॥ ॐ श्रीः ॥

विवेकचूडामणिः

सर्ववेदान्तसिद्धान्तगोचरं तमगोचरम् ।
गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥१॥

अर्थ—जो सम्पूर्ण वेदान्त के सिद्धान्त-वाक्यों से लक्षित है, जो मन और इन्द्रियों से अलक्ष्य है, उस परमानन्द सद्गुरु श्रीगोविन्दरूप आत्मा को मैं प्रणाम करता हूँ ।

व्याख्या— ग्रन्थ के आरम्भ में भगवत्पाद मंगलाचरण करते हैं । **सर्ववेदान्त सिद्धान्तगोचरम्**—सब वेदान्त शास्त्रों द्वारा जो लक्षित किया जाये, उसको, वेद के अन्तिम भाग को वेदान्त कहते हैं । वेदों में ८० हजार मंत्र कर्मकाण्ड के, १६ हजार मंत्र उपासना काण्ड के तथा ४ हजार मन्त्र ज्ञानकाण्ड के बताये जाते हैं । उपनिषदों को ही ज्ञान काण्ड कहते हैं । वेद भगवान तटस्थ होकर ही जिसको लक्षित कराते हैं, उस **अगोचरम्**—जो ज्ञानकर्मेन्द्रियों तथा मन बुद्धि अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा न जाना जा सके । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।' इति श्रुतिः; तैत्तिरीयोपनिषद २।४। जहाँ मन वाणी का गम नहीं है, उस **परमानन्दम्**—सब आनन्दों का मूल स्रोत होने से वह परमात्मा परमानन्द है, उत्कृष्टानन्द, ब्रह्मानन्द को 'आनन्दो ब्रह्म ।' इति श्रुतिः; तैत्तिरीयोपनिषद ३।६। **तम् गोविन्दम्**—उस गोविन्द, आत्मा को, 'अहमात्मा गुडाकेश' गीता १०।२०।, यहाँ गोविन्द शब्द से, भगवत्पाद (भगवान श्री शंकराचार्य) के शरीर के गुरु, जिनका नाम भगवत्पूज्यपाद गोविन्दपादाचार्य है, की ओर भी संकेत है, अपने **सद्गुरुम्**—सत् विद्या का, ब्रह्म विद्या का उपदेश करनेवाले गुरु को **अहम्**—मैं, अविद्याविशिष्ट जीव ज्ञान प्राप्ति के लिये **प्रणतो अस्मि**—प्रणाम करता हूँ ।

गोविन्द पद पर श्लेष करके भगवत्पाद ने आत्मारूप गुरु को प्रणाम किया है । 'गुरुरेव परम् ब्रह्म ।' गुरु ही परम ब्रह्म है । शिष्टों का यह नियम होता है कि

ग्रन्थ आरम्भ करने से पहले, विघ्न-बाधाओं से वचने के लिये तथा आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये, वे गुरु को प्रणाम करते हैं। शास्त्र का अनुशासन है कि सब जगह अद्वैत का भाव रक्खे, पर गुरु के साथ नहीं 'अद्वैतं भावयेन्नित्यं नाद्वैतं गुरुणा सह'।।१।।

अगले श्लोक में सारे ग्रन्थ का सार कहते हैं। उसकी व्याख्या भगवत्पाद ने 'वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा इति' श्लोक ४७९ तक की है।

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम्।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते।।२।।

अर्थ—जीवों के बीच में नरजन्म दुर्लभ है, उससे दुर्लभ पुरुषत्व और उससे दुर्लभ ब्राह्मणत्व है; ब्राह्मण होने पर भी वैदिक धर्म का अनुगामी होना दुर्लभ है और उससे दुर्लभ विद्वत्ता है। इनके होने पर भी आत्मा और अनात्मा का विवेक, आत्मसाक्षात्कार तथा, ब्रह्मात्मभाव से स्थिति जिसे मुक्ति कहते हैं—ये तो करोड़ों जन्मों में किये हुए शुभ कर्मों के परिपाक के विना प्राप्त हो ही नहीं सकते।

व्याख्या—अब मोक्ष की दुर्लभता बताते हैं। **जन्तूनाम्**—जननमरणशील प्राणियों के बीच में **नरजन्म**—मनुष्ययोनि में जन्म **दुर्लभम्**—कठिनाई से प्राप्त होता है। प्रभु की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि मनुष्य है। **अतः पुंस्त्वम्**—इससे अधिक दुर्लभ पुरुषत्व प्राप्त होना है। स्त्रियों को साधारणतः वेदाधिकार नहीं होता। स्त्रियों को पुरुषों जितनी स्वतन्त्रता भी नहीं होती। **ततः विप्रता**—इससे अधिक दुर्लभ वस्तु विप्रता है। संस्कारयुक्त विद्यासम्पन्न ब्राह्मण विप्र कहलाता है। चारों वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। उसको श्रौत स्मार्त सब कर्मों का अधिकार होता है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इति श्रुतिः। ब्राह्मण की उत्पत्ति परमेश्वर के मुख से हुई है। ब्राह्मण स्वभाव से ही क्षत्रिय, वैश्य की अपेक्षा, ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये अधिक उपयुक्त है। राज्यपालन कार्यभार से क्षत्रिय का और कृषिवाणिज्यादि से वैश्य का चित्त अधिक विक्षिप्त रहता है। इसके विपरीत ब्राह्मण का शरीर तप और मोक्ष के लिये ही बना है। 'ब्राह्मणस्य देहोऽयं नोपभोगाय कल्पते। इह क्लेशाय महते प्रेत्यानन्तसुखाय च।'

तस्मात्–उसके अधिक दुर्लभ है **वैदिकधर्ममार्गपरता**—वेदों में जो धर्म बताया है, उस धर्ममार्ग पर चलना। वेद, ईश्वरीय ज्ञान होने से, सत्य हैं। स्मृतिकार भी कदाचित् प्रमादवश गलती कर सकते हैं, पर वेद भगवान नहीं। इसलिये वेद प्रमाण ही सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। श्रुति ही यथार्थ धर्मज्ञान बोध कराती है। वेदों में सम्पूर्ण मोक्ष-साधन-सामग्री भरी हुई है **अस्मात् परम्**–इससे अधिक दुर्लभ **विद्वत्त्वम्**–विद्वान होना, मोक्ष लाभ के लिये चार कृपा कही जाती हैं। उनमें एक शास्त्र कृपा भी है। विद्वान को शास्त्रानुशीलन का सुयोग मिलता है। शास्त्राध्ययन एक प्रकार की सत्संगति है। महात्माओं के प्रत्यक्ष उपदेश के अभाव की शास्त्र पूर्ति करते हैं।

आत्मा-अनात्म-विवेचनम्–आत्मा और अनात्मा का भेद, विवेक। इस विषय को आगे इसी ग्रन्थ में स्पष्ट करेंगे। आत्मा क्या है, अनात्मा क्या है, इस भेद को गुरुमुख से श्रवण करना, सुने हुये को युक्तियों द्वारा मनन करना और कुतर्कों का निवारण करना, फिर संशयादि विपरीतभावना का तैलधारावत् परिच्छेदरहित ब्रह्माभ्यास द्वारा निराकरण करना। इस प्रकार नित्य निरन्तर अभ्यास के फलरूप **स्वनुभवः**–आत्मा का साक्षात्कार होना।

आत्मानात्म विवेक में ज्ञान की प्रथम तीन भूमिकायें—शुभेच्छा (श्रवण), विचारणा (मनन) तथा तनुमानसी (निदिध्यासन) शामिल हैं। स्वनुभव ही सत्त्वापत्ति नाम की चतुर्थ भूमिका है। आत्मसाक्षात्कार होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। **ब्रह्मात्मना संस्थितिः मुक्तिः**–'मैं ब्रह्म हूँ 'इस प्रकार ब्रह्माकारवृत्ति में स्थिति ही मुक्ति है। स्वनुभव, ब्रह्म साक्षात्कार होने पर साधक जन्ममृत्यु-जरा-व्याधि-रूप संसार से मुक्त हो जाता है। साधक सिद्ध हो जाता है। उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। उसके पश्चात 'ब्रह्मात्मना संस्थितिः' अर्थात् वह ब्रह्माकार वृत्ति में ही स्थित रहता है। समाधि काल में जगत का अत्यन्ताभाव होता है, और व्युत्थान काल में जगत् की स्वप्न में देखे हुए पदार्थों की भांति प्रतीति होती है। 'ब्रह्मात्मना संस्थितिः' में ज्ञानकी अवशेष पाँचवी, छठी, सातवीं भूमिकायें अर्थात् असंसक्ति, पदार्थाविभाविनी तथा तुर्यगा सम्मिलित हैं। ज्ञान की चौथी भूमिका से सातवीं भूमिका तक के अनुभव में समानता है, परन्तु उत्थान काल की अवधि में न्यूनता अधिकता होती है। पाँचवी भूमिका के ज्ञानी का उत्थानकाल छठी भूमिका वाले ज्ञानी के उत्थानकाल से अधिक होता है। सातवीं भूमिका का ज्ञानी समाधि से जागता ही नहीं, उसका शरीर ही छूट जाता है।

यद्यपि कोई नियम नहीं है, फिर भी साधारणतः चौथी भूमिका के ज्ञानी की समाधि-काल की अवधि एक क्षण से ४८ मिनिट तक, पाँचवी की ६ घंटे तक, छठी की १८ घंटे तक, और सातवीं की चौबीसों घंटे। सातवीं भूमिका के ज्ञानी का शरीर २१ दिन रहता है, फिर गिर जाता है। अधिकारियों पर कोई नियम लागू नहीं है। दैत्यों के राजा वलि की प्रथम वार निर्विकल्प समाधि कई सहस्र वर्ष लगी थी। गुरुदेव कहा करते कि वर्तमान काल में सातवीं भूमिका के महात्माओं की तो वार्ता ही क्या, पाँचवी भूमिका के महात्मा भी विरले ही है। चतुर्थ भूमिका के महात्मा भी भारतवर्ष में कुल तीस-पैंतीस ही हैं।

इस प्रकार स्वनुभव, और ब्रह्म में स्थिति जो कि मुक्ति ही है **शतकोटिजन्मसु**–सौ करोड़ जन्मों में अर्थात् अनन्त जन्मों में **कृतैः**–किये हुये **पुण्यैः**–पुण्यों के **विना नो लभ्यते**–विना प्राप्त नहीं होते। यहाँ मुक्ति का अर्थ कैवल्य मुक्ति समझना चाहिये, क्योंकि ज्ञानियोंको कैवल्य मोक्ष ही अभीष्ट है, सालोक्य-सामीप्य-**सारूप्य-सायुज्य मोक्ष** नहीं ।।२।।

इसी विषय को अगले श्लोक में संक्षेप से कहते हैं।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।।३।।

अर्थ—देवकृपा ही जिनकी प्राप्ति में हेतु है, ऐसे मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और ब्रह्मनिष्ठ गुरु का सत्संग–ये तीनों ही दुर्लभ हैं।

व्याख्या—मनुष्यत्वम्–मनुष्यजन्म। शुभाशुभ मिश्रित कर्मों के फलरूप मनुष्य जन्म मिलता है। 'वड़े भाग मानुष तनपावा।' पशुओं से–गाय भैंस आदि से–मोक्ष यत्न असम्भव है, इसलिये मनुष्य योनि की महिमा है। मनुष्य लोक में वर्णाश्रम-धर्म के पालन तथा गुरु और शास्त्र की सहायता से यत्न करने पर साधक को शीघ्र ही सिद्धि मिल जाती है। देवयोनि यद्यपि यह शुभकर्मों का फल है तो भी, प्रधानतः भोगयोनि ही है। परन्तु मनुष्य जन्म होना पर्याप्त नहीं, साथ में

मुमुक्षुत्वम्–मोक्ष होने की इच्छा भी चाहिये। भगवत्पाद आगे कहेंगे 'अहंकारादिदेहान्तान् बंधानज्ञान-कल्पितान् स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता' अहंकार से लेकर शरीर तक जितने अज्ञान कल्पित बंधन हैं, उनसे छुटकारा पाने की इच्छा का नाम मुमुक्षुता है। ज्ञान के साधनचतुष्टय में से मुमुक्षुता एक है।

मुमुक्षुता कहने से ज्ञान के अन्य तीन साधन भी समझ लेने चाहियें। मुमुक्षुता के विना मनुष्यत्व सफल नहीं होता। पर इतना भी काफी नहीं

मुमुक्षु को मार्गदर्शक गुरु चाहिये, इसलिये **महापुरुषसंश्रयः**—महापुरुष का आश्रय, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ गुरु की प्राप्ति, उनकी कृपा और उनके द्वारा आत्मविद्या का उपदेश चाहिये, क्योंकि 'न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः' इति कठश्रुतिः, २।८। अश्रेष्ठ पुरुष, जिसको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है, के उपदेश से ब्रह्मविद्या समझ में नहीं आती। आत्मवेत्ता महात्मा के उपदेश से ही मुमुक्षु को पूर्ण लाभ होता है।

इसलिये मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व, ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी प्राप्ति तीनों ही दुर्लभ हैं **एतत् त्रयम्**—ये तीनों **दुर्लभम् एव**—दुर्लभ ही हैं और **देवानुग्रहहेतुकम्**—देव ही हेतु—कारण है इनकी प्राप्ति में। देव का अर्थ आत्मा भी है और भाग्य भी। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', इति कठश्रुतिः। एक ही आत्मा सब प्राणियों में व्याप्त है। 'जन्तूनां नरजन्मेति' श्लोक में सूक्ष्म रूप से साधना का क्रम बताया है। इस श्लोक में बीज रूप से मोक्ष के कारण और उपाय बताये हैं। मनुष्यत्व और मुमुक्षुत्व कारण हैं, महापुरुष संश्रय—ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर ब्रह्मविद्या सीखना यह उपाय बताया है ।।३।।

साधन होने पर भी जो मोक्ष के लिये प्रयत्न न करे, वह मूढ आत्मघाती है, दो श्लोकों में।

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं, तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ।।४।।

अर्थ—किसी प्रकार दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर और साथ ही पुरुषत्व वेदान्त-पांडित्य सहित पाकर जो मूढबुद्धि अपने जीवभाव से मुक्ति के लिये प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है; वह असत्-ग्राही अपने को नष्ट करता है।

व्याख्या—नरजन्म, पुरुषत्व, विप्रता, वैदिक धर्ममार्गपरता, विद्वत्ता—ये पाँच दुर्लभ वस्तुयें प्रारब्धवश अथवा आत्मकृपा से मिलती हैं। इस सामग्री के प्राप्त होने पर मोक्ष के यत्न में साधक स्वतन्त्र है। मोक्ष के लिये प्रयत्न करना पुरुषार्थ के आधीन है।

दुर्लभम् नरजन्म—दुर्लभ मनुष्य शरीर **कथम् चित्**—किसी प्रकार **लब्ध्वा**—प्राप्त करके, और **तत्रापि**—नर जन्म के साथ ही **पुंस्त्वम्**—पुरुष होना और **श्रुतिपारदर्शनम्**—वेदों के पार दर्शनवाला अर्थात् शास्त्रों का ज्ञाता, विद्वान् होना। इस अद्‌भुत सामग्री को प्राप्त करके भी **यः मूढधीः**—जो मोहित बुद्धिवाला **स्व-आत्ममुक्तौ**—अपनी मुक्ति के लिये, दुःख की अत्यन्त निवृत्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति रूप मुक्ति के लिये न **यतेत**—पुरुषार्थ न करे, गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग के अनुसार यत्न न करे, **सः**—वह, मूढधी **आत्महा हि**—निश्चय ही आत्मघाती है अर्थात् अधोगति को प्राप्त होने वाला है, क्योंकि

असद्‌ग्रहात्—असत् के ग्रहण से। जिसकी सत्ता न हो वह असत् अर्थात् दृश्य-प्रपंच, 'अहंकारादि देहान्तान्'। माया द्वारा मोहित हुआ असत् को ही सत् जानकर स्वीकार करता है,और उसी के अनुसार कर्म करता है।'मोहाद् गृहीत्वा असद् ग्राहान् प्रवर्तन्ते शुचिव्रताः' गीता १६।१०। मोहवश असुर असत् को सत् रूप से ग्रहण करते हैं और अपवित्र-कर्म-कर्मी होते हैं। उनकी क्या गति होती है? 'पतन्ति नरके अशुचौ' अपवित्र नरक में असुर गिरते हैं 'ततो यान्ति अधमाम् गतिम्' और अधिक अधोगति को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार असद्‌ग्राही आत्ममोक्ष के लिये यत्न न करने के कारण **स्वम्**—अपने को **विनिहन्ति**—अच्छे प्रकार से नष्ट करता है! आत्मदर्शन का अलाभ नाश ही है। यदि जीवितावस्था में ही आत्मा को न जाना तो 'महती विनष्टिः' इति श्रुतिः,केनोपनिषद २।१३। महान विनाश है।।४।।

इतः को न्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम्।।५।।

अर्थ—दुर्लभ मनुष्य देह और उस पर भी पुरुषत्व को पाकर जो अपने मोक्ष साधन में प्रमाद करता है, उससे अधिक मूढ और कौन हो सकता है।

व्याख्या—**दुर्लभम् मानुषम् देहम्**—दुर्लभ मनुष्य देह प्राप्त करके और **तत्रापि**—उस पर भी **पौरुषम्**—पुरुषता, स्त्रीत्व नहीं,**प्राप्य**—प्राप्त करके **यः**—जो मनुष्य **स्वार्थे तु**—अपने हित में, स्व नाम आत्मा का भी है, उसके अर्थ में अर्थात् अपनी मुक्ति के लिये 'तु' कहने का यह अभिप्राय है कि पर-अर्थ में तो सभी प्रमाद करते हैं, परन्तु स्वार्थ में **प्रमाद्यति**—प्रमाद करता है, गफलत करता है, कैसे? असद् ग्रहण करके; **इतः**—ऐसे मनुष्य से बढ़कर भी **मूढात्मा**-मूर्ख गंवार, मोहितचित्त **कः नु अस्ति**—

क्या कोई हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । स्वार्थ में तो पशु भी नहीं चकता ।।५।।

"स्वात्ममुक्तौ" आत्मोपलब्धि का क्या उपाय है, इस पर कहते हैं।

पठन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्, कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।
आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्ति, र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।।६।।

अर्थ--चाहे कोई धर्म शास्त्रों का अध्ययन करें, देवताओं का यजन करें, नाना कर्म करें, अथवा देवताओं को भजें, तो भी जवतक ब्रह्म और जीव की एकता का बोध नहीं होता तवतक सौ ब्रह्माओं की आयु बीतने पर भी मुक्ति नहीं हो सकती।

व्याख्या--चाहे **शास्त्राणि पठन्तु**--शास्त्रों को पढ़ें, इससे मोक्ष नहीं होता। भगवत्पाद आगे कहेंगे 'शास्त्रव्याख्यानकौशलम् .....भुक्तये न तु मुक्तये' शास्त्रों में कुशलता भोग के लिये है, मोक्ष के लिये नहीं **देवान् यजन्तु**--चाहे देवताओं की प्रसन्नता के लिये यज्ञ करें, इससे मोक्ष नहीं होता। यज्ञों का फल स्त्री-पुत्रादि इष्ट फलों की प्राप्ति है। 'इष्टान् भोगान् हि वो देवाः दास्यन्ते यज्ञभाविताः'। गीता ३।१२। यज्ञ से तृप्त देवता तुम्हें इष्ट भोग देंगे। **कर्माणि कुर्वन्तु**--चाहे कितने ही कर्म करें, कर्म से मोक्ष नहीं मिलता। भगवत्पाद आगे कहेंगे, 'चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये। वस्तुसिद्धि विचारेण न किंचित् कर्मकोटिभिः ।।' निष्काम शास्त्रविहित कर्म चित्त की शुद्धि के लिये हैं, ज्ञानसिद्धि के लिये नहीं। ज्ञानसिद्धि, विचार से, न कि करोड़ों कर्मों से, प्राप्त होती है।

देवताः भजन्तु--चाहे देवताओं को भजें, उपासना से मोक्ष नहीं मिलता। उपासना में दो की सत्ता रहती है, एक उपासक की और दूसरी उपास्य की, किन्तु 'द्वैतं नो सहते श्रुतिः' वेद भगवान दो की सत्ता नहीं मानते, क्यों कि 'द्वितीयात् वै भयं भवति' इति श्रुतिः बृहदारणयकोपनिषद् १।४।२। दूसरे से भय होता है, अपने से नहीं। उपासना चित्त की चञ्चलता को नष्ट करती है, मुक्ति नहीं देती। यहाँ तक कर्मकाण्ड और उपासना के ज्ञानोपलब्धि में साक्षात् हेतुत्व का निराकरण किया है।

मुक्ति का साक्षात् हेतु क्या है ? **आत्मैक्यबोधेन विना**--आत्मा की एकता के ज्ञान के विना, अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव किये विना, ब्रह्म साक्षात्कार किये विना, श्रवण-मनन-निदिध्यासन--तत्त्वंपदार्थ शोधन के विना

ब्रह्मशतान्तरेऽपि–एक एक करके एक शत ब्रह्माओं के जीवन बीतने पर भी। ब्रह्मा जी का एक दिन मनुष्य लोक के ४३.२ करोड़ वर्षों के बराबर होता है। ब्रह्मा जी की आयु सौ वर्ष की होती है **विमुक्तिः न सिध्यति**–आत्मैक्यबोध के बिना मुक्ति सिद्ध नहीं होती।

भगवत्पाद का प्रयोजन कर्मकाण्ड और उपासना का खण्डन करने से नहीं है, अपितु यह कहने में ही है कि ज्ञान का साक्षात् हेतु महावाक्य द्वारा जीव ब्रह्म की प्रतिपादित एकता का अपरोक्ष अनुभव है। भले ही आप शास्त्र पढ़ें, कर्मकाण्ड करें, उपासना करें, पर यह बात याद रक्खें कि शास्त्र, कर्म, उपासना मोक्ष के साक्षात् हेतु नहीं हैं। 'यज्ञ-दान-तपः-कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥' गीता १८।५ जिनको बोध नहीं है, पर जो बोध की इच्छा वाले हैं वे यज्ञ-दान-तप-कर्म न छोड़ें, बल्कि आसक्ति और फलाभिलाषा को त्याग कर उनको अवश्य करें, क्योंकि ये कर्म साधकों को पवित्र करनेवाले हैं, और अन्त में नैष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति की योग्यता प्रदान करते हैं।

अद्वैतपरक शास्त्राध्ययन, यज्ञ, उपासनादि कर्म मुमुक्षु को आत्मसाक्षात्कार होने तक करते रहने चाहिये, ये ज्ञान के बहिरंग साधन है, अन्तरंग नहीं। बहिरंग साधन के बिना अन्तरंग साधन प्राप्त नहीं होते। लक्ष्य भेदन में बाण के मुख पर लोहे का फल अन्तरंग साधन है, परन्तु धनुष और बाण के बिना अन्तरंग साधन क्रियावान् नहीं हो सकता ॥६॥

कर्म से मोक्ष की असिद्धि, इसमें श्रुति प्रमाण देते हैं।

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः।
ब्रवीति कर्मणो मुक्तेरहेतुत्वं स्फुटं यतः ॥७॥

अर्थ—'धन से अमृतत्व की आशा नहीं है,' यह श्रुति मुक्ति का हेतु कर्म नहीं है यह बात स्पष्ट बताती है।

व्याख्या—हि–निश्चय ही '**अमृतत्वस्य**–अमरता की, मोक्षपद की **न आशा अस्ति**–आशा नहीं है **वित्तेन**'–धन साध्य कर्म से मोक्ष की आशा नहीं है। यह बृहदारण्यकोपनिषद की २।४।२ श्रुति है। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्व-मानशुः' कैवल्योपनिषद्।३। न कर्म से, न सन्तान से, न धन से किन्तु केवल त्याग से अमरता सम्भव हो सकती है। इति एव **श्रुतिः ब्रवीति**–इस प्रकार वेद

भगवान् कहते हैं। यतः—इस श्रुति से कर्मणः—कर्म का मुक्तेः—मोक्ष की प्राप्ति में अहेतुत्वम्—कारण नहीं है स्फुटम्—यह स्पष्ट होता है ।।७।।

अब मोक्ष का उपाय बताते हैं।

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान् संन्यस्तबाह्यार्थ-सुखस्पृहः सन् ।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकं तेनोपदिष्टार्थ-समाहितात्मा ॥८॥

अर्थ—इसलिये विद्वान् सम्पूर्ण बाह्य भोगों के सुख की इच्छा त्याग कर सज्जन महापुरुष गुरुदेव की शरण में जाकर उनके उपदेश में समाहित होकर मुक्ति के लिये प्रयत्न करे।

व्याख्या—**अतः विद्वान्**—इसलिये नित्यानित्य का विवेक जानने वाला मुमुक्षु **संन्यस्तबाह्यार्थ-सुखस्पृहः**—जो बाह्य अर्थ हैं अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि से उत्पन्न होने वाले भोग, उनसे जो मिलता है सुख, उस सुख की स्पृहा-इच्छा त्याग दी है जिसने ऐसा **सन्**—होकर, इहलोक परलोक के भोगों से विरक्त होकर, लम्पट पुरुष को ब्रह्मविद्या नहीं मिलती **महान्तम्**-महान् **सन्तम्**—सज्जन **देशिकम्**—शिष्यों को जो ज्ञान दे वह देशिक, सद्गुरु, कैसा गुरु? भगवत्पाद गुरु के लक्षणों को 'श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः यो ब्रह्मवित्तमः' आदि श्लोकों से आगे कहेंगे। सद्गुरु की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है, 'दुर्लभं..... महापुरुषसंश्रयः' ब्रह्मनिष्ठ गुरु के बिना आत्म-विद्या का उपदेश अन्य से नहीं बनता, 'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् हि अतर्क्यम् अणुप्रमाणात्' इति कठश्रुतिः १।२।८।, ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के उपदेश के बिना ब्रह्मविद्या अन्य के उपदेश से समझ में नहीं बैठती, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म विषय है, और तर्क इस में नहीं चलता। **समुपेत्य**—प्राप्त करके **तेन**—गुरु द्वारा **उपदिष्टार्थ**—उपदेश किये हुये अर्थ में, ब्रह्मविद्या में, उसकी प्रक्रिया सिद्धान्त तथा अभ्यास में **समाहितात्मा**—अन्तःकरण को समाहित करके, एकाग्रता से लक्ष्य में लगा कर **विमुक्त्यै**—मोक्ष के लिये **प्रयतेत**—प्रयत्न करे।

इससे यह भी ध्वनित होता है कि मोक्ष सम्यक् पुरुषार्थ साध्य है, धन-साध्य नहीं। ब्रह्मनिष्ठ गुरु को महान् इसलिये भी कहा है कि वह अनादि भयावह अनन्त संसार का ब्रह्मविद्या द्वारा बाध कर देता है, उसका अत्यन्त अभाव कर देता है। 'गोष्पदं पृथ्वी' ज्ञानवान् को पृथ्वी गौ के खुर के समान मालूम पड़ती है। इसलिये गुरु को प्राप्त करके उनके बताये हुये मार्ग के अनुसार सदा ब्रह्म विचार करे ।।८।।

अपने पुरुषार्थ से आत्मसाक्षात्कार करके अपना उद्धार करे।

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ॥९॥

अर्थ—आत्मसाक्षात्कार से प्राप्त हुई निष्ठा से योगारूढ़ होकर संसार-समुद्र में डूबे हुए अपने आपका (जीव भाव का) आप ही अपने पुरुषार्थ से उद्धार करे ।

व्याख्या—पिछले श्लोक में मोक्ष के लिये प्रयत्न करना बताया है । इसमें भी दो शर्तें हैं । एक तो यह कि बाह्य अर्थात् विषय सुख से विरक्ति,और दूसरी समाहितात्मा होना । 'आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ।' गीता ५।२२। इन्द्रियजन्य सुख आदि अन्त वाले होते हैं और उनमें बुध अर्थात् मुमुक्षु रमण नहीं करता । अब सात श्लोकों में प्रयत्न का प्रकार बताते हैं ।

संसारवारिधौ—संसारसागर में **मग्नम्**—डूबे हुए को । मैं देह हूँ, जन्म-मरण-धर्मा हूँ, मैं और हूँ, परमेश्वर और है, मैं कर्ता भोक्ता हूँ, संसार सच्चा है । संग भ्रम, विकारभ्रम, भेदभ्रम, कर्तृत्वभ्रम तथा सत्यत्वभ्रम—इन पाँच भ्रमों से संसार भासता है, जनिमरण-जरा-व्याधि-रूपी संसारसागर में डूबे हुए को, वारिधौ इस-लिये कहा है कि ज्ञान के बिना केवल कर्मकाण्ड उपासना से यह संसार किसी प्रकार पार नहीं किया जा सकता, दुस्तर है । उपरोक्त पाँच भ्रमों से आहत होना संसार में मग्न होना है ।

आत्मानम्—आत्मा को, आत्मा तो सदा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, उसका उद्धार क्या होगा ? 'शुद्धोऽसि-बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि,', आत्मा तो शुद्धातिशुद्ध तत्त्व है, किस आत्मा का उद्धार ? उसका, जो अनात्म पदार्थों के साथ, पंच कोशों के साथ तादाम्य करके अपने को अज्ञानवश जनन-मरणशील जीव मानता है, मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा जन्म हुआ है, मेरा अमुक कर्तव्य है, इस प्रकार माया से मोहित हुवा जिस आत्मा को जीवभाव सा प्राप्त हुआ भासता है, उस आत्मा का उद्धार करे । जीवत्व से ब्रह्मत्व पद प्राप्त करे **योगारूढत्वम्**—योगारूढ़ता को **आसाद्य**—प्राप्त होकर, जब इन्द्रियों के विषयों में तथा कर्मों में—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध कर्मों में, पुण्य पापों में आसक्ति न रहे, और सब शुभाशुभ संकल्पों को त्याग दे तब योगारूढ़त्व प्राप्त होता है । 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्प-संन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते।।' गीता ४।६।

सम्यक्-दर्शन-निष्ठया—सम्यक् दर्शन, भले प्रकार दर्शन, आत्मसाक्षात्कार, आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव, उस दर्शन में निष्ठा, दृढ़स्थिति, उस निष्ठा से योग में

आरूढता प्राप्त होती है। **योगारूढ़ अथवा बोधवान्** एक ही बात है। मोक्ष का साक्षात् हेतु सम्यक्दर्शननिष्ठा है। इसके बिना भवसागर में डूबे हुए का उद्धार नहीं। ऐसी निष्ठा से **आत्मना**–स्वरूप में स्थिति द्वारा अपने को आत्मरूप जानकर, जीव रूप नहीं, अथवा अपने प्रयत्न से, अथवा अन्तःकरण में सत्त्वगुण की वृद्धि द्वारा **उद्धरेत्**–संसार सागर से ऊपर खेंचे अर्थात् योगारूढ़ हो जाये ॥६॥

इस श्लोक में सम्यक्दर्शननिष्ठा से तथा अगले श्लोक में कर्मसन्यास करके आत्माभ्यास में रत होने से अपना उद्धार करना बताया है ॥६॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्ध-विमुक्तये।
यत्यतां पण्डितैर्धीरैरात्माभ्यास उपस्थितैः ॥१०॥

अर्थ—सब कर्मों को त्यागकर आत्माभ्यास में रत धीर विवेकी पुरुषों द्वारा भव-बन्धन की निवृत्ति के लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये।

व्याख्या—**सर्वकर्माणि**–समस्त कर्मों को, नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों को **संन्यस्य**–त्याग कर इन कर्मों को अकर्मदर्शनरूप विवेक के द्वारा त्याग कर, अहंकार आसक्ति से रहित कर्म अकर्म ही है, अथवा कर्मों को ईश्वरार्थ करना, कर्मफलत्याग-बुद्धि से करना, कर्म का संन्यास ही है। कर्मों का सन्यास इसलिये आवश्यक है कि 'कर्मणो मुक्तेः अहेतुत्वम्' कर्म का फल चित्तशुद्धि है, मोक्ष नहीं। इस बात को आगे भी कहेंगे।

पण्डितैः–विवेकवान पुरुषों द्वारा, मुमुक्षुओं द्वारा, **धीरैः**–वशी, जिनकी बुद्धि अपने वश में है, धैर्यवान पुरुष, लक्ष्य में अविचल रहने वालों से **उपस्थितैः**–वर्तमान, ब्रह्माभ्यास में उपस्थित होने से, रत होने से, **आत्माभ्यासे**–अपने स्वरूप के दर्शन के लिये गुरु द्वारा बताये हुए यत्नों के अभ्यास में, 'तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्' इति ब्रह्माभ्यासः। श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि भी ब्रह्माभ्यास हैं, इस प्रकार ब्रह्माभ्यास में **भवबन्धविमुक्तये**–संसार बन्धन से मोक्ष पाने के लिये 'अहंकारादिदेहान्तान् बन्धान् अज्ञानकल्पितान्' इन से मोक्ष पाने के लिये **यत्यताम्**–विवेकी पुरुषों द्वारा यत्न किया जाये ॥१०॥

अब कर्म और विचार का फल बताते हैं।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ॥११॥

अर्थ—कर्म चित्त की शुद्धि के लिये ही है, मोक्ष के लिये नहीं। मोक्ष तो विचार से ही होता है, करोड़ों कर्मों से कुछ भी नहीं हो सकता।

व्याख्या—**कर्म**—निष्काम कर्म, ईश्वरार्थ किया हुआ कर्म, फलासक्ति त्याग कर किया कर्म **चित्तस्य शुद्धये**—चित्त की शुद्धि, निर्मलता के लिये होता है। रजोगुण के क्षीण होने से तथा सत्त्वगुण की वृद्धि से मन विशुद्ध होता है। 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये।' गीता ५।११। योगी जन, कर्म फल में ममत्व बुद्धि त्यागकर, अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं। **न तु वस्तु उपलब्धये**—वस्तु, आत्मसाक्षात्कार, मोक्षसिद्धि, उसकी प्राप्ति के लिये कर्म साक्षात हेतु नहीं होता। **वस्तुसिद्धिः**—ज्ञानप्राप्ति सम्यक्दर्शन, योगारूढ़ता **विचारेण**—विचार से होती है, **कर्मकोटिभिः किंचित् न**—करोड़ों कर्मों से भी किंचित् ज्ञानसिद्धि नहीं होती है।

विचार का अर्थ है जो उपदेश गुरु द्वारा मिले उसको युक्तियों से जाँचकर दृढ़ करना और जब तक दृढ़ न हो, विचारते रहना। शास्त्र और गुरुवाक्य का जो सही अभिप्राय हो उसको हृदयंगम करना। जब शास्त्र गुरुवचन का तात्पर्य संशय—विपरीतभावना रहित समझ में आ जाये तब विचार परिपक्व होता है। लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि अविचार आपदाओं का घर होता है ॥११॥

अगले श्लोक में दृष्टान्त देते हैं।

सम्यग्विचारतः सिद्धा रज्जुतत्त्वावधारणा।
भ्रान्त्योदित-महासर्प-भवदुःखविनाशिनी ॥१२॥

अर्थ—अच्छे प्रकार विचार से सिद्ध हुआ रज्जुरूपी तत्त्व का निश्चय भ्रम से उत्पन्न हुए महान् सर्परूपीसंसार दुःख को नष्ट करनेवाला होता है।

व्याख्या—यहाँ विचार की उपमा प्रकाश से है, रज्जु की उपमा आत्म-तत्त्व से है, सर्प की उपमा माया के कार्य जगत् से है। किंचित् अन्धकार में जैसे रस्सी महा सर्प दिखाई पड़ती है, वैसे ही अज्ञानयोग से शुद्ध आत्म-तत्त्व भयानक दुःखरूप जगत भासता है।

भ्रान्त्योदित-महासर्प-भवदुःखविनाशिनी—थोड़े अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी, अज्ञान से महासर्प—विषैला सर्प दिखाई पड़ती है, और उस अज्ञान से उत्पन्न सर्प, वही है संसार, उसका दुःख अर्थात् कम्पनादि भय का नाश करनेवाला होता है, क्या? विवेकरूप दीपक। सम्यक् विचार करके, दीपक जलाने से

महासर्प विलीन हो जाता है, और रज्जु का सही रूप दिखाई देता है। ऐसे ही भव के अधिष्ठान चैतन्य आत्मा के दर्शन होने पर संसार विलीन हो जाता है, और उससे उत्पन्न दुःख भी नष्ट हो जाता है। उस भय के नाश का क्या कारण है ?

रज्जुतत्त्वावधारणा—रज्जु ही तत्त्व है, सर्प नहीं, आत्मा ही तत्त्व है, भव-जगत नहीं, इस प्रकार धारण करना, समझ लेना **सम्यक् विचारतः**—ठीक दीपक, विचार से **सिद्धा**—सिद्ध होती है। यह भयावह सा दृश्य प्रपंच आत्मा ही है, इस प्रकार निश्चय से भय नहीं होता। सम्यक्दर्शननिष्ठा विचार द्वारा प्राप्त होती है। आत्मलाभ ही अभयपद है ।।१२।।

मोक्षोपलब्धि में विचार प्रधान है।

अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारेण हितोक्तितः ।
न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतेन वा ॥१३॥

अर्थ—कल्याणप्रद गुरूपदेश पर विचार करने से ही गुरूपदेश के तात्पर्य का निश्चय होता देखा जाता है; स्नान, दान अथवा सैकड़ों प्राणायामों से नहीं।

व्याख्या—**हितोक्तितः**—हित की उक्ति से, करुणामय श्रीगुरु द्वारा ब्रह्मविद्या के उपदेश से। सदुपदेश के अभाव में साधना की सामग्री नहीं मिलती, इसलिये **विचारेण**—उस पर विचार से, विरोधी युक्तियों के खण्डन से, अनुकूल युक्तियों के मण्डन से **अर्थस्य**—गुरु के उपदेश के तात्पर्य का। इस तात्पर्य को संग्रह रूप से भगवत्पाद आगे कहेंगे, 'ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च, अखण्डरूपस्थितिः एव मोक्षः' जीव ही ब्रह्म है, जगत ही ब्रह्म है, अद्वितीय ब्रह्म में अखण्डरूप से अवस्थान ही मोक्ष है। ऐसा जो गुरु के उपदेश का अभिप्राय है उसमें **निश्चयः**—दृढ़ विश्वास **दृष्टः**—देखा जाता है। विचार से ही असंभावना, अभावना विपरीतभावना, जो कि ब्रह्मज्ञान के प्रतिवन्धक हैं, का नाश होता है, **स्नानेन न**—स्नान से शरीर की वहिरंग शुद्धि होती है, अर्थ निश्चय नहीं, **दानेन वा**—निष्काम दान से अन्तःकरण शुद्ध होता, सकाम से यज्ञ फलता है, स्वर्गादि परलोक मिलता है, पर अर्थ निश्चय नहीं **प्राणायाम शतेन न**—सैकड़ों प्राणायामों से नाड़ी शुद्धि होती है, ज्ञान नहीं होता। स्नान, दान प्राणायामादि सहायक अथवा गौण कारण हो सकते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान तो विचार से ही होता है ।।१३।।

अब संक्षेप से चार श्लोकों में अधिकारी निरूपण करते हैं।

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः ।
उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन्सहकारिणः ॥१४॥

अर्थ—अधिकारी को ही विशेषतः फल-सिद्धि होती है, देश, काल आदि गौण उपाय फल सिद्धि में सहायक होते हैं ।

व्याख्या—**फलसिद्धिः**—ज्ञानसिद्धि, आत्मज्ञान **विशेषतः**—विशेषकर **अधिकारिणम्**—अधिकारी **आशास्ते**—चाहता है । असुर भी सांसारिक विषयों में विचारवान होते हैं, पर वे सम्यक् विचारवान नहीं होते । ज्ञान तो अधिकारी चाहता है । अधिकारी के लक्षण भगवत्पाद 'मेधावी पुरुषो विद्वानादि' दो श्लोकों में आगे कहेंगे ज्ञान के साधन भी 'साधनान्यत्र चत्वारि' आदि १५ श्लोकों में आगे कहेंगे ।

अस्मिन्—ज्ञान सम्पादन में **देशकालाद्याः उपायाः**—देश-पुण्य देश, गंगा तटादि, काल, ब्रह्म मुहूर्त, अथवा ब्रह्मचर्य-गृहस्थ—वानप्रस्थ—सन्यास आश्रम का काल, आदि पद से आसन, एकान्त ग्रहण करने चाहियें, ऐसे साधन **सहकारिणः**—सहायक, **सन्ति**—होते हैं । अभिप्राय यह है कि वैराग्य—विवेक—षट्संपत्ति—मुमुक्षता ज्ञान साधनों से युक्त साधक ही ज्ञान का अधिकारी होता है, देशकालादि साधन यदि हों तो वहुत ठीक, यदि न हों तो भी ज्ञानोपार्जन में वाधा नहीं आती, मूल भार अधिकारी पर है, देश कालादि उपायों पर नहीं है ।।१४।।

अब अगले श्लोक में पूर्व विषय का, कि विचार से ज्ञानसिद्धि होती है, उपसंहार करते हैं ।

अतो विचारः कर्तव्यो जिज्ञासोरात्मवस्तुनः ।
समासाद्य दयासिन्धुं गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ॥१५॥

अर्थ—अतः ब्रह्मवेत्ताओं में उत्तम दयासागर गुरुदेव की शरण में जाकर जिज्ञासु को आत्म-वस्तु का विचार करना चाहिये ।

व्याख्या—**अतः**—इसलिये **जिज्ञासोः**—आत्मा के ज्ञान को सम्यक् जानने की इच्छा वाले पुरुष को आत्म तत्त्व का विचार करना चाहिये । इसके लिये वह क्या करे ? **ब्रह्मविदुत्तमम् दयासिन्धुम् गुरुम् समासाद्य**—ब्रह्मवेत्ता महात्माओं में जो उत्तम हो, और कैसा, जो दया का सागर हो, ऐसे सद्गुरु की शरण में प्राप्त होकर **आत्मवस्तुनः**—आत्मतत्त्व का **विचारः कर्तव्यः**—विचार करना चाहिये ।

आत्म वस्तु का विचार क्या है ? इस विषय को श्रीभगवत्पाद ने अपने 'अपरोक्षानुभूतिः' नाम के ग्रन्थ में खोला है 'कोऽहं कथमिदं जातं, को वै कर्ताऽस्य विद्यते। उपादानं किमस्तीह, विचारः सोऽयमीदृशः।।' आत्मवस्तु, आत्म विद्या प्राप्त करने के लिये चार प्रश्नों पर विचार करना चाहिये। यही सम्यक् विचार है।
१—मैं कौन हूँ ? क्या मैं कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, जननमरण धर्मा जीव हूँ ?
२—यह जनिमरणजराव्याधिदुःखरूप संसार कैसे उत्पन्न हुआ है ?
३—इस जगत् का कर्ता कौन है ? जीव है कि ईश्वर ?
४—इस जगत् का उपादान कारण क्या है ? उपादान मुख्य कारण को कहते हैं, जैसे घट का उपादान कारण मिट्टी है, कुम्भकार नहीं। उपादान कारण अपने कार्य के स्वरूप में प्रवेश करता है, और कार्य की सृष्टि-स्थित-प्रलय तक रहता है।

ब्रह्मवेत्ताओं में उत्तम गुरु क्यों कहा ? सभी ब्रह्मवेत्ता तो उत्तम होते हैं। ब्रह्मवेत्ताओं में सही उत्तम तो सातवीं भूमिका का ज्ञानी होता है, परन्तु वह निरन्तर निर्विकल्प समाधि में लीन रहने से उपदेश करने में असमर्थ होता है। इसलिये साधकों के लिये चतुर्थी भूमिका का महात्मा ही उत्तम है, क्योंकि पाँचवीं भूमिका में भी वाणी निरुद्ध सी हो जाती है, अन्तर्मुखी वृत्ति होने से। दयासिंधु इसलिये कि ज्ञानवान का किसी से प्रयोजन नहीं होता, 'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।' गीता ३।१८। इसलिये लोक संग्रह को दृष्टि में रखते हुये ब्रह्मवेत्ता अहेतुक दयासिन्धु होता है। गुरु के विना ज्ञान नहीं मिलता, 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति श्रुतिः छान्दोग्योपनिषद ६।१४।२।, ।।१५।।

अब अगले दो श्लोकों में अधिकारी के लक्षण कहते हैं।

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः।
अधिकार्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः ।।१६।।

अर्थ—जो तीक्ष्णबुद्धि हो, शास्त्रों का ज्ञाता हो और तर्क-वितर्क में कुशल हो ऐसे लक्षणोंवाला पुरुष ही आत्मविद्या में अधिकारी होता है।

व्याख्या—'अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिः विशेषतः' भगवत्पाद ने अधिकारी के लिये ही ज्ञानसिद्धि कही है, वह अधिकारी कौन है ? **मेधावी**—मेधायुक्त, सूक्ष्मबुद्धि, ब्रह्मोपदेश ग्रहण करने की सामर्थ्यवाली सूक्ष्म बुद्धि से युक्त, आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। इसका ग्रहण 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।' इति कठश्रुतिः, १।३।१२। मेधावी पुरुष ही कर सकता है **पुरुषः**—आदमी, स्त्री

नहीं, स्त्री का नियमपूर्वक बाध भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि चुडाला, मदालसादि ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। विद्वान्—पठित पुरुष, जिसने काव्य कोश व्याकरणादि का अध्ययन कर रक्खा हो, शास्त्रों का ज्ञाता अतः **ऊहापोहविचक्षणः**—तर्क कुशल, खण्डन मण्डन में समर्थ। जो पूरी तृप्ति के बिना 'मेरी समझ में आ गया है', ऐसी स्वीकृति न दे। अपने अज्ञान निवारण के लिये जो नम्रतापूर्वक रचनात्मक प्रश्न कर सके। तर्क शील होना गुण है, पर कुतर्की होना दोष है। गुरु से कुतर्क अथवा अतिप्रश्न न करे। गुरुओं की अप्रसन्नता नाश का हेतु है। ऊपर कहे हुये—मेधावी-विद्वान्-ऊहापोहविचक्षण—लक्षणों से युक्त ही पुरुष **आत्मविद्यायाम् अधिकारी**—ब्रह्म विद्या, जिसका फल भव-बन्ध—विमुक्ति है, में अधिकारी होता है ।।१६।।

विवेकिनो विरक्तस्य शमादि-गुणशालिनः।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासा-योग्यता मता ।।१७।।

अर्थ—सदसद्विवेकी, वैराग्यवान, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति सम्पन्न मुमुक्षु की ही ब्रह्मजिज्ञासा में योग्यता मानी जाती है।

व्याख्या—पूर्व श्लोकों में 'संन्यस्तवाह्यार्थसुखस्पृहः', 'समाहितात्मा', 'पण्डित' 'धीर' 'मेधावी' आदि शब्दों से अधिकारी के लक्षण बताये हैं। अब ब्रह्मजिज्ञासा की योग्यता किसको होती है यह बताते हैं। विवेकी, विरक्त, शमादिगुण युक्त, मुमुक्षु—इन शब्दों के प्रयोग से भगवत्पाद ज्ञान के चार साधनों की, जिनका वर्णन अगले श्लोकों में किया जायेगा, प्राक् सूचना देते हैं।

विवेकिनः—विवेकवान्, आत्मा अनात्मा में जो विवेक कर सके, उसकी **विरक्तस्य**—वैराग्य सम्पन्न की, जो इहलोक तथा परलोक के भोगों से घृणा करे, उसकी **शमादिगुणशालिनः**—जो षट्सम्पत्ति से युक्त हो, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान—ये छः मिलकर षट् सम्पत्ति होती है, यह षट्वर्ग एक साधन गिना जाता है, उसकी तथा **मुमुक्षोः**—मोक्ष की इच्छा वाले की **एव—ही**, 'एव' कहने से अन्य कारणों का निवारण किया है **ब्रह्मजिज्ञासा-योग्यता**—जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा, ब्रह्म की जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा, उसमें योग्यता—विवेक वैराग्यादि साधन-चतुष्टययुक्त साधक की ही योग्यता **मता**—मानी जाती है।

ब्रह्मवेत्ता महात्माओं की दिव्य दृष्टि होती है। वे एक दृष्टि में ही साधक के भूत भविष्यत् बल्कि पूर्व जन्मों तक के संस्कारों का पता लगा लेते हैं। कोई अनधिकारी साधक ब्रह्मवेत्ता गुरु को धोखा नहीं दे सकता ।।१७।।

साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति ॥१८॥

अर्थ—वेदव्यासादि मुनियों ने ज्ञान के चार साधन बताये हैं, उनके होने पर ही सत्यस्वरूप आत्मा में स्थिति हो सकती है, उनके विना नहीं।

व्याख्या—**मनीषिभिः**—श्रुति तात्पर्य जानने वाले वेदव्यासादि मुनियों से **अत्र**—ज्ञान की प्राप्ति में **चत्वारि साधनानि कथितानि**—चार साधन कहे गये हैं **येषु सत्सु एव**—इन साधनों के होने पर ही ब्रह्मजिज्ञासा मानी जाती है, इनके अभाव में ब्रह्मजिज्ञासा की योग्यता नहीं रहती **सत्निष्ठा**—सत् नाम ब्रह्म का है उसमें निष्ठा, स्थिति अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार करने की योग्यता मानी जाती है। **यत्**—जिसके, साधनचतुष्टय के **अभावे**—अभाव में **न सिद्ध्यति**—सन्निष्ठा, ब्रह्मबोध नहीं हो सकता ॥१८॥

अब साधन चतुष्टय, विवेक वैराग्यादि के लक्षण बताते हैं, बारह श्लोकों में।

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते।
इहामुत्र - फलभोग - विरागस्तदनन्तरम् ॥
शमादि-षट्कसम्पत्ति मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ॥१९॥

अर्थ—प्रथम साधन नित्यानित्य-वस्तु-विवेक गिना जाता है, दूसरा इस लोक एवं परलोक के सुख-भोग में वैराग्य होना है, तीसरा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये छः सम्पत्तियाँ हैं और चौथा मुमुक्षुता है। यह स्पष्ट है।

व्याख्या—अब साधन चतुष्टय के नाम बताते हैं। **आदौ**—आरम्भ में पहला साधन **नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकः**—नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक, भेद जानना **परिगण्यते**—गिना जाता है **तदनन्तरम्**—विवेक के पीछे **इह-अमुत्र-फलभोग-विरागः**—इस लोक तथा परलोक के भोगों में घृणा, **शमादिषट्क-सम्पत्तिः**—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये षट्सम्पत्ति कहलाती है। **मुमुक्षुत्वम्**—संसार बन्धन से छूटने की इच्छा मुमुक्षता कहलाती है **इति स्फुटम्**—यह स्पष्ट है ॥१९॥

संक्षेप में साधन चतुष्टय के नाम बता कर, अब विशेष रूप से प्रत्येक का निरूपण करते हैं। पहले विवेक का।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्य-वस्तुविवेकः समुदाहृतः ॥२०॥

अर्थ—'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है,' इस प्रकार का जो यह निश्चय है, वही नित्यानित्य-वस्तु-विवेक कहलाता है।'

व्याख्या—ब्रह्म सत्यम्—ब्रह्म सत्य है, नित्य है। सत् उसे कहते हैं जिसकी सत्ता भूत वर्तमान भविष्यत् तीन कालों में अबाधित हो, अथवा जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीन अवस्थाओं में ज्यों का त्यों अविकारी रहे। 'सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म' इति श्रुतिः, तैत्तिरीयोपनिषद २।१।६ ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, । 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' ब्रह्म नित्य, सर्वव्यापी, सर्वगत (सर्व अर्थ प्रकाशक) और सूक्ष्म है। **जगत् मिथ्या**—जगत् मिथ्या है। पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय तथा मन बुद्धि से जो ग्रहण किया जा सके वह जगत। जो हो नहीं, परन्तु जिसकी प्रतीति हो वह मिथ्या, जैसे स्वप्न सृष्टि। 'नेति नेति' बृहदारण्यकोपनिषद २।३।६, यह सत्य नहीं है, यह सत्य नहीं है 'यो वै भूमा तदमृतम्' 'अथ यदल्पं तन्मृत्यम्' छान्दोग्य ७।२४।१ ब्रह्म अमृत है, जगत् मरनेवाला है। 'अनित्यं असुखं लोकम्' गीता ९।३३। इन प्रमाणों से ब्रह्म सत्य तथा जगत् मिथ्या सिद्ध होता है **इति एवम् रूपः (सः) विनिश्चयः**—इस प्रकार जो दृढ, संशयरहित निश्चय, विश्वास है **सः**—वह **अयम्**—यही दृढ निश्चय **नित्यानित्य-वस्तुविवेकः**—नित्य अनित्य वस्तु का विवेक **समुदाहृतः**—कहलाता है। यही विवेक ज्ञान के अगले साधन वैराग्य का उत्पादक है। जिसने जगत को मिथ्या जान लिया, वह मिथ्या वस्तु की क्या कामना करेगा ? जगत् को निःसार जान कर वह विरक्त हो जायेगा ।।२०।।

विवेक का निरूपण करके अब वैराग्य का निरूपण करते हैं।

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ॥२१॥

अर्थ—नेत्र और श्रवणादि से ग्राह्य देह से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोगपदार्थों में जो घृणाबुद्धि है वही 'वैराग्य' है।

व्याख्या—देहादि-ब्रह्मपर्यन्ते दर्शनश्रवणादिभिः—इस लोक के देहादि जो भोग हैं, उनसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त तक के दिव्य देहादि जो भोग हैं, उनमें घृणा बुद्धि वैराग्य कहलाता है। दर्शन से रूप-भोग, श्रवण से शब्द-भोग, आदि पदों

स्पर्श-भोग, रस-भोग, गन्ध-भोग, समझने चाहिये। देह शब्द के आगे जो आदि पद है उससे मानसिक काल्पनिक भोग समझने चाहिये। 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' गीता ३।६। जो कर्मेन्द्रियों को तो भय लज्जा के कारण नियंत्रित रखता है, पर मन में इन्द्रिय भोगों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी, दम्भी होता है। दृष्ट-अदृष्ट श्रुत-अश्रुत, स्थूल-सूक्ष्म दिव्य सब प्रकार के भोगों में घृणा वैराग्य कहलाता है। दर्शन श्रवण आदि से ग्राह्य भोग।

इन सब **अनित्ये**—अस्थायी, नाशवान, आदि अन्तवाले **भोगवस्तुनि**—भोग के विषयों में, शब्दादि विषयों में **या**—जो **जुगुप्सा**—घृणा, ग्लानि, काकविष्ठा में घृणा के सदृश घृणा **तत् वैराग्यम्**—वह वैराग्य कहलाता है। वैराग्य षट्-सम्पत्ति का कारण है ॥२१।

अब शम का लक्षण कहते हैं।

विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ॥२२॥

अर्थ—विषय-समूह में वारंवार दोष देखने से, उनसे विरक्त होकर मन का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना ही 'शम' है।

व्याख्या—**मुहुःमुहुः**—वारम्वार **दोष दृष्ट्या**—दोष दृष्टि से 'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख दोषानुदर्शनम्' गीता १३।८। जन्म-मरण, वृद्धावस्था (बुढ़ापा), रोग, दुःख जो संसार का रूप है उसमें दोष दृष्टि रखने से **विषयव्रातात्**—शब्दस्पर्शादि विषय समूह से **विरज्य**—विराग करके **मनसः**—मन की **स्वलक्ष्ये**—आत्मा के लक्ष्य में, ब्रह्मसाक्षात्कार लक्ष्य में **नियता अवस्था**—निश्चल, निर्विकारी अवस्था, स्थापना **शमः उच्यते**—शम कहलाती है। मन स्वभाव से विषयानुगामी है, वहिर्मुख है। उसको वारम्वार विषयों से हटा कर अपने लक्ष्य में स्थिर करना शम होता है। 'चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि वलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥' गीता ६।३४। अर्जुन भगवान कृष्ण के प्रति कहता है कि मन अत्यन्त चंचल है, साधक को अपनी साधना से हिला देता है, वलवान् और हठधर्मी है, इसे वश में करना वड़ा कठिन है। भगवान् अर्जुन की वात का अनुमोदन करते हुए कहते हैं, 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' गीता ६।३५ अभ्यास और वैराग्य से मन अपने अधिकार में आ जाता है। मुहुः-मुहुः कहने से अभ्यास की ओर संकेत है, और 'दोषदृष्ट्या' कहने से वैराग्य का प्रयोजन है। इस श्लोक में भग-

वत्पाद ने न केवल मन को रोकना ही वताया है वल्कि उसकी विधि भी वतलाई है, 'दोष दृष्ट्या' विषयों में बार-बार दोष देखे। ज्ञानसाधना में मन का निग्रह अत्यन्त आवश्यक है। 'यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत्' गीता ६।२६। जव भी मन अपने लक्ष्य से भागे, तभी उसको घेर कर अपने वश में करे। इस प्रकार लक्ष्य में मन की स्थिरावस्था शम कहलाती है। शम वैराग्यजन्य है, क्योंकि विवेकी विरक्त पुरुष ही मन का शमन कर सकता है। २२।।

अव दम और उपरति के लक्षण वताते हैं।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः ।।२३।।
बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ।।२४।।

अर्थ—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों को उनके विषयों से हटा कर अपने-अपने गोलकों में स्थिर करना 'दम' कहलाता है। वृत्ति द्वारा विषयों का ग्रहण न करना यही उत्तम 'उपरति' है :

व्याख्या—मन का निग्रह शम, और इन्द्रियनिग्रह दम कहलाता है। **उभयेषाम् इन्द्रियाणाम्**—दोनों प्रकार की इन्द्रियों को कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, और वाणी, हाथ, पाँव, लिंग-योनि, गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनको **विषयेभ्यः**—विषयों से शब्दादि विषयों से **परावर्त्य**—हटा कर **स्वस्वगोलके** अपने-अपने गोलकों में, निवास स्थानों में, श्रवण इन्द्रिय का गोलक कान है, ऐसे ही घ्राण इन्द्रिय का निवास स्थान नासिका है। इन्द्रियों को अपने गोलकों में **स्थापनम्**—स्थापित करना **सः दमः परिकीर्तितः**—दम कहा जाता है। इन्द्रियों को चंचलता रहित, व्यापार रहित करना स्वगोलकों में स्थापन करना है। इन्द्रियों का स्वविषयों में गमन क्लान्तकारी है। उनका स्थापन श्रमहारी तथा सुखदायक है। मन को इन्द्रियों का राजा कहते हैं, तो भी इन्द्रियाँ वड़ी वलवान् हैं, 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः' गीता २।६०। इन्द्रियाँ वहुत वलवान् हैं, ये मन का मथन कर डालती हैं, और अपने साथ कर लेती हैं, उसको विषयों की ओर वल से खेंच ले जाती हैं। 'इन्द्रियेभ्यः परं मनः'। गीता ३।४०। मन इन्द्रियों से अधिक सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। जो मन का निग्रह कर सकेगा, इन्द्रियाँ उसके वश में हो जायेंगी। दमन का हेतु शमन है। दोनों प्रकार की इन्द्रियों को अन्तःकरण की

जिस वृत्ति विशेष द्वारा निगृहीत किया जाता है, उस वृत्ति विशेष को दम कहते हैं। मन इन्द्रियों का स्वामी है, शमित मन इन्द्रियों के दमन में समर्थ है, अशमित मन नहीं ।।२३।।

वृत्तेः—वृत्ति का, अन्तःकरण का परिणाम वृत्ति कहलाता है मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार ये अन्तःकरण की चार मुख्य वृत्तियाँ हैं। श्रीभगवत्पाद आगे कहेंगे, 'मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति'—ये अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं। वृत्ति का **बाह्यानालम्बनम्**—बाह्य पदार्थों का अग्रहण **एषा उत्तमा**—यही उत्तम, श्रेष्ठ **उपरतिः**—उपरति है। शम-दम का फल उपरति है। जब मन और इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण न करें तब उपरति प्राप्त होती है। यदि इन्द्रियाँ और मन विषयों का आश्रय न लेंगे तो क्या होगा ? अपने लक्ष्य में स्थिर रहेंगे। 'आत्मरतिः आत्मतृप्तः', उनकी वृत्ति आत्मा में लीन होगी। अपने स्वरूप में लीन वृत्ति का भोगों में आश्रय लेने के लिये पुनः न उठना यही उपराम की चरम सीमा है। यह बात श्रीभगवत्पाद आगे कहेंगे ।।२४।।

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ।।२५।।

अर्थ—चिन्ता और शोक से रहित बिना कोई प्रतीकार किये सब प्रकार के दुःखों का सहना 'तितिक्षा' कहलाती है।

व्याख्या—जब चित्त बाह्यपदार्थों का अवलम्बन न करेगा तभी शीतोष्ण सुख दुःखादि द्वन्द्व की अप्रतीति होगी, और यदि कर्मवश द्वन्द्वों की प्रतीति भी हो तो उसके सहन की शक्ति तितिक्षा सिद्ध होगी।

अप्रतीकारपूर्वकम्—सामर्थ्य होने पर भी बिना प्रतीकार किये, यदि शीत हो तो कम्बल का, गर्मी हो तो पंखे आदि का प्रयोग न करना। यदि ये सहन न हों तो चिन्ता और विलाप करना पड़ता है। परन्तु शीतोष्ण दुःखसुखादि का प्रतीकार भी न करना और उस प्रतीकार के अभाव में **चिन्ताविलापरहितम्**—चिन्ता और विलाप भी न करना, इस प्रकार **सर्वदुःखानाम्**—सर्व प्रकार के दुःखों का, दैहिक, भौतिक, दैविक त्रि-तापों का **सहनम्**—सहन करना **सा तितिक्षा**—वह सहन शक्ति **निगद्यते**—कही जाती है ।।२५।।

विवेक-वैराग्य-शम-दम-उपरति-तितिक्षा से युक्त साधक में श्रद्धा का होना आवश्यक है, क्योंकि श्रद्धाविहीन पुरुष को मार्ग दर्शक तथा साधना का आधार

उपलब्ध नहीं होगा, 'संशयात्मा विनश्यति' गीता ४।४०। श्रद्धाविहीन नष्ट हो जाता है। इसलिये अब श्रद्धा निरूपण करते हैं।

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यावधारणम्।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥२६॥

अर्थ—शास्त्र और गुरुवचन में सत्य बुद्धि करना—इसी को सज्जनों ने 'श्रद्धा' कहा है, जिससे कि बोध की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—**शास्त्रस्य**—शास्त्र का, वेदान्त वचन का जैसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का तथा **गुरुवाक्यस्य**—ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के अनुभव युक्त वचनों का **सत्यबुद्ध्या**—सत्य बुद्धि से, शास्त्र गुरु के वचन सत्य हैं इस प्रकार **अवधारणम्**—धारण करना, ग्रहण करना, उनमें दृढ़ विश्वास करना **सा**—उनकी सत्य बुद्धि से स्वीकृति **सद्भिः**—सत्पुरुषों द्वारा **श्रद्धा कथिता**—श्रद्धा, भक्ति कही गई है। **यया**—इस श्रद्धा के बलसे **वस्तु**—आत्मबोध, मोक्ष **उपलभ्यते**—प्राप्त होता है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' गीता ४।३९। श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धारहित पुरुष शास्त्र गुरु के वचनों में विश्वास नहीं करेगा और 'तेनोपदिष्टार्थ' के अनुसार साधना में प्रवृत्त नहीं होगा, इसलिये उसे मोक्ष-सिद्धि नहीं मिलेगी ॥२६॥

अब समाधान के लक्षण कहते हैं।

सम्यक् संस्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वदा।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥२७॥

अर्थ—अपनी बुद्धिवृत्ति को सदा शुद्ध ब्रह्म में ही भले प्रकार स्थिर रखना इसी को 'समाधान' कहा है। चित्त के दुलार का नाम समाधान नहीं है।

व्याख्या—**सर्वदा**—निरन्तर यत्न द्वारा, मन को चंचलतारहित करके, इन्द्रियों को निर्विषय करके **बुद्धेः**—बुद्धि का, निश्चयात्मिका बुद्धिवृत्ति का **शुद्धे**-सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, निर्गुण **ब्रह्मणि**—ब्रह्म में, स्वलक्ष्य में, ब्रह्म का जो स्वरूप गुरुमुख से सुना हो और शास्त्र में पढ़ा हो, उस ब्रह्म में **सम्यक् संस्थापनम्**—बुद्धि का दृढ़ता से स्थापन करना, प्रतिष्ठित करना **तत् समाधानम् इति उक्तम्**—उसको समाधान कहते हैं, लक्ष्य में बुद्धि की एकाग्र संलग्नता समाधान कहलाती है।

चित्तस्य—चित्त का लालनम् न तु—दुलार नहीं। जैसे शिशु को दुलार करते हैं, ऐसे चित्त का दुलार, शृंखला रहित प्रयास, अनियमित प्रयत्न समाधान नहीं कहलाता। शम-दम-उपरति-तितिक्षा ये साधन हैं, और समाधान उनका फल है। शमदमादि की परिपक्वावस्था समाधान कहलाती है। षट् सम्पत्ति के सम्बन्ध में वेद का यह प्रमाण है: 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो (श्रद्धान्वितः) भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' बृहदारण्यक ४।४।२३।, शम, दम, उपरति, तितिक्षा समाधान, श्रद्धा से युक्त होकर अन्तःकरण में अपने स्वरूप का साक्षात्कार करे।।२७।।

यहाँ तक षट् सम्पत्ति वर्णन करके अब मुमुक्षुता निरूपण करते हैं।

अहङ्कारादि-देहान्तान्-बन्धानज्ञान-कल्पितान् ।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ।।२८।।

अर्थ—अहंकार से लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञानकल्पित बन्धन हैं, उनसे अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा छूटने की इच्छा 'मुमुक्षुता' है।

व्याख्या—अहंकारादि देहान्तान्—अहंकार से लेकर देह तक जितने **अज्ञान कल्पितान् बन्धान्**—अज्ञान से कल्पित बन्ध हैं, **स्व-स्वरूपावबोधेन**—अपने स्वरूप के ज्ञान से उन बन्धनों से **मोक्तुम्**—छूटने की **इच्छा—चाह मुमुक्षुता—मुमुक्षुता** कहलाती है।

श्रीभगवत्पाद अहंकार को आगे इस प्रकार वर्णन करेंगे, 'अन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि। अहं इति अभिमानेन तिष्ठति आभासतेजसा। अहंकारः स विज्ञेयः' मन, इन चक्षुकर्णादि ज्ञानेन्द्रियों में, वाणी आदि कर्मेन्द्रियों में, प्राणादि में और स्थूल शरीर में, 'मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान से ठहरता है। मन तो जड हैं, उसमें अभिमान कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं, 'आभासतेजसा' अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिफल, प्रतिविम्व पड़ता है, जिस से वह चेतन सा हो जाता है। आत्मा का, जो कि विम्व है, उस आभास के साथ, जो कि प्रतिविम्व है, तादात्म्य सा हो जाता है, और आत्मा मोहित हुआ जीव भाव को प्राप्त सा हुआ अपने को कर्ता-भोक्ता सुखी-दुःखी मानने लगता है। इस प्रकार आभासतेज से प्रकाशित जड अन्तःकरण चक्षु आदि इन्द्रियों में और शरीर में 'मैं यह हूँ' ऐसा अभिमान करने लगता है, और आत्मा भी उसके साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त होकर उसके धर्मों को अपने में आरोपित सा कर लेता है। चेतन, आत्मा के प्रतिविम्व से युक्त अन्तः-करण अहंकार होता है।

अथवा, आनन्दमय-विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय-अन्नमय इन जड कोशों को आत्मा समझ बैठना अहंकार है। अपने स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ में आत्मस्थिति रखना अहंकार है। पंच कोशों में अन्तिम अन्नमय कोश, स्थूल देह कहाता है। अहंकार तत्त्व से लेकर स्थूल देह पर्यन्त जो आत्मा की उपाधिमात्र हैं, और उपाधि होने से बन्धन हैं, वे सब अज्ञान कल्पित हैं, माया द्वारा विरचित हैं, उन बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा मुमुक्षुता है। उसका उपाय क्या है? अपने स्वरूप में जागना। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अखण्डानन्दघन परिपूर्ण अद्वितीय आत्मा हूँ, अन्य कुछ नहीं है, इस प्रकार अपने स्वरूप का साक्षात्कार, आत्मा में सम्यक् दर्शन से निष्ठा होने पर अविद्या कल्पित बन्धनों से साधक मुक्त होता है ।।२८।।

मन्दमध्यमरूपापि वैराग्येण शमादिना।
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ।।२९।।

अर्थ—वह मुमुक्षुता मन्द और मध्यम भी हो तो भी वैराग्य, शमादि षट्-सम्पत्ति और गुरुकृपा से तीव्र होकर फल उत्पन्न करती है।

व्याख्या—मन्दमध्यमरूपापि—मुमुक्षुता तीन प्रकार की होती है, मन्द, मध्यम तथा प्रवृद्धा (तीव्र)। अध्यात्मशास्त्र के पठन से जो मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है, वह मन्द मुमुक्षुता होती है। नित्यसुखरूप मोक्ष जो नर से नारायण पद देनेवाला है, और नित्यप्राप्त होने पर भी अज्ञान वश जो अप्राप्त सा होता है, उसको प्राप्त करने के लिये साधक जब गुरु की शरण में जाता है तब वह मुमुक्षुता मध्यम होती है। **सा इयम्**—ऐसी मन्द-मध्यम मुमुक्षुता भी तीन कारणों से **प्रवृद्धा**—अर्थात् तीव्र मुमुक्षुता में परिणत हो जाती है। ये तीन कारण कौन से हैं? १—**वैराग्येण**—वैराग्य से, यद्यपि मुक्ति परमानन्ददाता है तो भी जिनके अन्तःकरण में भवभोगों की वासना है, उनको मोक्षेच्छा दुर्लभ है, इस लिये वैराग्य से, २—**शमादिना**—शमदमादि षट्सम्पत्ति के अभ्यास से, तथा ३—**गुरोः प्रसादेन**—गुरु की कृपा से, गुरु मुख से ब्रह्मविद्या के उपदेश श्रवण से तीव्र हुई मुमुक्षुता **फलम् सूयते**—अभीष्ट फल, मोक्षफलदायिनी है। अर्थात् मन्द-मध्यम मुमुक्षुता सद्यःफलदायिनी नहीं। तीव्र मुमुक्षु विलम्ब नहीं सहता है, इस ग्रन्थ में जो शिष्य गुरु का सम्वाद है, उसमें शिष्य तीव्र मुमुक्षु है। ।।२९।।

शमदमादि कब फलवान् होते हैं, दो श्लोकों में बताते हैं।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥३०॥

अर्थ—जिस साधक में वैराग्य और मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं, उसी में शमादि अर्थयुक्त और सफल होते हैं ।

व्याख्या—**यस्य तु**—जिस साधक का **वैराग्यम्**—विराग—'इहामुत्रफलभोग विरागः' **च**—तथा **मुमुक्षुत्वम्**—मोक्ष की इच्छा **तीव्रम्**—तीक्ष्ण, प्रवृद्ध **विद्यते**—है **तस्मिन् एव**—उसी साधक में ही, अन्य में नहीं, मन्द वैराग्य अथवा मन्द मुमुक्षुता वाले साधक में नहीं **शमादयः**—शमादि षट्सम्पत्ति **अर्थवन्तः**—तीव्र वैराग्यवान् को, जिसको इहलोक से परलोक तक के भोग असह्य हैं, शमादि षट्सम्पत्ति अर्थवान् हैं, प्रयोजन-पूर्ण हैं, लाभदायक हैं, और **फलवन्तः स्युः**—जिसकी मुमुक्षुता तीव्र है, उसको शमादि षट्सम्पत्ति फल देने वाले हैं । वैराग्य, षट्सम्पत्ति का, साधन है, षट्सम्पत्ति मुमुक्षुता का कारण है ॥३०॥

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्व-मुमुक्षयोः ।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता ॥३१॥

अर्थ—जिस साधक में वैराग्य और मुमुक्षुत्व इन दोनों की मन्दता है, वहाँ शमादि को भी मरुस्थल में जल प्रतीति के समान आभासमात्र ही समझना चाहिये ।

व्याख्या—**यत्र एतयोः विरक्तत्व-मुमुक्षयोः मन्दता**—जिस साधक में वैराग्य और मुमुक्षुता की मन्दता होती है, जिसमें वैराग्य और मुमुक्षुता तीव्र नहीं है, **तत्र**—उस साधक के लिये **शमादेः**—शमदमादि षट्-सम्पत्ति, **मरौ**—मरुभूमि में **सलिलवत्**—जल के सदृश **भासमात्रता**—आभासमात्र है । जैसे प्रचण्ड सूर्य की किरणों के संयोग से मरुभूमि में मृगतृष्णा जल की नदी भासती है, पर उसमें जल नहीं होता और प्यासे को जल लाभ नहीं होता, ऐसे ही मन्द वैराग्यवान को शमादि अर्थवान नहीं होते, और उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । शमादि का फल मुमुक्षुता है । शमादि के अर्थवान न होने से मोक्ष नहीं मिलता, उस अवस्था में शमादि मृगतृष्णा नदी के जल के समान दर्शनमात्र, सारहीन होते हैं, अर्थवान, फलवान नहीं होते ॥३१॥

अब मन्दबुद्धि वालों के लिये मोक्ष साधन बताते हैं ।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्व-स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥३२॥
स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः ।

अर्थ—मुक्ति की कारणरूपा सामग्री में मन्दाधिकारियों के लिये भक्ति ही सबसे बढ़कर है। अपने स्वरूप का, निर्गुण उपासना के माध्यम से, अनुसन्धान करना 'भक्ति' कहलाता है। अन्य आचार्य अपने स्वरूप के तत्त्व का, सगुण उपासना के माध्यम से, अनुसन्धान ही भक्ति है—ऐसा कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ तक ज्ञान के साधन-चतुष्टय का वर्णन किया है, किसके लिये? ऐसे साधकों के लिये जो 'मेधावी पुरुषो विद्वान् ऊहापोहविचक्षणः' और फिर कहा है 'वस्तुसिद्धिर्विचारेण'। परन्तु जो वैराग्यवान और मुमुक्षु साधक हैं पर मन्द बुद्धि हैं, 'मेधावी' 'विद्वान्' और 'ऊहापोहविचक्षण' नहीं हैं, और मन्द बुद्धि होने के कारण विचार में असमर्थ हैं, अथवा अन्य किसी प्रतिबन्ध से विचार में असमर्थ हैं, और व्याकुल चित्त हैं, उनकी क्या गति होगी? इस स्थिति को ध्यान में रखकर करुणामय भगवत्पाद ऐसे साधकों के लिये मार्ग दर्शाते हैं।

मोक्ष-कारण-सामग्र्याम् भक्तिः एव गरीयसी–मन्द बुद्धि, विचार में असमर्थ साधकों के लिये मोक्ष के जो कारणसमूह हैं, उनमें भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। इसमें कैवल्योपनिषद का यह प्रमाण है, 'श्रद्धा-भक्ति-ध्यान-योगादवैहि' श्रद्धा, भक्ति, ध्यान योग से उसे प्राप्त करो। इस श्रुति में ज्ञान का साधन भक्ति भी बताया है। ऐसे ही भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के प्रति गीता के १३ वें अध्याय में 'अमानित्वमदम्भित्वमादि' बहुत से ज्ञान के कारण कहे हैं, उनमें 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' मुझमें अनन्य भक्ति भी एक कारण कहा है। भक्ति क्या होती है? इस पर कहते हैं।

स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिः इति अभिधीयते–स्व अर्थात् आत्मा के स्वरूप का अनुसन्धान भक्ति कही जाती है। मोक्ष के कारण समुदाय में स्वस्वरूपानुसंन्धान सर्वोपरि है। जहाँ मेधावी, विचार कुशल साधक को श्रवण-मनन-निदिध्यासन से स्वस्वरूपानुसन्धान मिलता है, वहाँ निर्गुण उपासक को भी स्वस्वरूपानुसन्धान प्राप्त होता है। 'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् तद्योगैरपि गम्यते'। गीता ५।५, जिस मोक्ष रूप स्थान को विचारवाले प्राप्त करते हैं, उसी मोक्षरूप स्थान को निर्गुण उपासना वाले भी प्राप्त होते हैं। श्रवण-मनन-निदिध्यासन का जो फल है वही निर्गुण उपासना का फल है। गुरु द्वारा वेदान्त शास्त्र का तात्पर्य श्रवण करना श्रवण कहलाता है। उस सुने हुए तात्पर्य को अपनी युक्तियों द्वारा पुष्ट करना मनन कहलाता है, मनन कुतर्कनाशक है। श्रवण और मनन किये हुए तात्पर्य का वारम्वार अभ्यास करना निदिध्यासन कहलाता है। निदिध्यासन से विपरीत

भावना तथा भ्रान्ति नाश होते हैं। परिपक्व निदिध्यासन ही निर्विकल्प समाधि अथवा आत्मसाक्षात्कार कहलाता है। वही मोक्ष है।

श्रवण-मनन-निदिध्यासन प्रखर मस्तिष्क वाले मुमुक्षुओं का मार्ग है। निर्गुण उपासना मन्दबुद्धि मुमुक्षुओं का मार्ग है। श्रद्धावान, विरक्त मुमुक्षु को यथार्थ वक्ता गुरु के मुख से निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश सुनकर विश्वास उत्पन्न हो जाता है। उसमें विचार की आवश्यकता नहीं। चित्तवृत्तियों का नदी धारा-वत् प्रवाहकारता उपासना कहलाती है। विजातीय प्रत्ययों का तिरस्कार करके सजातीय प्रत्ययों का प्रवाह करके अपने उपास्य निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करना और घटपटादि का चिन्तन नहीं करना उपासना का स्वरूप है। उपासना से चित्त की व्याकुलता भी नष्ट होती है। जितने काल पर्यन्त उपास्य वस्तु के स्वरूप का अभि-मान उपासक को प्राप्त न हो उतने काल तक उपास्य वस्तु का चिन्तन करना।

किस प्रकार? 'आत्मा सब शरीरों में व्याप्त सर्व से सम्बन्धरहित, असंग, निर्लेप, निर्विकार, अकर्ता, अभोक्ता, अक्रिय, स्वयंप्रकाश, एकरस, देश-काल-वस्तु परिच्छेदरहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद शून्य, सत्ता मात्र से सर्व का प्रकाशक, सर्व का उत्पादक, सर्व का रक्षक, सर्व का पोषक, सर्व का संहारक सर्वनाम, सर्वरूप, सर्वातीत, सर्वरहित, अच्युत, अद्वय, अखण्ड, सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण परमात्मा है, और वही आत्मा मैं हूँ'। इस प्रकार निर्गुण उपासक अपने इष्ट का चिन्तन करता हुआ अन्त में इष्ट के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् स्वयं निर्गुण ब्रह्म बन जाता है, यही मोक्ष है। 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतिः मुण्डक ३।२।६। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही होता है।

उपासना भेद बुद्धि से होती है। उपास्य और है, उपासक और है, इस तरह दो की सत्ता मानकर आरम्भ में भेद उपासना, संवादी भ्रम की न्याईं होती है, परन्तु उस का फल अभेद है, अर्थात् जीव ही ब्रह्म है। निर्गुण ब्रह्म का अभिमान उपासक में आ जाता है, और वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है। मैं ही निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप वाला हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भेद बुद्धि निवृत्त हो जाती है। जैसे किसी को मणि की प्रभा दिखाई पड़े, और मणि दिखाई न पड़े, और वह प्रभा देख कर उसके समीप जाये और मणि को प्राप्त हो जाये। यह सम्वादी भ्रम है। निर्गुण ब्रह्म की उपासना से निदिध्यासन की अवस्था प्राप्त हो जाती है। मेधावी साधक को श्रवण मनन कर के विचार बल से निदिध्यासन अवस्था प्राप्त होती है, मन्दबुद्धि को केवल निर्गुण उपासना से ही, विचार के न होते हुए भी,

निदिध्यासन अवस्था प्राप्त होती है। निदिध्यासन के दीर्घाभ्यास से सविकल्प, और फिर निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। मन्दबुद्धि परन्तु विरक्त और मुमुक्षु साधक निर्गुण उपासना द्वारा स्व स्वरूपानुसन्धान करता है, यही भक्ति है। निर्गुण उपासना का फल मोक्ष नृसिंहतापिनी उपनिषद में वताया है। इसलिये मन्द बुद्धि के लिये भक्ति मोक्ष के कारणों में सर्वोपरि है ।।३२।।

स्वात्मतत्त्वानुसन्धानम् भक्तिः इति—अपने आत्मा, अर्थात् जीव के तत्त्व के रहस्य का अनुसन्धान, खोज भक्ति है **अपरे जगुः**—दूसरे आचार्य ऐसा कहते हैं। मोक्ष के कारण समुदाय में अपने जीवभाव के रहस्य की खोज सर्वोपरि है। यहाँ सगुण भक्ति से प्रयोजन है। जो साधक मन्दबुद्धि भी हो, विचार में कुंठित हो, पर जिस का हृदय वलवान, प्रेमी स्वभाव, और भावुक हो, ऐसा साधक यदि विरक्त और मुमुक्षु भी हो तो उसके लिये अपने स्वरूप की खोज सगुण भक्ति मार्ग द्वारा अपने इष्ट के माध्यम से सरलता से सम्भव है। उसके लिये विश्वरूप प्रभु की-चाहे वह भगवान विष्णु हो, शिव हो, दुर्गा हो, त्रिपुरसुन्दरी हो—सगुण उपासना मार्ग सर्वोपरि ज्ञान साधन है।

इसमें गीता के भगवद्वचन प्रमाण हैं। 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। तेषामेवानुकम्पार्थमहं अज्ञानजं तमः। नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।' १०।१०–११। वाह्य तृष्णाओं से रहित होकर मेरा निरन्तर और प्रीतिपूर्वक—अप्रीति से नहीं—भजन करनेवालों को मैं बुद्धियोग देता हूँ। प्रभु के यथार्थ ज्ञान का नाम बुद्धि है। उस बुद्धियोग के वल से वे मुझ आत्मरूप परमेश्वर को आत्मरूप से समझ लेते हैं। ऐसे ही कल्याण चाहनेवाले भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये मैं उनके अन्तःकरण में बैठा हुआ उनके अज्ञानरूप अन्धकार को विवेक बुद्धिरूप ज्ञानदीप द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

ऐसे ही भक्तियोग नामक १२ वें अध्याय में भगवान् के वचन हैं, 'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। हे अर्जुन ! जो मुझ विश्वरूप परमेश्वर की उपासना में लगे हुये हैं, उन भक्तों का मैं ईश्वर उद्धार करने वाला होता हूँ—विलम्व नहीं करता, शीघ्र की उद्धार करता हूं।

सगुणोपासना में साधक जीव भाव से चलता है, भेदबुद्धि से आरम्भ करता है। मैं उपासक जीव हूँ, और मेरा उपास्य देव ईश्वर है, मैं अल्पज्ञ अल्पशक्ति परतन्त्र

जीव अपने सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्र इष्ट की, अपने आपे को जानने के लिये, शरण में जाता है। ऐसे भेदबुद्धि वाले प्रेमी साधक पर ईश्वर अनुग्रह करते हैं। उसकी भेदबुद्धि नष्ट कर देते हैं और अनुभव से निश्चय करा देते हैं, कि उसका उपास्य देव उसका अपना आपा उसका आत्मा ही है। गीता के १४ वें अध्याय में भी भगवद्वचन प्रमाण हैं, 'मां च यः अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' जो साधक, सब भूतों के हृदय में स्थित मुझ परमेश्वर, विष्णु को, अव्यभिचारी भक्तियोग द्वारा सेवन करता है—भजन का नाम भक्ति है, वही योग है, उस भक्तियोग के द्वारा जो मेरी सेवा करता है, वह माया के तीनों गुणों का अतिक्रमण करके मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ है।

अभिप्राय यह है कि साधक में तीव्र वैराग्य और तीव्र मुमुक्षुता ये दो साधन चाहियें, तब विचार द्वारा, यदि साधक का मस्तिष्क बलवान् है; अथवा निर्गुणोपासना द्वारा, यदि साधक विचार में असमर्थ है; सगुणोपासना द्वारा, यदि साधक विचार अकुशल भावुक प्रेम स्वभाव वाला है, वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

विचारवान और निर्गुण उपासक अपनी साधना के बल से पार होते हैं। इसलिये फल प्राप्ति में स्वतन्त्र हैं। सगुणोपासक ईश्वर द्वारा ऊपर खैंचा जाता, है, फल प्राप्ति यद्यपि निश्चित है, पर है परतन्त्र ॥३२ तथा अर्ध ३३॥

गुरुसमीप गमन।

उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः ॥३३॥
उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्ध-विमोक्षणम्।

अर्थ—पूर्वोक्त साधन-चतुष्टय से सम्पन्न आत्मतत्त्व का जिज्ञासु ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट जाय, जिससे उसकी भव-बन्ध से निवृत्ति हो।

व्याख्या—उक्तसाधनसम्पन्नः—पूर्व श्लोकों में कहे हुए विवेक वैराग्यादि साधनों से युक्त साधक **आत्मनः**—अपने आत्मा के **तत्त्वजिज्ञासुः**—तत्त्व की जानने की इच्छावाला साधक **प्राज्ञम्**—स्थितप्रज्ञ, ब्रह्मवेत्ता **गुरुम्**—सद्गुरु की शरण **उपसीदेत्**—जाये। **यस्मात्**—ऐसे गुरु की शरण में जाने से और उसके उपदेश पर आचरण करने से **बन्धविमोक्षणम्**—अज्ञान कल्पित 'अहंकारादि देहान्तान्' बन्धन छूटते हैं, अच्छी प्रकार टूट जाते हैं। श्री भगवत्पाद ने श्लोक ४२८ में प्रज्ञा की इस प्रकार परिभाषा की है, 'ब्रह्मात्मनोः शोधितयोः एकभावावगाहिनी। निर्विकल्पा च

चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते' ।। ऐसी प्रज्ञा से युक्त प्राज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाये ।।३३।।

सद्गुरु के लक्षण बताते हैं ।

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ।।३४।।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ।।३५।।
तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्व-प्रश्रयसेवनैः ।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ।।३६।।

अर्थ—जो श्रोत्रिय निष्पाप कामनाओं से शून्य ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हो, ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त हो, अकारण दयासिन्धु हो और प्रणत मुमुक्षुओं का बन्धु हो, उस गुरुदेव की विनीत और विनम्र सेवा से भक्तिपूर्वक आराधना करके, उसके प्रसन्न होने पर निकट जाकर अपना ज्ञातव्य इस प्रकार पूछे—

यः श्रोत्रियः—जो उपनिषदों का ज्ञाता । 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैर्दिज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वम्, त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ।।' जन्म से ब्राह्मण उपनयनादि संस्कारों से द्विज कहाता है, विद्योपार्जन से विप्रता प्राप्त होती है, और तीनों से श्रोत्रिय कहाता है । विद्यावान संस्कार युक्त ब्राह्मण श्रोत्रिय कहलाता है **अवृजनः**—निष्पाप **अकामहतः**—आप्तकाम, जिसकी सब कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं, निष्काम, **ब्रह्मवित्तमः**—ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ, **ब्रह्मणि उपरतः**—अपने स्वरूप, ब्रह्म में जिसे उपराम मिल गया हो, वाह्य विषयों में अनासक्त, अन्तर्मुखीवृत्ति वाला **निरिन्धनः अनलः इव शान्तः**—इन्धन के जलने से जैसे अग्नि शान्त होती है, ऐसा शान्त । जिसने समस्त दृश्य प्रपंच को ज्ञानाग्नि से दग्ध कर दिया है, और द्वैत इन्धन के अभाव में अब शान्त, निर्विकार, निर्धूम अग्नि के सदृश, अग्नि की भस्म नहीं, ऐसा शान्त । वाह्य विषयों के अनावलम्बन से शान्त, और शिष्यों के अज्ञान को दहन करने के लिये अग्नि, ऐसा ।

अहेतुकदयासिन्धुः—अकारण दयासागर । प्रत्युपकार की इच्छा न रखते हुए उपकारी **आनमताम् सताम् बन्धुः**—विनयी नम्र सत्पुरुषों का बन्धु, दुःखहारी, शठों का नहीं । 'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन । न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।' इति गीता १८।६७, **तम् गुरुम्**—ऐसे सद्गुरु को, उक्त

लक्षण-युक्त गुरु को भक्त्या–पूजनीय पुरुषों में अनुराग भक्ति, उससे **प्रह्व-प्रश्रय-सेवनैः**–प्रह्व, नम्रकाय, हाथ जोड़कर; प्रश्रय, विनीतवाक्य, मीठी वाणी; सेवा, चरण सेवा, वस्त्रक्षालन, कुटिया को झाड़-पोंछना आदि **आराध्य**–सेवाओं से प्रसन्न करके, **प्रसन्नम् तम्**–और उसको प्रसन्नचित्त **अनुप्राप्य**–प्राप्त करके यथाविधि उसके समीप जाकर **आत्मनः**–अपना **ज्ञातव्यम्**–जानने योग्य बात, वांछित ज्ञानोपदेश **पृच्छेत्**–पूछे। गुरु की प्रसन्नता अत्यावश्यक है, क्योंकि बिना प्रगाढ़ हर्षोल्लास के ब्रह्मविद्या देने के लिये वाणी नहीं खुलती। 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' मुण्डकोपनिषद् १।२।१२ ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास शिष्य समिधा हाथ में लेकर जाय। गुरु के पास जाने की यह विधि है।।३७।।

गुरु से प्रार्थना, छः श्लोकों में।

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूडामणिः' पर पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा विरचित 'सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' का विषयामुख नाम प्रथम प्रकरण समाप्त।

२—श्रवण प्रकरण—

इस प्रकरण में मुख्य विषय आरम्भ होता है। एक अधिकारी शिष्य सद्गुरु की शरण में जाता है, और भवतरण का उपाय पूछता है। वह शिष्य सात प्रश्न करता है। श्रीगुरु इनके उत्तर देते हैं। इन उत्तरों में पूर्ण वेदान्त प्रक्रिया आ जाती है।

स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो
कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या
ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥३७॥

अर्थ—हे नम्र सत्पुरुषों के मित्र, दयासागर प्रभो! आपको नमस्कार। संसार-सागर में पड़े हुए मेरा आप अपनी सरल तथा अतिशय कारुण्यामृत-वर्षिणी कटाक्ष दृष्टि से उद्धार कीजिये।

व्याख्या—स्वामिन्—हे प्रभो! अज्ञान नाश में समर्थ **नतलोकबन्धो**—हे नम्र सत्पुरुषों के वन्धु, दुःख मोचक, उद्दण्डों के नहीं **कारुण्यसिन्धो**—हे दयानिधे, अहेतुक दयासिन्धु, **ते नमः**—आपके लिये मेरा नमस्कार हो। प्रणाम करके शिष्य अपना दुःख निवेदन करता है। **भवाब्धौ**—संसार सागर में, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिखरूप संसार में **पतितम्**—गिरे हुए **माम्**—मुझको, अर्थात् आपकी सहायता के विना निकलने में असमर्थ मुझको, **उद्धर—निकालो**, यहाँ शिष्य प्रार्थना करता **है कि मुझको** निकालो, खेंच कर निकालो, मेरा कल्याण करो, कैसे?

ऋज्व्या अतिकारुण्य-सुधाभिवृष्ट्या आत्मीय-कटाक्षदृष्ट्या—अपनी कटाक्ष दृष्टि से, साधारण दृष्टि से नहीं, साधारण दृष्टि और कटाक्ष दृष्टि में **अन्तर है।** कटाक्ष वाण की तरह हृदय को बींध देता है। 'वे चितवन कछु और हैं जिनवश

होत सुजान' महाकवि विहारी। यहाँ चितवन का अर्थ कटाक्ष है। इस कटाक्ष दृष्टि की तीन विशेषतायें कही हैं, ऋजु-सरल, जिससे मेरी कुटिलता का नाश हो, करुणायुक्त–जिससे मेरा भय शमन हो, सुधाभिवृष्टि–अमृत वरसानेवाली, जिससे मेरा अज्ञानजनित सन्ताप शान्त हो। जिन साधकों पर गुरु-कृपा का कटाक्ष पड़ा है, वे ही कटाक्ष रहस्य जानते हैं। कटाक्ष कभी भूला नहीं जाता। कटाक्ष के साथ गुरुजन शक्तिपात करते हैं। इस कटाक्ष का अनुभव शिष्य इसी ग्रन्थ में आगे व्यक्त करेगा, 'यत्कटाक्ष शशि......' जिस कृपा-कटाक्ष से मैंने अमर पद पाया है ॥३७॥

दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं, दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः।
भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः, शरण्यमन्यं यदहं न जाने ॥३८॥

अर्थ—जिसका निवारण अति कठिन है उस संसार-दावानल से दग्ध तथा पापरूप प्रवल प्रभंजन (आँधी) से अत्यन्त कम्पित और भयभीत हुए मुझ शरणागत की आप मृत्यु से रक्षा कीजिये; क्योंकि मैं और किसी रक्षक को नहीं जानता।

व्याख्या—संसार ही वन की अग्नि है, उससे मैं जल रहा हूँ, और आपके उपदेशामृत विना नहीं बच सकता **दुर्वार-संसार-दवाग्नितप्तम्**–दुर्वार, जिसका निवारण न किया जा सके, संसार, जनन-मरण-जरा-व्याधि दुःखरूप संसार, यही है दवाग्नि, वन की आग, इससे तप्त और **दुरदृष्टवातैः**–दुरदृष्ट–पाप, वही है, वात-वायु अर्थात् अग्निसखा वायु, उसके झोंकों से, अग्नि के अनुकूल झोंकों से **दोधूयमानम्**–कम्पायमान **भीतम्**–डरे हुए **प्रपन्नम्**–मुझ शरणागत की **मृत्योः**–मृत्यु से, इस अग्नि में पड़ने से मुझे प्रत्यक्ष मृत्यु दिखाई देती है उससे **परिपाहि**–रक्षा करो, कैसे? 'ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या आत्मीयकटाक्षदृष्ट्या' अपनी सरल करुणामृतवर्षिणी कृपाकटाक्ष से मेरा उद्धार करो। **यत्**–क्योंकि **अहम्**–मैं **अन्यम् शरण्यम्**–दूसरे रक्षक को **न जाने**–नहीं जानता अर्थात् मैं अनन्य शरणागत हूँ ॥३८॥

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥३९॥

अर्थ—भयावह संसार-सागर से स्वयं पार हुए और अन्य मुमुक्षु जनों को भी विना कारण ही तारते तथा ऋतुराज वसन्त के समान लोकहित के लिये आचरण करते हुए अति शान्त महापुरुष निवास करते हैं।

व्याख्या—वसन्तवत्–वसन्त ऋतु की तरह, 'ऋतूनाम् कुसुमाकरः,' गीता १०।३५ ऋतुओं में मैं ऋतुराज वसन्त हूँ। वर्षा, ताप, शीत आदि से रहित होने से वसन्त ऋतु की न्याईं **लोकहितम्**–लोक में सुख **चरन्तः**–उत्पन्न करते हुए, **स्वयं**–अपने आप **भीमभवार्णवम्**–भयंकर संसार-सागर को **तीर्णाः**–पार किये हुए, स्वयं ब्रह्मसाक्षात्कार किये हुए और **अहेतुना**–अकारण ही, 'अहेतुकदयासिन्धुः' **अन्यान् अपि**–दूसरोंको भी 'मग्नं संसारवारिधौ' 'पतितं भवाब्धौ' ऐसों को **जनान्**–शरणागत मोक्ष के अधिकारियों को **तारयन्तः**–अपने अव्यर्थ ब्रह्मज्ञानोपदेश से पार करते हुए **शान्ताः**–निर्विकार, 'निरिन्धन इवानलः शान्तः', ब्रह्मतेज से शान्त **महान्तः**–'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', इति श्रुतिः, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है और ब्रह्म 'महतो महीयान्' इति श्रुतिः, बड़े से बड़ा होता है, निस्पृह होन से महान्, 'जिनको किछू न चाहिये सोई शाहंशाह।' **सन्तः**–सज्जन **निवसन्ति**–निवास करते हैं ।।३९।।

अयं स्वभावः स्वत एव यत्परश्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम् ।
सुधांशुरेष स्वयमर्क-कर्कश-प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ।।४०।।

अर्थ—क्योंकि महात्माओं का यह स्वभाव है कि वे स्वतः ही शरणागत मुमुक्षु का दुःख दूर करने में प्रवृत्त होते हैं। सूर्य के प्रचण्ड तेज से सन्तप्त पृथ्वी-तल को चन्द्रदेव स्वयं ही शीतल कर देते हैं। यह प्रसिद्ध है।

व्याख्या—यत्–क्योंकि **अयम् स्वभावः**–यह, स्वभाव है, स्वभाव में कारण नहीं खोजा जाता, महात्मा स्वभाव से 'अहेतुकदयासिन्धुः' होते हैं **महात्मनाम्**–ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं का **स्वतः एव**–स्वयं ही, अकारण ही यह स्वभाव होता है **परश्रम-अपनोदप्रवणम्**–दूसरों के, शरणागत मुमुक्षुओं के श्रम–दुःख, क्लेश, अविद्या जनित दुःख, उसका अपनोद–निवारण, उसमें आसक्ति, व्यग्रता। महात्मा स्वभाव से परदुःखभंजनहारी होते हैं।

इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं। **अर्क-कर्कश-प्रभाभितप्ताम्**–अर्क, सूर्य के कर्कश, प्रचण्ड तेज से तपी हुई **क्षितिम्**–पृथ्वी को **सुधांशुः**–चन्द्रमा, शीतल किरणोंवाला **एषः**–यह चन्द्रमा **स्वयं**-अपने आप, दूसरों से प्रेरित होकर नहीं **अवति**–रक्षा करता है, शीतल करता है, **किल**–यह प्रसिद्ध है ।।४०।।

महात्माओं के गुणों की प्रशंसा करके अपने मन्तव्य को प्रगट करता है:—

ब्रह्मानन्द-रसानुभूति-कलितैः पूतैः सुशीतैः सितै-
र्युष्मद्वाक्कलशोज्झितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय ।
सन्तप्तं भवतापदावदहन-ज्वालाभिरेनं प्रभो
धन्यास्ते भवदीक्षण-क्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः ।।४१।।

अर्थ—हे स्वामिन् ! संसार-दावानल की ज्वाला से तपे हुए इस शरणागत को आप अपने ब्रह्मानन्दरसानुभव से युक्त पुनीत, सुशीतल, निर्मल वाक्-रूपी स्वर्णकलश से निकले हुए श्रवणसुखद वचनामृतों से सींचिये । वे धन्य हैं, जो आपकी एक क्षण के लिये करुणामय दृष्टिपथ के पात्र होकर अपनालिये गये हैं ।

व्याख्या—हे प्रभो—हे सर्वशक्तिमान ! **भवदीक्षण-क्षणगतेः**—आपकी करुणा-दृष्टि क्षण भर प्राप्त होने से **पात्रीकृताः**—आश्रित किये हुए जो साधक **स्वीकृताः**—अपने वना लिये गये हैं, **ते धन्याः**—वे साधक धन्य हैं, कृतार्थ हो जाते हैं । जिन को आप क्षण भर भी कृपा कटाक्ष डालकर आश्रय दे देते हैं, उनका अज्ञानजनित भय नष्ट होना अवश्यंभावी है । महर्षि वशिष्ठ ने ऐसा कृपा-कटाक्ष राजा विपश्चित पर डालकर उसके पाप नष्ट किये थे । यह कथा योग वाशिष्ठ में आती है ।

अव वड़े विनय से शिष्य प्रार्थना करता है । **भवतापदाव-दहन-ज्वालाभिः**—संसार का सन्ताप ही वन की अग्नि है, उसकी ज्वालाओं से झुलसे हुए **एनम्**—इसको, अर्थात् मुझको, जो आपके सामने प्रस्तुत है उपदेशामृत से सिंचन करें जिससे मुझे शान्ति मिले ।

अव श्री गुरु की वाणी के विशेषण देते हैं, कैसी वाणी से सिंचन करे ? **ब्रह्मानन्द-रसानुभूतैः**—ब्रह्मानन्द ही रस है, जिसकी अनुभूति आपको हो चुकी है, उस रस से युक्त, मिश्रित अर्थात् अनुभववाणी से, अनुभवपूर्ण होने से **पूतैः**—पवित्र, 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' गीता ४।३८। ज्ञान के समान पवित्र करने वाली अन्य कोई वस्तु नहीं है, ऐसे सकलकल्मषहारी वचनों से, पूत होने से **सुशीतैः**—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक त्रि-तापों को शीतल करने वाले, नाश करने वाले वचनों से, तापहारी होने से **सितैः**—निर्मल, रजोगुण तमोगुण को दवाने वाले सत्त्वगुण की वृद्धि करने वाले वचनों से **युष्मद्वा-क्कलशोज्झितैः**—आपकी वाणी ही स्वर्णकलश, उसमें से निकलते हुए वचनों से,

अनुभववाणी होने से **श्रुतिसुखैः**–कानों को सुख देने वाले **वाक्यामृतैः**–वाक्य ही अमृत हैं, ऐसे अमृत वाक्यों से **सेचय**–सिंचन करो, मुझको उपदेश दो, 'भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः', मैं आपकी शरण में आ चुका हूँ, मेरी रक्षा करो ।।४१।।

उपदेश के लिये प्रार्थना करके अब साधक अपनी कठिनाइयाँ श्रीगुरु के सामने रखता है।

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः ।
जाने न किञ्चित्कृपयाव मां भोः संसारदुःख-क्षतिमातनुष्व ।।४२।।

अर्थ—इस संसार-सागर को 'मैं कैसे तरूँ? मेरी क्या गति है? उसका क्या उपाय है?—यह मैं कुछ नहीं जानता। प्रभो! कृपया मेरी रक्षा कीजिये और मेरे संसार-दुःख के क्षय का उपाय करें।'

व्याख्या—**एतम् भवसिन्धुम्**–इस संसार सागर को, कैसा संसार सागर? 'भीमभवार्णवम्' ऐसे को **कथम्**–किस प्रकार **तरेयम्**–पार करूँ, तरूँ, **वा**–यदि मैं भवसिन्धु में ही पड़ा रहूँ तो **का मे गतिः**–मेरी क्या गति होगी? यह संसार दुःख रूप तो मुझे दिखाई दे ही रहा है, इसलिये इसको पार करने के लिये **कतमः उपायः अस्ति**–कौन सा उपाय है? **किंचित् न जाने**–मैं कुछ नहीं जानता, मैं इतना जानता हूँ कि मैं भीमभवार्णव से भयभीत हूँ, और आपकी रक्षा का पात्र हूँ। **माम्**–मुझको 'भीतं प्रपन्नम्' **भोः कृपया**–हे प्रभो! कृपा करके **अव**–रक्षा कीजिये, क्योंकि आप 'कारुण्य-सिन्धुः' हैं, और 'पर-श्रमापनोदप्रवणम्' आपका स्वभाव है, **संसार-दुःख क्षतिम्**–संसार-दुःख के नाश का **आतनुष्व**–आयोजन करें, उपाय करें।

विषय का किंचित् ज्ञाता ही प्रश्न करने में समर्थ होता है। साधक ने पूर्व में कहा है, 'किंचित् न जाने' मैं कुछ नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि संसार से भयभीत हूँ। मेरी क्या गति होगी? इसका कोई उपाय है कि नहीं। साधक ने अपनी असहाय स्थिति व्यक्त की है ।।४२।।

अब भगवत्पाद गुरु का कर्त्तव्य बताते हैं, दो श्लोकों में।

तथा वदन्तं शरणागतं स्वं, संसारदावानल-तापतप्तम् ।
निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्र-दृष्ट्या, दद्यादभीतिं सहसा महात्मा ।।४३।।

अर्थ—इस प्रकार प्रार्थना करते हुए, अपनी शरण में आये संसारानल से संतप्त ज्ञानाधिकारी को ब्रह्मनिष्ठ गुरु करुणामयी दृष्टि से देखकर सहसा **अभय** प्रदान करे।

व्याख्या—तथा वदन्तम्–'भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः' 'पतितं भवाब्धौ मामुद्धर' 'कृपयाव माम्' इस प्रकार विधिवत् विनय वचन कहते हुए को **स्वम् शरणागतम्**–स्वेच्छा से अपनी शरण में आये हुए को, ब्रह्मवेत्ताओं का यह नियम है कि अधिकारी जब तक शरणागति स्वीकार नहीं करता है,और उपदेश के लिये स्वयं प्रार्थना नहीं करता है, तब तक ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं करते। गीता में अर्जुन ने युद्ध के दोषों को भगवान् के प्रति वर्णन किया। भगवान् कृष्ण चुपचाप सुनते रहे, कुछ नहीं बोले। अन्त में जब अर्जुन ने कहा 'शिष्यस्तेऽहं, शाधि मां, त्वां प्रपन्नम्' मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ, मुझे उपदेश दीजिये; तब भगवान् ने अर्जुन को मोहनिवृत्त करनेवाली ब्रह्मविद्या कही।

संसारदावानलताप-तप्तम्–संसाररूपी वन की अग्नि से सन्तप्त अर्थात् इहलोक परलोक के भोगों से विरक्त, ऐसे शिष्य के शरणागत होने पर, गुरु को क्या करना चाहिये सो बताते हैं **कारुण्यरसार्द्र-दृष्ट्या**–करुणा रस से स्निग्ध दृष्टि द्वारा **निरीक्ष्य**–निरीक्षण करके, परीक्षा कर के, और यदि परीक्षा में सफल हो तो **महात्मा**–ब्रह्मनिष्ठ गुरु **सहसा**–तुरन्त, विचार किये विना ही **अभीतिम् दद्यात्**–अभयदान दे।

गुरु परीक्षा भी करते हैं। ब्रह्म-निष्ठ महात्माओं की दिव्य दृष्टि होती है। वे एक ही दृष्टि में साधक का भूत भविष्यत वर्तमान जान लेते हैं। शास्त्रों में गुरु परीक्षाओं का उल्लेख भी मिलता है। महात्मा यमराज ने साधक नचिकेता की परीक्षा ली थी। यह वार्ता कठोपनिषद में है। जो साधक गुरु द्वारा 'पात्रीकृताः, स्वीकृताः' परीक्षा में पास कर लिये जाते हैं, उन को सर्वप्रथम गुरु अभयदान दे, क्योंकि भीत पुरुष का चित्त व्याकुल होता है, और व्याकुल चित्त ब्रह्मविद्या जैसे सूक्ष्म विषय को ग्रहण नहीं कर सकता ।।४३।।

विद्वान्स तस्मा उपसत्तिमीयुषे, मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे।
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय, तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ।।४४।।

अर्थ—उपदिष्टमार्ग का सम्यक् अनुष्ठान करने वाले शान्तचित्त, शमादिगुणों से युक्त, शरणागत शिष्य के लिये गुरु कृपा करके इस प्रकार ब्रह्मविद्या का उपदेश करे।

व्याख्या—सः विद्वान्–वह ब्रह्मवित्तम गुरु **तस्मा (तस्मै)**–उसके लिये **उपसत्तिम् ईयुषे**–विधिवत् शरणागत भाव को प्राप्त हुए **मुमुक्षवे**–मोक्ष की कामना वाले के लिये **साधु यथोक्तकारिणे**–उपदिष्ट मार्ग का सम्यक् रूप से अनुष्ठान करने

वाले के लिये **प्रशान्तचित्ताय**–भोगों में विराग होने से जिसका चित्त शान्त है, संसारभय से गुरु ने अभीतिदान देकर जिसके व्याकुलचित्त को शान्त कर दिया है, उसके लिये **शमान्विताय**-शमादि सम्पत्ति से युक्त, निगृहीत मन उसके लिये, गुरु **कृपया एव**–अनुग्रह करके ही **तत्त्वोपदेशम्**–ब्रह्म ज्ञान का उपदेश **कुर्यात्**–करे।

यहाँ गुरु का कर्तव्य बताया है। यद्यपि ब्रह्मनिष्ठ महात्मा आप्तकाम होने से किसी से प्रयोजन नहीं रखता, तो भी लोक-संग्रह के लिये अधिकारी को ब्रह्मविद्या कथन करे, उसके प्रति उदासीन भाव न दर्शाये। अधिकारी को ब्रह्मविद्या का उपदेश देने से ब्रह्मविद्या की रक्षा होती है और आचार्य शिष्य की परम्परा बनी रहती है ॥४४॥

शिष्य के प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

श्रीगुरुरुवाच

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः, संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं, तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥४५॥

अर्थ—श्री गुरुदेव ने कहा—हे विद्वन्! तू डर मत, तेरा नाश नहीं है। संसार-सागर से तरने का उपाय है। जिस मार्ग से ही यतिजन इसके पार गये हैं वही मार्ग मैं तुझे बताता हूँ।

व्याख्या—श्रीगुरुः उवाच–श्रीगुरु ने कहा **विद्वन्**–हे विचारवान मुमुक्षु! **मा भैष्ट**–भय मत करो, निर्भय हो जावो, अब हमने तुमको पात्र समझ कर स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार गुरु, शिष्य को, अभयदान दे। **तव अपायः नास्ति**–तेरा नाश, अकल्याण नहीं है, क्योंकि तुम सन्मार्ग पर चल रहे हो, यथोक्तकारी, प्रशान्तचित्त, शमादिगुणों से मण्डित हो। 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।' गीता ६।४०। कल्याण मार्ग पर आरूढ़ साधक की दुर्गति नहीं होती। 'का वा गतिर्मे' इस प्रश्न का यह उत्तर है। 'कथम् तरेयं भवसिन्धुमेतं' तथा 'कतमोऽस्त्युपायः' इन दो प्रश्नों का उत्तर आगे देते हैं। **संसारसिन्धोः**–संसार सागर के **तरणे**–पार करने में **उपायः अस्ति**–उपाय है। इस प्रकार शिष्य को आश्वासन देकर श्रीगुरु उसको अभय करता है **येन एव**–जिस उपाय से ही **यतयः**–मुमुक्षुगण, सन्यासी **अस्य**–भवसागर के **पारम् याताः**–पार–गये हैं **तम् एव मार्गम्**–उसी प्रसिद्ध मार्ग को **तव-निर्दिशामि**–तुझे दिखाता हूँ, तुझे उपदेश करता हूँ। नये मार्ग का नहीं, आजमाये हुए मार्ग का उपदेश करता हूँ ॥४५॥

अस्त्युपायो महान्कश्चित्संसारभय-नाशनः।
येन तीर्त्वा भवाम्भोधिं परमानन्दमाप्स्यसि ।।४६।।

अर्थ—कोई एक महान् उपाय है जो संसार भय का नाश करनेवाला है। जिसके द्वारा तू संसार-सागर पार करके परमानन्द प्राप्त करेगा।

व्याख्या—अस्ति कश्चित्—है कोई **महान् उपायः**—महान, प्रसिद्ध उपाय, बहुत यत्नों से साध्य, स्वस्वरूपानुसन्धानरूप उपाय, परीक्षित मार्ग, और कैसा मार्ग? **संसारभय-नाशनः**—संसार भीति का नाश करनेवाला **येन**—जिसके अनुसरण से, आचरण से **भवाम्भोधिम् तीर्त्वा**—संसार सागर को, भीमभवार्णव को पार करके **परमानन्दम्**—परम, सर्वोत्कृष्ट आनन्दरूप मोक्ष को **आप्स्यसि**—प्राप्त होगा, **दुःख** का अत्यन्त निराकरण होगा, **और** नित्य-निरतिशय-निरन्तर आनन्द की प्राप्ति होगी ।।४६।।

उस उपाय की ओर साधारण संकेत करते हैं।

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम्।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ।।४७।।

अर्थ—वेदान्त-वाक्यों के तात्पर्य का विचार करने से उत्तम ज्ञान होता है, जिसके फलस्वरूप संसार-दुःख का निःशेष नाश हो जाता है।

व्याख्या—वेदान्तार्थ—उपनिषदों के अर्थ को, उपदेश को, अभिप्राय को **विचारेण**—विचार करने से, साङ्गोपाङ्ग विचार करने से, उपनिषदों के तात्पर्य को विचार कर संशय, विपरीतभावना रहित समझने से **उत्तमम् ज्ञानम्**—श्रेष्ठ, ब्रह्म का ज्ञान, ब्रह्म साक्षात्कार **जायते**—होता है। आत्मा विजातीय—सजातीय—स्वगत-भेद शून्य, देश-काल—वस्तुपरिच्छेद रहित नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, उस स्वरूप का मुहुर्मुहुः विचार करने से,श्रवण-मनन-निदिध्यासन से ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। **तेन**—उस अपरोक्षानुभूति से **आत्यन्तिक-संसार-दुःखनाशः**—संसार दुःख का निःशेष नाश होता है। आत्मसाक्षात्कार के **अनु**—पीछे संसार भय, जनन-मरण -जराव्याधि भय नहीं रहता, और साधक सिद्ध होकर परमानन्द का भोक्ता होता है, 'परमानन्दमाप्स्यसि' ।।४७।।

'तमेव मार्गं तव निर्दिशामि' की प्रतिज्ञा करके अब उस मार्ग का उपदेश करते हैं।

श्रद्धाभक्ति-ध्यानयोगान्मुमुक्षो मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः ।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात् ॥४८॥

अर्थ—श्रद्धा-भक्ति, ध्यान और योग इनको भगवती श्रुति की वाणी ने मुमुक्षु की मुक्ति के साक्षात् हेतु बताये हैं। जो इनमें स्थित हो जाता है, उसका अविद्या-कल्पित देह-बन्धन से मोक्ष हो जाता है।

व्याख्या—**श्रद्धा**—'शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यावधारणम्। सा श्रद्धा कथिता सद्भिः यया वस्तूपलभ्यते ॥' श्री भगवत्पाद ने इसी ग्रन्थ में श्रद्धा की ऊपर कहे प्रकार से परिभाषा की है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' गीता ४।३९ श्रद्धावान ज्ञान लाभ करता है, श्रद्धाहीन की चेष्टायें असत् होती हैं। **भक्तिः**—'स्वस्वरूपानुसन्धानम्—'अपने स्वरूप की खोज भक्ति, चाहे वह खोज श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा हो, चाहे निर्गुण चाहे सगुण उपासना द्वारा हो, मूल अभिप्राय अपने आत्मभाव को जानने से है **ध्यान**—'ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः। ध्यान-शब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥' अपरोक्षानुभूति ।१२३। 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस सद्वृत्ति से निरालम्बित स्थिति ध्यान शब्द से प्रसिद्ध है, और यह स्थिति, ध्यान, परमानन्द, मोक्ष देने वाला है। सूक्ष्म वृत्ति एकाग्र होकर ब्रह्माकार बन जाती है, यही वृत्ति मोक्षदाता है। ध्यान से युक्त होना ध्यानयोग है।

योगान्—'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः' चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है, इनको, श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, योग इन चारों को, अथवा श्रद्धा तो सब हेतुओं में समानता से व्याप्त है, बाकी भक्ति और ध्यान दोनों के साथ योग जोड़ने से भक्तियोग, ध्यानयोग बनेंगे। इनको वेद भगवान ने मोक्ष के साक्षात् हेतु कहा है।

विचारवान श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा अपने स्वरूप को खोजे। मन्द-बुद्धि निर्गुणोपसाना द्वारा, और मन्दबुद्धि भावुक साधक सगुणोपासना द्वारा आत्मा के तत्त्व को खोजे। ध्यान में—विचारवान निदिध्यासन द्वारा संशय विपर्यय रहित ब्रह्मभावना से अपने को जाने, मन्दबुद्धि निर्गुण अथवा सगुण स्वरूप के ध्यान के माध्यम से अपने को जाने। ध्यान चाहे निर्गुण का हो चाहे सगुण का उससे बाह्य-प्रत्ययों का निराकरण होता है और एकाग्रता आती है। फल प्राप्ति में तीनों समान है। ध्यान में ठहर-ठहर कर एकाग्रता आती है, बीच-बीच में शिथिल पड़ जाता है, तब पुनः पुरुषार्थ करना चाहिये। **मुमुक्षोः**—मुमुक्षु की **मुक्तेः**—मुक्ति के **हेतून्**—

कारणों को, साधनों को **साक्षात्**–प्रत्यक्ष **श्रुतेः गीः**–वेद भगवान की वाणी **वक्ति**–कहती हैं। श्रद्धा-भक्ति-ध्यानयोग वेद प्रमाण से मोक्ष के हेतु हैं। इसमें कैवल्योपनिषद की श्रुति प्रमाण है। 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि'॥२॥ श्रद्धा भक्ति ध्यान योग से उसको जानो, प्राप्त हो।

यः वा एतेषु एव–जो श्रद्धा भक्ति ध्यान योग, इनमें ही तिष्ठति–श्रद्धालु, भक्तिमान, ध्याता, योगी बनता है, **अमुष्य**–उसका **अविद्याकल्पितात्**–माया विरचित, मिथ्या **देहबन्धात्**–देह वन्ध से, मैं देह हूँ इस प्रकार अज्ञान से देहबुद्धि वन्ध से, देहाध्यास से **मोक्षः**–छुटकारा होता है ॥४८॥

देहबन्ध को अगले श्लोक में खोलते हैं। संग्रहरूप से वन्ध का कारण, कार्य तथा निवारण वताते हैं। अगले श्लोक में पूर्ण वेदान्त प्रक्रिया संक्षेप में कथन की गई हैं।

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः।
तयोर्विवेकोदितबोधवह्निरज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम् ॥४९॥

अर्थ—तुझ परमात्मा को अनात्म-बन्ध अज्ञान के कारण ही है इसीलिये तुझे संसार प्राप्त हुआ है। अतः आत्मा और अनात्मा के विवेक से उत्पन्न हुआ बोधरूप अग्नि अज्ञान के कार्यरूप संसार को मूल (अज्ञान) सहित भस्म करता है।

व्याख्या—तव परमात्मनः–तुझ असंग परमात्मा को **अज्ञानयोगात्**–अनादि-अविद्या के सम्वन्ध से **हि अनात्मबन्धः**–ही अनात्म वस्तुओं में, देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि है। वास्तव में, परमार्थदृष्टि से तू शुद्ध परमात्मा है, परन्तु माया के संयोग से तू अपने को शरीरादि समझता है। यही अनात्म वन्ध है। **ततः एव**–अनात्म बन्ध होने के कारण से **संसृतिः**–संसार, जनन-मरण-जराव्याधि-दुःख रूप संसार है। **तयोः**–आत्मा अनात्मा के **विवेकोदित बोधवन्हिः**–भेद ज्ञान से उत्पन्न जो ज्ञानरूपी अग्नि वह **अज्ञानकार्यम्**–अज्ञान कार्य को, संसार को, देहात्म-बुद्धि को 'अहंकारादिदेहान्तान् बन्धान्' को **समूलम्**–मूल सहित, अर्थात् अज्ञान को भी **प्रदहेत्**–अच्छे प्रकार जलाती है, भस्मीभूत करती है। संक्षेप में क्रम इस प्रकार है, संसृति का कारण अनात्मवन्ध, अनात्मवन्ध का कारण अज्ञानयोग, उसकी निवृत्ति का उपाय परमात्मबोध, उसका कारण आत्मानात्मा का विवेक। अज्ञान के बन्ध की ज्ञान से ही निवृत्ति हो सकती है ॥४९॥

गुरु के मुखारविन्द से 'वन्ध' 'मोक्ष' 'ग्रात्मा' 'ग्रनात्मा' 'परमात्मा' 'विवेक' ग्रादि शब्दों को सुनकर शिष्य हर्षित हुग्रा, ग्रौर 'मेधावी पुरुषो विद्वान् ऊहापोह-विचक्षणः' होने से उसने समझ लिया कि गुरु प्रसन्न हैं, इसलिये 'प्रसन्नम् तमनुप्राप्य पृच्छेत् ज्ञातव्यमात्मनः' उनको प्रसन्न पाकर शिष्य ग्रव प्रश्न, ग्रपना ज्ञातव्य पूछता है। गुरु के शब्दों में से सूत्र ग्रहण करके प्रश्न करता है।

शिष्य उवाच

कृपया श्रूयतां स्वामिन्प्रश्नोऽयं क्रियते मया ।
तदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ॥५०॥

ग्रर्थ—शिष्य ने कहा—हे स्वामिन् ! कृपया सुनिये, मैं यह प्रश्न करता हूँ। इसका उत्तर ग्रापके श्रीमुख से सुनकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

व्याख्या—**शिष्यः उवाच**—शिष्य ने कहा **स्वामिन्**—हे स्वामी ! **कृपया श्रूयताम्**—कृपा करके सुनें। **ग्रयम् प्रश्नः**—यह प्रश्न **मया क्रियते**—मेरे द्वारा किया जाता है। इस वाक्य से गुरु के प्रति सम्यक् ग्रादर ग्रौर विनय प्रकट होता है। **भवन्मुखात्**—ग्रापके मुख से **तत् उत्तरम्**—उस प्रश्न के उत्तर को **श्रुत्वा**—सुनकर **ग्रहम् कृतार्थः**—मैं धन्य **स्याम्**—हो जाऊँगा। वाणी की सरल ग्रौर साहसिक गति से शिष्य की तीव्र मुमुक्षुता झलकती है। श्रीगुरुमुख से श्रवण का विशेष माहात्म्य है। केवल लिखे हुए को पढ़ने से बोध नहीं होता। गुरुसंसर्ग ग्रावश्यक है, क्योंकि गुरु ग्रपनी वाणी के साथ शक्तिपात भी करता है। जड स्याही से लिखे जड वाक्यों में वाणी के उपदेश के समान विलक्षण सामर्थ्य कहाँ ॥५०॥

ग्रव शिष्य प्रश्न करता है।

को नाम बन्धः कथमेष आगतः, कथ प्रतिष्ठाऽस्य कथं विमोक्षः ।
कोऽसावनात्मा परमः क आत्मा, तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ॥५१॥

ग्रर्थ—वन्ध क्या है ? यह कैसे हुग्रा ? इसकी स्थिति कैसे है ? ग्रौर इससे छुटकारा कैसे मिल सकता है ? ग्रनात्मा क्या है ? परमात्मा किसे कहते हैं ? ग्रौर उनका विवेक कैसे होता है ? कृपया यह सब कहिये।

व्याख्या—**बन्धः कः नाम** ?—वन्ध क्या होता है ? प्रथम प्रश्न से वन्ध के स्वरूप का निरूपण पूछता है, यह जान लेने पर **कथम् एषः ग्रागतः** ?—दूसरे प्रश्न में उसका कारण पूछता है कि यह बन्ध कैसे ग्राया ? **कथम् ग्रस्य प्रतिष्ठा** ?—तीसरे

प्रश्न में इसकी प्रतिष्ठा, स्थिति कैसे है ? किस हेतु से वन्ध की चिरकाल स्थिति है ? **कथम् विमोक्षः** ? चौथे प्रश्न में इस बन्ध से कैसे छुटकारा हो, निवृत्ति मिले ? **कः असौ अनात्मा** ?—पूर्व में श्री गुरु ने कहा है, 'परमात्मनस्तव हि अनात्म-वन्धः' तुझ परमात्मा को ही अनात्मा का वन्ध सा है, इस लिये पाँचवें प्रश्न में पूछता है कि अनात्मा क्या है ? **कः परमः आत्मा**?—छठे प्रश्न में परम आत्मा, जिस को वन्ध सा हो गया है, कौन है ? **कथम् तयोः विवेकः** ?—सातवें प्रश्न में पूछता है कि किस प्रकार आत्मा और अनात्मा का भेदपूर्वक ज्ञान होता है ? **एतत् उच्यताम्**—यह सब विस्तार पूर्वक कहें ।।५१।।

इन प्रश्नों की स्पष्टता से साधक की मेधा का प्रमाण मिलता है । 'प्रश्नोऽयं क्रियते मया ।' मेरे से यह प्रश्न किया जाता है, पर वास्तव में शिष्य ने लगा-तार सात प्रश्न किये हैं । जैसे अतिक्षुधापीड़ित पुरुष भोजन प्राप्त होने पर उसको आरम्भ में खाता नहीं वल्कि निगलता है, ऐसे ही यह शिष्य 'संसार-दावा-नलतापतप्तः' प्रश्न करने में समता खो बैठता है और एक ही श्वास में सात प्रश्न करता है । प्रश्नों की झड़ी से प्रगट होता है कि शिष्य तीव्र मुमुक्षु है, उसको विलम्ब असह्य है । इस श्लोक से ग्रन्थ का मुख्य विषय आरम्भ होता है । यही श्लोक, जिसमें सात प्रश्न हैं, ग्रन्थ का मूलाधार है ।

श्रीगुरुरुवाच

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया ।
यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ।।५२।।

अर्थ—श्रीगुरु ने कहा—तू धन्य है, कृतकृत्य है, तेरा कुल तुझसे पवित्र हो गया है, क्योंकि तू अविद्यारूपी वन्ध से छूटकर ब्रह्मत्व को प्राप्त होना चाहता है ।

व्याख्या—श्रीगुरु शिष्य के प्रश्नों का सहसा उत्तर देना आरम्भ नहीं करते । ब्रह्मविद्या विषय की कुछ आवश्यक आरम्भिक बातें बतानी हैं । इसलिये पहले शिष्य की श्लाघा करते हैं, जिससे यह प्रफुल्लित मन होकर ब्रह्मविद्या को एकाग्रता से सुने ।

श्रीगुरुःउवाच—शिष्य की तीव्र ब्रह्मजिज्ञासा से श्रीगुरु हर्षित हुए और बोले **धन्यः असि**—तू धन्य है, **कृतकृत्यः असि**—जो करने की वस्तु थी वह तू कर चुका है, शास्त्र विहित वर्णाश्रमधर्म का तू अनुष्ठान करके शुद्ध अन्तःकरण वाला हो चुका है । **त्वया ते कुलम् पावितम्**—तेरे से अपना कुल पवित्र कर दिया गया है, यत्—

अविद्याबन्धमुक्त्या–क्योंकि अज्ञान जनित मिथ्या अनात्मवन्ध से छुटकारा पाकर **ब्रह्मीभवितुम् इच्छसि**–तू ब्रह्म होने की इच्छा करता है, 'ब्रह्मात्मना संस्थितिः' ब्रह्मरूप से प्रतिष्ठित होना चाहता है। साधक ज्ञान की चतुर्थी भूमि को प्राप्त होकर, निर्विकल्प समाधि में आरूढ़ होकर अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार करके ही धन्य-धन्य कृतकृत्य होता है, पहले नहीं। इसलिये भगवत्पाद का यह अभिप्राय समझना चाहिये कि तू तीव्र मुमुक्षु है, मेरे द्वारा अव्यर्थ उपदेश प्राप्त करके तू ब्रह्मज्ञान का सद्यः फल प्राप्त करेगा अर्थात् तू अनुभवसहित ब्रह्मवेत्ता बन जायेगा। कहा भी है, 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन। अपारसच्चित्सुखसागरे अस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।' उसका कुल पवित्र हो जाता है, जननी का मातृपद सफल हो जाता है, वसुन्धरा पुण्यवती होती है, जिसका चित्त परमब्रह्म में लीन हो जाता है। श्री गुरु ने शिष्य के उज्ज्वल भविष्य को जानकर ही ब्रह्मजिज्ञासा के उत्पन्न होते ही ऐसे वचन कहे हैं ॥५२॥

मोक्ष प्राप्ति में अब स्वप्रयत्न की प्रधानता बताते हैं। इस विषय को पहले भी कहा है, 'अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान्', 'यत्यतां पण्डितैः धीरैः' अब पाँच श्लोकों में स्पष्टीकरण करते हैं।

ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः।
बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥५३॥

अर्थ—पिता के ऋण को चुकानेवाले तो पुत्र-पौत्र भी होते हैं, परन्तु अज्ञान बन्ध से छुड़ानेवाला अपने से भिन्न और कोई नहीं है।

व्याख्या—सुतादयः–पुत्र पौत्र **पितुः**–पिता के **ऋणमोचनकर्तारःसन्ति**–ऋण को उतारने वाले होते हैं, परन्तु **बन्धमोचनकर्ता तु**–बन्ध से छुड़ाने वाला तो, अज्ञान से आत्मा पर जो परदा सा पड़ गया है, 'अहंकारादिदेहान्तान् बन्धान्' उन बन्धों से छुटाने वाला तो **स्वस्मात् अन्यः**–अपने को छोड़कर दूसरा **कश्चन**–कोई **न**–नहीं होता। यह बन्ध अपने ही अन्तःकरण को आत्मा समझने से होता है, भ्रान्तिवश आत्मा का तादात्म्य अन्तःकरण से हो जाता है जिसके फलस्वरूप आत्मा अपने को कर्ता भोक्ता सुखी-दुःखी मानने लगता है, यही अनात्म बन्ध है, यह बन्ध अपने पुरुषार्थ से ही निवृत्त किया जा सकता है, अन्य के पुरुषार्थ से नहीं ॥५३॥

अब दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

मस्तकन्यस्तभारादे-दुःखमन्य-र्निवायते ।
क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ।।५४।।

अर्थ—शिर पर रक्खे हुए भारआदि का दुःख अन्यजन भी दूर कर सकते हैं, परन्तु भूख-प्यास का दुःख अपने सिवा और कोई नहीं निवारण कर सकता ।

व्याख्या—**मस्तकन्यस्तभारादेः**—सिर पर जो रक्खा हुआ भार है, आदि शब्द से हाथ पाँव में श्रृंखलायें भी पड़ी है, ऐसे पुरुष का **दुःखम्**—कष्ट **अन्यैः** दूसरों द्वारा, पुत्रादि द्वारा **निवार्यते**—निवारण किया जा सकता है । उसका भार उतारने से श्रृंखला खोलने से उसका दुःख निवृत्त हो जाता है, परन्तु **क्षुधादिकृत-दुःखम् तु**—भूख, आदि शब्द से प्यास से उत्पन्न जो दुःख है, वह तो **स्वेन विना**—अपने खाये पीये विना **न केनचित्**—दूसरे के, पुत्रादि के खाने-पीने से निवारण नहीं होता है ।।५४।।

अब एक अन्य दृष्टान्त देते हैं ।

पथ्यमौषधसेवा च क्रियते येन रोगिणा ।
आरोग्यसिद्धिर्दृष्टास्य नान्यानुष्ठितकर्मणा ।।५५।।

अर्थ—जिस रोगी से पथ्य और औषध सेवन किया जाता है, उसी को आरोग्य-सिद्धि देखी जाती है, किसी और के द्वारा पथ्य, औषध सेवन से रोगी को स्वास्थ्यलाभ होता नहीं देखा जाता ।

व्याख्या—**येन रोगिणा**—जिस रोगी से **पथ्यम्**—वैद्य से उपदिष्ट भोजन-पानादि पर नियंत्रण पालन **औषधसेवा च**—और औषध का सेवन **क्रियते**—किया जाता है, **अस्य**—उस रोगी को ही **आरोग्यसिद्धिः**—स्वास्थ्य प्राप्ति, नीरोगावस्था की प्राप्ति **दृष्टा**—देखी जाती है । **अन्यानुष्ठितकर्मणा न**—दूसरे के पथ्य और औषध सेवन करने से रोगी को स्वास्थ्य लाभ होता नहीं देखा जाता ।।५५।।

वस्तुस्वरूप स्फुटबोधचक्षुषा, स्वेनैव वेद्यं ननु पण्डितेन ।
चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव, ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ।।५६।।

अर्थ—परमात्मा से अभिन्न अपना स्वरूप स्वयं अपने निर्मल ज्ञान-नेत्रों से ही अनुभव किया जाता है । पंडित के अनुभव से नहीं । चन्द्रमा का स्वरूप अपने ही नेत्रों से देखा जाता है; दूसरों के नेत्रों से क्या जाना जा सकता है ?

व्याख्या——**स्फुटबोधचक्षुषा**–निर्मल संशयादिरहित **बोध**–श्रवण, मनन, निदिध्यासन से ब्रह्मसाक्षात्कार, ज्ञाननेत्र से, ब्रह्माकारवृत्ति से **वस्तु स्वरूपम्**–परमात्मा से अभिन्न, अपना स्वरूप **स्वेन एव**–अपने से ही, निज के पुरुषार्थ से ही **वेद्यम्**–जाना जाता है, **न नु पण्डितेन**–पण्डित के जानने से नहीं। पण्डित द्वारा जानने से दूसरे को बोध नहीं होता, **क्षुधातृप्ति की** भांति। अब दृष्टान्त देते हैं। **निजचक्षुषा एव**–अपने नेत्र से ही **चन्द्रस्वरूपम्**–तापहारी-आल्हादकारी चन्द्रमा का स्वरूप **ज्ञातव्यम्**–देखा जाता है, **अन्यैः**–दूसरों से चन्द्र देखा जाने पर **किम् अवगम्यते**–क्या कोई चन्द्र स्वरूप को देख सकता है, अर्थात् अपने नेत्रों से ही चन्द्रमा देखा जाता है, अन्य के नेत्रों से नहीं ।।५६।।

अविद्याकाम-कर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम् ।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ।।५७।।

अर्थ——अविद्या,वासना और कर्मादि के जाल के वन्धनों को कोटि कल्पों के सैंकड़े व्यतीत होने पर भी अपने सिवा और कौन तोड़ सकता है ?

व्याख्या——**अविद्याकाम-कर्मादिपाशबन्धम्**–अविद्या–अपने स्वरूप के अज्ञान से काम–बाह्यपदार्थों की वासना,वासना से कर्म-वासना प्राप्ति के लिये सकाम कर्म, आदि पद से कर्मफल भोग, जन्ममृत्यु जरा व्याधि सुख-दुःख, इनके पाशवन्ध, अनात्माध्यास,उसको **विमोचितुम्**–त्यागने के लिये,छुटकारा पाने के लिये **आत्मानम् विना**–अपने पुरुषार्थ के विना, आत्मसाक्षात्कार के विना त्यागने के लिये **कल्प-कोटिशतैः अपि**–कल्पों की कोटियों, और उन कोटियों के सैकड़ों की अवधि व्यतीत होने पर भी दूसरों के प्रयत्नों से आत्म-पुरुषार्थ के विना **कः शक्नुयात्**–कौन तोड़ने में, पाशबन्ध से निवृत्त होने में समर्थ है। स्वप्रयत्न के विना अज्ञानपाश भंजन करने में कोई समर्थ नहीं ।।५७।।

अब अगले पाँच श्लोकों में आत्मा और ब्रह्म का अभेदज्ञान ही मोक्षसाधन में एकमात्र उपाय है, यह वताते हैं।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ।।५८।।

अर्थ——मोक्ष न योग से सिद्ध होता है और न सांख्य से, न कर्म से और न देवता ज्ञान से। वह केवल ब्रह्मात्मैक्य-वोध (ब्रह्म और प्रत्यगात्मा की एकता के ज्ञान) से ही होता है, और किसी प्रकार नहीं।

व्याख्या—'पठन्तु शास्त्राणि' इति श्लोक में श्री भगवत्पाद ने कहा है **'आत्मै-क्यबोधेन विना विमुक्ति नं सिद्धयति ब्रह्मशतान्तरेऽपि'** । इससे आगे **'अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः'** कहकर यह घोषित किया है कि प्रत्यगात्मा, **'त्वम्'** पद का लक्ष्यार्थ तथा ब्रह्म, 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ इनके अभेद ज्ञान विना मोक्ष संभव नहीं, उसी भाव को अब विशद रूप से कहते हैं ।

ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन—ब्रह्म और जीवात्मा, के एकत्व—**अभेद बोध-ज्ञान से मोक्षः**—अद्वितीय ब्रह्म में अखण्डरूप से स्थिति **सिद्धयति** मोक्ष सिद्धि मिलती है **अन्यथा न**—अन्य प्रकार से नहीं । इसको खोलते हैं **योगेन न**—पातंजल योग-शास्त्र के ज्ञान से मोक्षसिद्ध नहीं होती, **सांख्येन न**—महर्षि कपिल प्रणीत सांख्य शास्त्र के ज्ञान से नहीं होती, **कर्मणा नो**—मीमांसकों के अभिप्रेत देवताओं की तृप्ति के निमित्त यज्ञादि कर्म से नहीं, **विद्यया न**—देवताज्ञान से नहीं, ब्रह्मविद्या के अति-रिक्त अन्य विद्या से नहीं ।।५८।।

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम् ।
प्रजारंजनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ।।५९।।

अर्थ—वीणा के रूप की सुन्दरता तथा उसके बजाने में कुशलता लोगों का मनोरंजन कर सकती है, पर साम्राज्य नहीं दिला सकती ।

व्याख्या—**वीणायाः**—वीणा के **रूपसौन्दर्यम्**—रूप की सुन्दरता, सुन्दर वीणा, **तन्त्रीवादनसौष्ठवम्**—तन्त्री, वीणा, बजाने की कुशलता **प्रजारंजनमात्रम्**—केवल लोगों को प्रसन्न करने के लिये होती है **तत्**—सुन्दर वीणा तथा सुन्दर वादन **साम्रा-ज्याय**—राज्य देने के लिये **न कल्पते**—समर्थ नहीं होते । सुन्दर वीणा वादन से लोक रंजन होता है, वीणावादक को राज्य नहीं मिलता ।।५९।।

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ।।६०।।

अर्थ—वाणी की चतुराई शब्दों का प्रवाह, शास्त्र-व्याख्यान की कुशलता और वैसे ही विद्वानों की विद्वत्ता भोग के लिये होते हैं, मोक्ष के कारण नहीं ।

व्याख्या—**वाग्वैखरी**—वाणी के प्रयोग में चतुरता—**शब्दझरी**-शब्दों का प्रवाह, **शास्त्र-व्याख्यान-कौशलम्**—शास्त्र के व्याख्यान में कुशलता, **तद्वत्**—उसी प्रकार,

विदुषाम्–विद्वानों की **वैदुष्यम्**–विद्वत्ता **भुक्तये**–भोग के लिये होती है, **न तु मुक्तये**–मोक्ष के लिये नहीं। अभिप्राय यह है कि न योग से, न सांख्य से, न कर्मोपासना से, न वीणा वजाने से, न व्याख्यान कुशलता से मोक्ष होता है, उसका केवल एक उपाय है, 'ब्रह्मात्मैकत्ववोधेन मोक्षः सिद्धचति' ब्रह्मसाक्षात्कार से ही मोक्ष होता है 'नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।'। इति श्रुतिः, मोक्ष के लिये अन्य कोई उपाय नहीं है ।।६०।।

अब शास्त्राध्ययन का मूल्यांकन करते हैं, दो श्लोकों में।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।।६१।।

अर्थ—परब्रह्म को यदि न जाना तो शास्त्राध्ययन व्यर्थ है, और यदि परमतत्त्व को जान लिया तो भी शास्त्राध्ययन निष्प्रयोजन ही है।

व्याख्या—**परे**–माया **और** माया के कार्य से उत्कृष्ट होने से पर **तत्त्वे**–सर्व का अधिष्ठानभूत तत्त्व निर्गुण ब्रह्म, ऐसे तत्त्व के **अविज्ञाते**–साक्षात्कार न होने पर **शास्त्रधीतिः तु निष्फला**–वेदाध्ययन, उपनिषद विचार निश्चय ही निष्फल है, प्रयोजनरहित है। **परे तत्त्वे विज्ञाते**–पर, ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर **अपि**–भी **शास्त्रधीतिः तु निष्फला** –शास्त्राध्ययन निश्चय ही निष्फल है, क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् ज्ञानवान का कोई कर्तव्य नहीं रहता। 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः'।।गीता २।४६।। जैसे वड़े जलाशय के प्राप्त होने पर जल के लिये छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन रहता है, उतना ही प्रयोजन ब्रह्मवेत्ता का वेदों से रहता है। शास्त्रकृपा मोक्ष में सहायक है, पर मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन नहीं। श्रीभगवत्पाद का अभिप्राय शास्त्र निन्दा से नहीं है, ब्रह्मसाक्षात्कार की विलक्षणता वतलाने में है ।।६१।।

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः ।।६२।।

अर्थ—शब्दात्मक शास्त्रजाल तो चित्त को भटकानेवाला एक महान् वन है, इसलिये किसी तत्त्वज्ञानी महात्मा से प्रयत्नपूर्वक आत्मतत्त्व को जानना चाहिये।

व्याख्या—**शब्दजालम्**–शब्दात्मक शास्त्रजाल, विस्तार **महारण्यम्**–महावन है **चित्तभ्रमणकारणम्**–चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है। जैसे कोई

महावन में प्रवेश कर पथभ्रष्ट हो जाता है वैसे ही शास्त्रजाल समझना। शास्त्र अनेक हैं, ऋषियों के मत अनेक हैं, और शास्त्रों में तीन प्रकार के वचन मिलते हैं, दैत्यों को कुकर्मों से हटाने के लिये भयानक वचन जैसे नरकादि का भय, भक्तों को आकृष्ट करने के लिये रोचक वचन जैसे स्वर्गादि का लाभ, और मुमुक्षुओं के लिये यथार्थ वचन। शास्त्रजाल में पड़ कर साधक को भटकने का डर है, **अतः तत्त्वज्ञात्**–इस लिये ब्रह्मवेत्ता महात्मा से, 'तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवम्' जिनको निज में ब्रह्म साक्षात्कार हो चुका है, ऐसे महानुभाव से **आत्मनः तत्त्वम्**–आत्मा के तत्त्व को, श्रवण-मनन-निदिध्यासन-तत्त्वम्पदार्थशोधन द्वारा, आत्मा के स्वरूप को **प्रयत्नात्**–अप्रमत्त चित्त होकर सावधानी से विधिपूर्वक **ज्ञातव्यम्**–जानना चाहिये।

अकेले शास्त्र से काम नहीं चलता, मार्गदर्शी गुरु की आवश्यकता होती है। तत्त्वबोध गुरु उपदेश से ही होता है। 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'। गीता ४।३४। जो यथार्थ तत्त्व को जाननेवाले हैं, उनके द्वारा उपदेश से ज्ञान मिलता है ॥६२॥

अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना।
किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥६३॥

अर्थ––अज्ञानरूपी सर्प से डसे हुए को ब्रह्मज्ञानरूपी औषधि के विना वेद से, शास्त्रों से, मन्त्रों से और औषध से क्या लाभ ?

व्याख्या—**अज्ञानसर्पदष्टस्य**–अज्ञानरूपी सर्प के काटे हुए का, आवरण और विक्षेप शक्ति से मोहित हुए का **ब्रह्मज्ञान–औषधम् विना**–ब्रह्मज्ञानरूपी औषध के विना, लाभ नहीं होता। **वेदैः च किमु**–वेदों से क्या, **शास्त्रैः च किमु**–व्याकरणादि शास्त्रों से क्या, **मन्त्रैः**–सात करोड़ मन्त्रों से क्या **औषधैः किम्**–दवाओं से क्या, अज्ञानविष का निवारण हो सकता है ? **ब्रह्मज्ञान** ही अज्ञान का निवर्तक है। मोक्ष का मुख्य कारण जीवात्मा परमात्मा की एकता का साक्षात्कार है। ब्रह्म-साक्षात्कार हुए विना वेद, शास्त्र, मन्त्रादि सब निष्प्रयोजन हैं ॥६३॥

अब अगले चार श्लोकों में बताते हैं कि ब्रह्म के प्रत्यक्ष अनुभव से ही मोक्ष होता है, केवल वेदान्त प्रक्रिया और सिद्धान्त के जानने से नहीं।

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषध-शब्दतः ।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥६४॥

अर्थ—जैसे औषध के विना पान किये औषध-शब्द के उच्चारणमात्र से रोग नहीं जाता, उसी प्रकार अपरोक्षानुभव के विना 'मैं ब्रह्म हूँ' केवल ऐसा कहने से कोई मुक्त नहीं हो सकता ।

व्याख्या—व्याधिः—रोग **पानम् विना**—औषध सेवन किये विना **औषधशब्दतः**—'औषध' इस प्रकार शब्द उच्चारणमात्र से **न गच्छति**—रोग नहीं जाता, आरोग्यसिद्धि प्राप्त नहीं होती, ऐसे ही **अपरोक्षानुभवम् विना**—ब्रह्म के साक्षात्कार किये विना, निर्विकल्प समाधि के विना **ब्रह्मशब्दैः** 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार शब्द उच्चारने मात्र से **न मुच्यते**—अज्ञान निवृत्त नहीं होता, अनात्मबन्ध नहीं छूटता ॥६४॥

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥६५॥

अर्थ—दृश्य-प्रपंच का विलय किये विना और आत्मतत्त्व को विना जाने अनुभवहीन वाह्य शब्दों से, जिनका फल उच्चारणमात्र ही है, साधकों की मुक्ति कैसे हो सकती है ?

व्याख्या—दृश्यविलयम् अकृत्वा—दृश्य प्रपंच को 'सम्यग्दर्शननिष्ठया' उसके अधिष्ठान ब्रह्म में लय किये विना,जीव को ब्रह्म से अभिन्न जाने विना,ब्रह्म के अति-रिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है इस प्रकार दृश्य जगत को ब्रह्म में ही लय किये विना **आत्मनः तत्त्वम् अज्ञात्वा**—आत्मा के स्वरूप को विना जाने, अपरोक्षानुभूति के विना, सजातीय—विजातीय—स्वगतभेदशून्य, देश-काल-वस्तुपरिच्छेद रहित, वाह्याभ्यान्तरशून्य,परिपूर्ण अखण्ड सच्चिदानन्दघन, स्वयं प्रकाश, ऐसा जो आत्मा का स्वरूप जिसका निर्विकल्प समाधि में अनुभव किया जाता है, उसको जाने विना, **बाह्यशब्दैः**—'मैं ब्रह्म हूँ' 'जगत मिथ्या है' इस प्रकार अनुभवहीन शब्दों से, 'कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः । ते ह्यज्ञानितया नूनं, पुनरायान्ति यान्ति च' अपरोक्षानुभूतिः ॥१३३॥ ब्रह्मविषयक वार्ता में कुशल, परन्तु ब्रह्माकारवृत्ति से रहित रागयुक्त पुरुष अज्ञानी होते हैं, और मरते-जन्मते हैं । **मुक्तिः कुतः**—मुक्ति

कैसे हो सकती है ? **नृणाम्**—साधकों की **उक्तिमात्रफलैः**—ब्रह्म शब्द उच्चारणमात्र के फलों के अतिरिक्त वाह्य शब्दों का फल मुक्ति नहीं है ।।६५।।

अब दृष्टान्त देते हैं ।

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम् ।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ।।६६।।

अर्थ—शत्रुओं का विना वध किये और सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल का ऐश्वर्य विना प्राप्त किये, 'मैं राजा हूँ'—इस शब्द से ही कोई राजा नहीं हो जाता ।

व्याख्या—**शत्रुसंहारम् अकृत्वा**—शत्रुओं का संहार किये विना, निष्कंटक हुए विना **अखिलभूश्रियम् अगत्वा**—पृथ्वी की सारी लक्ष्मी, ऐश्वर्य प्राप्त किये विना, अपने अधिकार में लाये विना '**अहम् राजा इति**'—मैं राजा हूँ, इस प्रकार **शब्दात्**—'राजा' 'राजा' शब्द उच्चारण करने से **राजा भवितुम्**—राजा होने में **न अर्हति**—समर्थवान नहीं होता । दृश्य को विलय किये विना, आत्मतत्त्व को अनुभव से जाने विना मोक्ष सिद्धि नहीं मिलती ।।६६।।

अब अगले श्लोक में मोक्ष का उपाय बताते हैं ।

आप्तोक्तिं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं,
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिःशब्दैस्तु निर्गच्छति ।
तद्वद् ब्रह्मविदोपदेश-मनन-ध्यानादिभिर्लभ्यते,
मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ।।६७।।

अर्थ—(पृथ्वी में गड़े हुए धन को प्राप्त करने के लिये जैसे) प्रथम किसी विश्वसनीय पुरुष के कथन की, और फिर पृथ्वी को खोदने, कंकर-पत्थर आदि हटाने की क्रियायें स्वीकार करने की आवश्यकता होती है, कोरी बातों से वह बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार मायिक-प्रपंच से छिपा हुआ स्वयंप्रकाश निर्मल आत्मतत्त्व भी ब्रह्मवित् गुरु के उपदेश तथा उसके मनन और निदिध्यासनादि से ही प्राप्त होता है, खोटी युक्तियों से नहीं ।

व्याख्या—पृथ्वीमें गड़े धन के निकालने की भिन्न क्रियाओं का दृष्टान्त देकर, अब मोक्षलाभ के लिये, 'अस्ति उपायः महान् कश्चित् संसारभयनाशनः' उस उपाय का संक्षेप में निरूपण करते हैं ।

निक्षेपः–भूमि में गड़ा हुआ धन **आप्तोक्तिम्**–सत्यवक्ता के वचन से जानना **खननम्**–गड़े हुए धनवाले स्थान को परिश्रम से खोदना तथा **उपरि-शिला-अपाकर्षणम्**–और धन को दृष्टि से छिपानेवाले ऊपर रक्खे पत्थर-कंकर को हटाना, ऊपर कही हुई विविध क्रियायों की **स्वीकृतिम्**–अंगीकार करने की **समपेक्षते**–अपेक्षा करता है। भू के अन्तर्गत निधि प्राप्ति के लिये भू खोदना, शिला हटाना आदि क्रियायें करनी पड़ती हैं, तव कहीं निधि की प्राप्ति होती है, वह निधि **बहिः शब्दैः तु**–केवल 'निधि' 'निधि' उच्चारणमात्र से, विना सम्यक् यत्न किये **न हि निर्गच्छति**–वह गड़ा हुआ धन स्वतः वाहर नहीं निकलता।

तद्वत्–उसी प्रकार **मायाकार्य–तिरोहितम्**–मायाकार्य से छिपा हुआ, माया की आवरण शक्ति से ढका हुआ, 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' गीता ७।२५। मैं अपनी योगमाया से छिपा हुआ हूँ, इसलिये अज्ञानी, दुर्वासना-युक्त, दुष्कर्मी मुझको नहीं जान सकते, ऐसा आत्मनिधि **स्वम्**–जो स्वयंप्रकाश है, अथवा जो अपना आपा है, 'अहम् अहम्' शब्द से जिसकी स्फुरणा होती है, ऐसा **अमलम्**–मायामल रहित, गुणातीत, निर्गुण, 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' गीता ५।१९। ब्रह्म निर्दोष है **तत्त्वम्**–आत्मतत्त्व, आत्मा का स्वरूप, 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' इति श्रुतिः, आत्मा का ऐसा स्वरूप **ब्रह्म-विदोपदेश-मनन-ध्यानादिभिः**–ब्रह्मवेत्ता के उपदेश के श्रवण से, मनन से–सुने हुए उपदेश को युक्ति द्वारा विचारपूर्वक पुष्ट करने से, ध्यान-निदिध्यासन से, संशय–विपर्ययरहित होकर उस उपदेश का नित्य निरन्तर अभ्यास करने से, आदि पद से निर्विकल्प समाधि समझना चाहिये, समाधि से **लभ्यते**–प्राप्त किया जाता है, ब्रह्मसाक्षात्कार का लाभ होता है। **न दुर्युक्तिभिः**–खोटी युक्तियों से नहीं, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इति श्रुतिः। केवल तर्क से ब्रह्माकार-वृत्ति त्रिकाल में भी प्राप्त नहीं होती ।।६७।।

'ऋणमोचन कर्तारः' इति श्लोक से 'आप्तोक्तिं' इति अन्त वाले श्लोक तक पन्द्रह श्लोकों का अव उपसंहार करते हैं।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये।
स्वैरेव यत्नः कर्तव्यो रोगादेरिव पण्डितैः ।।६८।।

अर्थ—इसलिये रोग आदि के समान भव-बन्ध की निवृत्ति के लिये मुमुक्षुओं को सब प्रकार के उपायों से स्वयं ही यत्न करना चाहिये।

व्याख्या—**तस्मात्**—इसलिये, उपसंहार में कहते हैं कि **सर्वप्रयत्नेन**—सर्व प्रकार के प्रयत्न से, सत्संग, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, निर्गुणोपासना, सगुणोपासना, जिस प्रकार भी बन्ध छूटे, उसी प्रकार **पण्डितैः**—मुमुक्षुओं द्वारा **रोगादेः इव**—रोग से छुटकारा पाने की तरह, अपने ही पथ्य सेवन और औषध सेवन से, दूसरे के औषधादि सेवन से कभी आरोग्य सिद्धि नहीं मिलती है, ऐसे ही **भवबन्धविमुक्तये**—संसार बन्ध से छूटने के लिये, अनात्मबन्ध भंजन के लिये **स्वैः एव**—अपने ही द्वारा **यत्नः कर्तव्यः**—यत्न, श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि करना चाहिये। यहाँ श्रीभगवत्पाद ने 'सर्वप्रयत्नेन' 'यत्नः' तथा 'स्वैः' आदि शब्दों का प्रयोग किया है, इनसे प्रगट होता है कि मोक्ष स्वपुरुषार्थसाध्य है, अन्य के पुरुषार्थ से सिद्ध नहीं होता ॥६८॥

अगले श्लोक में मुख्य प्रश्न पर विचार करते हैं। पहले, प्रश्न की श्लाघा करते हैं, जिससे शिष्य हर्षितमना और उत्साहित हो।

यस्त्वयाद्य कृतः प्रश्नो वरीयाञ्छास्त्रविन्मतः।
सूत्रप्रायो निगूढार्थो ज्ञातव्यश्च मुमुक्षुभिः ॥६९॥

अर्थ—तूने आज जो प्रश्न किया है, वह अति श्रेष्ठ शास्त्रज्ञों द्वारा सम्मानित, अल्पाक्षर, गम्भीर अर्थयुक्त और मुमुक्षुओं के जानने योग्य है।

व्याख्या—**यः प्रश्नः**—जो प्रश्न, 'को नाम बन्धः, कथमेष आगतः' आदि **त्वया**—तेरे से **अद्य कृतः**—आज किया गया है, वह प्रश्न पाँच **विशेषणों** वाला है : **वरीयान्**—अतिश्रेष्ठ है, क्योंकि **शास्त्रविन्मतः**—शास्त्रवेत्ताओं द्वारा **आदरणीय** है, इस पर भी **सूत्रप्रायः**—अल्पाक्षर है, एक ही प्रश्न में बन्ध—मोक्ष पूछ लिये हैं, इस पर भी **निगूढार्थः**—जो वस्तु जाननी चाहियें, उन सब का अर्थ गूढ़ रूप से इसमें निहित है। इस प्रश्न का उत्तर इस समस्त ग्रन्थ में दिया गया है, इसलिये **मुमुक्षुभिःच ज्ञातव्यः**—मुमुक्षुओं द्वारा यह प्रश्न उत्तर सहित जानने योग्य है, इस प्रश्न से प्रश्नकर्ता शिष्य, 'मेधावी पुरुषो विद्वान् ऊहापोहविचक्षणः' सिद्ध होता है ॥६९॥

अब शिष्य को उत्तर सुनने के लिये सावधान करते हैं।

शृणुष्वावहितो विद्वन्यन्मया समुदीर्यते।
तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥७०॥

अर्थ—हे विद्वन्! तेरे प्रश्न के उत्तर में जो मैं कहता हूँ, उसे सावधान होकर सुन, उसके सुनने से तू शीघ्र ही भवबन्धन से छूट जायगा।

व्याख्या—विद्वन्! हे मेधावी, ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी **यत्**—तेरे प्रश्न का जो उत्तर 'भवबन्ध विमुक्तये' **मया समुदीर्यते**—मुझसे कहा जाता है, संग्रह से अथवा विस्तार से **तत्**—उस अज्ञान जनित 'अहंकारादिदेहान्तान्' अनात्म बन्धों को निवृत्त करनेवाले उत्तर को **आवहितः**—एकाग्र होकर, सावधानी से **शृणुष्व**—सुन, **एतत् श्रवणात्**—इसके सुनने से **भवबन्धात्**—संसार बन्धन से, कर्तापन भोक्तापन जन्म-मृत्यु जराव्याधि आदि संसार बन्धन से **सद्यः**—तत्काल ही, श्रवण के पश्चात् ही, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि प्रस्तुत शिष्य तीव्र वैराग्यवान् तथा तीव्र मुमुक्षु होने से उत्तम अधिकारी है। उत्तम अधिकारी को गुरु के उपदेश देते ही बोध, आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, तत्काल ही **विमोक्ष्यसे**—मुक्त हो जायेगा, बन्धन से छुटकारा पाकर परमानन्द रूप आत्मपद को प्राप्त होगा ।।७०।।

अब शिष्य के प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ करते हैं। पहले चौथे प्रश्न, 'कथम् विमोक्षः?' का उत्तर देते हैं। प्रश्न का क्रम तोड़ने का यह कारण है कि शिष्य संसार बन्धन से मुक्त होने के लिये अत्यन्त उतावला है और वह विलम्ब नहीं सह सकता, इसलिये चौथे प्रश्न का उत्तर पहले देते हैं। घर में आग लगने पर पहले कारण नहीं खोजा जाता, जल डाला जाता है।

मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते, वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु।
ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा, न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ।।७१।।
ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्व-ध्यानं चिरं नित्यनिरन्तरं मुनेः।
ततोऽविकल्पं परमेत्य विद्वानिहैव निर्वाणसुखं समृच्छति ।।७२।।

अर्थ—मोक्ष का प्रथम हेतु अनित्य वस्तुओं में अत्यन्त वैराग्य कहा है, तदनन्तर शम, दम, तितिक्षा और समस्त आसक्तियुक्त कर्मों का सर्वथा त्याग है। तदुपरान्त मुनि को श्रवण, मनन और चिरकालतक नित्य-निरन्तर आत्मतत्त्व का ध्यान करना चाहिये। तब वह विद्वान् परम निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त होकर जीवितावस्था में ही मोक्षसुख को पाता है।

व्याख्या—मोक्षस्य—मोक्ष का **प्रथमः हेतुः**—पहला कारण **अनित्यवस्तुषु**—असत् वस्तुओं में, देहादिब्रह्मपर्यन्त समस्त भोग्य वस्तुओं में, दशइन्द्रियगण तथा अन्तःकरणचतुष्टय से जो ग्रहण हो सकें वे सब अनित्य हैं, अनात्म वस्तुओं में **अत्यन्तम् वैराग्यम् निगद्यते**—अतिवैराग्य कहा जाता है। भोगों में काकविष्ठा

की भांति घृणा। अनुराग कहो, अथवा वासना कहो, अथवा संकल्प कहो, ये चित्त में विक्षेप पैदा करते हैं। विक्षेपवान की स्वलक्ष्य में नियतावस्था नहीं होती, एकाग्रता नहीं होती, इसलिये भोगों में विरक्ति मोक्ष का प्रथम कारण कहा है। श्रीभगवत्पाद ने साधनचतुष्टय में पहला साधन विवेक कहा है, 'आदौ नित्यानित्य वस्तुविवेक: परिगण्यते' और यहाँ वैराग्य कहा है। वैराग्य कहने में विवेक भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि विना किसी प्रकार के विवेक के वैराग्य नहीं होता। विवेक, वैराग्य का, कारण है। साधनचतुष्टय में वैराग्य का असाधारण स्थान होने से भी श्रीभगवत्पाद ने यहाँ वैराग्य को प्रथम स्थान दिया है।

ततः शमः दमः तितिक्षा च अपि—मोक्ष का विवेक सहित तीसरा कारण शम—मनोनिग्रह, दम—इन्द्रियनिग्रह, तितिक्षा—सुख-दु:ख की अप्रतीति अथवा सहन करने की शक्ति, 'च अपि' शब्दों से शमदमादि षट्सम्पत्ति समुच्चयरूप से ग्रहण करनी चाहिये, अर्थात् 'उपरति, श्रद्धा समाधान' ये शेष तीन भी सम्मिलित करनी चाहियें।

प्रसक्ताखिलकर्मणाम्—आसक्तियुक्त समस्त कर्मों का **भृशम्**—पूरी तरह से **न्यासः**—परित्याग, सकामता और अहंकार से रहित शास्त्रविहित वर्णाश्रमधर्मानुसार कर्म चित्त की शुद्धि के लिये अत्यावश्यक होता है। 'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीति अभिधीयते' गीता, १८।११, जो कर्मफल का त्यागी है, वही सही त्यागी है। जब तक पूर्ण वैराग्य न हो जाये तभी तक कर्मों का प्रयोजन है, 'योगारूढस्य तस्यैव शम: कारणमुच्यते' गीता ६।३। जब सम्यक्दर्शननिष्ठा से योगारूढ़ हो जाता है, तब शम—सर्व कर्मों से निवृत्ति ही—योगारूढ़ता का साधन बतलाया गया है। ज्यों-ज्यों कर्मजाल से उपराम होगा त्यों-त्यों चित्त समाहित होता जायगा, 'अत्यन्तवैराग्यवत: समाधि:' अत्यन्त वैराग्यवान को ही समाधि होती है। मोक्ष के कारणों को भगवत्पाद ने यहां संक्षेप में कहा है। यहाँ तक विवेक—वैराग्य—शमादि षट्सम्पत्ति—मुमुक्षुता ये ज्ञान के चार वहिरंग साधन निर्दिष्ट किये हैं। ये साधन ज्ञानबीजारोपण की भूमिकायें हैं, निज में ज्ञान नहीं ॥७१॥

अब ज्ञान के अन्तरंग साधन कहते हैं। ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर **ततः**—फिर **श्रुतिः**—ब्रह्मविद्या की प्रक्रिया का श्रीगुरुमुख से श्रवण करना जिससे कि शास्त्र का अभिप्राय-अद्वितीय ब्रह्म का निरूपण—शिष्य की समझ में आ जाय। इस प्रकार श्रवण से बुद्धि की मन्दता नष्ट होती है। **तत् मननम्**—श्रीगुरुमुख से जीव-ब्रह्म की जो एकता श्रवण की, उसको बुद्धि द्वारा अनेक युक्तियों से विचारना और पुष्ट

करना। मनन से कुतर्क और संशय का नाश होता है। ऐसी तर्क, युक्तियां जो श्रुति-प्रतिपादित जीवब्रह्म की एकता की विपक्षी हों, कुतर्क कहलाती हैं। मनन से कुतर्क का निराकरण होता है। जीव ब्रह्म की एकता ठीक है कि भिन्नता ठीक है, ऐसे ज्ञान को संशय कहते हैं, मनन से संशय भी नष्ट होता है।

मुनेः—इसके उपरान्त मननशील साधक का चिरकाल तक ध्यान। श्रवण मनन से जिस अखण्डसच्चिदानन्द परब्रह्म को जाना है, उसमें संशय–विपर्ययरहित चित्तवृत्ति का प्रवाह होना निदिध्यासन कहलाता है। निदिध्यासन से विपरीत-भावना का नाश होता है। 'जीवब्रह्म दो पृथक सत्ता हैं, देहादिक सत्तावान् हैं' ऐसे ज्ञान को विपरीतभावना कहते हैं। इस निदिध्यासन का **चिरम्**—चिरकाल तक अभ्यास करे, 'अनेकजन्मसंसिद्धः ततो याति परां गतिम्' गीता, ६।४५।, अनेक जन्मों के ब्रह्माभ्यास से मोक्ष प्राप्त होता है। दस दिन अभ्यास करके यह कहना कि 'मुझे दस दिन अभ्यास करते हो गये, अभी ज्ञानसिद्धि नहीं मिली, बड़ा खेद है' ऐसे साधकों को सचेत करने के लिये 'चिरम्' शब्द का प्रयोग किया है। **नित्य निरन्तरम्**—नित्य प्रति, और विना क्रम तोड़े जब तक कि साक्षात्कार न हो। साधनाकाल में बीच-बीच में उदासीनता तथा अधीरता की, जो कि अकर्मण्यता की ओर ले जाने वाली हैं, भावना जागती हैं, ऐसी भावना को बल से दबाये क्योंकि भगवत्पाद ने नित्य–निरन्तर निदिध्यासन कहा है। यह निदिध्यासन कैसा है?

सतत्त्वध्यानम्—परमार्थ तत्त्व का ध्यान, महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' का ध्यान, ब्रह्माकारवृत्ति की प्राप्ति, विजातीयवृत्तियों का तिरस्कार और सजातीयवृत्तियों का प्रवाह करते हुए ब्रह्माकारवृत्ति में, ध्यान बल से, निरालम्ब स्थिति करना। दीर्घकाल तक नियमपूर्वक तैलधारावत् अवच्छेदरहित आदरपूर्वक अभ्यास से निदिध्यासन सिद्ध होता है। यह स्मरण रहे कि मन्दबुद्धि मुमुक्षुओं के लिये 'चिरं नित्यनिरन्तरम्' निदिध्यासन कहा है। तीव्र मुमुक्षुओं को तो सद्यः सिद्धि होती है।

ततः परम् अविकल्पम् एत्य—और अन्त में निदिध्यासन के परिपक्व होने पर, निदिध्यासन को सविकल्प समाधि भी कहते हैं, श्रेष्ठ निर्विकल्प समाधि को **एत्य**—प्राप्त करके **विद्वान्**—आत्म साक्षात्कार करने वाला **इह एव**—जीवितावस्था में ही **निर्वाणसुखम्**—मोक्षसुख को, परमानन्द को **समृच्छति**—निरन्तर अनुभव करता है। निर्विकल्प समाधि में ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, सूक्ष्म हुई बुद्धिवृत्ति अपने स्वरूप के ध्यान में अपनी सत्ता त्याग कर आत्मस्वरूप में लय हो जाती है, आत्मा ही होती है, वृत्ति का भान नहीं होता, साक्षी के अभाव में आत्मा स्वयंसाक्षी है ।।७२।।

यद्बोद्धव्यं तवेदानीमात्मानात्मविवेचनम् ।
तदुच्यते मया सम्यक् श्रुत्वात्मन्यवधारय ।।७३।।

अर्थ—जो आत्मानात्मविवेक अब तुझे जानना चाहिये वह मैं कहता हूँ, तू उसे भली भांति सुनकर अपनी बुद्धि में स्थिर कर ।

व्याख्या—अब 'कोऽसावनात्मा, परमः क आत्मा, तयोः विवेकः कथम्' इन ५, ६, ७ प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ करते हैं । **तव इदानीम्**—तेरे लिये अब **यत् आत्मा-अनात्म-विवेचनम्**—जो आत्मा तथा अनात्मा का भेदज्ञान **बोद्धव्यम्**—जानना है, **तत्**—वह भेद ज्ञान **मया उच्यते**—मेरे से, मुझ ब्रह्मनिष्ठ गुरु से, कहा जाता है, इसलिये इसको **सम्यक् श्रुत्वा**—सावधानी से, समाहितात्मा होकर सुन कर **आत्मनि**—अपनी बुद्धि में **अवधारय**—निश्चित कर । यदि तू इसको बुद्धि में अच्छे प्रकार से स्थापित नहीं करेगा, तो इसके पश्चात् की प्रक्रिया तेरी समझ में नहीं आयेगी, ऐसा अभिप्राय है ।।७३।।

अनात्मा के विवेचन से आत्मा का स्वरूप सुगमता से समझ में आयेगा, इस लिये पहले अनात्मा का कथन करते हैं । अनात्मा का भी पहले स्थूल रूप कहते हैं, क्योंकि स्थूल समझने के पश्चात् सूक्ष्य अनात्मा का समझना सुगम होगा । अब अगले ५२ श्लोकों में 'माया मायाकार्यं सर्वम्' इति अन्त वाले १२५वें श्लोक तक अनात्मा का विवेचन किया जाता है । पहले स्थूल देह का विवेचन है ।

मज्जास्थिमेदःपलरक्तचर्मत्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिरन्वितम् ।
पादोरुवक्षोभुजपृष्ठमस्तकैरंगैरुपांगैरुपयुक्तमेतत् ।।७४।।
अहं ममेति प्रथितं शरीरं मोहास्पदं स्थूलमितीर्यते बुधैः ।

अर्थ—मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म और त्वचा—इन सात धातुओं से बने हुए तथा चरण, जंघा, वक्षःस्थल (छाती), भुजा, पीठ और मस्तक छः प्रधान अंग तथा अन्य छोटे उपांगों से युक्त, 'मैं' और 'मेरा' रूप से प्रसिद्ध इस मोह के आश्रय देह को बोधवान लोग 'स्थूल शरीर' कहते हैं ।

व्याख्या—अब स्थूल शरीर का वर्णन करते हैं । स्थूल शरीर का निर्माण सात धातुओं से हुआ है । **मज्जा—अस्थि—मेदः—पल—रक्त—चर्म—त्वक्**—खाने-पीने से शरीर बनता है, घृतादि जो तेजस पदार्थ हैं उनके मध्यम भाग से

=

मज्जा, कठोर भाग से हड्डी और हड्डी की पूर्वावस्था मेद। खाये हुये **अन्न के** मध्यमभाग से रक्त, रुधिर, स्थूल भाग से पल-मांस, पीये **हुए पदार्थों के मध्यम** भाग से चर्म-स्थूलावरण, त्वक्-सूक्ष्म आवरण, मज्जास्थि आदि **आह्वयैः**–नाम वाले **एभिः धातुभिः**–इन सात धातुओं से **अन्वितम्**–युक्त। अब शरीर के छः अंगों का वर्णन करते हैं; **पाद–उरु–वक्ष–भुज–पृष्ठ–मस्तकैः**–पैर, जंघा, छाती, भुजा, पीठ तथा मस्तक, इन छः **अंगैः**–अंगों से, तथा **उपांगैः–छोटे** अंगों से जैसे हाथ-पैर की अंगुलिया, गुल्फ, जानु आदि से **उपयुक्तम्**–युक्त, वना हुवा ।।७४।।

अहम्–सप्तधातु निर्मित व षडंगयुक्त शरीर को मोहवश 'अहम्' मैं शरीर आत्मा हूँ, ऐसा मूढ समझते हैं। मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ, इस प्रकार मूढ, शरीर में, आत्माभिमान करते हैं, 'देहोऽहमिति जडस्य बुद्धिः।' मैं देह हूँ, ऐसा निश्चय मूढों का होता है **मम इति**–ममता, मेरा हाथ, मेरा पैर, मेरी स्त्री, मेरा घर आदि, इनमें ममता का स्थल **प्रथितम्**–शरीर प्रसिद्ध है। यह शरीर समस्त वाह्यसंसार का आश्रय है। **मोहास्पदम्**–अपने स्वरूप के अज्ञान से शरीर में ही आत्मबुद्धि होने से यह शरीर प्रियता का केन्द्र है **बुधैः**–बोधवान पुरुषों से, अज्ञा-नियों से नहीं **एतत् स्थूलम् शरीरम् इति**–यह स्थूल शरीर है, इस प्रकार **इर्यते**–कहा जाता है। स्थूल शरीर आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा निरवयव है ।। पूर्वार्ध ७५।।

अब शरीर के कारण निरूपण करते हैं।

नभोनभस्वद्दहनाम्बुभूमयः, सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि ।।७५।।
परस्परांशैर्मिलितानि भूत्वा, स्थूलानि च स्थूलशरीरहेतवः।
मात्रास्तदीया विषया भवन्ति, शब्दादयः पञ्च सुखाय भोक्तुः ।।७६।।

अर्थ—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये सूक्ष्म भूत हैं। इनके अंश परस्पर मिलने से स्थूल होकर स्थूल शरीर के हेतु होते हैं और इन सूक्ष्म भूतों की पाँच तन्मात्राएँ भोक्ता जीव के भोगरूप सुख के लिये शब्दादि पांच विषय हो जाती हैं।

व्याख्या—नभः–आकाश **नभस्वत्**–वायु **दहन**–अग्नि **अम्बु**–जल **भूमयः सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति**–नभादि पाँच सूक्ष्म भूत कहलाते हैं। सूक्ष्म भूत

व्यवहारयोग्य न होने से सृष्टि रचना के संकल्प से प्रभु ने एक एक भूत का पंचीकार किया **तानि**–ये सूक्ष्म भूत **परस्परांशैः**–आपस में अंशों से **मिलितानि**–मिले हुए **स्थूलानि भूत्वा च**–होकर स्थूल भूत होते हैं, व्यवहारयोग्य होते हैं। यह पंचीकरण है।

शास्त्रों में पंचीकरण इस प्रकार बताया है कि आठ आना सूक्ष्म आकाश, दो आना सूक्ष्म वायु, दो आना सूक्ष्म अग्नि, दो आना सूक्ष्म जल, दो आना सूक्ष्म पृथ्वी आपस में मिलकर एक स्थूल आकाश बनता है, ऐसे ही स्थूल वायु में आठ आना सूक्ष्म वायु, दो आना सूक्ष्म आकाश, दो आना सूक्ष्म अग्नि, दो आना सूक्ष्म जल, दो आना सूक्ष्म पृथ्वी–ये सब मिलकर एक स्थूल वायु होता है। ऐसे ही अन्य स्थूल भूतों को समझना। किसी भी पंचीकृत भूत में आधा अंश अपना, और आठवाँ अंश प्रत्येक शेष चार भूतों का सम्मिलित होता है। **स्थूलशरीरहेतवः**–ये पंचीकृत पंच स्थूल-भूत स्थूल शरीर के कारण हैं **तदीयाः मात्राः**–उन सूक्ष्म भूतों की मात्रा, मात्रा का अर्थ है भोगना, विषयी करना **शब्दादयः**–शब्द-स्पर्श-रूप-रस–गन्ध **पंच विषयाः**–पंच विषय **भोक्तुः सुखाय**–जीव के, अज्ञानी के सुख के लिये, सुखाभास के लिये बने हैं।

पाँच सूक्ष्म भूतों की पाँच तन्मात्रा इस प्रकार हैंः—आकाश की तन्मात्रा शब्द, वायु की तन्मात्रा स्पर्श, अग्नि की तन्मात्रा रूप, जल की तन्मात्रा रस, और पृथ्वी की तन्मात्रा गन्ध। इन पांच तन्मात्राओं को क्रमशः श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका पंच ज्ञानेन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं॥ उत्तरार्ध ७५–७६॥

'मात्रास्तदीया विषयाः' से लेकर अगले सात श्लोकों में विषय की अनर्थ-कारता दिखाते हैं।

य एषु मूढा विषयेषु बद्धा, रागोरुपाशेन सुदुर्दमेन।
आयान्ति निर्यान्त्यध ऊर्ध्वमुच्चैः, स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः ॥७७॥

अर्थ—जो मूढ इन विषयों में रागरूपी विस्तृत पाश में बँध जाते हैं वे अपने कर्मरूपी दूत के द्वारा वेग से ले जाये हुए उत्तमाधम योनियों में आते-जाते हैं।

व्याख्या—**ये मूढाः**–जो विवेकशून्य, देहात्मधी **सुदुर्दमेन**–जिसका दमन, निग्रह कठिनाई से किया जा सके, जो कठिनाई से टूटे, ऐसे **रागोरुपाशेन**–रागरूप

उरु पाश से, कठोर फांसी से, राग कहते हैं आसक्ति को, स्नेह को, मीठे कठोर पाश से **एषु विषयेषु**—इन शब्दादि पाँच विषयों में **बद्धाः**—बन्धे हुए हैं, फंसे हुए हैं, पशु की न्याईं स्तम्भ से बँधे हैं, ऐसे **ते स्वकर्मदूतेन**—विषयानुरागी मूढ, विषयपाश से छूटने में असमर्थ, विवश, अपने अशुभ शुभ कर्मरूपदूत द्वारा, अर्थात् अपने किये हुए कर्मफलानुसार **जवेन नीताः**—वेग से ले जाये हुए **अधः आयान्ति**—अशुभ कर्मों से नीचे लोकों में आते हैं, अथवा पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गादि उच्च लोकों से गिरकर नीचे आते हैं, या **उच्चैः ऊर्ध्वम् निर्यान्ति**—पुण्य कर्मों के प्रभाव से उच्च लोकों में जाते हैं, स्वर्गादि को प्राप्त होते हैं, परन्तु छूटते नहीं, मुक्तवन्धन नहीं होते, पुण्य क्षीण होने पर नीचे आते हैं, पुण्यार्जन करने पर फिर ऊपर जाते हैं ।।७७।।

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम् ।।७८।।

अर्थ—शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक विषयासक्ति की डोरी से बँधे हुए हरिण, हाथी, पतङ्ग, मछली और भौंरे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, फिर इन पाँचों से बँधा हुआ मनुष्य कौन गति को प्राप्त हो ।

व्याख्या—विषयानुरागी जीव को विवेक नहीं होता, इसलिये विषय उनकी मृत्यु का कारण बनते हैं । अब पाँच विषयों के पाँच दृष्टान्त देते हैं ।

कुरंग—मातंग—पतंग—मीन—भृंगाः पंच—हिरण, हाथी, पतंगा, मछली और भँवरा, ये **पाँच स्वगुणेन बद्धाः**—अपनी एक-एक विशेष इन्द्रिय के प्रति विषयासक्ति की डोरी से, सुदुर्दम उरु पाश से एक-एक विषय से बँधे हुए **शब्दादिभिः पंचभिः**—शब्दादि पाँच विषयों में एक-एक के साथ बंधने के कारण **पंचत्वम् आपुः**—मारे जाते हैं, तो फिर **पंचभिः अंचितः नरः**—पाँचों विषयों से युक्त, उनमें आसक्त पुरुष का **किम्**—क्या कहना है, अर्थात् जब एक विषय में आसक्ति के कारण इन पाँचों प्राणियों की मृत्यु होती है, तो पाँचों विषयों से बंधे पुरुष का तो नाश अवश्यं-भावी ही है । अब प्रत्येक विषय की अनर्थकारता का पृथक् २ दृष्टान्त देते हैं :

कुरंग—हिरण, 'सुन वीणा की मधुरता मारे जात कुरंग' हिरण के लिये व्याध वन में पालतू बैल के पीछे छिपकर पहले वीणा वजाता है, जिसके मधुर संगीतरस से आकृष्ट हुआ मृग चरना छोड़कर स्तब्ध की न्याईं, शब्द विषय से बँधा हुआ, व्याध द्वारा घातक बाण से मारा जाता है । (२) मातंग—हाथी, अब स्पर्श के

रसिक हाथी की गति देखिये। शिकारी वन में कागज की हथिनी वनाकर खड़ा कर देते हैं, और उसके चारों ओर वड़े गढ्ढे खोदकर उनको वन के ताल पत्रादि से ढक देते हैं, और आप छिप जाते हैं। स्पर्श विषय का रसिक संभोगोन्मुख हाथी, विषय में बंधने से विवेकशून्य हुआ, कागज की हथिनी की तरफ जाता है, और गढ्ढों में गिर कर मारा जाता है। (३) पतंग—परवाना, कवियों ने प्रेमियों की उपमा दीपशिखा पर जलनेवाले पतंगों से दी है। दीपशिखा के उज्ज्वल रूप पर मोहित हुआ पतंग, उसकी दहनशक्ति को समझने में असमर्थ, उन्मत्त के समान उस पर झपटता है, और प्राण गंवा देता है। यह रूपविषय में आसक्ति का फल है। (४) मीन—मछली, लोह के फलक (काँटे) में लगे हुए माँस के टुकड़े को खाने की अभिलाषा वाली जिह्वालोलुप मछली, विवेकहीन हुई, काँटे में फंसकर प्राण खो बैठती है। (५) **भृंग**—भौंरा, गन्ध विषय का लोभी भौंरा चंपक पुष्प को सूंघने से मारा जाता है। जब एक-एक विषय अनर्थ का हेतु है, तो पंचविषय-सेवी मूढ पुरुष का क्या होगा। अहो! अनर्थ परम्परा।।७८।।

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि ।
विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ।।७९।।

अर्थ—दोष की दृष्टि से विषय काले सर्प के विष से भी अधिक तीव्र है, क्योंकि विष तो खानेवाले को ही मारता है, परन्तु विषय तो आँख से देखनेवाले को भी मार देता है।

व्याख्या—विषयः—शब्दादि पंच विषय **दोषेण**—दोष दृष्टि से, प्रभावोपादकता में, अनर्थकारी होने में **कृष्णसर्पविषात् अपि**—काले सर्प के विष से भी **तीव्रः**—तीक्ष्ण होता है, इस का कारण वताते हैं। **विषम्**—जहर **भोक्तारम् निहन्ति**—भोक्ता को मारता है, देखनेवाले को नहीं, कृष्ण सर्प विषैला होता है, उसके काटने से विष रक्त-वाहिनी नालियों द्वारा शरीर में व्याप्त होता है, जव उस विष का सम्पर्क जिह्वा से होता है, तव मरता है। यदि पाँव में सर्प काट ले, और काटे हुए स्थान के आगे रस्सी से वन्ध लगा दिया जाये तो विष जिह्वा से सम्पर्क के अभाव में घातक नहीं होता। **अयम्**—यह रूपविषय **चक्षुषा द्रष्टारम् अपि**—नेत्र से देखने वाले को भी मार देता है। अपि शब्द से अन्य विषय भी समझने चाहियें, वे भी 'कुरंगमातंगपतंगमीनभृंगाः' के सदृश विषयानुरागी मूढों को मार देते हैं।।७९।।

विषयाशा-महापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।
स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ।।८०।।

अर्थ—जो कठिन विषयों के आशारूप महा बन्धन से छूटा हुआ है वही मोक्ष की योग्यता रखता है और कोई नहीं: चाहे वह छ: दर्शनों का ज्ञाता भी क्यों न हो।

व्याख्या—यः सुदुस्त्यजात्—जो त्यागा जाने में कठिन हो, जो कठिनता से छोड़ा जा सके, सुदुर्दम होने से **विषयाशा-महापाशात्**—विषय की आशा ही है महापाश, कठोर बन्धन, उससे, विषय वासना से **विमुक्तः**—जो अच्छे प्रकार से बन्धनरहित होता है, **सः एव**— वह ही, अन्य नहीं **मुक्त्यै कल्पते**—मोक्ष के लिये समर्थ होता है। 'इन्द्रियों को विषयों से हटाये विना, और अध्यात्मविचार से सम्पन्न हुए विना स्वरूप में स्थिति किसी प्रकार संभव नहीं', गुरुवचनामृत **न अन्यः षट्शास्त्रवेदी अपि**—दूसरा नहीं, चाहे वह छ: शास्त्रों का ज्ञाता भी क्यों न हो ॥८०॥

आपात-वैराग्यवतो मुमुक्षून्, भवाब्धिपारं प्रतियातुमुद्यतान्।
आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले, विगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ॥८१॥

अर्थ—संसार-सागर को पार करने के लिये उद्यत हुए अदृढ़ वैराग्यवाले मुमुक्षुओं को आशारूपी मकर अति वेग से गला पकड़कर बल से पीछे खैंचकर भव-सागर मध्य में डुबो देता है।

व्याख्या—आपातवैराग्यवतः—क्षणिक विरक्तों को, आपत्तियाँ आयें तो विरक्त, हटने पर अनुरागी, श्मशान वैरागी, शव को वहन करते हुए लोग 'राम नाम सत्य है' ऐसा बोलते हैं। श्मशान में जाकर मृतक का गुणानुवाद करके संसार की नश्वरता को देखकर धिक्-धिक् कहते हैं, परन्तु फिर घर पर आकर भूल जाते हैं, ऐसे वैराग्य को श्मशान वैराग्य कहते हैं। ऐसे अदृढ़ विरक्तों को **भवाब्धिपारम् प्रतियातुम्**—संसार सागर के पार जाने के लिये **उद्यतान् मुमुक्षून्**—यत्नवान मोक्ष की इच्छा वालों को **आशाग्रहः**—विषयाशा नाम का मकर, मगरमच्छ **कण्ठे विगृह्य**—गला पकड़कर, हाथ-पैर नहीं **वेगात् विनिवर्त्य**—बल से पीछे खैंचकर **अन्तराले**—संसारसमुद्र मध्य में, बीच धारा में, किनारे नहीं **मज्जयते**—डुबो देता है, संसारसागर पार नहीं होने देता 'अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः' अत्यन्त वैराग्यवान ही मोक्ष प्राप्त करता है, आपात वैराग्यवान् नहीं ॥८१॥

इसी विषय को व्यतिरेक से कहते हैं।

विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हतः।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः ॥८२॥

अर्थ—जिसने निर्मल वैराग्यरूपी खड्ग से विषयाशा नामी मकर को मार दिया है, वही निर्विघ्न हुआ संसार-समुद्र से पार जाता है ।

व्याख्या—**येन**—जिस मुमुक्षु द्वारा **सुविरक्ति-असिना**—दृढ़ वैराग्यरूपी तलवार ने **विषयाख्यग्रहः**—विषयाशा नाम मकर **हतः**—मार दिया गया है, **सः**—वह मुमुक्षु **प्रत्यूहर्वाजतः**—विघ्नरहित, निष्कण्टकपथ हुआ **भवाम्भोधेः**—भव सागर से **पारम् गच्छति**—पार जाता है । ब्रह्मसाक्षात्कार करके मुक्त हो जाता है ।।८२।।

विषमविषममार्गे गच्छतोऽनच्छबुद्धेः,
प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि ।
हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या,
प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि ॥८३॥

अर्थ—कठिन विषय मार्ग में चलनेवाले दुर्बुद्धि के पीछे पद-पद पर मृत्यु आती है—ऐसा जान । हितैषी, सज्जन गुरु के कथनानुसार तथा अपनी युक्ति से चलनेवाले को फल-सिद्धि होती है । इसे तू निःसंशय सत्य मान ।

व्याख्या—**विषम-विषयमार्गे गच्छतः**—कठिन विषय के मार्ग पर चलनेवाले की, विषम—सुदुर्दम, और उरु पाशयुक्त होने से विषय से छुटकारा पाना कठिन होता है, विषय—शब्दादि पंच विषय, उनके मार्ग को अपनाने वाले की अर्थात् विषय-भोगों में आसक्त पुरुष की, इसलिये **अनच्छबुद्धेः**—खोटी बुद्धिवाले की, अशुद्धमन-वाले की । यदि बुद्धि शुद्ध हो तो विषयों से छूटने का प्रयत्न करेगा, उनका अनु-सरण नहीं करेगा । ऐसे विषयासक्त कुबुद्धि की **एषः मृत्युः अपि**—अनुभवसिद्ध मृत्यु भी, जन्म-मरण जराव्याधिधर्मा संसाररुप मृत्यु भी, स्वस्वरूप से 'च्युति' मृत्यु भी **प्रतिपदम्**—पद पद पर, जब जब स्वरूपविस्मृति हो तब तब **अभियातः**—पीछे पीछे आती हुई, स्वरूपस्थिति ही मृत्युनिवृत्ति है, स्वरूपभ्रंश होना या संसार-ग्रस्त होना एक ही बात है, 'स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' गीता, २।६३।, स्वरूपस्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य में विवेक न कर सकना बुद्धि का नाश है, नष्टबुद्धि अकर्मण्य पुरुष मृतकतुल्य है **विद्धि**—ऐसा तू जान ।

हितसुजनगुरूक्त्या—हितकारी, शुभचिन्तक, सत्पुरुष गुरु की उक्ति से, 'अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमताम् सताम्' ऐसे गुरु के उपदेशानुसार, अर्थात् उनसे श्रवण करके **स्वस्व युक्त्या**—श्रवण किये को मनन करके, अपनी युक्तियों से पुष्ट

करके, कुतर्क निवारण करके **गच्छतः**–चलनेवाले का, ब्रह्माभ्यास करनेवाले का, 'विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हतः', गुरूपदेश तथा अपनी युक्ति के विचार से पुरुषार्थ करते हुए को, कल्याण मार्ग में अग्रसर होते हुए को **फलसिद्धिः प्रभवति**–मोक्षसिद्धि, ब्रह्मसाक्षात्कार, निर्विघ्न, प्रत्यूहवर्जित मोक्ष मिलता है। विषयानुसेवी को मृत्यु और विषयत्यागी को फलसिद्धि, यह अभिप्राय है। **इति सत्यम् एव विद्धि**–विषयसेवी तथा विषयत्यागी की जो ऊपर गति वताई है, इसको तू संशयरहित सत्य जान ।।८३।।

मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ।।८४।।

अर्थ—यदि सचमुच तेरी मोक्ष की इच्छा है तो विषयों को विष के समान दूर-से ही त्याग दे और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम और दम का अमृत के समान नित्य श्रद्धापूर्वक सेवन कर।

व्याख्या—अव मुमुक्षु के लिये हेयोपादेय वताते हैं। पहले हेय, त्यागने योग्य, कहते हैं। **यदि तव मोक्षस्य वै**–यदि तेरी सचमुच मोक्ष की **कांक्षा अस्ति**–इच्छा है, तो **विषयान् विषम् यथा**–शब्दादि विषयों को हालाहल के सदृश **अतिदूरात् त्यज्**–वहुत दूर से ही त्याग दे, मन से भी विषयों का स्मरण न कर, क्योंकि 'ध्यायतो विषयान्पुसः संगस्तेषूपजायते' गीता २।६२।, विषयों के चिन्तन करने से उनके साथ लगाव होता है, और धीरे-धीरे क्रम वढ़ता हुआ अन्त में नाश होता है। सभी क्रियायों का बीज संकल्प है, विषयों का संकल्प भी न कर।

अव उपादेय, ग्रहण करने योग्य, वताते हैं। **नित्यम्**–असावधानी को विना अवकाश दिये, निरन्तर **तोष**–सन्तोष, 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' जो भी दैवयोग से मिले, उसी में सन्तुष्ट रहना, उसी को वहुत करके मानना **दया**–करुणा, **क्षमा**–तितिक्षा, **आजर्व**–सरलता, अकुटिलता **प्रशान्ति**–शम, मनोनिग्रह, **दान्तीः**–दम, वाह्येन्द्रिय निग्रह, इनको **पीयूषवत् आदरात्**–अमृत की तरह श्रद्धापूर्वक **भज**–सेवन कर। विषय सेवन मृत्युप्रद और तोषादि का सेवन अमरता देनेवाला है ।।८४।

अगले पाँच श्लोकों में, 'त्वङ्मांसरुधिर'–इत्यन्तवाले श्लोक तक शरीर में अहन्ता और शरीर सम्वन्धी पदार्थों में ममता के अनर्थ वताते हैं।

अनुक्षण यत्परिहृत्य कृत्यमनाद्यविद्या-कृत-बन्ध-मोक्षणम् ।
देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे, यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति ॥८५॥

अर्थ—जो अनादि अविद्याकृत बन्धन से छूटना अपना सर्वदा कर्त्तव्य है उसको त्यागकर इस देह को परम अर्थ मानकर जो इसके पोषण में ही लगा रहता है वह, शरीराभिमान से, स्वयं अपना घात करता है ।

व्याख्या—यत् अनादि-अविद्या—कृतबन्ध-मोक्षणम्—जो अनादि अविद्या द्वारा विरचित वन्ध है, 'अहंकारादिदेहान्त' वन्ध है, उसका मोक्षण—परित्याग करना जो कि **अनुक्षणम्**—प्रतिक्षण, सर्वदा **कृत्यम्**—कर्तव्य है, करने योग्य कर्म है, उसको **परि-हृत्य**—छोड़ कर **अयम् देहः परार्थः**—यह देह ही परम अर्थ है, साध्य वस्तु, लक्ष्य है, आत्मा है, इस प्रकार देहात्मधी **यः अमुष्य पोषणे**—जो इसके पुष्ट करने में **सज्जते**—आसक्त है **सः स्वं**—वह अपने को **अनेन**—शरीर में आत्माभिमान करने से **हन्ति**—मारता है, अपना घात करता है, जन्ममरण के कुचक्र में पड़ता है ।।८५।।

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति ।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति ॥८६॥

अर्थ—जो शरीर पोषण में कामनावाला हुआ आत्मसाक्षात्कार करना चाहता है वह मानो काष्ठ-बुद्धि से मकर का आश्रय लेकर नदी पार करना चाहता है ।

व्याख्या—शरीर पोषणार्थी सन्—शरीर में आत्मा का अभिमान करके, 'देहः परार्थोऽयम्' मानता हुआ **यःआत्मानम्**—जो मूढ अपने आपे का, त्रिकाल अवाध्य अखण्ड, आनन्दघन आत्मा का **दिदृक्षति**—दर्शन करना चाहता है, आत्मसाक्षात्कार करना चाहता है **सः दारुधिया**—वह लक्कड़ समझकर **ग्राहम् धृत्वा**—मकर को पकड़ कर **नदीम् तर्तुम्**—गम्भीर नदी को पार करने की **इच्छति**—इच्छा करता है । तात्पर्य यह है कि वह पार नहीं हो सकता । वह ग्राह ऐसे मूढ को 'मज्जयन्ते अन्तराले विगृह्य कण्ठे, विनिवर्त्य वेगात्' ।।८६।।

शरीर में मोह महामृत्यु है, दो श्लोकों में ।

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥८७॥

अर्थ—शरीरादि में मोह ही मुमुक्षु की महान मौत है; जिसने मोह को जीता है वही मुक्तिपद का अधिकारी है।

व्याख्या—**वपुरादिषु**—शरीरादि में, आदि पद से स्त्री-पुत्र-गृह समझने चाहियें, इनमें **मोहः एव**—अहंकार, अभिमान, ममता ही **मुमुक्षोः**—मोक्ष की कामना वाले को **महामृत्युः**—महामृत्यु है, महान् असफलता है, मोहित पुरुष मृतक के तुल्य सम्यक् विचार नहीं कर सकता, और श्रेयस्कर मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता, इसलिये उसको 'वस्तूपलब्धिः' अथवा 'फलसिद्धिः' नहीं मिल सकती और वह आत्मघाती होता है। स्वरूप से गिरावट ही मृत्यु है **येन**—जिस मुमुक्षु द्वारा **मोहः**—देह में आत्मबुद्धिरूप मोह को **विनिर्जितः**—अच्छी तरह जीत लिया गया है, **सः मुक्तिपदम् अर्हति**—वही मुक्तिपद को, सर्वदुःखनिवृत्ति-सर्वसुखप्राप्ति रूप अमरपद प्राप्त करता है, मोह से छूटता है ।।८७।।

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु ।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।८८।।

अर्थ—देह, स्त्री और पुत्रादि में मोहरूप महामृत्यु को त्याग, जिसको जीतकर मुनिजन आत्मा के परमपद को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—अब मोह ममता के त्याग के लिये उपदेश करते हैं। **देहदारसुतादिषु**—शरीर, स्त्री, पुत्र, आदि पद से गृह, धन समझने चाहियें, इनमें **मोहम्**—शरीर में आत्माभिमान को, और 'दारसुतादिषु' में ममत्व को **महामृत्युम्**—जो मोह ही महामृत्यु है, स्वस्वरूपभ्रंशकारी है, उसको **जहि**—छोड़ दे, त्याग दे **यम् जित्वा**—जिस मोह को, अज्ञान को जीत कर, त्याग कर **मुनयः**—विचारवान मुमुक्षुगण **यान्ति**—जहाँ पहुँचते हैं, जिस पद को प्राप्त करते हैं **तत्**—वही प्रसिद्ध **विष्णोः**—विष्णु का, व्यापक का, आत्मा का **परम् पदम्**—ब्रह्मरूप स्थान है; जहाँ पहुँच कर पुनर्जन्म नहीं होता, 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम' गीता ८।२१। जिस पद को प्राप्त होकर फिर संसार में नहीं लौटते, मेरा वही परम धाम है ।।८८।।

त्वङ्-मांस-रुधिर-स्नायु-मेदो-मज्जास्थिसंकुलम् ।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः ।।८९।।

अर्थ—त्वचा, माँस, रक्त, स्नायु, चर्वी, मज्जा और अस्थियों का समूह तथा मल-मूत्र से भरा हुआ यह स्थूल देह घृणास्पद है।

व्याख्या—त्वक्-मांस-रुधिर-स्नायु-मेदः-मज्जा-अस्थिसंकुलम्—त्वचा, माँस, रक्त, रक्तवाहिनी नाडियाँ, चर्वी, मज्जा, हड्डियों से बना हुआ **मूत्रपुरीषाभ्याम् पूर्णम्**—मूत्र और विष्ठा से भरा हुआ **इदम् स्थूलम् वपुः**—यह स्थूल देह **निंद्यम्**—निन्दा के योग्य है, घृणास्पद है, इसमें आत्मबुद्धि कैसे हो सकती है, क्योंकि आत्मा निर्दोष और एकतत्व है, इसलिये शरीर से अहंता और शरीरोपयोगी वस्तुओं में ममता त्याग देनी चाहियें। शरीर-निन्दा का प्रयोजन इसमें वैराग्य उत्पन्न कराना है, अन्यथा ज्ञान—साधना के लिये शरीर बहुत ही आवश्यक है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह शरीर ही धर्मानुष्ठान में आदि साधन है ॥८९॥

पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः।
अवस्था जागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः ॥९०॥

अर्थ—पंचीकृत स्थूल भूतों से प्रारब्धानुसार उत्पन्न हुआ यह शरीर जीव का स्थूल भोगायतन है; इसकी प्रतीति की अवस्था जाग्रत है, जिसमें कि स्थूल विषयों का अनुभव होता है।

व्याख्या—पूर्वकर्मणा—पूर्व कर्म के प्रभाव से, 'कर्मणा निर्मितो देहः' देह प्रारब्ध कर्मों से उत्पन्न हुआ है, पापपुण्य मिश्रित प्रारब्ध कर्मों से मनुष्य शरीर प्राप्त होता है **पंचीकृतेभ्यः स्थूलेभ्यः भूतेभ्यः**—पंचीकृत स्थूल भूतों से **समुत्पन्नम्**—उत्पन्न हुआ **इदम्**—यह, **स्थूलम्**—स्थूल देह **आत्मनः**—जीव के **भोगायतनम्**—स्थूल भोग का आश्रय। अनुकूल विषय से सुख, प्रतिकूल विषय से दुःख का साक्षात् अनुभव करने वाला यह स्थूल शरीर है। **तस्य जागरः अवस्था**—स्थूल देह में अभिमानी की जाग्रत् अवस्था है, जिस अवस्था में स्थूल देह का अभिमान होता है, उसको जाग्रत् अवस्था कहते हैं, 'इन्द्रियैः अर्थोपलब्धिर्जगरितम्'—जिस अवस्था में इन्द्रियों को विषय—उपलब्धि हो, वह जाग्रत् अवस्था है। **यतः**—जिस जाग्रत् अवस्था में **स्थूलार्थ—अनुभवः**—स्थूल देह के अर्थ—विषयों का—अनुभव होता है।. स्वप्नावस्था में स्थूल भोगों का और इन्द्रियों का उपराम हो जाता है ॥९०॥

बाह्येन्द्रियैः स्थूलपदार्थसेवां, स्रक्-चन्दन-स्त्र्यादिविचित्ररूपाम्।
करोति जीवः स्वयमेतदात्मना, तस्मात्प्रशस्तिर्वपुषोऽस्य जागरे ॥९१॥

अर्थ—शरीर में आत्माभिमानी जीव माला, चन्दन तथा स्त्री आदि नाना प्रकार के स्थूल पदार्थों को वाह्येन्द्रियों से सेवन करता है, इसलिये जाग्रत्-अवस्था में इस स्थूल देह की प्रधानता है।

व्याख्या—अब स्थूलार्थानुभव को विशद करते हैं। **वाह्येन्द्रियैः**—श्रोत्र, चक्षु, त्वक् आदि वाह्येन्द्रियों से **स्रक्-चन्दन-स्त्री-आदि-विचित्र-रूपाम्**—माला, चन्दन, रमणी, आदि पद से भोजन वस्त्र जानना, विचित्र प्रकार के **स्थूलपदार्थ-सेवाम्** स्थूल पदार्थों का सेवन **जीवः**—देहात्माबुद्धि वाला अज्ञानी जीव **एतत्-आत्मना**—यही स्थूल देह आत्मा है, ऐसे जाग्रदवस्था में स्थूल देह में अहंकारवाला, शरीर को ही अपना आपा, आत्मा माननेवाला, यही आत्मा है, इस बुद्धि से **स्वयम्**—अपने आप, कर्ता-भोक्ता भाव से **करोति**—विचित्र स्थूलपदार्थों का भोग करता है। **तस्मात्**—इस कारण से **अस्य**—स्थूल देह की **जागरे**—जाग्रदवस्था में **प्रशस्तिः**—प्रधानता होती है। स्वप्नावस्था में वासनामयशरीर की प्रधानता होती है ॥६१॥

सर्वोऽपि वाह्यसंसारः पुरुषस्य यदाश्रयः।
विद्धि देहमिदं स्थूलं गृहवद् गृहमेधिनः ॥६२॥

अर्थ—जीव के सम्पूर्ण वाह्य जगत् का जो आधारभूत है, वह यह स्थूल देह ही है, गृहस्थ के घर के तुल्य।

व्याख्या—**पुरुषस्य**—जीव का **सर्वः अपि**—सारा ही **वाह्यसंसारः**—जन्म-मृत्यु, जराव्याधि, स्थूलता-कृशता, शैशव यौवनादि, इस वाह्यसंसार का विवरण अगले श्लोक में दिया है, इस समस्त वाह्य संसार का **यत् आश्रयः**—जो आधार है **इदम् स्थूलम् देहम्**—वह यही स्थूल देह है। **गृहमेधिनः**—गृहस्थ के **गृहवत्**—घर की भांति **विद्धि**—यह जान। जीव के समस्त जगत का आधार देह है, यदि देह से आत्मबुद्धि निकल जाये, तो वाह्यसंसार की निवृत्ति, आधारहीन हो जाने से, स्वतः हो जाती है। जन्म-मृत्यु, जराव्याधि आदि स्थूल शरीर के धर्म हैं, परन्तु अज्ञानवश जब आत्मा स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य-भाव प्राप्त कर लेता है तो स्थूल शरीर के धर्मों को अपने धर्म समझने लगता है और दुःख सहता है। यदि शरीर है तो सगे-सम्बन्धी हैं, जन्म-मृत्यु, जराव्याधि हैं, वर्णाश्रमधर्म हैं। यदि शरीर नहीं तो जगद्व्यवहार समाप्त ॥६२॥

अब वाह्यसंसार को विशद करते हैं।

स्थूलस्य सम्भव-जरा-मरणानि धर्माः,
स्थौल्यादयो बहुविधाः शिशुताद्यवस्थाः ।
वर्णाश्रमादिनियमा बहुधाऽऽमयाः स्युः,
पूजावमानबहुमानमुखा विशेषाः ॥६३॥

अर्थ—स्थूल देह के ही जन्म, जरा, मरण धर्म हैं, स्थूलता आदि बचपन आदि नाना प्रकार की अवस्थाएँ हैं; वर्णाश्रमादि के नियम और बहुत प्रकार के कष्ट हैं; तथा इसी की पूजा, मान, अपमान आदि विशेषताएँ हैं ।

व्याख्या—संभव-जरा-मरणानि—जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु **स्थूलस्य**—स्थूल देह के, आत्मा के नहीं **धर्माः**—धर्म हैं, जब मोहित सा हुआ आत्मा शरीर का अभिमान करता है कि मैं देह हूँ तब शरीर के धर्म अपने में समझ बैठता है । इसी प्रकार **स्थौल्यादयः**—मोटापन, आदिपद से पतलापन, कृष्णवर्ण, गौरवर्ण **बहुविधाः**—बहुत प्रकार के धर्म इसी स्थूल देह के हैं **शिशुता-आदि-अवस्थाः**—बचपन, आदि पद से कौमारपन, यौवन, बुढ़ापा, ये भी स्थूल देह की अवस्थाएँ हैं, आत्मा की नहीं, निर्विकार होने से **वर्णाश्रम-आदि**—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण; ब्रह्म-चर्य,गृहस्थ, वानप्रस्थ,सन्यास ये चार आश्रम, आदिपद से गोत्रसूत्र समझने चाहियें, **नियमाः**—वर्णाश्रमादि के नियम, शास्त्रवर्णित उन के कर्तव्याकर्तव्य **बहुधा आमयाः**—नाना प्रकार के आमय—ज्वर, सिर पीड़ा, खांसी, जुकाम, शरीर कष्ट **पूजावमान-बहुमानमुखाः विशेषाः स्युः** पुष्पादि से पूजा, अवमान—तिरस्कार, बहुमान—बहुत आदर, ऊँचे स्थान पर बैठाना, गुणगान करना, ये सब विशेषतायें स्थूल देह की हैं, आत्मा की नहीं, सदा एकरस होने से ॥६३॥

यहाँ तक स्थूल शरीर का वर्णन हुआ, यह शरीर बाह्यसंसार का आधारभूत है । अब दूसरे प्रकार के संसार का अर्थात् अन्तर्संसार का जिसमें कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व सुख-दुःख का अनुभव होता है, निरूपण करते हैं । अगले पाँच श्लोकों में, स्थूल से भिन्न, सूक्ष्म शरीर का वर्णन करते हैं । पहले दश इन्द्रियों का ।

बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि, घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात् ।
वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थः, कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु ॥६४॥

अर्थ—कान, त्वचा, आँख, नासिका और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनसे विषय का ज्ञान होता है; तथा वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनकी कर्मों की ओर प्रवृत्ति होती है ।

व्याख्या——पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बताई जाती हैं जो इस प्रकार हैं:—**श्रवणम्—कर्ण** शष्कुली में रहनेवाली श्रवण इन्द्रिय **त्वक्**—त्वचा में रहनेवाली इन्द्रिय **अक्षि—नेत्र** गोलक में रहनेवाली इन्द्रिय **घ्राणम् च**—नासिका के अग्रभाग में रहनेवाली **जिह्वा**—जीभ के अग्रभाग में रहनेवाली इन्द्रिय **विषयावबोधनात्—शब्दस्पर्श-रूप-गन्ध-रस** क्रमश: इन पाँच विषयों को ग्रहण करने में, ज्ञान कराने से, जनाने से **बुद्धि-इन्द्रियाणि**—ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनकी उत्पत्ति क्रमश: नभ-वायु-अग्नि-पृथ्वी-जल पंच भूतों के सत्त्वगुणांश से हुई है।

अब पाँच कर्मेन्द्रियाँ बताते हैं **वाक्-पाणि-पादम्**—वाणी, वचन इसका कर्म है, पाणि—हाथ, आदान-प्रदान इसका कर्म है, पाद—पैर, गमन इसका कर्म है **गुदम् अपि उपस्थ:**—गुदा, लिंग—मल मूत्र त्याग इनके कर्म हैं। **कर्मसु प्रवणेन—कर्मों में** व्यग्रता, प्रवृत्ति, आसक्ति के कारण, इनको **कर्मेन्द्रियाणि**—कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं। इनकी उत्पत्ति क्रमश: आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी, तथा जल पाँच भूतों के रजोगु-णांश से हुई है ॥९४॥

अब अन्त:करण का निरूपण करते हैं।

निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः।
मनस्तु सङ्कल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः ॥९५॥
अत्राभिमानादहमित्यहङ्कृतिः, स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम् ॥९६॥

अर्थ——मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन वृत्तियों के कारण अन्त:करण कहा जाता है। संकल्प-विकल्प वृत्ति से मन, पदार्थ का निश्चय करने से बुद्धि, इनमें 'अहं-अहं' करके अभिमान करने से अहंकार और स्वार्थ का चिन्तन करने से यह चित्त कहलाता है।

व्याख्या——अब अन्त:करण का वर्णन करते हैं। अपंचीकृत पाँच भूतों के सत्त्वगुणांश से मिलकर अन्त:करण बना है। अन्त: का अर्थ भीतर और करण का अर्थ है ज्ञान का साधन। अन्त:करण के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। इसकी चार प्रधान वृत्तियाँ होती हैं। **अन्तःकरणम्**—अन्त:करण **स्ववृत्तिभिः**—अपने वृत्तिभेद से, कार्यभेद से **मनः धीः अहंकृतिः च चित्तम् इति**—मन, बुद्धि, अहंकार व चित्त अन्त:करणचतुष्टय **निगद्यते**—कहलाता है। **संकल्पविकल्पनादिभिः तु मनः**—अन्त:करण की संकल्प विकल्प वृत्ति का नाम मन है। यह दशों इन्द्रियों का

प्रेरक है। यह विषयों के दोष गुण को जानता है, इन्द्रियाँ नहीं जानतीं। अन्तः-करण, भीतर की इन्द्रिय होने से, ज्ञानेन्द्रियों के विना जो कि प्रायः वहिर्मुख होती हैं, वाहरवाले किसी पदार्थ को नहीं जान सकता। आदि पद से मन का कार्य, भेद-रचना, समझना चाहिये। **पदार्थाध्यवसायधर्मतः बुद्धिः**—पदार्थ निर्णय करने से बुद्धि। पदार्थों के भले-बुरे स्वरूप का निश्चय करनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। मन नाना प्रकार के संकल्पविकल्प रचता है, बुद्धि-वृत्ति उन में निर्णय करती है कि कौन सा उपयुक्त है ।।९५।।

अत्र अभिमानात् अहम् इति अहंकृतिः—अत्र—स्थूलदेह, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रि-यादि में अभिमान करने से कि यह मैं हूँ, इस प्रकार के अध्यास मिथ्या—भ्रांति से अन्तःकरण की वृत्ति अहंकार कहलाती है। **स्व अर्थ अनुसन्धानगुणेन चित्तम्**—अपने प्रयोजन की खोज में रहने के गुण, धर्म, से चित्तवृत्ति कहलाती है, स्मरणवृत्ति ।।९६।।

अव प्राण का निरूपण करते हैं।

प्राणापान-व्यानोदान-समाना भवत्यसौ प्राणः।
स्वयमेव वृत्तिभेदाद्विकृतिभेदात्सुवर्ण-सलिलादिवत् ।।९७।।

अर्थ—प्राण स्वयं ही वृत्तिभेद से प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—इन पाँच नामोंवाला होता है, सुवर्ण जल आदि के विकारों की भांति।

व्याख्या—अपंचीकृत भूतों के मिले हुए रजोगुण अंश से प्राण की उत्पत्ति हुई है। **असौ-प्राणः** वह प्राण वायु **वृत्तिभेदात्**—वृत्ति भेद से, क्रिया तथा स्थान भेद से **स्वयम् एव**—अपने आप ही पाँच रूप हो जाता है, **प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानाः**—शरीर में संचारी प्राण अपने स्थान तथा क्रिया भेद से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान नामवाला हुआ है। प्राण—मुख नासिका से प्रवेश तथा निष्क्रमण क्रिया, हृदयस्थान है। अपान—गुदा निवासी वायु, मल-मूत्र को नीचे ले जाना क्रिया है, गुदा स्थान है। व्यान—खाये पीये हुए अन्नरस को नाड़ियों द्वारा बाँटना क्रिया है, सब शरीर स्थान है **उदान**—ऊपर ले जाना, वमनादि काल में, कंठ स्थान है, समान-खाये-पीये अन्नरस को पचाने के लिये जठराग्नि में समान रूप से फैलाना क्रिया है, नाभि स्थान है। प्राण की यही पंचवृत्तियाँ हैं।

विकृतिभेदात्—विकार भेद से **सुवर्णसलिलादिवत्**—सुवर्ण, जल की भांति। एक ही सुवर्ण विकारभेद से कुण्डल, कटक आदि नाना सुवर्णभूषण रूप हो जाता

है, ऐसे ही जल विकारभेद से नदी, सागर, वाष्प, हिमादि नाना नाम आकार वाला होता है। यद्यपि प्राण एक ही है परन्तु वृत्तिभेद से, पृथक्-पृथक् कार्य विभाग से पाँच नाम वाला हुआ है, जैसे कि सुवर्ण तथा जल एक-एक होते हुए भी विकार के कारण नाना आकारवाले हो जाते हैं। आदि पद से मृत्तिका समझनी चाहिये। एक ही मृत्तिका के घट, सुराही, सकोराआदि विकार हैं।।९७।।

अब सूक्ष्म शरीर का सामूहिक वर्णन करते हैं।

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च, प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।
बुद्ध्याद्यविद्यापि च काम-कर्मणी, पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः ।।९८।।

अर्थ—वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, श्रवणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणादि पाँच प्राण, आकाशादि पाँच भूत, बुद्धि आदि अन्तःकरण-चतुष्टय, अविद्या, काम और कर्म यह पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

व्याख्या—ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय आदि जो ऊपर कहे हैं, वे सूक्ष्म शरीर के निर्माण में अंग हैं। अब सूक्ष्मशरीर के सम्पूर्ण कलेवर का निरूपण करते हैं। इसको आठों की पुरी भी कहते हैं। १–**वाक् आदि पंच**–वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, २–**श्रवणादि पंच**–श्रवण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, ३–**प्राणादि पंच**–वृत्तिभेद से पंच प्राण, ४–**अभ्रमुखानि पंच**–आकाश-वायु-अग्नि-जल-भू पंच भूत, ५–**बुद्ध्यादि**–बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, अन्तःकरणचतुष्टय, ६–**अविद्या अपि**–अज्ञान, अध्यास, अन्य का अन्य में आरोपण भी, ७,८–**काम-कर्मणी च**–वासना, तथा धर्माधर्म नामवाले कर्म **पुरी–अष्टकम्**–इन आठों की वनी पुरी, नगर को, **सूक्ष्मशरीरम् आहुः**–सूक्ष्म शरीर कहते हैं, स्थूल शरीर का वर्णन पहले कर चुके हैं।।९८।।

सूक्ष्म शरीर, जिसे लिंग शरीर भी कहते हैं, आत्मा की अनादि उपाधि है।

इदं शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं, लिङ्गं त्वपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
सवासनं कर्मफलानुभावकं, स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः ।।९९।।

अर्थ—यह सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुआ है, वासना-युक्त और कर्मफलों का अनुभव करानेवाला है। स्वस्वरूप के अज्ञान के कारण आत्मा की अनादि उपाधि है।

व्याख्या—श्रृणु—सुनो, श्रृणु शब्द यह द्योतन करता है कि अब सूक्ष्म प्रक्रिया कही जाती है, **सूक्ष्म संज्ञितम्**—सूक्ष्म नामवाला, सूक्ष्म भूतों से निर्मित होने के कारण सूक्ष्म **इदम् लिंगम् शरीरम् तु**—यह लिंग, सूक्ष्म देह, लिंग नाम है चिन्ह, प्रतीक, ज्ञापक का **अपंचीकृतभूत संभवम्**—अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुआ है, उत्पन्न होने से यह आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा 'अजो नित्यः' अजन्मा और त्रिकाल अवाध्य नित्य है। स्थूल शरीर पंचीकृत स्थूल भूतों से उत्पन्न होता है। वहिरिन्द्रियगण तथा अन्तःकरण घटित देह लिंग होता है। आत्मा का यह ज्ञापक है, क्योंकि आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर, अचेतन होता हुआ भी चेतन सा होकर यह आत्मा होने का अभिमान वाला है, इसलिये यह लिंग है। **सवासनम्**—वासनाओं के सहित 'कामकर्मणी'। यह सूक्ष्म शरीर स्थूल देह के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता, और जब तक कैवल्यमोक्ष अथवा विदेहमोक्ष न हो तब तक स्थिर रहता है। पूर्व जन्मों में जो कर्म किये हैं, उनके अनुभव के संस्कारों के साथ, वासना सहित, **कर्मफलानुभावकम्**—कर्म का, पुण्य पाप का सुख-दुःख फल, उसका अनुभव करानेवाला है।

स्व-अज्ञानतः—अपने स्वरूप के अज्ञान से **आत्मनः**—आत्मा की **अनादिः उपाधिः**—उपाधि है। यह नहीं कहा जा सकता कि सूक्ष्म शरीर कब से, किस काल से उत्पन्न हुआ है, इसलिये अनादि, स्थूल शरीर की तरह सूक्ष्म शरीर का आदि, उत्पत्ति नहीं है, महाप्रलय में भी यह रहता है, आमोक्ष यह रहता है, लिंग शरीर आत्मा की अनादि उपाधि है, बोध होने पर, आत्मसाक्षात्कार करने पर लिंग देह में आत्मबुद्धि निवृत्त हो जाती है। जो समीपता के कारण अपने धर्मों को समीपवस्तु (आत्मा) में आरोपण सा करे, उसे उपाधि कहते हैं। उपाधि का कारण क्या है? अपने स्वरूप का अज्ञान ॥९९॥

उपाधि संबंध से घटाकाश और मठाकाश वेदान्त के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इन दो उदाहरणों में आकाश की उपाधि घट और मठ हैं। यद्यपि आकाश अविभाज्य है, तो भी घट की दीवारों से घिरा आकाश घटाकाश और मठ से घिरा आकाश मठाकाश कहलाता है। घट की दीवार टूटने से घटाकाश ही महाकाश है, और आकाश घट में अनंग है। अखण्डब्रह्म में उपाधि हो नानात्व दर्शाती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर ही आत्मा की उपाधि हैं।

स्वप्नो भवत्यस्य विभक्त्यवस्था, स्वमात्रशेषेण विभाति यत्र।
स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्, कालीननानाविधवासनाभिः।
कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते, यत्र स्वयंज्योतिरयं परात्मा ॥१००॥

अर्थ—**स्वप्न** इसकी अभिव्यक्ति की अवस्था है, जहाँ यह स्वयं ही **स्थूल** शरीर के अभाव में भासता है। स्वप्न में अन्तःकरण ही जाग्रत्कालीन नाना प्रकारकी वासनाओंसे कर्ता आदि भावों को प्राप्त होकर स्वयं ही प्रकाशता है। स्वप्न में भी स्वप्न का प्रकाशक स्वयंप्रकाश यह परमात्मा है।

व्याख्या—**अब** सूक्ष्म शरीर की असाधारण अवस्था कहते हैं। **अस्य**–इस सूक्ष्म शरीर की **विभक्ति अवस्था**–अभिव्यक्ति की अवस्था **स्वप्नः भवति**–स्वप्न होती है, जाग्रत् अवस्था में स्थूल देह की प्रधानता होने से। सुषुप्ति अवस्था में वहिरन्तःकरण के, अज्ञान में लीन होने से, सूक्ष्म शरीर की प्रधानता स्वप्नावस्था में होती है। **यत्र स्वमात्रशेषेण विभाति**–स्वप्न काल में, केवल अपने आप, स्थूल देह के अभिमान के अभाव में, सूक्ष्म शरीर के अभिमान से युक्त, प्रकाशता है। **स्वप्ने तु बुद्धिः**–स्वप्नावस्था में अन्तःकरण **स्वयमेव**–अपने आप **जाग्रत् कालीन**–**नानाविधवासनाभिः**–जाग्रत् अवस्था में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के संस्कारों के साथ **कर्त्रादिभावम्**–कर्तृत्व, भोक्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व आदि भावों को **प्रतिपद्य**–प्राप्त होकर **राजते**–बुद्धि प्रकाशती है।

बुद्धि जड़ है, उसमें प्रकाशन शक्ति कहाँ? आत्मा के सान्निध्य में बुद्धि जो कि भूतों के सत्त्वांश से बनने के कारण स्वच्छ है, आत्मा के बिम्ब को ग्रहण करके प्रतिविम्बित होती है, बुद्धि निर्मल होने से आत्मा के प्रकाश के कारण प्रकाशित हो जाती है, चेतनीभूत होती है। बुद्धि यह समझ बैठती है कि मैं आत्मा हूँ, आत्मा का उसके साथ तादात्म्य सा हो जाता है। जैसे आग में तपाया लोहे का गोला यह समझ बैठे कि मैं अग्नि हूँ, अग्नि का उसके साथ तादात्म्य हो जाता है। जैसे बुद्धि वैसे ही लोहे का तपाया गोला दोनों ही पर-प्रकाश्य हैं। **यत्र**–जहाँ, स्वप्नावस्था में भी **अयम् स्वयंज्योतिः**–यह स्व प्रकाश, अन्य से अप्रकाशित, सर्वप्रकाशक **परात्मा**–परमात्मा है जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का प्रकाशक आत्मा है। सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, अग्नि और उनके अभाव में अन्धकार को भी परमात्मा प्रकाशता है ॥१००॥

अब बताते हैं कि परमात्मा के प्रकाश से चेतन सी हुई बुद्धि कर्तापन भोक्तापन भाव को प्राप्त होती है तो भी आत्मा की असंगता रहती है, दो श्लोकों में।

धीमात्रकोपाधिरशेषसाक्षी, न लिप्यते तत्कृतकर्मलेशैः।
यस्मादसङ्गस्तत एव कर्मभि र्न लिप्यते किञ्चिदुपाधिना कृतैः॥१०१॥

अर्थ—अन्तःकरण ही जिसकी उपाधि है ऐसा वह सर्वसाक्षी स्वयंज्योति परमात्मा उपाधि के किये हुए कर्मों से तनिक भी लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह असंग है। अतः उपाधिकृत कर्मों से रंचमात्र भी लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—'रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावः' जैसे सर्वजगत के प्रकाशक सूर्य का मनुष्यों द्वारा किये हुए कर्मों में साक्षीभाव है, ऐसे ही आत्मा सर्वप्रकाशक है। उपाधियों द्वारा किए हुए कर्मों से लिपायमान नहीं होता। **धीमात्रकोपाधिः**—स्वप्न में स्वयं ज्योति परमात्मा की उपाधि केवल सूक्ष्म बुद्धि, अन्तःकरण-मात्र होती है, परन्तु **अशेष साक्षी**—सर्व का साक्षी होने के कारण **तत्कृतकर्मलेशैः**—बुद्धि से किये हुए कर्मों के सम्वन्ध से **न लिप्यते**—परमात्मा तनिक भी लिपायपान नहीं होता, **यस्मात् असंगः**—क्योंकि 'असंगो-नहि सज्यते' इति बृहदारण्यक ४।५।१५ परमात्मा असंग है, लिपायमान नहीं होता 'न माम् कर्माणि लिम्पन्ति'। गीता ४।१४।, मुझे कर्म लिपायमान नहीं करते। **ततः एव**—इसीलिये ही परमात्मा **उपाधिना कृतैः कर्मभिः**—मन, बुद्धि, शरीर आदि उपाधियों द्वारा किये हुए कर्मों से **किंचित्**—लेशमात्र भी **न लिप्यते**—लिपायमान नहीं होता, वद्ध नहीं होता। श्रीभगवत्पाद आगे कहेंगे, 'न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति' साक्ष्य के धर्म साक्षी को स्पर्श नहीं करते ॥१०१॥

सर्वव्यापृति-करणं लिङ्गमिदं स्याच्चिदात्मनः पुंसः ।
वास्यादिकमिव तक्ष्णस्तेनैवात्मा भवत्यसङ्गोऽयम् ॥१०२॥

अर्थ—ज्ञानरूप आत्मा का यह लिंगदेह वढ़ई के वसोले आदि औज़ारों की न्याईं सम्पूर्ण व्यापारों का कारण है, इसीलिये यह आत्मा असङ्ग है।

व्याख्या—**चिदात्मनः**—ज्ञानरूप **पुंसः** आत्मा का **इदम् लिंगम्**—यह सूक्ष्म देह **तक्ष्णः वास्यादिकम् इव**—वढ़ई का वसोला, काष्ठ छीलने का औज़ार, आदि शब्द से आरी वरमा समझने चाहियें, औजारों की भांति **सर्वव्यापृतिकरणम् स्यात्**—सर्व व्यवहारों का साधन है। जैसे वसोले के साथ वढ़ई का असंग संग है, वैसे ही आत्मा का लिंग शरीर के साथ सत्तामात्र से प्रेरणामात्र सम्वन्ध है। वास्तव में संग नहीं है, भासमान संगता कल्पित है। वसोले के नष्ट होने से वढ़ई का कुछ नहीं विगड़ता, उसी प्रकार **तेन एव**—सव कर्म होते हुए भी उस लिंग शरीर से **अयम् आत्मा**—यह आत्मा **असंगः भवति**—सम्वन्धरहित रहता है ॥१०२॥

अव इन्द्रियों के धर्मों से आत्मा की असंगता वताते हैं।

अन्धत्व-मन्दत्व-पटुत्वधर्माः, सौगुण्य-वैगुण्यवशाद्धि चक्षुपः ।
बाधिर्य-मूकत्व-मुखास्तथैव, श्रोत्रादिधर्मा न तु वेत्तुरात्मनः ॥१०३॥

अर्थ—नेत्रों के सदोष अथवा निर्दोष होने से अन्धापन, धुँधलापन एवं स्पष्ट देखना नेत्रों के ही धर्म हैं; इसी प्रकार वहिरापन, गूँगापन आदि भी श्रोत्रादि के ही धर्म हैं; जाननेवाले ज्ञानस्वरूप आत्मा के नहीं।

व्याख्या—पहले वहिरिन्द्रियों के धर्मों को कहते हैं। नेत्र के **सौगुण्य (वशात्)** अच्छे गुण के प्रभाव से दृष्टि की पटुता, तीव्रता, नेत्र के **वैगुण्य वशात् हि**—दोष के प्रभाव से ही **अन्धत्व-मन्दत्व-पटुत्वधर्माः**—अन्धापन, मन्दापन और तीव्रत्व—ये धर्म **चक्षुषः**—चक्षु के ही धर्म हैं। **तथा एव**—इसी प्रकार **बाधिर्य-मूकत्वमुखाः श्रोत्रादिधर्माः**—श्रोत्र की सौगुण्यता से सुनने की तीव्र शक्ति, विगुणता से वहिरापन, वाणी की सौगुण्यता से बोलने की ठीक शक्ति, और विगुणता से गूँगापन, मुख पद से ज्ञानेन्द्रियों में त्वचा, नासिका, रसना, और कर्मेन्द्रियों में पाणिपाद-उपस्थगुदा ग्रहण करने चाहियें **वेत्तुः आत्मनः न तु**—ऊपर कहे हुए अन्धापन वहिरापन आदि धर्म वहिरिन्द्रियों के ही हैं। इन्द्रियों और इनके धर्मों के जाननेवाले, ज्ञानस्वरूप आत्मा के ये धर्म नहीं है, क्योंकि ज्ञाता में ज्ञेय के धर्म प्रवेश नहीं करते। आत्मा ज्ञाता होने से साक्षी है, तटस्थ है। और स्वप्न और सुषुप्त अवस्था में इन्द्रियों के उपराम होने से जाग्रत्कालीन अन्धत्व, मूकत्व का बोध नहीं होता। इसलिये वाध होने के कारण ये असत् धर्म है, आत्मा सत् है ॥१०३॥

अव प्राण के धर्म वताते हैं।

उच्छ्वास-निःश्वास-विजृम्भण-क्षुत्-प्रस्पन्दनाद्युत्क्रमणादिकाः क्रियाः।
प्राणादिकर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः प्राणस्य धर्मावशनापिपासे ॥१०४॥

अर्थ—श्वास-प्रश्वास, जम्हाई, छींक, काँपना और उछलना आदि प्राण की क्रियाओं को प्राण के विशेषज्ञ प्राणादि का कर्म वतलाते हैं और क्षुधा-पिपासा को प्राण के धर्म वताते हैं।

व्याख्या—अव प्राण के **धर्मों** को कहते हैं। **तज्ज्ञाः**—उसके, प्राणादि के विशेषज्ञ **उच्छ्वास**—श्वास लेना प्राण वायु की, **निःश्वास**—श्वास छोड़ना अपान वायु की, **विजृम्भण**—जम्हाई लेना देवदत्त वायु की, **क्षुत्**—छींक लेना कृकल वायु की, **प्रस्पन्दनादि**—हिलना-जुलना व्यान वायु की, आदि पद से नेत्रों का उन्मीलन समझना चाहिये, यह कूर्म वायु की **उत्क्रमणादिकाः क्रियाः**—उछलना उदान वायु की आदि पद से वमन करना ग्रहण करना चाहिये, यह भी उदान वायु की, ये सव क्रियायें, चेष्टायें **प्राणादि-कर्माणि**—प्राणादि वायु के कर्म हैं, ऐसा विशेषज्ञ **वदन्ति**—

कहते हैं। **अशना पिपासे**–इसी प्रकार भूख और प्यास **प्राणस्य धर्मौ**–प्राण के धर्म हैं, 'न तु वेत्तुरात्मनः' यह जोड़ लेना चाहिये ।।१०४।।

अब अहंकार निरुपण करते हैं। तीन श्लोकों में।

अंन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि ।
अहमित्यभिमानेन तिष्ठत्याभासतेजसा ।।१०५।।

अर्थ––शरीर में तथा इन चक्षु आदि इन्द्रियों में 'मैं पन' का अभिमान करने से अन्तःकरण। यह चिदाभास के तेज से रहता है, अर्थात् अभिमान करने में समर्थ है।

व्याख्या––अन्तःकरणम्–मन, मोहित सा हुआ आत्मा **एतेषु चक्षुः आदिषु**–इनमें, चक्षु से ज्ञानेन्द्रियाँ ग्रहण करनी चाहियें और आदि पद से कमन्द्रियाँ और पंच-प्राण ग्रहण करने चाहियें, इनमें **वर्ष्मणि**–कार्यकरणसंघात शरीर में **अहम् इति अभिभानेन तिष्ठति**–'मैं हूँ' इस अभिमान से, चिरकालतक निष्ठा करता है, मोक्ष पर्यन्त यह अभिमान रहता है। अज्ञानयोग से मोहित सा हुआ आत्मा अपने को ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, शरीर समझने लगता है, और उनके धर्मों को, जैसे नेत्र का धर्म देखना, वाणी का धर्म बोलना, प्राण का धर्म भूख-प्यास, शरीर का धर्म जनन-मरण, इन धर्मों को, आत्मा वहिरन्तर इन्द्रियों के साथ तादात्म्य करके, अपने में अन्य के धर्म आरोपित कर बैठता है, उनमें अभिमान करता है, इसी का नाम अहंकार है। अहंकार अन्तःकरण की वृत्ति है।

अहंकार का संयोग जिस काल में बुद्धि के साथ होता है, तब मोहित सा हुआ आत्मा अपने को बुद्धि समझता है, जब शरीर के साथ संयोग करता है तब अपने को शरीर समझता है, मैं मोटा हूँ, पतला हूँ, युवा हूँ, वृद्ध हूँ, ऐसा अभिमान करता है। वास्तव में तो आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। अन्तःकरण शरीरादि तो अचेतन जड़ हैं, उनमें अहंकार करने का सामर्थ्य कहाँ, इस शंका को दृष्टि में रखते हुए कहते हैं।

आभास तेजसा–आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर, आत्मज्योति के प्रति-विम्ब की महिमा से जड़ अन्तःकरण चेतनीभूत सा होकर ज्ञानकर्मेन्द्रिय-प्राण-शरीरादि में अपनेपन का, आत्मा का अभिमान करता है, जैसे आग में तपाया लोहे का गोला अपने में दाहकत्व शक्ति वाले अग्नि का अहंकार करे, वैसे ही। अहंकार करनेवाला अन्तःकरण है, आत्मा नहीं है ।।१०५।।

अहङ्कारः स विज्ञेयः कर्ता भोक्ताभिमान्ययम् ।
सत्त्वादिगुणयोगेन चावस्थात्रयमश्नुते ॥१०६॥

अर्थ—इसी को अहंकार जानना चाहिये। यही कर्ता-भोक्तापन का अभिमान करनेवाला है और यही गुणों के योग से तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

व्याख्या—इसका पूर्व श्लोक से सम्बन्ध है। **सः अहंकारः विज्ञेयः**—इस प्रकार स्वयं प्रकाश आत्मा के प्रतिविम्ब से युक्त अन्तःकरण को ही चक्षुरादि, शरीर में 'मैं पन' के अभिमान से वर्तमान अहंकार जानना चाहिये। **अयम्**—यह अहंकार **कर्ता भोक्ता अभिमानी**—मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, इस प्रकार अभिमान करनेवाला अहंकार है, आत्मा तो 'अकर्ताहमभोक्ताहमसंगः परमेश्वरः' अकर्ता, अभोक्ता असंग परमेश्वर है। कर्ता-भोक्तापन का उत्थान अविद्या में है, विद्या में नहीं। 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।' गीता ३।२७। ये अखिल कर्म माया के गुणों से उत्पन्न हुए देह इन्द्रियादि के द्वारा ही होते हैं, किन्तु अहंकारवश अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। 'अत्राभिमानादहमिति अहंकृतिः।' अनात्म वस्तुओं में अभिमान करनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति अहंकार कहलाती है।

सत्त्वादिगुणयोगेन च—और सत्त्व-रज-तम गुणों के योग से, माया के जिस जिस गुण का अन्तःकरण के साथ संयोग होगा उस-उस के प्रभाव से **अवस्था त्रयम् अश्नुते**—तीन अवस्थाओं को प्राप्त होता है। सत्त्वगुण के योग से जाग्रत् अवस्था, रजोगुण के योग से स्वप्न और तमोगुण के योग से सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है। वैसे तो तीनों ही गुण सदा रहते हैं, इसलिये योग का अर्थ उस-उस गुण के उत्कट योग से समझना चाहिये ॥१०६॥

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये।
सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः ॥१०७॥

अर्थ—विषयों की अनुकूलता से यह सुखी और विपरीतानुभूति से दुखी होता है। सुख और दुःख इस अहंकार के धर्म हैं, नित्यानन्द-स्वरूप आत्मा के नहीं।

व्याख्या—**विषयाणाम्**—विषयों के, शब्दादि पंच विषयों के **आनुकूल्ये सुखी**—अनुकूल होने पर, 'मैं सुखी हूँ' ऐसी प्रतीति होती है **विपर्यये**—विषयों की विप-

रीत अनुभूति होने पर **दुःखी**—'मैं दुःखी हूँ' ऐसा अभिमान करता है। इसलिये **सुखम् दुःखम् च**—सुख और दुःख **तत् धर्मः**—अन्तःकरण के धर्म हैं **सदा आनन्दस्य**—सदा, निरन्तर आनन्द रूप वाले **आत्मनः न**—आत्मा के नहीं। 'आनन्दो ब्रह्म' 'रसो वै सः रसम् ह्येवायं लब्ध्वा ऽऽनन्दी भवति' इति श्रुतिः, तैत्तरीयोपनिषद २।७। **ब्रह्म** आनन्द है, वह रस है (आनन्द है) इस रस को प्राप्त करके पुरुष **आनन्दवान** होता है।।१०७।।

अब दो श्लोकों में 'सदानन्दस्य आत्मनः' को विशद करते हैं, अन्तःकरण से भेद करने के लिये।

आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः।
स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः ।।१०८।।

अर्थ—विषय स्वतः प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मा के लिये ही प्रिय होता हैं; **क्योंकि** स्वतः तो आत्मा ही सब प्राणधारियों को प्रियतम होता है।

व्याख्या—**विषयः**—शब्दादि पंचविषय **हि**—निश्चय ही **आत्मार्थत्वेन प्रेयान्**—आत्मा के अर्थ, प्रसन्नता के कारण से प्रिय होता है **स्वतः**—विषय के लिये विषय **प्रियः न**—प्रिय, सुखदाता, नहीं होता। सृष्टि के आदि से समस्त प्राणी आनन्द की खोज में हैं, किस के सुख के लिये? अपने सुख के लिये, आत्मा के सुख के लिये। विषय स्वतः सुखरूप नहीं होता। जो स्वादिष्ट भोजन बड़ी तृप्ति से खाया हो, उसी भोजन के एक घड़ी उपरान्त पुनः सामने रखने से भी उसमें रुचि नहीं होती। यदि वह रसना का विषय भोजन स्वतः सुखरूप होता, तो उसमें रुचि होती, किन्तु वह तो आत्मा की प्रसन्नता के लिये प्रिय था। **यतः**—इस कारण से **सर्वेषाम् एव**—सभी प्राण-धारियों का **स्वतः एव आत्मा**—स्वभाव से ही, अपना आपा **प्रियतमः**—सबसे प्रिय है। याज्ञवल्क्य ने अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी को जो उपदेश दिया वह इस प्रकार है, 'स होवाच न वा ऽरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा ऽरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।बृहदा० २।४।५ पतिके लिये पति प्यारा नहीं होता, अपने लिये पति प्रिय होता है। पत्नी के लिये पत्नी प्रिया नहीं होती, अपने लिये पत्नी प्रिया होती है। आत्मा स्वभाव से ही आनन्दघनरूप है। और यह आनन्द निरालम्ब है, विषयों की अपेक्षा नहीं रखता। विषयों के सम्पर्क से बुद्धि अन्तर्मुखी हो जाती है, और आत्मप्रतिबिम्ब के दर्शन करती है, और आनन्दित हो जाती है। विषय आनन्दरूप नहीं है, अन्तर्मुखीवृत्ति ही सुखरूपा है।।१०८।।

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन ।
यत्सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते ।
श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति ॥१०६॥

अर्थ––इसलिये आत्मा सदा आनन्दस्वरूप है, इसमें दुःख कभी नहीं है। क्योंकि सुषुप्ति में विषयों का अभाव रहते हुए भी आत्मानन्द का अनुभव होता है। इसमें साक्षात् श्रुति, ऐतिह्य (इतिहास) और अनुमान-प्रमाण वर्तमान हैं।

व्याख्या––ततः–इसलिये **आत्मा सदा आनन्दः**–आत्मा सदा आनन्दरूप है, सर्वप्राणियों का प्रिय होने से, **अस्य कदाचन**–आत्मा को कभी भी, किसी काल में भी **दुःखम् न**–दुःख, क्लेश नहीं है। अब सब लोकों का अनुभव कहते हैं। **यत्**–क्योंकि **सुषुप्तौ निर्विषयः**–सुषुप्ति अवस्था में विषयों का अभाव होता है, इन्द्रियां और अन्तःकरण अज्ञान में लीन होने से इन्द्रियाँ विषयों का अनुभव नहीं कर सकतीं, ऐसा निर्विषय **आत्मा-आनन्दः**–स्वरूपानन्द जो कि सुषुप्ति में अज्ञानाच्छादित रहता है **अनुभूयते**–सबसे अनुभव किया जाता है। यदि आनन्द का आधार विषय होता, तो सुषुप्ति अवस्था में, विषयों के तथा उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों के अभाव में, आनन्द नहीं होना चाहिये, परन्तु सुषुप्ति से उत्थान के पश्चात् सब का अनुभव है कि 'मैं बहुत आनन्द से सोया, कुछ खबर नहीं रही।' सुषुप्ति का आनन्द अज्ञानावृत है, जब ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है उस समय सूर्यप्रकाशवत् अकथनीय आनन्द का अनुभव होता है।

श्रुतिः प्रत्यक्षम्–साक्षात् वेदभगवान् **ऐतिह्यम्**–अनुभवशील पुरुषों के वचन **च अनुमानम् जाग्रति**–तथा अनुमान प्रमाण, वर्तमान हैं। पहले श्रुति प्रमाण देते हैं। 'आनन्दो ब्रह्म' इति श्रुतिः, तैत्तिरीयोपनिषद ३।६ 'रसो वै सः' इति श्रुतिः, तैत्तिरीयोपनिषद २।७। अब अनुभव देते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में शिष्य ही, बोध होने पर, अपना अनुभव इस प्रकार कहता है, 'नित्यानन्द-स्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं तदनुग्रहात्' मैं श्रीगुरु की कृपा से नित्यानन्दरूप हूँ और सर्वत्र परिपूर्ण हूँ। 'स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि **विलक्षणः**', मैं सदा आनन्दरूप आत्मा में स्थिर हूँ, और सर्वलक्षणातीत हूँ। **अब अनुमान** प्रमाण देते हैं। सुषुप्ति का आनन्द जाग्रत् और स्वप्न के आनन्द से श्रेष्ठ होता है, पर वह अज्ञान से ढका हुआ रहता है। जब वह आनन्द निरावरण हो जायेगा, तो अनुमान लगा सकते हैं कि उस आनन्द की कितनी गम्भीरता होगी। इस प्रकार श्रुति अनुभव तथा अनुमान प्रमाण से आत्मा सदा आनन्दरूप है ॥१०६॥

स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का वर्णन करके अब 'अव्यक्तनाम्नी' इति श्लोक से आरम्भ करके 'सर्वप्रकारप्रमितिप्रशान्तिः'इति अन्तवाले श्लोक तक १४ श्लोकों में कारण शरीर का निरूपण करते हैं।

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥११०॥

अर्थ—अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति माया है, जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। सूक्ष्म बुद्धि वाले से इसका अनुमान इसके कार्य से किया जाता है।

व्याख्या—**अव्यक्त नाम्नी**—जिसका नाम अव्यक्त है, रूपादि रहित होने से। जिसने विश्व को व्यक्त नहीं किया है, तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम अव्यक्त है। साम्यावस्था में माया सृष्टि रचना नहीं करती, जब उसमें क्षोभ होता है, तब पंच महाभूत आदि इसके कार्य व्यक्त होते हैं। यह अव्यक्त नामवाली **परम-ईश-शक्तिः**—परमेश्वर, ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति है **अनादि-अविद्या**—जिसका आदि, उत्पत्ति न हो वह अनादि। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक काल, तिथि में अव्यक्त की उत्पत्ति हुई और उसके पूर्व अव्यक्त शक्ति नहीं थी, इसलिये अनादि। जो विद्यमान न हो, वह अविद्या **त्रिगुणात्मिका**—त्रिगुणस्वरूपा, तीन गुणोंवाली, सत्त्व, रज, तम, यही अव्यक्त के तीन गुण है, इनको विस्तार से श्रीभगवत्पाद आगे कहेंगे **परा**—आकाशादि अपने कार्यों से श्रेष्ठ, सूक्ष्म, जीव-ईश्वर-जगत की उत्पत्ति करने के सामर्थ्य के कारण उत्कृष्ट **कार्यानुमेया माया**—अपने कार्य से जिसका अनुमान लगाया जा सके, प्रत्यक्ष क्यों नहीं ? वह अव्यक्त है, आकाशादि पंचभूत, तन्मात्रायें, सूक्ष्म-स्थूल शरीर, जगत जो कि माया के कार्य हैं, उन के व्यक्त होने से, उन के कारण अव्यक्त माया का अनुमान किया जाता है, किससे ? **सुधिया एव**—सुष्ठु बुद्धिवाले से, सूक्ष्म बुद्धिवाले से, शास्त्रानुसारिणी धी से माया का अनुमान किया जाता है। मूढों से नहीं, उनको जगत सत्य भासता है। **यया—जिस** परमेश्वर की शक्ति से **इदम् सर्वम् जगत्**—यह समस्त जगत् **प्रसूयते**—रचा जाता है। माया तो जड़ है, वह कैसे रचना करेगी ? ब्रह्म के सान्निध्य में, उसकी सत्ता से, 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' गीता ९।१०, मेरे सान्निध्य से मेरी दैवी माया चराचर जगत की रचना करती है ।।११०।।

अव्यक्त, अनादि-अविद्या, माया, परमेशशक्ति प्रकृति ये **सब माया के** नाम

है। माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत्ता तो केवल आत्मा की ही है। अब माया का स्वरूप निरूपण करते हैं।

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥१११॥

अर्थ—माया न सत् है, न असत् है और न (सदसत्) उभयरूप ही है; न भिन्न है, न अभिन्न है और न (भिन्नाभिन्न) उभयरूप ही है; न अङ्गसहित है, न अङ्गरहित है और न (साङ्गानङ्ग) उभयात्मिका ही है; किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूपा है।

व्याख्या—यह माया **सत् न**—सत् नहीं है, तीन काल में भी जिसका वाध न हो, वह सत्, आत्मा का तीन काल में वाध नहीं है, इसलिये आत्मा सत् अद्वितीय तत्त्व है, माया का वाध हो जाता है। श्रीभगवत्पाद आगे कहेंगे 'शुद्ध-अद्वय-ब्रह्म-विबोधनाश्या' अद्वितीय ब्रह्म के बोध से माया नष्ट हो जाती है, इसलिये माया सत् नहीं है, 'नाभावो विद्यते सतः' गीता २।१६, सत् का वाध नहीं होता 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' गीता ७।१४। जो मेरी शरण में आते हैं, वे मेरी माया से पार हो जाते हैं। **असत् अपि न**—यह माया शशशृंग की न्याईं असत् भी नहीं है, क्योंकि इसके प्रत्यक्ष कार्य से, जीव-जगत-ईश्वर की रचना से इसकी प्रतीति होती है। **उभयात्मिका अपि नो**—यह सत् और असत् उभयरूपा भी नहीं है, क्योंकि एक काल में दो विरोधी भाव एक वस्तु में नहीं रह सकते।

भिन्ना—यह माया परमेश्वर से, ब्रह्म से भिन्न, पृथक् भी नहीं है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि शक्तिमान् से शक्ति पृथक् नहीं हो सकती। माया की भिन्नता स्वीकार करने से श्रुति से भी विरोध होता है, 'एकम् एव अद्वितीयम्', ब्रह्म अद्वितीय है। **अभिन्ना अपि न**—यह माया ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं है, अर्थात् ब्रह्म नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान से माया वाधित हो जाती है, ब्रह्म वाधित नहीं होता। **उभयात्मिका अपि नो**—भिन्नाभिन्न उभयरूपा भी नहीं है।

सांगा—यह अंगों के सहित नहीं है, अंगों सहित मानने पर माया की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, परन्तु माया की उत्पत्ति नहीं है, अनादि होने से **अनंगा अपि**—विना अंगों के भी नहीं है, अनंग में विकार नहीं होता, माया परिणामी है, **उभयात्मिका अपि नो**—सांग और अनंग दो रूपवाली भी, एक दूसरे के विरोध से, नहीं हो

सकती। इसलिये इसके स्वरूप का निरूपण दुर्वचनीय है **महाद्भुता—माया** वड़ी आश्चर्यजनक है **अनिवर्चनीयरूपा**—सत्-असत्, भिन्न-अभिन्न, सांग-अनंग, तथा उभय स्वरूप भी न होने से माया का रूप वाणी द्वारा इत्थंभूत लक्षणवाली वनाने योग्य नहीं है ।।१११।।

शुद्धाद्वय-ब्रह्मविबोधनाश्या, सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा ।
रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा, गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः ।।११२।।

अर्थ—रज्जु के ज्ञान से सर्प-भ्रम के समान माया अद्वितीय शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान से नष्ट होनेवाली है। सत्त्व, रज और तम उसके ये तीन गुण अपने कार्यों से प्रसिद्ध हैं।

व्याख्या—शुद्ध—अद्वय—ब्रह्म—विबोधनाश्या—यह माया शुद्ध—निर्गुण, अद्वय—केवल, एक तत्त्व, ब्रह्म के विबोध-सम्यक् बोध, ब्रह्म साक्षात्कार से नाश्या—नष्ट हो जाती है। यद्यपि माया अनादि है, पर सान्त है। कर्म उपासना से माया अनन्त होती है, परन्तु ज्ञान से माया का अन्त हो जाता है। अव दृष्टान्त देते हैं। **रज्जु-विवेकतः यथा सर्पभ्रमः**—रज्जु का ज्ञान होने पर, रज्जु का साक्षात्कार होने पर जैसे सर्प का भ्रम। ईषत् अन्धकार में रस्सी सर्प का भ्रम उत्पादन करती है, कि यह सर्प है जिससे भय कम्पादि होते हैं, परन्तु प्रकाश किये जाने पर रज्जु का साक्षात्कार होने पर, सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है। **तदीयाः रजः तमः सत्त्वम् इति गुणाः**—उस माया के धर्म रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण—ये तीन धर्म **प्रसिद्धाः**—प्रसिद्ध हैं। **स्वकार्यैः**—अपने अपने कार्यों से, इन गुणों के कार्य, धर्म आगे कहेंगे **प्रथितैः**—शास्त्रों में कथित प्रसिद्ध कार्यों से, प्रत्यक्ष रूप से नहीं, अव्यक्त होने से, सूक्ष्म बुद्धि से जाने जाते हैं। जैसे कि पहले कहा है 'कार्यानुमेया सुधियैव' ।।११२।।

अव रजोगुण के धर्म वताते हैं।

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका, यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं, दुःखादयो ये मनसो विकाराः ।।११३।।

अर्थ—रजोगुण की विक्षेपशक्ति क्रियारूपा है, जिससे अनादि काल से समस्त क्रियाएँ होती आयी हैं, और जिससे रागादि और दुःखादि, जो मनके विकार हैं, सदा उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—अब माया के तीनों गुणों के कार्यों को कहते हैं, रजोगुण से आरम्भ करते हैं। **रजसः**—रजोगुण की **विक्षेपशक्तिः क्रियात्मिका**—चंचलता कार्यरूपा होती है। **यतः**—रजोगुण की कार्यरूपा शक्ति से **पुराणी प्रवृत्तिः**—अनादि काल से, संसार की कारणभूता प्रवृत्ति **प्रसृता**—फैली है। संसार प्रवृत्ति की उत्पत्ति रजोगुण की विशेष शक्ति से होती है। प्रवृत्ति रागद्वेष से होती है, और रागद्वेष का पाश सुदुर्दम है, इसलिये विक्षेपशक्ति से मूढ लोग नाना प्रकार के क्रियाकलाप में नचाये जाते हैं। रजोगुण वन्धनकारी है। **अस्याः**—इस विक्षेपशक्ति के **रागादयः**—राग द्वेषादि जो कि संसार में, प्रपंच में प्रवृत्ति कराने वाले हैं **नित्यम्**—निरन्तर **प्रभवन्ति**—होते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप **ये मनसो विकाराः**—मन के जो विकार **दुःखादयः**—दुःख, हर्षामर्ष आदि हैं, वे होते रहते हैं। आत्मा, निष्क्रिय और अविकारी होने से उसमें प्रवृत्ति और रागादि का अभाव होता है ॥११३॥

अब रजोगुण के घोर धर्म बताते हैं।

कामः क्रोधो लोभ-दम्भाभ्यसूया-हङ्कारेर्ष्या-मत्सराद्यास्तु घोराः।
धर्मा एते राजसाः पुम्प्रवृत्ति-र्यस्मादेषा तद्रजो बन्धहेतुः ॥११४॥

अर्थ—वासना, क्रोध, लोभ, दम्भ, अभ्यसूया, अभिमान, ईर्ष्या और मत्सर आदि—ये घोर धर्म रजोगुण के ही हैं। इनके कारण जीव कर्मों में प्रवृत्त होता है इसलिये रजोगुण वन्धन का हेतु है।

व्याख्या—**कामः**—वासना, विषयेच्छा, मनुष्य की सभी वासनायें तो पूरी नहीं होती। जब वासनाओं की पूर्ति में बाधा आती है, तो **क्रोधः**—कोप, **लोभ**—इष्टवस्तु की प्राप्ति की इच्छा और प्राप्त होने पर उसकी रक्षा व वृद्धि की इच्छा लोभ, **दम्भ**—अहम्-वादिता, अपने गुणों की स्वयं प्रशंसा करना. **अभ्यसूया**—दूसरों के गुणों में दोष ढूंढ़ने की प्रवृत्ति, **अहंकार**—घमण्ड, अपनी श्रेष्ठता का अभिमान. **ईर्ष्या**—दूसरों की उन्नति को सहन न कर सकना **मत्सर आद्याः तु**—डाह, परगुणद्वेष, आदि पद से मद दर्प ग्रहण करने चाहियें। **एते घोराः**—जो ऊपर कहे हैं, ये लोक में भय देने के कारण घोर **राजसाः धर्माः**—रजोगुण के धर्म हैं। **यस्मात्**—इन घोर धर्मों के कारण **पुम्प्रवृत्तिः**—मनुष्य की क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है। 'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्माणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।' **गीता** १४।१२, लोभ, **प्रवृत्ति**, क्रियारम्भ, **अशान्ति**, वासना ये रजोगुण के बढ़ने से होते हैं। **तत् रजः बन्धहेतुः**—इसलिये वह रजोगुण देहादि में आत्माध्यास उत्पन्न

करने से वन्धन का कारण है। जिसको देहाध्यास नहीं है, उसको रजोगुण नहीं वाँध सकता ।।११४।।

अव तमोगुण के धर्म वताते हैं।

एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य, शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृते-र्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः ॥११५॥

अर्थ—जिसके प्रभाव से वस्तु कुछ-की-कुछ प्रतीत होती है वह तमोगुण की आवरणनामवाली शक्ति है। यही पुरुष के संसार का आदिकारण है और यही विक्षेपशक्ति के प्रसार का हेतु है।

व्याख्या—रजोगुण की कार्यरूपा विक्षेपशक्ति वता कर अव तमोगुण की आवरणशक्ति वताते हैं। **यया वस्तु अन्यथा**—जिस शक्ति से आत्मा, सच्चिदानन्दघन परमात्मा दूसरे प्रकार से, नित्य-शुद्ध-वुद्ध-मुक्त परमात्मा जीवरूप से **अवभासते**—दिखाई पड़ता है **एषा आवृतिः नाम शक्तिः तमोगुणस्य**—यह वही तमोगुण की आवरण नाम की शक्ति है। **सा एषा पुरुषस्य**—वह यही आवरण शक्ति ही जीव के **संसृतेः निदानम्**—संसार का आदि कारण है। तमोगुण की आवरणशक्ति द्वारा स्वरूप आच्छादित होने पर निर्धर्मक आत्मा में अनात्मा के धर्म भासने लगते हैं। स्वरूपविस्मरण ही जगदुदय है। **विक्षेपशक्तेः**—रजोगुण की विक्षेप शक्ति के **प्रसरस्य हेतुः**—विस्तार चंचलता का कारण है।

आवरण के दो काम हैं: एक तो स्वरूप को ढांपना, और संसार खड़ा करना, और दूसरा रजोगुण के कामक्रोधादि घोर धर्मों में जीव को प्रवृत्त करके चंचल कर देना। यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्मसाक्षात्कार से जिन महात्माओं का आवरण भंग हो गया है उनका प्रारब्धकर्मवश विक्षेप, संसार में जो प्रवृत्ति देखी जाती है, वह विक्षेप अथवा प्रवृत्ति वन्धनकारी नहीं होती, क्योंकि ऐसे महात्मा की प्रवृत्ति जगत्कल्याण के लिये ही होती है। उनके द्वारा सम्पादित कर्मों में अहंकार और आसक्ति के अभाव के कारण वन्धनशक्ति नहीं रहती ।।११५।।

आवरण शक्ति की महिमा को और विशद करते हैं।

प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मार्थदृग्
व्यालीढस्तमसा न वेत्ति बहुधा सम्बोधितोऽपि स्फुटम्

भ्रान्त्यारोपितमेव साधु कलयत्यालम्बते तद्गुणान्
हन्तासौ प्रबला दुरन्ततमसः शक्तिर्महत्यावृतिः ॥११६॥

अर्थ—तम से ग्रस्त हुआ पुरुष अति बुद्धिमान्, विद्वान्, चतुर और शास्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म अर्थों को देखनेवाला भी हो तो भी वह वारम्वार समझाने से भी स्पष्ट नहीं समझता। वह भ्रम से आरोपित किये हुए पदार्थों को ही सत्य समझता है और उन के धर्मों को आत्मा के धर्म समझता है। अहो! वड़े खेद की वात है। दुरन्त तमोगुण की यह महती आवरण-शक्ति वड़ी ही प्रवल है।

व्याख्या—प्रज्ञावान् अपि संसारकार्यकुशल, वुद्धियुक्त होते हुए भी, स्थित-प्रज्ञ नहीं **पण्डितः अपि**—शास्त्रों का ज्ञाता भी **चतुरः अपि**—ऊहापोहविचक्षण, खण्डन-मण्डन में चतुर भी **अत्यन्त सूक्ष्मार्थदृक्**—इसलिये शास्त्रों में अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ का देखनेवाला, पकड़नेवाला भी **तमसा व्यालीढः**—तमोगुण की आवरण शक्ति से आवरित, विस्मृतस्वरूप **बहुधा**—वारम्वार, वहुत प्रकार से **सम्बोधितः अपि**—समझाया जाने पर भी, आत्मा अनात्मा के विवेचन का उपदेश दिये जाने पर भी **स्फुटम् न वेत्ति**—स्पष्ट नहीं समझता, 'शृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्युः'—इति श्रुतिः, कठोपनिषद १।२।७, गुरुमुख से ब्रह्मविद्या श्रवण करने पर भी वहुत से, 'तमसा व्यालीढः—' तमोगुण से आच्छादित पुरुष जिस ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकते।

अव आवरण का प्रभाव वताते हैं। **भ्रान्त्या आरोपितम् एव साधु कलयति**—भ्रान्ति से, अज्ञान से देह में जो आत्मबुद्धि आरोपित की हुई है, उसको ही साधु—ठीक मानता है, देह को ही आत्मा समझता है **तद्-गुणान्**—उसके धर्मों को, 'संभवजरामरणादिधर्माः—'स्थूल देह के धर्मों को, 'कर्त्रादिभावम्' सूक्ष्म देह के धर्मों को **आलम्बते**—ग्रहण करता है, सच्चा, अर्थात् अपने आत्मा के धर्म मानता है। **हन्त**!—वड़े खेद की वात है **दुरन्त**—जिसका अन्त वड़ी कठिनता से हो, ऐसी **तमसः**—तमोगुण की **महती आवृतिः शक्तिः प्रबला**—महान् आवरण शक्ति, महान् क्यों? इसलिये कि यह प्रज्ञावान-पण्डित-चतुर—अत्यन्तसूक्ष्मार्थदृक् को भी दवा लेती है, वलवान है, अर्थात् विक्षेपशक्ति से अधिक वलवान् है। जिसका आवरण खण्डित हो जाता है, रजोगुण की विक्षेप शक्ति उसका कुछ नहीं विगाड़ सकती। जिसका आवरण नहीं टूटता उसी पर विक्षेपशक्ति सिंहनी की भांति आरूढ होती है। ॥११६॥

अभावना वा विपरीतभावना, सम्भावना विप्रतिपत्तिरस्याः।
संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं, विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ॥११७॥

अर्थ—इस आवरणशक्ति के सम्बन्ध से युक्त पुरुष को अभावना, विपरीत-भावना, सम्भावना और विप्रतिपत्ति—ये चार दोष नहीं छोड़ते, और विक्षेपशक्ति उसे निरन्तर नचाती है।

व्याख्या—**अभावना**–ब्रह्म है ही नहीं, जीव ब्रह्म की एकता नहीं है, प्रपंच मिथ्या नहीं है, ऐसा निश्चय अभावना है। कर्मकाण्ड में निष्ठावाले को अभावना दोष आ जाता है **विपरीतभावना**–जीव और ब्रह्म में भेद है, शरीर सत्य है, ऐसा निश्चय विपरीतभावना है। भेद उपासना करने वाले को विपरीतभावना का दोष आ जाता है। **संभावना**–अर्ध निश्चय। शास्त्र का तात्पर्य 'ब्रह्म और जीव का अभेद वताने में है अथवा भेद वताने में' ऐसा संशय, सम्भावना कहाती है। **विप्रतिपत्तिः**–यत्न करने पर भी विरुद्धज्ञान, प्रतीति, आत्मा के स्थान में शरीर, और ब्रह्म के स्थान में जगत् प्रतीत होना, ये चारों दोष **अस्याः संसर्गयुक्तम्**–आवरण शक्ति से सम्वन्धयुक्त नर को **ध्रुवम् न विमुञ्चति**–निश्चय ही इन चार दोषों का समुदाय नहीं छोड़ता। अर्थात् आवरण शक्ति ब्रह्म को सम्यक् रूप से आच्छादित करके मोहित सा कर देती है, और उसके उपरान्त रजोगुण की **विक्षेपशक्तिः**–क्रियारूपा शक्ति **अजस्रम् क्षपयति**–सर्वदा चंचल करती है, नाना प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त कराती है ॥११७॥

तमोगुण के धर्म वताते हैं।

अज्ञानमालस्य-जडत्व-निद्रा-प्रमाद-मूढत्वमुखास्तमोगुणाः ।
एतैः प्रयुक्तो न हि वेत्ति किञ्चिन्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ॥ ११८॥

अर्थ—अज्ञान, आलस्य, जडता, निद्रा, प्रमाद, मूढता आदि तमोगुण के धर्म हैं। इनसे युक्त हुआ पुरुष कुछ नहीं समझता, वह निद्रालु या स्तम्भ के समान (जडवत्) रहता है।

व्याख्या—अव तमोगुण के कार्यों का निरूपण करते हैं। **अज्ञानम्**–स्वरूप का अज्ञान, अवोध **आलस्य**–पुरुषार्थ का अभाव **जडत्व**–आलस्य के कारण कर्तव्यकर्म में अप्रवृत्ति **निद्रा**–नींद **प्रमादः**–कर्तव्य करने में समर्थ होने पर भी न करना **मूढत्वमुखाः**–शरीर में आत्मबुद्धि होना, अयथार्थ भाव ग्रहण करना। आदि पद से संशय ग्रहण करना चाहिये। ऊपर कहे हुये **तमोगुणाः**–तमोगुण के कार्य हैं, धर्म हैं। **एतैः प्रयुक्तः**–इन ऊपर कहे हुए अज्ञानादि तमोगुण के धर्मों से विशिष्ट, युक्त **न हि किंचित् वेत्ति**–कुछ भी नहीं जानता। **निद्रालुवत्**–नींद म

सोये हुए के समान अथवा **स्तम्भवत् एव**–स्तम्भ की भांति ही **तिष्ठति**–रहता है, अर्थात् न कुछ समझता है, और न हि आत्मकल्याण के लिये कोई चेष्टा करता है। ॥११८॥

सत्त्वगुण का आश्रय लेकर रजोगुण, तमोगुण दोनों का परित्याग करना चाहिये। रजोगुण के घोर धर्म तथा तमोगुण के अज्ञानालस्यादि धर्म बताकर अब सत्त्व गुण के धर्मों का निरूपण करते हैं।

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि, ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते।
यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन्, प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जडम्॥११९॥

अर्थ––विशुद्ध सत्त्वगुण जल के समान स्वच्छ है, तथापि रज और तम से मिलने पर वह भी पुरुष के संसार-बन्धन का कारण होता है। सत्त्वगुण में प्रतिबिम्बित होकर आत्मबिम्ब सूर्य के समान समस्त जड़ प्रपंच को प्रकाशित करता है।

व्याख्या––यद्यपि **विशुद्धम् सत्त्वम्**–निर्मल सत्त्वगुण **जलवत्**–जल की भांति स्वच्छ होता है **तथा अपि**–तो भी **ताभ्याम् मिलित्वा**–रजोगुण तमोगुण से मिलकर, अभिभूत होकर **सरणाय**–संसार के लिये, संसार में प्रवृत्तिरूप बन्धन के लिये **कल्पते**–समर्थवान् होता है,विशुद्ध सत्त्वगुण के धर्म श्रीभगवत्पाद आगे कहेंगे। **यत्र**–जिस निर्मल सत्त्वगुण में **आत्मबिम्बः**–आत्मा ही बिम्ब है **प्रतिबिम्बितः सन्**–वह प्रतिफलित होकर **अर्कः इव**–सूर्य की तरह, जैसे सूर्य स्वच्छ जल में प्रतिफलित होता है, उसी प्रकार आत्मा भी सत्त्वगुण में प्रतिबिम्बित होता है। **अखिलम् जड़म्**–समस्त अनात्म वस्तु को **प्रकाशयति**–प्रकाशता है, जानने योग्य बनाता है। यह संघात दो से प्रकाशित है, सामान्य रूप से आत्मा द्वारा, और विशेषरूप से आत्मा के प्रतिबिम्ब द्वारा। दर्पण में सूर्य का प्रतिफल भी तो प्रकाशित करने में समर्थ होता है। 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' गीता १४।१७।, सत्त्वगुण से ज्ञान होता है, 'सर्वद्वारेषु देहे ऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्ध सत्त्वमित्युत।' गीता।१४।११।, जब देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण में चेतनता और बोधशक्ति का उदय हो तो जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥११९॥

अब मिश्रित सत्त्वगुण के धर्म बताते हैं।

मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्मास्त्वमानिताद्या नियमा यमाद्याः।
श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च, दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः॥१२०॥

अर्थ—अमानित्व आदि, यम-नियमादि, श्रद्धा, भक्ति, मुमुक्षुता, दैवी-सम्पत्ति तथा असत् का त्याग——ये मिश्रित सत्त्वगुण के धर्म होते हैं।

व्याख्या——मिश्रस्य—किंचित् रजोगुण से मिश्रित परन्तु तमोगुण से शून्य **सत्त्वस्य**—सत्त्वगुण के **धर्माः भवन्ति**—धर्म, लक्षण होते हैं। क्या ? तु **अमानिताद्याः**—गीता १३।७—११। श्लोकों में कहे हुए अमानित्वादि ज्ञान के सहकारी साधनः—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।७
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् ।।८
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।९
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।१०
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।

अर्थात् (१) 'अमानित्वम्'—अपने को मानी, वड़ा दिखाने का अभाव, (२) 'अदम्भित्वम्'—अपने गुण प्रगट करना दम्भ, उसका अभाव अदम्भ, (३) अहिंसा—प्राणियों को कष्ट न देना, (४) 'क्षान्ति'—अपने प्रति दूसरों का अपराध देखकर भी विकार रहित रहना, (५) 'आर्जवम्'—सरलता, मन, वाणी, कर्म में एकता, (६) 'आचार्योपासनम्'—मोक्ष साधन का उपदेश देने वाले आचार्य की सेवा-शुश्रूषा, (६) 'शौचम्'—मिट्टी जलादि से शरीर की वहिरंग शुद्धि, राग-द्वेष के दमन से अन्तःकरण की शुद्धि, (७) 'स्थैर्यम्'—मोक्ष के साधनों में बुद्धि की स्थिरता, (८) 'आत्मविनिग्रहः'—कार्यकरणसंघातरूप शरीर का अशास्त्रपथ में प्रवृत्त होने से रोकना, (९) 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्'—इन्द्रियों के विषयों में, शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्ध में विरक्ति, (१०) 'अनहंकार'—मैं सर्वोत्कृष्ट हूँ, मेरे समान अन्य कोई नहीं, ऐसी भावना, घमण्ड, घमण्ड का अभाव अनहंकार, (११) 'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम्'—जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग में दुःखरूपी दोष देखना। प्रत्येक में दोष देखना, जैसे जन्म से पहले गर्भ के वास का कष्ट, जन्म में योनि से निकलने का कष्ट, पश्चात् मृत्युरूपी दुःखदोष, बुढ़ापे में स्मृति और तेज-नाशरूप दुःखदोष, व्याधि में नाना प्रकार के कष्टरूप दुःख (१२) 'असक्तिः'—

विषय, स्त्री-पुत्रादि में प्रीतित्याग, (१३) 'अभिष्वङ्ग'–**विशेष आसक्ति**, पुत्रदारादि के सुखी दुःखी होने पर अपने को ही सुखी-दुःखी मानना (१४) 'इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु नित्यं च समचित्तत्वम्'–प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सर्वदा तुल्यचित्त रहना, इष्ट मिलने पर हर्षित न होना, अनिष्ट के संयोग से विषादयुक्त न होना, चित्त की समता रखना। (१५) 'मयि च अनन्ययोगेन भक्तिः अव्यभिचारिणी'–मुझ ईश्वर में एकत्वरूप समाधियोग से अविचलित भक्ति। (१६) 'विविक्तदेशसेवित्वम्'–साधना के लिये पवित्र एकान्त देश, स्थान सेवन। (१७) 'अरतिः जनसंसदि'–विनय-भावरहित संस्कारशून्य प्राकृत पुरुषों के समुदाय का नाम जन-समुदाय है, उसमें प्रीति का अभाव, विनययुक्त संस्कार सम्पन्न पुरुषों का समुदाय जन-समुदाय नहीं है, वह तो ज्ञान में सहायक है। (१८) 'अध्यात्म-ज्ञान नित्यत्वम्'–आत्म विषयक ज्ञान का नाम अध्यात्मज्ञान है, उसमें नित्यस्थिति। (१९) तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्–तत्त्वज्ञान के अर्थ, प्रयोजन, फल की आलोचना, पुनः पुनः मोक्षफल पर विचार करना जिस से साधक की प्रवृत्ति मोक्षसाधना में स्थिर रहे।

'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जो १९ साधन बताये हैं ये ज्ञान के साधन हैं। मिश्रित सत्वगुण के ये धर्म हैं। मिश्रित सत्त्वगुणयुक्त स्वभाव में अमानिताद्या साधन उपलब्ध होते हैं। **नियमाः**–'शौचसन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः।' पातंजल योग दर्शन २।३०-३२। जन्म के हेतु जो कर्म हैं, उनसे हटाकर मोक्ष के हेतु निष्कामधर्म में नियमन, प्रेरित करने के कारण नियम। १–'शौच'–इसको पहले कह चुके हैं। २–'सन्तोष'–जो दैवयोग से प्राप्त हो, उसी में तृप्ति ३–'तपः' चान्द्रायणादि व्रतों से कायाशोषण, अथवा शरीर, वाणी, मन का तप। गीता के १७ वें अध्याय में इनका निरूपण है ४–'स्वाध्याय'–प्रणव गायत्री आदि मन्त्रों का जप; स्व, आत्मा, उसके स्वरूप का पुनः पुनः अध्ययन, चिन्तन स्वाध्याय, ब्रह्म चिन्तन ५–'ईश्वर प्रणिधान'–सर्व कर्मोंके फल की अपेक्षा न करके ईश्वर में समर्पण–ये पाँच नियम हैं।

यमाद्याः–यम भी पाँच हैं, 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः' १–'अहिंसा'–मन, वचन, कर्म से प्राणियों का अपीड़न। २–सत्य–सत्य भाषण। ३–अस्तेय–दूसरे के धन का अनपहरण। ४–ब्रह्मचर्य–अष्टविधमैथुन त्याग, स्त्रियों का स्मरण, उनके रूपलावण्य का गुणगान, उनके साथ खेलना, देखना, गुह्यभाषण, उनकी प्राप्ति का संकल्प, प्राप्ति की चेष्टा, उनके साथ संगम–इन आठ प्रकार

के मैथुनों का त्याग। आदि पद से योग के अन्य अंग ग्रहण करने चाहियें–आसन–प्राणायाम–प्रत्याहार–धारणा–ध्यान–समाधि। ५–अपरिग्रह–शरीर स्थितिमात्र के साधनों के अतिरिक्त भोगों का अस्वीकार। श्रद्धा च–आस्तिक्य-बुद्धि, शास्त्र गुरु के वचनों में विश्वास, समस्त साधनों का आदि कारण श्रद्धा होता है। भक्तिः च–स्वस्वरूपानुसंधानरूपा भक्ति, 'मैं कौन हूँ, कहाँ से, क्यों आया हूँ, कहाँ जाऊँगा?' आदि प्रश्नों के उत्तरों की खोज, इनमें लगन, इनके लिये तड़पना उत्पन्न होना। मुमुक्षुता च–अहंकार से लेकर देहपर्यन्त के बन्धनों से छूटकर ब्रह्मरूप से अवस्थान की इच्छा।

दैवी च सम्पत्तिः–ये भी गीता के सोलहवें अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहे हैं। श्लोक इस प्रकार हैं।

अभयं सत्त्वसंशुद्धि–र्ज्ञान–योगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥१
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥२
तेजः क्षमा धृतिः शौचं अद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥३

अभयादि दैवीसम्पत्–१–अभयम्–निर्भयता, अभीरुता, २–सत्त्वसंशुद्धिः–अन्तःकरण की शुद्धि, छल कपटरहित व्यवहार ३–ज्ञानयोगव्यवस्थितिः–शास्त्र आचार्य द्वारा आत्मादि सम्बन्धी विषय का अवगम 'ज्ञान' और मन इन्द्रियादि को निग्रह करके उस ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये की गई चेष्टा, 'योग'। ज्ञान और योग में स्थिति, तन्मयता। यही प्रधान दैवी संपत्ति है। ४–दानम्–अन्न धनादि का बाँटना। ५–दमः–वाह्य इन्द्रियों का संयम ६–यज्ञः–अग्नि होत्रादि श्रौत यज्ञ, और देवपूजनादि स्मार्त यज्ञ। ७–स्वाध्यायः–वेदादि शास्त्र अध्ययन। ८–तपः–शरीर, वाणी, मन का तप गीता। १४–१६।१७ ९–आर्जवम्-सीधापन, सरलता, मन-वाणी-कर्म में एकता। १०–अहिंसा–प्राणियों का अपीड़न ११–सत्यम्–अप्रियता-प्रपंचरहित सत्यभाषण १२–अक्रोधः–दूसरों के द्वारा गाली दी जाने, या ताड़ना दी जाने पर प्रतिशोध भावना से जो क्रोध उत्पन्न हो, उसको तत्काल शमन करना अक्रोध १३–त्यागः–संन्यास १४–शान्तिः–अन्तःकरण का संकल्परहित होना १५–अपैशुनम्–चुगली, उसका न होना, दूसरों के सामने किसी की निन्दा न करना। १६–दया भूतेषु–दुःखी प्राणियों पर कृपा करना १७–अलोलुपत्वम्–विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग

होने पर इन्द्रियों में विकार न होना। १८–मार्दवम्–मृदुता, कोमलता, अक्रूरता १९–ह्रीः–अकार्य करने में लज्जा २०–अचापलम्–विना प्रयोजन हाथ-पैर-वाणी आदि की व्यर्थ क्रियायें न करना २१–तेजः–तेजस्विता, प्रभावोत्पादकता २२–क्षमा–गाली दी जाने या ताड़ना दी जाने पर भी अन्तःकरण में विकार उत्पन्न न होना। उत्पन्न हुये क्रोध को उपशमन करना अक्रोध होता है। २३–धृतिः–शरीर और इन्द्रियों में थकावट उत्पन्न होने पर, उस थकावट को हटानेवाली जो अन्तःकरण की वृत्ति, उसका नाम धृति। धृति द्वारा उत्साहित की हुई इन्द्रियाँ और शरीर कभी सुकार्य में नहीं थकते। २४–शौचम्–दो प्रकार की शुद्धि, मिट्टी, जल से वाहर की शुद्धि; रागद्वेषादि के अभाव से मन बुद्धि की निर्मलतारूप भीतर की शुद्धि २५–अद्रोहः–दूसरे के घात की इच्छा से शस्त्रादि का अग्रहण २६–न अतिमानिता–अपने में अतिशय पूज्यभावना का न होना। ये छब्बीस दैवी सम्पत्ति हैं।

असत् निवृत्तिः–असत् का त्याग, ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य वस्तु का अग्रहण। अमानित्वादि १९ ज्ञान के साधन, ५ नियम, ५ यम, श्रद्धा, भक्ति, मुमुक्षुता, २६ दैवी सम्पत्ति तथा असत् का त्याग। ये सव मिश्रित सत्त्वगुण के धर्म हैं ॥१२०॥

अव विशुद्ध सत्त्वगुण के धर्म कहते हैं।

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः, स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा, यया सदानन्दरस समृच्छति ॥१२१॥

अर्थ—मन की प्रसन्नता, आत्मानुभव, परमशान्ति, तृप्ति, आत्यन्तिक आनन्द और परमात्मा में स्थिति—ये विशुद्ध सत्त्वगुण के धर्म हैं। परमात्मनिष्ठा से मुमुक्षु नित्यानन्दरस को प्राप्त करता है।

व्याख्या—विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः–केवल सत्त्वगुण के, रजोगुण तमोगुण से अमिश्रित सत्त्वगुण के धर्म हैः–**प्रसादः**–मन की प्रसन्नता, निर्मलता **स्वात्मानुभूतिः**–तमोगुण की आवरणशक्ति, तथा रजोगुण की विक्षेप शक्ति के अभाव में, प्रतिबंधरहित अपने आत्मा, स्वरूप का अनुभव। केवल सत्त्वगुण में ही अपने स्वरूप का निर्विघ्न अनुभव होता है। **परमा प्रशान्तिः**–उत्कृष्टा शान्ति। विक्षेपस्वरूप रजोगुण के अभाव में तथा आवरकरूप तमोगुण के अभाव में शान्ति स्वतः सिद्ध

होती है। **तृप्तिः**—निरंकुशा तृप्ति, जो पाना था सो पा लिया, मैं कृतकृत्य हूँ, धन्य हूँ, ऐसी संतुष्टि **प्रहर्षः**—गाढा हर्ष, आनन्द की बाढ़, निर्विषय आनन्द **परमात्मनिष्ठा**—अपने स्वरूप में निरन्तर स्थिति, अपने स्वरूप के आनन्द का अनुभव करके वृत्ति की उत्थान में असमर्थता, लीनवृत्ति अर्थात् निर्विकल्प समाधि **यया**—आत्मनिष्ठा से **सदानन्दरसम् समृच्छति**—सर्वकाल में आनन्दरस ही पाता है, भोगता है ॥१२१॥

अव्यक्तमेतत्त्रिगुणैर्निरुक्तं, तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः।
सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था, प्रलीन-सर्वेन्द्रिय-बुद्धिवृत्तिः ॥१२२॥

अर्थ—इस अव्यक्त नामवाली माया को तीनों गुणों के निरूपण से कहा गया है। यही अव्यक्त माया आत्मा का कारण-शरीर है। इसकी अभिव्यक्ति की अवस्था सुषुप्ति है, जिसमें सब इन्द्रियों की और बुद्धि की वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं।

व्याख्या—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर का वर्णन करके उन दोनों के कारण-रूप, 'अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः' इति इस श्लोक से आदि लेकर जो कारण शरीर का वर्णन किया है, उसका अब दो श्लोकों में उपसंहार करते हैं। **अव्यक्तम्**—जिसका स्वरूप अस्पष्ट है, जिसको पहले अनाद्यविद्या, माया, त्रिगुणात्मिका नाम से कहा है **एतत् त्रिगुणैः**—इसको, तीन गुणों के कार्यों से, काम-क्रोधादि, अज्ञानमालस्यादि, अमानित्वादि से **निरुक्तम्**—कहा गया है, क्योंकि यह अव्यक्त 'कार्यानुमेया' है। **तत्**—वह अव्यक्त, अनाद्यविद्यादि नाम से प्रसिद्ध **आत्मनः कारणम् नाम शरीरम्**—आत्मा का कारण नामवाला शरीर है। **सुषुप्तिः**—गाढ़ी निद्रावस्था **एतस्य विभक्ति अवस्था**—इस कारण शरीर की असाधारणी अवस्था है, इस कारण शरीर की अभिव्यंजना विशेष कर सुषुप्ति में होती है, साधारण सी जाग्रदवस्था में भी हो सकती है। सुषुप्ति अवस्था में **प्रलीन–सर्वेन्द्रिय–बुद्धिवृत्तिः**—प्रलीन—अज्ञान में डूब जाती हैं, लय हो जाती हैं सर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्ति—सब इन्द्रियों की तथा बुद्धि की वृत्तियाँ। जाग्रत्कालीन बहिरन्तःकरण तथा स्वप्नकालीन बुद्धि, ये सब अव्यक्त में, अज्ञान में, माया में लीन हो जाती हैं; कब ? सुषुप्ति अवस्था आने पर अपने कारण में डूब जाती हैं ॥१२२॥

सर्वप्रकार-प्रमिति-प्रशान्ति-र्बीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धेः।
सुषुप्तिरेतस्य किल प्रतीतिः, किञ्चिन्न वेद्मीति जगत्प्रसिद्धा ॥१२३॥

अर्थ—जिस अवस्था में सब प्रकार की प्रतीति प्रशान्त हो जाती है और अन्तःकरण बीजरूप से ही स्थिर रहता है, वह सुषुप्ति–अवस्था है। सुषुप्ति से प्रबुद्ध हुए पुरुष की प्रतीति कि 'मैंने कुछ नहीं जाना,' लोक-प्रसिद्ध है।

व्याख्या—**सर्वप्रकार-प्रमिति-प्रशान्तिः**—कारण शरीर में, माया में, अथवा आत्मा के अव्यक्त शरीर में सर्व प्रकार की प्रमिति–प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से प्रतीति की प्रशान्ति हो जाती है। इन्द्रियाँ और अन्तःकरण, अपने कारण में लय हो जाने से, अपने-अपने कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं, इसलिये इन्द्रिय अन्तःकरण के कोलाहल के अभाव में प्रशान्ति **बीजात्मना एव**—बीज रूप से ही **बुद्धेः**—अन्तः-करण की **अवस्थितिः**—स्थिति होती है। कारण शरीर में अन्तःकरण का नाश नहीं होता, वह बीजरूप से रहता है। यदि अन्तःकरण का नाश हो जाये, तो सुषुप्ति से फिर कैसे जागेगा? **सुषुप्तिः**—इस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं **एतस्य**—सुषुप्ति के उपरान्त प्रबुद्ध होनेवाले की **किंचित् न वेद्मि इति प्रतीतिः**—'मैंने कुछ नहीं जाना' ऐसी प्रतीति, अनुभूति **किल जगत्प्रसिद्धा**—निश्चय ही जगत् में प्रसिद्ध है। सब का यही अनुभव है, विवाद असंगत है, 'मैंने कुछ नहीं जाना,' पर यह भी तो जानना है, इस अज्ञान-ज्ञान को कौन ग्रहण करता है? अज्ञान को बीजात्मरूप-बुद्धिवृत्ति सुषुप्ति में ग्रहण करती है। अन्यथा प्रबुद्ध होने पर अपना अनुभव कहने में असमर्थ होगा ॥१२३॥

अब अनात्मवर्णन का उपसंहार करते हैं, दो श्लोकों में।

देहेन्द्रिय-प्राण-मनोऽहमादयः, सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः।
व्योमादिभूतान्यखिलं च विश्वमव्यक्तपर्यन्तमिदं ह्यनात्मा ॥१२४॥

अर्थ—देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और अहंकार आदि, सुखादि सारे विकार, सम्पूर्ण विषय, आकाशादि भूत और माया तक समस्त विश्व–ये सभी अनात्मा हैं।

व्याख्या—**देह-इन्द्रिय-प्राण-मनः-अहमादयः**—देह, दश इन्द्रियाँ, पंच प्राण, मनोहंकारादि अन्तःकरणचतुष्टय **विषयाः**—शब्दादि पंच विषय **सुखादयः**—सुख, आदि पद से दुःख, मोह, संकल्प **सर्वे विकाराः**—सुख दुःखादि मन के सब विकार **व्योमादिभूतानि**—आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी पंच भूत, अधिक क्या **अखिलम् च विश्वम् अव्यक्तपर्यन्तम्**—माया तक समस्त दृश्यमान जगत **इदम् हि अनात्मा**—यह सब अनात्मा ही है। इस श्लोक में 'कोसावनात्मा' अनात्मा क्या है? इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर दिया है ॥१२४॥

माया मायाकार्यं सर्वं महदादि देहपर्यन्तम् ।
असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम् ॥१२५॥

अर्थ—माया और माया के सम्पूर्ण कार्य महत्तत्त्व से लेकर देहपर्यन्त, इसको तू मरुमरीचिका के समान असत् और अनात्मक जान ।

व्याख्या—**माया**—मूलप्रकृति, अव्यक्त **महदादि देहपर्यन्तम् सर्वं माया कार्यम्**—माया का कार्य महत्तत्त्व हुआ, महत्तत्त्व से अहंकार हुआ, अहंकार से पंचतन्मात्रा हुईं, पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूत हुए, पंच भूतों से देहपर्यन्त समस्त जगत हुआ **इदम् असत् अनात्मकम्**—यह सब माया तथा माया का कार्य असत् है, मिथ्या है, अनात्मा है, आत्मा नहीं है । इसको **मरुमरीचिका कल्पम्**—'शुद्धाद्वयब्रह्मविबोध-नाश्या' होने से माया और माया के कार्य को मृगतृष्णा की नदी के तुल्य मिथ्या **त्वम् विद्धि**—तू जान ।

जैसे मरुभूमि में सूर्य की किरणों के संसर्ग से जल भासता है, पर होता नहीं, मिथ्या प्रतीतिमात्र है, ऐसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार से पहले माया का कार्य सच्चा प्रतीत होता है, परन्तु बोध होने पर, बोधाग्नि 'अज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम्' माया और माया के कार्य को भस्मीभूत कर देती है । इसलिये माया और माया का कार्य असत् और अनात्मक है । यहाँ तक पाँचवें प्रश्न , 'कः असौ अनात्मा' का उत्तर है । 'यद्बोद्धव्यं तवेदानीम्' इति ७३ श्लोक में आत्मा अनात्मा के विवेचन की प्रतिज्ञा की थी, उसमें से यहाँ तक अनात्मा का निरूपण किया है ॥१२५॥

अब आत्मा का निरूपण करते हैं ।

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि स्वरूपं परमात्मनः ।
यद्विज्ञाय नरो बन्धान्मुक्तः कैवल्यमश्नुते ॥१२६॥

अर्थ—अब मैं तुझे परमात्मा का स्वरूप बताता हूँ जिसे जानकर साधक बन्धन से छूटकर कैवल्यपद प्राप्त करता है ।

व्याख्या—अनात्मा का विस्तार से निरूपण करके अब 'परमः कः आत्मा' इस छठे प्रश्न का उत्तर आरम्भ करते हैं । यहाँ से आरम्भ करके 'नियमितमनसा त्वम्' इति अन्तवाले १३८ वें श्लोक तक १३ श्लोकों में छठे प्रश्न का उत्तर है । इस श्लोक में ज्ञान की स्तुति करते हैं ।

अथ—अनात्मा के उपरान्त अब **ते परमात्मनः**—तुझको परम-आत्मा का **स्वरूपम्**—स्वरूप, यथार्थ स्वरूप **सम्प्रवक्ष्यामि**—मैं (गुरु) स्पष्ट और विस्तार से कहूँगा। **यत्**—जिस परमात्मस्वरूप को **विज्ञाय**—जानकर, प्रत्यक्ष करके, अनुभव से ब्रह्म-साक्षात्कार करके **नरः बन्धात्** साधक अहंकारादि—देहान्त बन्धन से **मुक्तः**—छूटा हुआ **कैवल्यम् अश्नुते**—कैवल्य पद को, मोक्ष को सर्वोपाधिविनिर्मुक्त निर्गुण ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है ।।१२६।।

अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहंप्रत्यय-लम्बनः ।
अवस्थात्रय-साक्षी सन्पञ्चकोशविलक्षणः ।।१२७।।

अर्थ—अहं नाम का आधार लिये कोई स्वयं नित्य पदार्थ है, जो तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर पंचकोशों से भिन्न है।

व्याख्या—स्वयम्—स्वतन्त्र, निरावलम्ब **नित्यम्**—सर्वदा **अहंप्रत्यय-लम्बनः**—'अहम्' मैं प्रत्यय, नाम का आश्रय, 'अहम् अहम्' करके जिसकी स्फुरणा अन्तःकरण में होती है, 'प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तःस्फुरन्' अन्तःकरण के भीतर सदा 'अहं-अहं' (मैं-मैं) रूप से स्फुरित होता हुआ, ऐसा 'अहम्' नामवाला **अवस्थात्रय-साक्षी सन्**—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी, द्रष्टा, होता हुआ **पंचकोशविलक्षणः**—अन्नमय—प्राणमय—मनोमय—विज्ञानमय—आनन्दमय इन पाँच कोशों से विलक्षण, भिन्न **कश्चित् अस्ति**—कोई प्रसिद्ध स्वरूपवाला है, वही आत्मा है, वाणी आत्मा का इत्थंभूत वर्णन करने में असमर्थ है। ।।१२७।।

अगले श्लोक में अवस्थात्रय साक्षी को विशदरूप से कहते हैं।

यो विजानाति सकलं जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु ।
बुद्धितद्वृत्तिसद्भावमभावमहमित्ययम् ।।१२८।।

अर्थ—जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में बुद्धि और उसकी वृत्तियों के होने और न होने को जानता है। यही 'अहम्' नामवाला आत्मा है।

व्याख्या—यः जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिषु—जो जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, तथा सुषुप्ति अवस्था में **बुद्धि तद्वृत्तिसद्भावम् अभावम्**—जो साक्षी रूप से जाग्रदवस्था में अन्तःकरण की निश्चयात्मिका बुद्धिवृत्ति को, बुद्धि वृत्ति के होने को। 'स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्-कालीननानाविधवासनाभिः कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते'

स्वप्नावस्था में जाग्रत् काल की वासनाओं को लेकर बुद्धि स्वप्नसृष्टि रचती है, और कर्तापन भोक्तापन भाव को धारण करती हैं। यही बुद्धि सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान में लय होकर अभाव को प्राप्त होती है। 'प्रलीनसर्वेन्द्रिय-बुद्धिवृत्तिः' अर्थात् जो जाग्रत्कालीन स्थूलपदार्थों को, स्वप्नकालीन सूक्ष्म पदार्थों को और सुषुप्ति में अज्ञान को **सकलम् विजानाति**—सबको अच्छे प्रकार से साक्षी होकर जानता है।

अहमिति—इसी का नाम 'अहम्'—मैं है, **अयम्**—यह ही आत्मा है। 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' केनोपनिषद १।५, जो मन के चिन्तन में नहीं आता, मन जिससे मनन किया जाता है 'तदेवब्रह्म त्वं विद्धि' वही ब्रह्म है, तू यह जान। 'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।' गीता ७।२६।, मैं परमात्मा अतीत के समस्त भूतों को, वर्तमान में जो विद्यमान है, और भविष्य में जो होंगे उन सब को जानता हूँ, परन्तु मेरा कोई साक्षी नहीं है ॥१२८॥

आत्मा की सर्वप्रकाशता बताते हैं।

यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन।
यश्चेतयति बुद्ध्यादिं न तद्यं चेतयत्ययम् ॥१२९॥

अर्थ—जो स्वयं सबको देखता है, किन्तु जिसको कोई नहीं देख सकता। जो बुद्धि आदि को प्रकाशित करता है; किन्तु जिसको बुद्धि आदि चेतन नहीं कर सकते। यही वह प्रसिद्ध आत्मा है।

व्याख्या—**यः स्वयम्**—जो अपने आप **सर्वम्**—समस्त जगत् को **पश्यति**—देखता है, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति श्रुतिः। इसके व्यतिरिक्त अन्य द्रष्टा नहीं है। **यम्**—जिस आत्मा को **कश्चन् न**—अन्य कोई नहीं **पश्यति**—देखता है। 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' केनोपनिषद १।६।, जो चक्षु से नहीं देखा जा सकता, जिस के प्रकाश से, सान्निध्यमात्र से नेत्र देखा जाता है। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः' 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा', इत्यादि श्रुतियाँ। वहाँ तक, आत्मा तक न नेत्र न वाणी न मन पहुँचता है। न वाणी से न नेत्र से न मन से वह प्राप्त हो सकता है। **यः बुद्ध्यादिम्**—जो बुद्धि, आदि पद से प्राण, इन्द्रियाँ ग्रहण करना, बुद्धि आदि जड़ को **चेतयति**—अपने प्रतिबिम्ब से चेतनायुक्त सा करता है **तत्**—बुद्ध्यादि **न यम् चेतयति**—जिसको

चेतन नहीं करती, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है, अन्य से प्रकाशित नहीं होता। **अयम्**–यही 'अहम्' नाम का आत्मा है ॥१२६॥

आत्मा की सर्वाधिष्ठानरूपता वताते हैं।

येन विश्वमिदं व्याप्तं यन्न व्याप्नोति किञ्चन।
अभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम् ॥१३०॥

अर्थ—जिससे सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है; किन्तु जिसे कोई व्याप्त नहीं कर सकता तथा जिसके भासने पर यह जड़रूप सारा जगत् भासित हो रहा है। यही वह प्रसिद्ध आत्मा है।

व्याख्या—**येन**–जिसके द्वारा **इदम् विश्वम्**–यह जगत्, दृश्य प्रपंच **व्याप्तम्**–सर्वाधार होने से व्याप्त किया हुआ है **यम्**–जिसको **किंचन**–अन्य कोई वस्तु **न व्याप्नोति**–व्याप्त नहीं कर सकती, क्योंकि आत्मा 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इति श्रुतिः, श्वेताश्वतरोपनिषद ३।२०।,सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और महान से भी महत्तर है, अपना आप अधिष्ठान है, **यम् भान्तम्**–जिसके प्रकाशित होने पर **अभारूपम्**–अप्रकाशरूप, जड़रूप **इदम् सर्वम्**–यह समस्त जगत् **अनुभाति**–प्रकाशित होता है, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' कठोपनिषद् २।२।१५।, उस आत्मा के प्रकाश से यह सव जगत् प्रकाशित होता है। चेतन सा होता है। 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्' गीता १०।४२, इस समस्त चराचर जगत् को मैं अपने एक अंश से धारण करके स्थिर हूँ। 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' पुरुषसूक्त। समस्त विश्व परमात्मा का एक अंश है, तीन अंश अमृत हैं जो कि द्यौ-लोक में है। ऐसा **अयम्**–यह आत्मा है ॥१३०।

आत्मा की सत्तामात्र से सर्वप्रेरकता है।

यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव ॥१३१॥

अर्थ—जिसकी सन्निधिमात्र से कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, और अन्तःकरण प्रेरित हुए से अपने-अपने विषयों में वर्तते हैं। (यही वह प्रसिद्ध आत्मा है)

व्याख्या—**यस्य सन्निधिमात्रेण**–जिसकी समीपता मात्र से, सत्तामात्र से, जिसकी प्रकाश से प्रकाशित होकर, जिसके प्रतिविम्बित होने से चेतनीभूत होकर

देहेन्द्रियमनोधियः–यहाँ देह के अर्थ में कर्मेन्द्रियाँ लेना, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन बुद्धि से, अन्तःकरण ग्रहण करना चाहिये। **प्रेरिताः इव**– किसी की प्रेरणा से विवश होकर **स्वकीयेषु विषयेषु**–अपने-अपने कर्मों में **वर्तन्ते**–वर्तते हैं, लगते हैं। कर्मेन्द्रियाँ वचनादानगमनादि में, ज्ञानेन्द्रियाँ श्रवणस्पर्शनदर्शनादि में, मन संकल्प-विकल्पादि में, बुद्धि निर्णय में, कर्तृत्व भोक्तृत्वादि में, अपने-अपने कर्मों में लगते हैं। जड़ होने से स्वतः व्यापार में युक्त होना असंगत है इसलिये 'प्रेरिताः इव' कहा गया है। 'अयम्'–यही वह प्रसिद्ध आत्मा है, ऐसा जोड़ लेना चाहिये ॥१३१॥

अब आत्मा की सर्वप्रकाशता बताते हैं।

अहङ्कारादि-देहान्ता विषयाश्च सुखादयः।
वेद्यन्ते घटवद्येन नित्यबोधस्वरूपिणा ॥१३२॥

अर्थ—अहंकार से लेकर देहपर्यन्त, विषय और सुख आदि समस्त अनुभव जिस नित्यज्ञानस्वरूप के द्वारा घट के समान जाने जाते हैं। (यही वह प्रसिद्ध आत्मा है।)

व्याख्या—अहंकारादि-देहान्ताः–अहंकार से लेकर स्थूल देहतक, अर्थात् पंचकोश **विषयाः**–शब्दादि पंचविषय **च सुखादयः**–और विषयों के सुख दुःखादि अनुभव **येन नित्यबोधस्वरुपिणा**–जिससे स्वतःसिद्ध एकरस ज्ञान स्वरूपवाले से **घटवत्**–कुम्भ की भांति स्पष्ट **वेद्यन्ते**–जाने जाते हैं। 'वही आत्मा है' इतना प्रसंग-वश जोड़ना चाहिये। पाँच कोशों का द्रष्टामात्र होने से वह आत्मा असंग है ॥१३२॥

आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता बताते हैं।

एषोऽन्तरात्मा पुरुषः पुराणो, निरन्तराखण्ड-सुखानुभूतिः।
सदैकरूपः प्रतिबोधमात्रो, येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥१३३॥

अर्थ—यही नित्य अखण्डानन्दानुभवरूप अन्तरात्मा पुराण पुरुष है जो सदा एकरूप और प्रत्येक बुद्धिवृत्ति का ज्ञाता है तथा जिसकी प्रेरणा से वागादि इन्द्रियाँ और प्राण स्वविषयों में वर्तते हैं।

व्याख्या—एषः–यह, 'अस्ति कश्चित् स्वयं' इस श्लोक से लेकर 'अहंकारादि-देहान्ताः' इति आदि वाले श्लोक तक जिस का वर्णन किया है **अन्तरात्मा**–पंच कोष वहिर होने से, उपाधि मात्र होने से यह अन्तरात्मा है, भीतर की आत्मा, जो 'पंच कोशविलक्षणः' है, जो सकल जगत् को व्याप्त करके रहता है, और जिसको कोई

व्याप्त नहीं कर सकता, अन्तरात्मा **पुरुषः**–पूर्ण, अथवा 'पुरि शरीरे शेत इति पुरुषः' देही, शरीर में रहनेवाला **पुराणः**–अब नया नहीं, उत्पत्ति वाला नहीं, निरवयव होने से जो घटता बढ़ता नहीं **निरन्तराखण्ड-सुखानुभूतिः**–निरन्तर–बिना अन्तर, परिच्छेद के, एकरस, खण्डरहित, निरवयव, निष्कल, सुख-आनन्द अनुभूति–अनुभवरूप, साक्षात्कार के पश्चात् ब्रह्म का जो स्वरूप है वह **सदा एकरूपः**–सदा एकरूप, निर्विकार **प्रतिबोधमात्रः**–बुद्धि वृत्तियों का ज्ञाता **येन**–जिसके द्वारा **इषिताः**–प्रेरित, विवश होकर, आदेश के अनुसार, न चाहते हुए भी **वाक्-असवः चरन्ति**–वाणी, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण अपने अपने कार्यों में वर्तते हैं। जिसके सान्निध्यमात्र से चेतनीभूत होकर, शक्ति पाकर वाणी बोलती है, हाथ आदान-प्रदान करते हैं, पाँव चलते हैं, और प्राण 'उच्छ्वास-निःश्वासादि' कार्य करते हैं। वही आत्मा सर्वान्तर है, सर्व से सूक्ष्म है, इसी में सकल जगत् स्यूत है ॥१३३॥

अब आत्मा का अनुसन्धान स्थल बताते हैं।

अत्रैव सत्त्वात्मनि धीगुहायामव्याकृताकाश उरुप्रकाशः।
आकाश उच्चै रविवत्प्रकाशते स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन् ॥१३४॥

अर्थ—स्थूल शरीर में ही सत्त्वगुण प्रधान अन्तःकरण में, कारण शरीर के भीतर परम प्रकाशमय परमात्मा सूर्य के समान अपने तेज से इस सम्पूर्ण जगत् को देदीप्यमान करता हुआ बड़ी तीव्रता से प्रकाशमान हो रहा है।

व्याख्या—अत्र एव–इसी स्थूल शरीर में ही **सत्त्वात्मनि**–सत्त्वगुण प्रधाना **धी-गुहायाम्**–बुद्धिरूपी गुफा में, विज्ञानमय कोश जो कि आत्मा को आवरण करता है, उसकी गुफा में **अव्याकृत-आकाशे**–कारण शरीर में, माया में **उरुप्रकाशः**–अधिक प्रकाशवाला, सर्वप्रकाशक होने से **आकाशः इदम् विश्वम्**–परमात्मा इस जड़ जगत् को **स्वतेजसा**–अपने प्रकाश से, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' गीता १३।१७, वह ज्ञेय परमात्मा सूर्यादि ज्योतियों की भी परम ज्योति है, क्योंकि आत्मचैतन्य के प्रकाश से देदीप्यमान होकर ही सूर्यादि समस्त ज्योतियां प्रकाशित हो रही हैं **प्रकाशयन्**–प्रकाशित करता हुआ **रविवत्**–सूर्य की भाँति **उच्चैः प्रकाशते**–सर्वोत्कृष्ट रूप से भासमान है। इस श्लोक में श्रीभगवत्पाद ने साधक के लिये ध्यानस्थल की ओर संकेत किया है। स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म शरीर के भीतर कारण शरीर अर्थात् माया, उसमें स्वयं-प्रकाश आत्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण होता है, उसके प्रकाश से ही सब विश्व प्रकाशित है। तत्त्वंपदार्थ के शोधन से ब्रह्मरूपबिम्ब और जीवरूपप्रतिबिम्ब की एकता का जब साक्षात्

अनुभव होता है, तव मोक्ष होता है। परमात्मा का अनुसन्धान भीतर ही होता है, वाहर नहीं, क्योंकि वाहर का अनुभव भी भीतर से ही होता है ।।१३४।।

अव आत्मा की साक्षीरूपता वताते हैं।

ज्ञाता मनोऽहङ्कृति-विक्रियाणां, देहेन्द्रिय-प्राणकृत-क्रियाणाम् ।
अयोऽग्निवत्ताननुवर्तमानो, न चेष्टते नो विकरोति किञ्चन ।।१३५।।

अर्थ—वह मन और अहंकार के विकारों का तथा कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय और प्राणों की क्रियाओं का ज्ञाता है। तपाये हुए लोहपिण्ड में अग्नि के समान उनका अनुवर्तन करता हुआ भी न कुछ चेष्टा करता है और न विकार को ही प्राप्त होता है।

व्याख्या—मनोऽहंकृति-विक्रियाणाम्—मन और अहंकार के विकारों का, मन के विकार सुख-दुःख, 'दुःखादयो ये मनसो विकाराः', अहंकार के विकार गर्व दर्पादि, अथवा पंचतन्मात्रा उनका तथा **देह-इन्द्रिय-प्राणकृत-क्रियाणाम्**—देह का अर्थ कर्मेन्द्रियाँ लेना, इन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण—पंच प्राण, उनके द्वारा की हुई क्रियाओं की। वचनादि कर्मेन्द्रियों की, श्रवणदर्शनादि ज्ञानेन्द्रियों की, उच्छ्वास निश्वासादि प्राणों की क्रियाओं का **ज्ञाता**—अन्तःकरण और वहिरिन्द्रियों की चेष्टाओं को साक्षीरूप से जाननेवाला आत्मा **अयोऽग्निवत्**—लौह पिण्ड में अग्नि की भांति। जैसे गोलाकार चौकोर दीर्घ लोहे का पिण्ड, वैसे ही **तान् अनुवर्तमानः**—उन आकारों को अग्नि धारण सा करता हुआ, लोहपिण्ड लाल होने पर ऐसा भासता है मानो अग्नि ही गोलाकार, चौकोर दीर्घ आकार वाला हो, ऐसे ही मनोऽहंकार देहेन्द्रिय प्राण के व्यापारों का ज्ञाता उनके साथ तादात्म्य (एकरूपता) को प्राप्त सा होता हुआ उन-उन कर्मों में अभिमान सा करता है, वस्तुतः नहीं **न किंचन चेष्टते**—वास्तव में स्वयं आत्मा न कुछ चेष्टा करता है **नो विकरोति**—न विकार को प्राप्त होता है, क्योंकि आत्मा निष्क्रिय और निर्विकार है। ।।१३५।।

आत्मा की षड्विकाररहितता वताते हैं।

न जायते नो म्रियते न वर्धते, न क्षीयते नो विकरोति नित्यः ।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्, न लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम् ।।१३६।।

अर्थ—आत्मा न जन्मता है, न मरता है, न वढ़ता है, न घटता है और न विकार को प्राप्त होता है क्योंकि वह नित्य है। इस शरीर के नष्ट होने पर भी घट के टूटने पर घटाकाश के समान नष्ट नहीं होता।

व्याख्या—अब आत्मा का षड्विकाररहित स्वरूप बताते हैं। षड्भाव विकार:जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, क्षीयते, नश्यते—ये छः भाव विकार हैं, इन की लपेट में समस्त मायिक पदार्थ आते हैं। **न जायते**—परमात्मा अजन्मा है, 'अजो नित्यः' इति कठोपनिषद १।२।१८।, इसलिये पैदा नहीं होता **नो म्रियते**—परमात्मा अमर है, इसलिये नहीं मरता **न वर्धते**—आद्यन्तहीन और निरवयव होने से बढ़ता नहीं **न क्षीयते**—इसीलिये घटता भी नहीं **नो विकरोति नित्यः**—सर्वविध विकार—रहित, नित्य होने से, त्रिकाल अबाधित होने से। पूर्व श्लोक में 'नो विकरोति किंचन' का यहाँ विशदीकरण किया है। **अस्मिन् वपुषि विलीयमाने अपि**—इस शरीर के नष्ट होने पर भी, इस शरीर का निवासी आत्मा, षड्भाव विकाररहित होने से **स्वयं न लीयते**—अपने आप नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह आत्मा अव्यय अविनाशी है। अब दृष्टान्त देते हैं **कुम्भः अम्बरम् इव**—जैसे घट के नाश होने पर घटाकाश नष्ट नहीं होता वैसे ही। 'घटावभासको भानु र्घटनाशे न नश्यति।' देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति।' इति श्रुतिः, कुम्भ का प्रकाशक सूर्य, घट नष्ट होने पर स्वयं नष्ट नहीं होता, वैसे ही देह का प्रकाशक साक्षी चैतन्य देह के नाश होने पर स्वयं नष्ट नहीं होता ॥१३६॥

आत्मा का 'अहम्' रूप से स्फुरण।

प्रकृति-विकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः
सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः।
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था-
स्वहमहमिति साक्षात् साक्षिरूपेण बुद्धेः ॥१३७॥

अर्थ—प्रकृति तथा उसके विकारों से पृथक, निर्मलज्ञान स्वभाव वाला समस्त सत्-असत् को प्रकाशित करता हुआ जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं में 'मैं मैं' रूप से स्फुरित होता हुआ बुद्धि के साक्षीरूप से सर्व विशेषताओं से रहित परमात्मा साक्षात् विराजता है।

व्याख्या—**प्रकृति-विकृतिभिन्नः**—प्रकृति-माया, अनाद्यविद्या, विकृति—आकाशादि पंच महाभूत, उनसे भिन्न विलक्षण **शुद्धबोधस्वभावः**—निर्विषय ज्ञान स्वरूप वाला **इदम् अशेषम्**—इस समस्त जगत **सत् असत्**—पुरुष प्रकृति, 'प्रकृतिपुरुषात्मकम् जगत्' ऐसे समस्त जगत् को **भासयन्**—प्रकाशित करता हुआ **निर्विशेषः**—स्वयं सर्वविशेषताओं से रहित, निर्गुण, निर्धर्मिक **परमात्मा**—सर्व-

साक्षी परमात्मा **अहम् अहम् इति**–'मैं-मैं' रूप से, अपने आपे के रूप से **बुद्धे साक्षिरूपेण**–बुद्धि के साक्षी, द्रष्टा रूप से **जाग्रदादिषु अवस्थासु**–जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं में **साक्षात्**–प्रत्यक्ष **विलसति**–प्रकाशता है।

अब श्रीगुरुमुख से जैसा सुना था, लिखते हैं, विशेष ध्यानयोग्य है। 'इस संघात के दो द्रष्टा हैं, एक अन्तःकरण विशिष्ट जीव, दूसरा अन्तःकरण का साक्षी आत्मा। इन दोनों से ही यह देहेन्द्रियप्राणादि संघात प्रकाशित हो रहा है। इस संघात में चैतन्यात्मा का सामान्य प्रकाश है। चिदाभास जीव अन्तःकरण में स्थित हुआ इस संघात को विशेष प्रकाश से प्रकाशित कर रहा है। इस रीति से यह संघात दो प्रकाशों से प्रकाशित है। यह प्रकाश सूर्य चन्द्रमा विद्युत (विजली) अग्नि के प्रकाश की तरह केवल वाहर घटपटादि जड़ पदार्थों का ही प्रकाशक नहीं है, किन्तु अविद्या, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण, कर्मेन्द्रियाँ, स्थूल शरीरसंघात-अवयवों को प्रकाशित करता हुआ घटपटादि वाह्य पदार्थों को, उनके प्रकाशक, सूर्य चन्द्रमा विद्युत अग्नि के सहित प्रकाशित करता है। यह प्रकाश सूर्यादि प्रकाश की न्यांई जड़ नहीं, किन्तु यह प्रकाश चैतन्य है। इसी को वेदान्तशास्त्र ने ओतनाम का ज्ञान योग कहा है।'

'सूर्यादि का प्रकाश जड़ ही नहीं किन्तु परिछिन्न भी है। जहाँ इनका अभाव है, वहाँ के अन्धकार को नाश करने में ये समर्थ नहीं। परन्तु आत्मचैतन्य का प्रकाश सूर्यादि प्रकाशित पदार्थों को ही नहीं प्रकाशता, किन्तु इनके अभाव में होनेवाले अन्धकार को भी प्रकाशता है।'

'संघात के होने वाले दोनों द्रष्टाओं में अन्तःकरण-विशिष्ट-द्रष्टा अविद्यक (अविद्या से उत्पन्न होनेवाला) होने से सत्य नहीं है, किन्तु मरुभूमि के जल की तरह द्रष्टा-दृश्य-दर्शन त्रिपुटी का अंग होने से भ्रम से मिथ्या ही भास रहा है। इसका आधार और अधिष्ठान चैतन्यात्मा जो अपने प्रकाश से विशिष्ट को भी प्रकाशता है सो ध्रुव सत्य है। इसका न कभी जन्म हुआ, न मरण होगा। वृद्धि क्षय से रहित षड्भाव-विकारशून्य शाश्वत परिपूर्णतम अपने प्रकाश से आप ही प्रकाशित होनेवाला और अविद्या से लेकर स्थूल शरीर पर्यन्त समस्त स्थावर जंगम जगत को अपने प्रकाश से प्रकाशता हुआ एकरस समभाव में स्थिर है। वही हमारा स्वरूप है। इसलिये अपने कूटस्थ स्वरूप में सदा स्थिर रहना चाहिये। इसी का नाम अनुज्ञात ज्ञान-योग है।' (गुरु वचन)

भगवान भाष्यकार इन दोनों द्रष्टाओं का निरूपण २९५ श्लोक में आगे करेंगे। इस श्लोक में 'परमः कः आत्मा?' इस प्रश्न के उत्तर का उपसंहार है ।।१३७।।

अब 'कथं तरेयं भवसिन्धुमेतम्'? इस प्रश्न का श्रीगुरु उत्तर देते हैं ।।

नियमितमनसामुं त्वं स्वमात्मानमात्म-
न्ययमहमिति साक्षाद्विद्धि बुद्धिप्रसादात् ।
जनि-मरण-तरङ्गापार-संसारसिन्धुं
प्रतर भव कृतार्थो ब्रह्मरूपेण संस्थः ॥१३८॥

अर्थ—तू इस आत्मा को संयतचित्त होकर बुद्धि की निर्मलता से 'यह मैं हूँ'—ऐसा अन्तःकरण में स्वयंप्रकाश आत्मा का साक्षात् अनुभव कर और जन्म-मरण-रूपी तरङ्गोंवाले इस अपार संसार-सागर को पार कर तथा ब्रह्मरूप से स्थित होकर कृतार्थ हो जा।

व्याख्या—**नियमितमनसा**—वैराग्य-विवेक युक्त होकर, मन के सम्यग्नियमन, शमन करने से, संकल्पविकल्पशून्य मन से **बुद्धिप्रसादात्**—श्रवण-मनन-निदिध्यासन से, बुद्धि से अभावना-संशयभावना-विपरीतभावना का निकलना बुद्धि की शुद्धि है, उसकी निर्मलता ही उसका प्रसाद है, उपरत अन्तः-करण से, अन्तःकरण में सत्त्वगुण की वृद्धि से **आत्मनि**—अन्तःकरण में 'सत्त्वात्मनि धीगुहायाम् अव्याकृताकाशे' **अमुम् स्वं आत्मानम्**—उस स्वप्रकाश आत्मा का **साक्षात् त्वं विद्धि**—तू साक्षात्कार कर, 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया' कठोपनिषद १।३।१२, अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से उसका साक्षात्कार होता है। 'स आत्मा तत्त्वमसि' छान्दो-ग्योपनिषद ६।८।४ वही आत्मा जो तेरे अन्तःकरण में विराज रहा है, वही तेरा स्वरूप है। कैसे विराजता है? **अयम् अहम् इति**—यही मैं हूँ, मैं आत्मा तेरे स्वरूप से अभिन्न हूँ। इस प्रकार तू अपने स्वरूप का तत्त्वंपदार्थ शोधन द्वारा साक्षा-त्कार कर यही 'अहम्' मुख्य द्रष्टा है। अपने को साक्षात् सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण परमात्मा जानकर **जनि-मरण-तरंगापार-संसारसिन्धुम्**—अनन्त दुस्तर भव-सागर को, कैसा है वह? जिसमें जन्म, मरणरूप तरंगें जिनके कारण यह सागर अगाध और अपार है, अपार इसलिये कहा कि कर्मकाण्ड और उपासना से इस को पार नहीं कर सकते। **प्रतर**—आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन से पार हो जा, सद्यः मुक्त हो जा। **ब्रह्मरूपेण संस्थः कृतार्थः भव**—निरन्तर ब्रह्मरूप से स्थित हुआ कृतार्थ हो जा, सतत ब्रह्माकारवृत्ति में रमण कर, इस प्रकार तू सब कर्तव्यों से रहित हो जायेगा।

'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नैवास्ति किंचित् कर्तव्यम् अस्ति चेन्न स तत्त्ववित्', ज्ञानामृत से तृप्त हुए कृतार्थ योगी का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता है। यदि वह योगी यह माने कि उसका कोई कर्तव्य है, तो समझ लेना कि वह तत्त्ववेत्ता नहीं है। इस श्लोक में श्रीगुरु ने शिष्य पर आशीर्वाद रूप शक्तिपात भी किया है। ॥१३८॥ अब शिष्य के प्रथम प्रश्न, 'को नाम बन्धः' का दो श्लोकों में उत्तर देते हैं।

अत्रानात्मन्यहमिति मतिर्बन्ध एषोऽस्य पुंसः
प्राप्तोऽज्ञानाज्जनन-मरण-क्लेशसम्पातहेतुः।
येनैवायं वपुरिदमसत्सत्यमित्यात्मबुद्धया
पुष्यत्युक्षत्यवति विषयैस्तन्तुभिः कोशकृद्वत् ॥१३९॥

अर्थ—इस पुरुष का अनात्मवस्तुओं में 'अहम्' इस आत्मबुद्धि का होना बन्ध है। यह बन्ध अज्ञान से प्राप्त होता है। जन्म-मरणरूपी क्लेशों की प्राप्ति कराने का कारण है। जिससे यह जीव इस असत् शरीर को सत्य समझकर इसमें आत्म-बुद्धि करके तन्तुओं से रेशम के कीड़े के समान, इसका विषयों द्वारा पोषण, मार्जन और रक्षण करता रहता है।

व्याख्या—अत्र—'देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादयः' इति तथा 'माया माया-कार्यम्' इति श्लोकों में उपसंहार के रूप से जिसका वर्णन है, वह सब अनात्मा है, उस **अनात्मनि**—अनात्म देहादि में **अहम् इति मतिः**—मैं स्थूल शरीर हूँ, मैं सूक्ष्म शरीर हूँ, मैं कारण शरीर हूँ, मैं क्रियाओं का कर्ता और सुख-दुःख का भोक्ता हूँ, इस प्रकार आत्मबुद्धि करना। आत्मा का स्वरूप पिछले १३ श्लोकों में बताया है **एषः बन्धः अस्य पुंसः**—यही बन्ध है, इस जीव का। अनात्मा के साथ आत्मा का तादात्म्य सा करना, देहादि में आत्माभिमान करना बन्ध है, इसका कारण बताते हैं **अज्ञानात् प्राप्तः**—अज्ञान से, भ्रान्ति से प्राप्त हुआ है, वास्तव में है नहीं, भ्रान्ति के निवृत्त होने पर मोक्ष है।

जैसा श्रीगुरुमुख से सुना है वैसा ही लिखते हैं। 'इस संघात के बीच में जो दो द्रष्टा वर्णन किये थे वे दोनों 'अहम्'-'अहम्' इस अनुभव से स्पष्ट भासते हैं। मूलाविद्या की निवृत्ति जब तक नहीं होती है, तब तक मनुष्य अन्तःकरण-विशिष्ट द्रष्टा में 'अहं' बुद्धि करता है। ज्ञान होने के पश्चात् कूटस्थ साक्षी को अपना स्वरूप जानता है। अविद्या ही अन्तःकरण रूप से परिणत है। अतः अविद्याविशिष्ट

जीव ही अन्तःकरणविशिष्ट है। वही स्थूल पर अभिमान करके 'विश्व' नाम से प्रसिद्ध होता है। इसमें अन्तर नहीं समझना चाहिये। बुद्धि अथवा अविद्या इस विशिष्टजीव का विशेषण है। विशिष्ट का विशेषण होता है। इन दोनों में परस्पर तादात्म्य है। इसी कारण से विशिष्टजीव बुद्धि आदि के धर्म को अपने में आरोप करता है।'

अब वन्ध के कार्य कहते हैं। **जनन-मरण-क्लेशसम्पातहेतुः**—यह वन्ध मनुष्य को जन्म, मरण, दुःखों में डुबो देने का कारण है। जब देह में आत्मबुद्धि होगी तो देह के जन्म-मरण धर्म, अन्तः करण के सुःख-दुःखादि अनुभव अपने आत्मा में ही मानेगा। **येन एव**—इसी 'अनात्मनि' आत्ममति वन्ध से **अयम्**—यह पुरुष **इदम् असत् वपुः सत्यम्**—यह असत्, मिथ्या शरीर सत्य है **आत्मबुद्धचा**—इस शरीर को आत्मबुद्धि करके सत्य मानता है।

तन्तुभिः कोशकृद्वत्—अब दृष्टान्त से कहते हैं। कोशकार नाम का एक कीड़ा होता है। वह अपनी रक्षा के लिये भ्रान्ति से मुख के थूक से (राल से, लवाव से) धागे वनाकर अपने को चारों ओर से लपेट लेता है, परन्तु इस प्रकार अपने को वान्धने से उसकी गति समाप्त हो जाती है और वह नष्ट हो जाता है। वैसे ही अज्ञान से बँधा मनुष्य शरीर को सत्य, आत्मा मानता है, और **विषयैः**—शब्दादि विषयों से **पुष्यति**—उस शरीर को नाना स्वादु पौष्टिक पदार्थों से पोषण करता है **उक्षति**—सिंचन करता है, नहा धोकर इसको स्वच्छ रखता है **अवति**—इसकी रक्षा करता है। ॥१३९॥

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा।
ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिक-
स्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे ॥१४०॥

अर्थ—मूढ़ पुरुष को तमोगुण के कारण ही अनात्मा में आत्म-बुद्धि होती है; अनात्मा में आत्म-विवेक न होने से ही सर्प रज्जुबुद्धि होता है। ऐसी वुद्धिवाले को ही नाना प्रकार के अनर्थों का समूह आ घेरता है; अतः हे मित्र! सुन, यह जो असत् को सत्य रूप से ग्रहण करना है वही वन्धन है।

व्याख्या—**तमसा**—तमोगुण की आवरण शक्ति से जो यथार्थ स्वरूप का आच्छादन कर देती है, उससे **विमूढस्य**—मोहित चित्त पुरुष की **अतस्मिन्**—अनात्मा में, देहादि में **तत् बुद्धिः प्रभवति**—आत्मबुद्धि होती है। **विवेक अभावात्**—आत्मा-अनात्मा के भेद ज्ञान के अभाव से **वै स्फुरति**—निश्चय ही भासमान होते हुये **भुजगे**—सर्प में **रज्जुधिषणा**—यह रज्जु है, सर्प नहीं, इस भेद ज्ञान के अभाव में ऐसी बुद्धि, रज्जुबुद्धि उत्पन्न होती है। **ततः समादातुः**—इसके उपरान्त 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' 'भुजगे रज्जुधिषणा' स्वीकार करने वाले को **अधिकः अनर्थव्रातः**—मरणपर्यन्त नाना प्रकार का दुःखसमुदाय **निपतति**—प्राप्त होता है। अपने को देह माननेवाला जन्म-मरण-जरा-व्याधि के कष्ट सहेगा, सर्प को रज्जु माननेवाला सर्प द्वारा मारा जायगा **ततः**—इस कारण से **यः असद्ग्राहः**—जो असत् का सत् रूप से ग्रहण करना **है सः बन्धः भवति हि**—वही बन्ध होता है, **सखे श्रृणु**—हे मित्र, सावधानी से **सुन**, तेरे प्रथम प्रश्न का उत्तर दे दिया है ॥१४०॥

अखण्ड-नित्याद्वयबोध-शक्त्या स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम् ।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम् ॥१४१॥

अर्थ—खण्डरहित, नित्य और अद्वयबोध-शक्ति से स्फुरति होते हुए अनन्तैश्वर्यसम्पन्न आत्मा को यह तमोगुण की आवरणशक्ति इस प्रकार ढक लेती है जैसे सूर्यमण्डल को राहु।

व्याख्या—अब शिष्य के दूसरे प्रश्न 'कथमेष आगतः' ? का उत्तर देते हैं। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं, आवरण और विक्षेप, ये दोनों बन्धनकारी हैं। इनका विशदीकरण करते हैं। **अखण्ड-नित्याद्वयबोध-शक्त्या**—अखण्ड—परिपूर्ण, अपरिच्छिन्न, इसलिये नित्य—उत्पत्तिनाशरहित, अविकारी, अद्वयबोध—द्वितीय से शून्य जो ज्ञान उसकी बोध-शक्ति, 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति श्वेताश्वतर ६।८, ज्ञान बल क्रिया इस की स्वाभाविक शक्तियां हैं। उस ज्ञानशक्ति से **स्फुरन्तम्**—प्रकाशित होते हुए **अनन्तवैभवम्**—अनन्त-ऐश्वर्य वाले, जिस की शक्ति, समृद्धि का कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता, निरपेक्ष वैभववाले उस **आत्मानम्**—आत्मा को **एषा तमोमयी**—यह तमोगुण की **आवृति-शक्तिः**—आवरण शक्ति **समावृणोति**—ढक लेती है, **राहुः इव अर्कबिम्बम्**—जैसे राहु सूर्य विम्ब को ढक लेता है, भासमान सूर्य को अभासमान कर देता है ॥१४१॥

स्वरूप तिरोहन के उपरान्त विक्षेपशक्ति के अनर्थ।

तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमान्
अनात्मानं मोहादहमिति शरीरं कलयति ।
ततःकामक्रोधप्रभृतिभिरमुं बन्धनगुणैः
परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिर्व्यथयति ॥१४२॥

अर्थ—अति निर्मल प्रकाशवान आत्मतत्त्व के तिरोभूत होने पर पुरुष अनात्म-देह को ही मोह से 'मैं हूँ' ऐसा मानने लगता है । तब रजोगुण की विक्षेप नामवाली अति प्रबलशक्ति, काम-क्रोधादि अपने बन्धनकारी धर्मों से, इसको व्यथित करती है।

व्याख्या—श्लोक के पूर्वार्ध में आवरण शक्ति के कार्य तथा उत्तरार्ध में विक्षेप शक्ति के कार्य का निरूपण करते हैं । **अमलतरतेजोवति**—अतिनिर्मल प्रकाशवान् **स्वात्मनि**—अपनी आत्मा के **तिरोभूते**—तमोगुण की आवरण शक्ति द्वारा आच्छादित किये जाने पर **पुमान्**—पुरुष **मोहात्**—अज्ञान से, अविवेक से **अनात्मानम् शरीरम्**—अनात्मा, असत् शरीर को ही **अहम् इति**—'अहम्-प्रत्यय-लम्बनः' मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार **कलयति**—जानता है, अभिमान करता है । मैं जन्म-मरण-धर्मा शरीर हूँ, आत्मा नहीं, ऐसा उसका निश्चय होता है, क्योंकि आवरणशक्ति के प्रभाव से 'वस्तु-अवभासते-अन्यथा' वस्तु का, आत्मा का स्वरूप उलटा दिखाई देता है, अर्थात् शरीर को आत्मा समझता है ।

ततः—शरीर में आत्मबुद्धि करने के उपरान्त **अमुम् विक्षेपाख्या**—पुरुष को विक्षेप नामवाली **रजसः उरुशक्तिः**—रजोगुण की प्रबला शक्ति **काम-क्रोधप्रभृतिभिः बन्धनगुणैः**—काम, क्रोध, प्रभृति शब्द से लोभदंभाभ्यसूयादि रजोगुण के अन्य भयावह घोर धर्म समझने चाहियें । इन बन्धनकारी धर्मों से विक्षेपशक्ति **परम् व्यथयति**—अत्यन्त पीड़ित करती है, नाना प्रकार के क्रियाकलाप कराती है, शान्ति नहीं लेने देती, पुरुष को नचाती रहती है ॥१४२॥

अब विक्षेपशक्ति के अनर्थ बताते हैं।

महामोह-ग्राहग्रसन-गलितात्मावगमनो
धियो नानावस्थाः स्वयमभिनयं-स्तद्गुणतया ।
अपारे संसारे विषयविषपूरे जलनिधौ
निमज्ज्योन्मज्ज्यायं भ्रमति कुमतिः कुत्सितगतिः ॥१४३॥

अर्थ—महामोहरूप मकर के निगलने से नष्ट-स्वरूप-ज्ञान पुरुष बुद्धि के परिणामों में बुद्धिगुणानुसार आत्माभिमानी होकर उसकी नाना अवस्थाओं का अभिनय करता है। यह कुमति खोटी मतिवाला पुरुष विषय रूपी विष से भरे अपार संसार सागर में डूबता, उभरता हुआ भटकता है।

व्याख्या—'ततो ऽ नर्थव्रातः' तथा 'परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिः व्यथयति,' इन को अब विशद करते हैं। **महामोह-ग्राहग्रसन-गलितात्मावगमनः**—महामोह रूप जो ग्राह (मकर) उसके ग्रसन, निगलने से नष्ट हो गया है जिसका आत्मज्ञान, ऐसा। तमोगुण की आवरण शक्ति स्वरूप को आच्छादित कर देती है और वह आवरण वज्रसार से अधिक कठोर है, जिसका ज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय से टूटना असम्भव है, इस प्रकार मोहित हुआ पुरुष **धियः नानावस्थाः स्वयम्**—बुद्धि के नाना परिणामों को अपने में समझ कर, बुद्धिवृत्ति के साथ अपना तादात्म्य करके **तद्गुणतया**—बुद्धि के कार्यों के अनुसार **अभिनयन्**—बुद्धि के धर्मों को अपने आत्मा में आरोपित करता हुआ **अयम्**—यह मोहित पुरुष **कुत्सितगतिः**—निंदित गतिवाला, अधोगामी, अकल्याणमार्गगामी **कुमतिः**—खोटी मति वाला, क्योंकि वह शरीर को आत्मा समझता है, उस 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' वाले की अब्रह्मगामिनी गति है। वह कुमति **विषय-विषपूरे**—विषय ही विष है, उससे पूर्ण **जलनिधौ**—संसार सागर में **निमज्य**—डूबकर, दुष्कर्मों का फल भोगता हुआ **उन्मज्य**—उभर कर, शुभ कर्मों का फल भोगता हुआ **भ्रमति**—विवश हुआ भटकता है, संसार सागर पार नहीं कर सकता, मुक्त नहीं हो सकता ।।१४३।।

अब दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि अपना कार्य अपने स्वरूप को ही ढक लेता है।

भानुप्रभासंजनिताभ्र-पङ्क्ति-र्भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा।
आत्मोदिताहङ्कृति-रात्मतत्त्वं तथा तिरोधाय विजृम्भेते स्वयम्।।१४४।।

अर्थ—जैसे सूर्य के तेज से उत्पन्न हुई मेघमाला सूर्य को ढक कर स्वयं फैल जाती है, उसी प्रकार आत्मा से प्रकट हुआ अहंकार आत्मा को ही आच्छादित करके स्वयं विस्तार को प्राप्त होता है।

व्याख्या—**यथा भानुप्रभा-संजनित-अभ्रपंक्तिः**—जैसे सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुई मेघमाला, बादलों की पंक्ति, घटा। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के प्रचण्ड ताप से

सागर से मेघमाला उठती है **भानुम् तिरोधाय**—अपने उत्पादक सूर्य को ढक देती है, और आप **विजृम्भते**—विस्तृत हो जाती है, आप सामने हो जाती है **तथा**—वैसे ही **आत्मोदिता अहंकृतिः**—आत्मा के सान्निध्य से स्फूर्ति पाकर उदय हुआ अहंकार, देहाभिमान **आत्मतत्त्वम्**—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को, परमेश शक्ति, माया की आवरण शक्ति **तिरोधाय**—ढक कर, छिपा कर **स्वयम् विजृम्भते**—अपने को, देहादि में अहम्-प्रत्यय को आगे कर देती है, विक्षेप उसका विस्तार करता है, कैसे? 'धियो नानावस्थाः स्वयमभिनयन्' यह बात पिछले श्लोक में कही है ॥१४४॥

अब दृष्टान्तपूर्वक आवरण और विक्षेप शक्ति के कार्यों को कहते हैं।

कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघै-
र्व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं
क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः ॥१४५॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी दुर्दिन में सघन मेघों के द्वारा सूर्यदेव के आच्छादित होने पर बरफ सहित वृष्टिपात और प्रचण्ड वायु पथिकों को पीड़ित करती है, उसी प्रकार निरन्तर तमोगुण से स्वरूप के आवृत्त होने पर मूढ पुरुष को प्रबला विक्षेप-शक्ति नाना प्रकार के दुःखों से सन्तप्त करती है।

व्याख्या——**यथा सान्द्रमेघैः**—जैसे निविड़ मेघों की घटा से **कवलितदिननाथे**—सूर्य के निगले जाने पर, ढका जाने पर **दुर्दिने**—मेघाच्छन्न दुर्दिन में **उग्रः**—प्रचण्ड **हिमझंझावायुः**—ओला, वृष्टि सहित आँधी **एतान्**—बाहर पथिकों को **व्यथयति**—पीड़ित करती है। सूर्य के अभाव से अप्रकाश तथा निम्नताप उस पर भी ओलों सहित वर्षा आँधी जैसे पथिकों को कष्ट देते हैं **तथा**—वैसे ही **अविरत-तमसा**—निरन्तर अज्ञान से **आत्मनि आवृते**—आत्मस्वरूप के, मेघों द्वारा सूर्य की भांति, तमोगुण की आवरणशक्ति से ढका जाने पर **तीव्र विक्षेपशक्तिः**—रजोगुण की प्रबला विक्षेपशक्ति **मूढबुद्धिम्**—देहाभिमानी पुरुष को **बहुदुःखैः**—नाना प्रकार के दुःखों से, जनन मृत्यु जराव्याधि दुःखों से **क्षपयति**—पीड़ित करती है, अपने स्वरूप में स्थिति नहीं होने देती ॥१४५॥

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः ।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम् ॥१४६॥

अर्थ—इन दोनों आवरण और विक्षेप शक्तियों से पुरुष को बन्धन की प्राप्ति हुई है और इन्हीं से मोहित होकर यह देह को आत्मा मानकर संसार सागर में भटकता है।

व्याख्या—**एताभ्याम् शक्तिभ्याम् एव**—इन दोनों शक्तियों से, तमोगुण की आवरण शक्ति से और रजोगुण की विक्षेपनाम शक्ति से ही, 'एव' शब्द से अन्य कारणों का बाध होता है। **पुंसः बन्धः**—पुरुष को देहादि अनात्म वस्तु में आत्म-बुद्धि, वन्ध **समागतः**—प्राप्त हुआ है **याभ्याम्**—जिन दोनों से **विमोहितः**—मोहित हुआ पुरुष **देहम् आत्मानम् मत्वा**—वहुतत्त्व निर्मित, स्थूल, नश्वर, अशुचि, जड़, पर-प्रकाश्य देह वैभव को ही एकतत्त्व अविनाशी, परम पवित्र, स्वयं प्रकाश, अनन्त-शक्ति विभूषित आत्मा मान कर **अयम्**—यह मोहित हुआ पुरुष **भ्रमति**—भटकता है, जन्म मृत्यु जराव्याधि दुःख-रूप संसार सागर में डूबता है, उभरता है, पर पार नहीं जा सकता, वन्ध से छूट नहीं सकता, मोक्ष नहीं पा सकता है। यहाँ तक शिष्य के दूसरे प्रश्न, 'कथमेष आगतः'? वन्ध कहाँ से आया का उत्तर दिया है ॥१४६॥

अव तीसरे प्रश्न, 'कथं प्रतिष्ठा अस्य?' वन्ध की प्रतिष्ठा किस प्रकार है, का उत्तर देते हैं।

बीज संसृतिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरङ्कुरो
रागः पल्लवमम्बु कर्म तु वपुः स्कन्धोऽसवः शाखिकाः।
अग्राणीन्द्रियसंहतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं
नानाकर्मसमुद्भवं बहुविधं भोक्तात्र जीवः खगः ॥१४७॥

अर्थ—संसाररूपी वृक्ष का बीज अज्ञान है, देहात्मबुद्धि उसका अंकुर है, राग किसलय हैं, कर्म जल है, शरीर तना है, प्राण शाखाएँ हैं, इन्द्रियाँ शाखाओं के अग्रभाग हैं, विषय पुष्प हैं और नाना प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हुआ दुःख फल है तथा इस संसार रूपी वृक्ष पर जीवरूपी पक्षी भोक्ता है।

व्याख्या—इस श्लोक में संसार की उपमा वृक्ष से की है। **संसृतिभूमिजस्य**—संसाररूपी वृक्ष का **तमः तु बीजम्**—अज्ञान ही मूल कारण है, अन्य कारण नहीं है।

देहात्मधीः अंकुरः—देह में आत्मबुद्धि, 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' अंकुर है, इस अंकुर की उत्पत्ति अज्ञानरूप बीज से हुई है। **रागः पल्लवम्**—शब्दादि पंच विषयों की इच्छा किसलय है, कोंपल है, अंकुर के उपरान्त स्वर्णरंग के कोमल पत्ते पैदा होते हैं। शरीर उदय के उपरान्त उसके निमित्त विषय चाहियें। **कर्म तु अम्बु**—कर्म ही जल है। वृक्ष की वृद्धि के लिये जल चाहिये, जल सींचना चाहिये, अन्यथा वृक्ष सूख जायगा, वैसे ही संसार पोषण के लिये कर्म हैं। 'कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते' भोग के लिये कर्म करता है, कर्म करके फल भोगता है। **वपुः स्कन्धः**—शरीर ही वृक्ष का तना है, स्कन्ध नाम वृक्ष के मध्यभाग का है, जहाँ से शाखादि अवयव उत्पन्न होते हैं। **असवः शाखिकाः**—पंचप्राण ही स्कन्ध से निकली शाखायें हैं। **इन्द्रियसंहतिः च अग्राणि**—इन्द्रिय समुदाय, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, वागादि कर्मेन्द्रियाँ ही शाखाओं का पतला अग्रभाग, फुनगी, फुंगल, हैं। 'अग्राणि' वृक्ष की प्रसारक्रिया के प्रतीक हैं। **विषयाः पुष्पाणि**—शब्दादि पंचविषय ही पुष्प हैं। विषय, पुष्प की भांति आकर्षक होते है, पुष्प का ही फल बनता है, विषयों में प्रवृत्त पुरुष कष्ट भोगता है।

नानाकर्म-समुद्भवम् बहुविधम् दुःखम् फलम्—बहुविध कर्मों से उत्पन्न, इस लिये कर्मानुसार अनेक प्रकार का दुःख ही संसार वृक्ष का फल है। शुभ और अशुभ दो प्रकार के कर्मों का फल सुख-दुःख होता है, परन्तु कर्म का स्वभाव बन्धनकारी होने से कर्म से मोक्ष सम्भव नहीं, इसलिये कर्म दुःखरूप ही है। फल की उत्पत्ति पुष्प से होती है। विषय-पुष्प का दुःख-फल है। 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।' गीता ५।२२। विषय-इन्द्रिय संयोग से जो भोग हैं, वे दुःखमूलक हैं, नश्वर हैं, उनमें विवेकी पुरुष रमण नहीं करता। **अत्र भोक्ता जीवः खगः**—इस संसाररूपी वृक्ष पर भोक्ता नाम का जीव ही खग, पक्षी है। जिसकी संसार में सत्यत्व बुद्धि है वही संसार में शुभ-अशुभ कर्म करता और उनका फल भोगता है, जन्मता है, मरता है। यही संसारवृक्ष की स्थिति है। ।।१४७।।

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः।
जन्माप्ययव्याधि-जरादिदुःखप्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ।।१४८।।

अर्थ—इस अनात्मबन्ध का अज्ञान कारण है, यह बन्ध स्वाभाविक तथा अनादि और अनन्त कहा गया है। यही जीव के जन्म, मरण, व्याधि और जरा (वृद्धावस्था) आदि दुःखों का प्रवाह उत्पन्न करता है।

व्याख्या––**अयम् अनात्मबन्धः**–यह वन्ध, जिसका निरूपण 'अत्रानात्मन्यहमिति' आदि वाले श्लोक से आरम्भ किया है, शरीरादि में आत्माभिमान **अज्ञान-मूलः**–अज्ञान इस का मूल कारण है, **नैसर्गिकः**–स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है, 'स्वभावस्तु प्रवर्तते,' स्वभाव से, माया से प्रवर्त होता है, **अनादिः अनन्तः**–इस वन्ध का आदि नहीं है, उत्पत्ति नहीं है, कोई नहीं कह सकता कि अमुक काल से इसकी उत्पत्ति है। ज्ञान के विना इसका अन्त, नाश भी नहीं है, कर्मकाण्ड और उपासना से इसका अन्त नहीं है, 'नान्तो न चादिः' गीता १५।२ **ईरितः**–कहा जाता है। **अमुष्य**–इस जीव का, फल भोक्ता का, मूढ़बुद्धि का, देहाभिमानी का **जन्म-अप्यय-व्याधि-जरादिदुःखप्रवाहपातम्**–जन्म-उत्पत्ति, अप्ययः–मृत्यु (शरीर की), व्याधिः–रोग, जरा–बुढ़ापा, वृद्धावस्था आदिपद से आधिभौतिक आधिदैविक ताप ग्रहण करने चाहियें। इनसे उत्पन्न हुए दुःख, उनका प्रवाह-परम्परा, उसका पात–आगमन **जनयति**–उत्पादन करता है ।।१४८।।

अब 'कथं विमोक्षः?' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

नास्त्रैर्न शस्त्रैरनिलेन वह्निना, छेत्तुं न शक्यो न च कर्मकोटिभिः।
विवेकविज्ञान-महासिना विना, धातुः प्रसादेन सितेन मञ्जुना ।।१४९।।

अर्थ––यह वन्ध परमेश्वर के अनुग्रह के विना तथा विवेक-विज्ञानरूप शुभ्र मञ्जुल महाखड्ग के विना और किसी अस्त्र, शस्त्र, वायु, अग्नि अथवा करोड़ों कर्मकलापों से भी नहीं काटा जा सकता।

व्याख्या––यह वन्ध **धातुः प्रसादेन**–परमेश्वर के अनुग्रह के विना तथा **सितेन मंजुना**–तीक्ष्ण, सुन्दर, चमकदार, विना जंग खाये हुए **विवेकविज्ञान-महासिना विना**–आत्मा अनात्मा के विवेचन से उत्पन्न जो ज्ञान, ब्रह्मसाक्षात्कार वही ही खड्ग, उसके विना, अतिरिक्त **न अस्त्रैः**–मन्त्रचालित शस्त्र से नहीं **न शस्त्रैः**–वलचालित शस्त्र से नहीं न **अनिलेन**–वायु से नहीं **वन्हिना**–अग्नि से नहीं **न च कर्म कोटिभिः**–और न करोड़ों कर्मों से, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध कर्मों से **छेत्तुम् शक्यः**–नाश नहीं हो सकता, क्योंकि यह बंध 'अज्ञानमूलोऽयम्' 'पुंसः प्राप्तोऽज्ञानात्'–ऐसा होने से 'शुद्धाद्वय-ब्रह्म-विबोधनाश्या'। अज्ञानमूलक होने से ब्रह्मज्ञान द्वारा अज्ञान निवृत्ति से ही बंध का नाश संभव है ।।१४९।।

अब शास्त्र विहित कर्म का फल कहते हैं। सूक्ष्म रूप से साधना क्रम भी वताते हैं। बन्ध से छुटकारा पाना इसी प्रकार सम्भव है।

श्रुतिप्रमाणैकमतेः स्वधर्मनिष्ठा तयैवात्मविशुद्धिरस्य ।
विशुद्धबुद्धेः परमात्मवेदनं तेनैव संसारसमूलनाशः ॥१५०॥

अर्थ—जिसका श्रुतिप्रामाण में दृढ़ निश्चय हो उसी की स्वधर्म में निष्ठा होती है और जिससे उसकी अन्तःकरणशुद्धि होती है । जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है उसीको परमात्मा का साक्षात्कार होता है और इस ज्ञान से ही संसार का समूल नाश होता है ।

व्याख्या—श्रुतिप्रमाण-एकमतेः—श्रुति ही प्रमाण है, उसमें जिसकी एकमति हो, जिसकी केवल श्रुति प्रमाण में ही आसक्ति हो, ऐसे बुद्धि वाले की **स्वधर्मनिष्ठा**—अपने वर्णाश्रमधर्म पालन करने में निष्ठा, स्थिरता होती है । तया एव **आत्मविशुद्धिः**—वर्णाश्रमधर्म के अनुसार आचरण करने से आत्मा, अंतःकरण की शुद्धि, पापक्षय होता है **विशुद्धःबुद्धेः**—'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः'—पापकर्म क्षय होने से मनुष्यों को बोध होता है, पाप क्षय होने से जिसकी बुद्धि शुद्ध, निर्मल, रागद्वेषादि रहित हो गई है, उसको **परमात्मवेदनम्**—परमात्मा का साक्षात्कार होता है, परमात्मा का अपने आपे से अभेद, अभिन्न ज्ञान होता है, **तेन एव**—आत्मसाक्षात्कार होने पर ही, 'एव' शब्द से अन्य कारण का निवारण किया गया है **संसार-समूलनाशः**—संसार का अपने कारण अज्ञान सहित नाश होता है । 'बोधवह्निः अज्ञानकार्यम् प्रदहेत् समूलम्' 'तेनात्यंतिक—संसार-दुःखनाशो भवत्यनु' ॥१५०॥

अब शिष्य के सातवें प्रश्न, 'तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम्' ? का उत्तर देना आरम्भ करते हैं ।

कोशैरन्नमयाद्यैः पञ्चभिरात्मा न संवृतो भाति ।
निजशक्तिसमुत्पन्नैः शैवालपटलैरिवाम्बु वापीस्थम् ॥१५१॥

अर्थ—आत्मा की अपनी शक्ति से उत्पन्न अन्नमय आदि पाँच कोशों से ढका हुआ आत्मा, शैवाल-पटलसे ढके हुए वापीके जलकी भांति, नहीं भासता ।

व्याख्या—निजशक्ति-समुत्पन्नैः—आत्मा की अपनी शक्ति से उत्पन्न, 'अव्यक्तनाम्ना परमेशशक्तिः,' अपनी मायाशक्ति से उत्पन्न **अन्नमयाद्यैः पंचभिः कोशैः**—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय नाम वाले पांच कोशों से, कोश नाम म्यान का, आवरण, आत्मोपलब्धि के प्रतिवन्धक कोशों से **संवृतः**—

ढका हुआ **आत्मा न भाति**–स्वयंज्योतिः आत्मा नहीं भान होता, चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं पड़ता । 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' । गीता ७।२५, यद्यपि मैं स्वयं प्रकाश स्वतः प्रमाण हूँ तो भी अपनी योगमाया से ढका होने के कारण सब को प्रत्यक्ष नहीं होता । इन कोशों के विषय में आगे कहेंगे । अब दृष्टान्त देते हैं । **शैवालपटलैः**–जल से उत्पन्न जल के ऊपर हरे रंग का शैवाल जो कि जल को ढके रखता है, उस शैवाल के समूह से ढका हुआ **वापीस्थम्**–बावड़ी के **अम्बु इव**–जल की भांति । बावडी–गम्भीर कूप जिसके जल तक पहुँचने के लिये सोपान बने रहते हैं । पंच कोश बावड़ी के भांति होते हैं, उनके मध्य में शैवालरूपी माया की आवरणशक्ति से ढका जलरूप आत्मा का स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता ।।१५१।।

कैसे दिखाई दे, इस पर कहते हैं ।

तच्छैवालापनये सम्यक् सलिलं प्रतीयते शुद्धम् ।
तृष्णासन्तापहरं सद्यः सौख्यप्रदं परं पुंसः ।।१५२।।

अर्थ—उस शैवाल के हटाये जाने पर शुद्ध जल स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जो जल कि तत्क्षण पिपासा सन्ताप का हरण करने वाला है, और पिपासा शान्त होने पर अतिसुख देने वाला है ।

व्याख्या—**तत् शैवालापनये**–प्रयत्न करके उस शैवाल के हटाये जाने पर **शुद्धम् सलिलम्**–निर्मल जल **सम्यक् प्रतीयते**–स्पष्ट दिखाई पड़ता है । शैवाल जल से ही उत्पन्न होकर जल को ही आवरण करता है । अब शुद्ध जल पान का फल कहते हैं । **पुंसः**–पुरुष का, जिसने यत्न करके शैवाल हटाया है, उसका **सद्यः**–तत्क्षण **तृष्णासन्तापहरम्**–पिपासा के कष्ट का हरण करने वाला और पिपासा-सन्ताप शान्त होने पर **परम् सौख्यप्रदम्**–अति सुख का देने वाला है ।।१५२।।

अब दृष्टान्त के पश्चात् मूल विषय पर आते हैं ।

पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः ।
नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयंज्योतिः ।।१५३।।

अर्थ—उसी प्रकार पांचों कोशों का अपवाद किया जाने पर यह शुद्ध, नित्यानन्दैकरसस्वरूप, स्वयंप्रकाश सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा भासने लगता है ।

व्याख्या—ऐसे ही **पंचानाम् कोशानाम् अपि**—पांचों कोशों के, अन्नमयादि से आनन्दमयान्तक पंचकोशों के **अपवादे**—दूर किये जाने पर, वाधित हो जाने पर, निषिद्ध होने पर, 'अपि' शब्द से निःशेप रूप से वाधित होने पर **अयम्**—यह प्रत्यक्ष **शुद्धः**—केवल, सर्वोपाधिरहित **नित्यानन्द–एकरसः**—सर्व काल में आनन्द रूप निर्विकार **प्रत्यग्रूपः**—प्रत्यग् आत्मा, सर्वान्तरात्मा **परः**—माया से परे, सर्वोत्कृष्ट **स्वयंज्योतिः**—अपरप्रकाश्य, स्वयंप्रकाश **विभाति**—प्रकाशित होता है। साक्षात्कार में आता है। पंचकोशों के सम्यक् निराकरण किये जाने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है, जिसका फल सर्वदुःख निवृत्ति, सर्वसुख प्राप्ति है ।।१५३।।

इसलिये विद्वान् को क्या करना चाहिये, सो कहते हैं।

आत्मानात्मविवेकः कर्तव्यो बन्धमुक्तये विदुषा।
तेनैवानन्दी भवति स्वं विज्ञाय सच्चिदानन्दम् ।।१५४।।

अर्थ—बन्धन से छुटकारा पाने के लिये शास्त्रज्ञाता द्वारा आत्मा और अनात्मा का विवेक किया जाना चाहिये। उसीसे अपने आपको सच्चिदानन्दरूप जान कर वह आनन्दित हो जाता है।

व्याख्या—**विदुषा**—शास्त्र के ज्ञाता द्वारा **बन्धमुक्तये**—'अहंकारादिदेहान्तान् वन्धान्', देह में आत्मबुद्धिरूप बंध, उस से छटकारा पाने के लिये **आत्मानात्मविवेकः**—आत्मा क्या है? अनात्मा क्या है? इनका विवेचन, भेद **कर्तव्यः**—करना चाहियें। **तेन एव**—उसी विवेक से ही **स्वम्**—अपने आपको **सच्चिदानन्दम्**—सत्—जिसका तीन काल में वाध न हो, नित्य, चित्—ज्ञानरूप, बोधरूप, प्रकाशरूप, आनन्द—निरतिशय सुख, जहाँ दुःख की गन्ध भी न हो, जिस सुख का लाभ करके अन्य, विषय जन्य सुख, की तृष्णा न रहे, ऐसा सच्चिदानन्द जो अपना आपा, आत्मा है, उसको **विज्ञाय**—जान कर, उसका साक्षात्कार कर के **आनन्दी भवति**—आनन्दवान् हो जाता है, वीतशोक हो जाता है, निरपेक्ष निरालम्ब आनन्द रूप ही हो जाता है। 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।' मुण्डकोपनिषद ३।१।२, साधन सम्पन्न होकर जव वह ईश्वर की महिमा को अपने आत्मा की ही महिमा जानता है तो शोकरहित हो जाता है ।।१५४।।

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गात्प्रत्यञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम्।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ।।१५५।।

अर्थ--जो पुरुष अपने असंग और अक्रिय प्रत्यगात्मा को मूंज में से सींक के समान दृश्यवर्ग से पृथक् करके पुनः दृश्यवर्ग को आत्मा में लय करके आत्मभाव में ही स्थित रहता है, वही मुक्त है।

व्याख्या--**मुंजात्**--मूंज से, सरकंडे में से **इषीकाम् इव**--सींक, तूली की तरह, पतली, लम्बी सींक के चारों ओर पतले-पतले आवरण रूप लम्बे पत्ते होते हैं जिनसे सींक का स्वरूप आच्छादित रहता है। श्रमी लोग सींक के ऊपर छाये हुये छिलकों को हटा कर सींक को पृथक् कर लेते हैं **प्रत्यंचम् आत्मानम्**--सर्वान्तर्गत, आत्मा-अन्तरात्मा को, ऐसे आत्मा को जो कि माया से आवृत रहता है, 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' गीता ७।२५।, 'एष सर्वेषु भूतेषु गुढात्मा न प्रकाशते।' कठोपनिषद १।३।१२, यह आत्मा सब भूतों के हृदय में छिपा हुआ होने के कारण स्थूल बुद्धि प्राणियों को प्रकाशित नहीं होता। और कैसा है वह आत्मा? **असंगम्**--निरुपाधिक, सर्व से संगरहित, साक्षी होने से **अक्रियम्**--सर्व क्रियाओं, चेष्टाओं से रहित, निर्व्यापार, निष्क्रिय स्वमहिमा में एकरस स्थित, ऐसे आत्मा को **विविच्य**--पृथक् करके, किससे? **दृश्यवर्गात्**--दृश्य विस्तार से, अनात्मा से, श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि साधनों से युक्त सूक्ष्म बुद्धि वल से आत्मा अनात्मा का विवेक करके, आत्मा को असंग अक्रिय जाने।

तत्र सर्वम् प्रविलाप्य--इसके उपरान्त आत्मा अनात्मा का भेद भी त्याग दे। अनात्मा कुछ नहीं है, सब आत्मा ही है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, न हुआ है, न होगा, न हो सकता है, न होना सम्भव है। आत्मा ही माया के योग से नाम रूप धारण करके जगत प्रपंच भासता है। 'सर्वशक्तिचैतन्यात्मारूप भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति द्वारा अनन्त संघातों को धारण करके स्वयं प्रगट हुए हैं। जितने अनन्त संघात हैं, ये सब माया शक्ति द्वारा विरचित हैं। ये अनन्त संघात सर्वशक्तिचैतन्यात्मा के ही संघात हैं।' (गुरु वचन)। इस प्रकार निश्चय करे। 'यथैव मृन्मयः कुम्भस्तद्वद्देहो ऽपि चिन्मयः। आत्मानात्मविभागो ऽयं मुधैव क्रियतेऽबुधैः।।' अपरोक्षानुभूति।६६।, जिस प्रकार घट मिट्टी रूप होता है, उसी प्रकार देह भी चेतनरूप है। मोहित हुये, अज्ञानी पुरुषों द्वारा ही आत्मा अनात्मा का विभाग किया जाता है। श्रीभगवत्पाद ने इस श्लोक में साधना का रहस्य वताया है। पहले आत्मा अनात्मा का विवेक करो, और उसके उपरान्त अनात्मा को भी आत्मा का ही रूप दो, क्योंकि वेदान्त शास्त्र ने केवल आत्मा की ही एकसत्ता को मान्यता दी है।

तत् आत्मना यः तिष्ठति—उस आत्मरूप में, अपने को अनुभव से असंग अक्रिय आत्मा जानकर जो स्व स्वरूप में स्थिर रहता है, **सः मुक्तः**—वह अनात्म-बन्ध से मुक्त है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि आत्मा 'अजः' है ।।१५५।।

अब पंचकोशों का वर्णन आरम्भ करते हैं। 'तत् त्वम् असि', इस महावाक्य में तीन पद हैं। पंचकोशविवेक अथवा 'त्वम्' पद के अर्थ का शोधन एक ही बात है। अगले ७० श्लोकों में पंचकोशविवेक किया है। पहले अन्नमय कोश को, जो कि प्रत्यक्ष स्थूल और अन्तिम कोश है, लेते हैं, स्थूल सरलता से अवगत होता है, इस बुद्धि से श्रीभगवत्पाद ११ श्लोकों में अन्नभय कोश का विवेचन करते हैं।

देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोश-
श्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ।
त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशि-
र्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः ।।१५६।।

अर्थ—अन्न से उत्पन्न हुआ यह स्थूल देह ही अन्नमय कोश कहलाता है, यह अन्न से ही जीता है और उसके विना नष्ट हो जाता है। यह त्वचा, चर्म, माँस, रुधिर, अस्थि और मल आदि का समूह स्वयं प्रकाश नित्यशुद्ध आत्मा नहीं हो सकता।

व्याख्या—**अयम् देहः**—यह स्थूल शरीर **अन्नभवनः**—अन्न से उत्पन्न होनेवाला **अन्नमयः तु कोशः**—अन्नमय कोश कहलाता है, माता पिता के भुक्तपीत अन्नजल से वने रजवीर्य से शरीर की उत्पत्ति होती है **च अन्नेन जीवति**—और उत्पन्न होकर अन्न के वल से प्राण धारण करता है **तत् विहीनः विनश्यति**—अन्न के न मिलने पर यह स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है। उत्पत्ति-नाशशील होने से यह शरीर अनित्य है। **त्वक्-चर्म-मांस-रुधिर-अस्थि-पुरीषराशिः**—त्वचा, चर्म, माँस, रक्त, हड्डी, और मल का ढेर **अयम्**—यह स्थूल शरीर **स्वयम्**—स्वयंप्रकाश **नित्यशुद्धः**—अविनाशी, शुद्ध—केवल एकतत्त्व, निर्गुण, पवित्र आत्मा **न भवितुम् अर्हति**—नहीं हो सकता है। स्थूल देह जननमरण धर्मवाला होने से विकारवान अतः एव अनित्य है, आत्मा आदि-अन्तहीन होने से निर्विकारी अतः एव नित्य है। शरीर मलसं-श्लिष्ट होने से दुर्गन्धयुक्त अपवित्र है, आत्मा असंग और पवित्र है। इसलिये अन्नमय कोश आत्मा नहीं है। आत्मा इससे विलक्षण है ।।१५६।।

स्थूल देह की अनित्यता दिखाते हैं।

पूर्वं जनेरपि मृतेरथ नायमस्ति
जातक्षणक्षणगुणोऽनियतस्वभावः ।
नैको जडश्च घटवत्परिदृश्यमानः
स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता ॥१५७॥

अर्थ—जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् भी यह शरीर नहीं रहता, प्रतिक्षण इसके धर्मों में परिवर्तन होता रहता है और अस्थिरस्वभाव है; तथा अनेक तत्त्वों का संघात, जड और घटके समान दृश्य है, फिर यह शरीर षड्-भाव-विकारों का जाननेवाला अपना आत्मा कैसे हो सकता है ?'

व्याख्या—जनेः पूर्वम्—जन्म से पूर्व **मृतेः अथ अपि**—मृत्यु के उपरान्त भी **न अयम् अस्ति**—यह स्थूल देह नहीं होता। जन्म से पहले मृत्यु के पश्चात् देह को किसी ने नहीं देखा है। जो आदि अन्त में नहीं होता, वह मध्य में भी नहीं होता। आत्मा पहले भी था, अब भी है, आगे भी रहेगा, 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' इति कठोपनिषद १।२।१८।, यह आत्मा अजन्मा, अविनाशी, शाश्वत तथा पुरातन है, शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता। इसलिये शरीर की अनित्यता है।

जातक्षणक्षणगुणः—क्षण-क्षण में अर्थात् प्रतिक्षण गुण की देह में उत्पत्ति होती है अर्थात् नये-नये धर्म आते हैं, जाते हैं। 'स्थूलस्य संभवजरामरणादिधर्माः।' इसके विपरीत आत्मा नित्य निरन्तर एकरस है **अनियतस्वभावः**—शरीर का अपना स्वभाव निश्चित नहीं है। कभी स्थूल कभी कृश होता रहता है, शीत से काँपता है, ताप से स्वेद छोड़ता है। एकरूपता नहीं है, बाल्य यौवन वृद्धावस्था में भिन्न-भिन्न आकार वाला होता है। पूर्व में कहा है, 'स्थौल्यादयो बहुविधाः शिशुताद्य-वस्थाः।,' आत्मा निर्विकारी होने से सर्वदा एकस्वरूप है। **न एकः**—एक तत्त्व नहीं है, 'मज्जास्थिमेदःपलरक्तचर्मादि' सप्त धातुओं से बना है, आत्मा एक तत्त्व है। **जडः च**—और शरीर जड़ है, पर-प्रकाश्य है, आत्मा स्वयंज्योति है, **घटवत्परिदृश्य-मानः**—घट की तरह नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से स्पष्ट ग्रहण किया जाता है, परन्तु आत्मा मन वाणी से अतीत है, 'अगोचरम्'। इसलिये यह स्थूल शरीर **स्वात्मा**—अपना आत्मा **भावविकारवेत्ता**—शरीर में होने वाले षड्-भाव विकारों का जाननेवाला **कथम् भवति**—यह शरीर आत्मा कैसे हो सकता है। घट को घट नहीं देख सकता, घट का द्रष्टा घट को देख सकता है ॥१५७॥

शरीर नियम्य और आत्मा नियामक है, यह दिखाते हैं।

पाणिपादादिमान्देहो नात्मा व्यंगेऽपि जीवनात् ।
तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामकः ॥१५८॥

अर्थ—यह हाथ-पैर आदि अंगोंवाला शरीर आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि उसके अंग-भंग होने पर भी अपने प्राण का नाश न होने के कारण शरीर जीवित रहता है। शरीर अन्य से शासित है, वह शासक आत्मा नहीं हो सकता।

व्याख्या—**पाणिपादादिमान् देहः न आत्मा**—हाथ पैर आदि वाला देह, आत्मा नहीं है। आदि पद से शरीर के अन्य अंग समझने चाहियें। 'पादोरुवक्षो-भुजपृष्ठमस्तकैः' अंगों और उपांगों से युक्त देह आत्मा नहीं है। इसका कारण बताते हैं **व्यंगे अपि जीवनात्**—अंगों के भंग होने पर भी जीवित रहने के कारण। लंगड़े लूले जीवित देखे जाते हैं। **तत् शक्तेः अनाशात् च**—शरीर की शक्ति के नाश न होने के कारण, प्राण धारण होने के कारण। आत्मा निरवयव निष्कल है, शरीर अंग युक्त है, अतः एव शरीर आत्मा नहीं हो सकता। एक दूसरा कारण भी बताते हैं। **न नियम्यः नियामकः**—शरीर नियम्य है, जड़ होने से पराधीन है, दूसरे से नियन्त्रित किया जाता है। मन बुद्धि के आदेशानुसार शरीर वर्तता है, परन्तु आत्मा नियामक है, सर्व का शासक है, 'ईशत ईशनीभिः' इति श्वेताश्वतररोपनिषद ३।१। आत्मा अपनी विविध शक्तियों से शासन करता है। उसके भय से सूर्य तपता है, अग्नि जलता है, वायु चलता है। अतः जड़ शरीर चैतन्यात्मा नहीं हो सकता ॥१५८॥

अब दो श्लोकों में पुनः आत्मा की शरीर से विलक्षणता दिखाते हैं।

देहतद्धर्म-तत्कर्म-तदवस्थादि-साक्षिणः ।
स्वत एव स्वतः सिद्धं तद्वैलक्षण्यमात्मनः ॥१५९॥

अर्थ—देह, उसके धर्म, उसके कर्म तथा उसकी अवस्था आदि के साक्षी आत्मा की उससे भिन्नता स्वयं ही स्वतःसिद्ध है।

व्याख्या—**देह-तत्धर्म-तत्कर्म-तत्अवस्थादि-साक्षिणः**—स्थूलदेह—सप्तधातु-विनिर्मित, अंगोपांगो सहित, तत् धर्म—जन्ममरणादि धर्म, तत् कर्म—प्राणबल से बुद्धि निर्दिष्ट देह की चेष्टा, तत् अवस्था—शिशुता यौवनादि अवस्था, आदि पद से शारीरिक नीरोगता, कष्ट आदि समझने चाहियें। इन सबके साक्षी **आत्मनः**—आत्मा की, नित्य, शुद्ध, भावविकारवेत्ता, नियामक आत्मा की **तत् वैलक्षण्यम्**—

उस शरीर से विलक्षणता, भिन्नता **स्वतः एव**—अपने आप ही **स्वतः सिद्धम्**—स्वतः सिद्ध है, अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। घट का द्रष्टा घट से पृथक् होता है, घट नहीं होता। ऐसे ही शरीर का द्रष्टा, साक्षी, शरीर से पृथक् होता है, शरीर नहीं होता, क्योंकि शरीर, जड़ होने से, शरीर का साक्षी नहीं हो सकता। साक्षी सदा ही साक्ष्य से विलक्षण होता है। यह तथ्य इतना युक्तिसंगत है कि स्वतः सिद्ध है ॥१५६॥

अब शरीर से आत्मा की अन्य विलक्षणता दिखाते हैं।

शल्यराशिर्मांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः।
कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः ॥१६०॥

अर्थ—हड्डियों का समूह, मांस से लिपटा हुआ और मल से भरा हुआ यह अति कुत्सित देह, अपने से भिन्न अपने को जाननेवाला आत्मा स्वयं कैसे हो सकता है?

व्याख्या—शल्यराशिः—हड्डियों की ढेरी **मांसलिप्तः**—मांस से लिपटा हुआ, हड्डियों के चारों ओर माँस होता है **मलपूर्णः**—मलमूत्र से भरा हुआ इसलिये **अति-कश्मलः**—आँख, नाक, मुख, लिंग ,गुदादि से अजस्र मल बहाने वाला दुर्गन्धयुक्त वीभत्स **अयम्**—यह स्थूल देह **स्वयम्**—अपने आप, विना अज्ञान योग के **एतत् विलक्षणः**—इस देह से विलक्षण आत्मा **वेत्ता**—द्रष्टा, साक्षी **कथम् भवेत्**—कैसे होगा, अर्थात् देह आत्मा नहीं हो सकता। 'आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते। तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥' अपरोक्षानुभूतिः, आत्मा सर्व प्रकाशक और निर्मल है, देह तमोमय है, उन दोनों की एकता देखने से बढ़कर और क्या अज्ञान होगा? 'आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः। तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्' ॥ अपरोक्षानुभूतिः, आत्मा ज्ञानस्वरूप और पवित्र है, देह मांसमय और अपवित्र है, शेष पूर्ववत् ॥१६०॥

अब मूढबुद्धि, विद्वान और महात्मा की अहंबुद्धि का विषय वताते हैं। दो श्लोकों में।

त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशावहंमतिं मूढजनः करोति।
विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो निजस्वरूपं परमार्थभूतम् ॥१६१॥

अर्थ—त्वचा, मांस, मेद, अस्थि और मल की राशिरूप इस देह में मूढजन अहंबुद्धि करता है। विचारशील अपने पारमार्थिक स्वरूप को इससे पृथक् जानता है।

व्याख्या—मूढबुद्धि कौन है ? जो शरीर में आत्मबुद्धि रक्खे। **त्वक्-मांस-मेदः-अस्थि-पुरीषराशौ**—वहिरंग शरीर आवरक त्वक्, माँस, चर्बी, हड्डी, मल-राशिरूप स्थूल देह में **अहम्-मतिम्**—यह शरीर आत्मा है, मेरा शरीर ही आत्मा है, इस प्रकार शरीर में आत्मबुद्धि **मूढजनः करोति**—मूढजन, अत्यन्त स्थूल बुद्धि पुरुष देह में आत्माभिमान करता है। पिछले श्लोकों में आत्मा की शरीर से विलक्षणता दर्शायी है, इतनी स्पष्ट भिन्नता होने पर भी जो पुरुष देह को ही आत्मा समझे, वह माया के तमोगुण की आवरण शक्ति से आच्छादित मूढजन है, मन्द बुद्धि और गंवार है, पशु की भांति दया का पात्र है।

अब विचारशील पुरुष की मनोभूमि बताते हैं। **विचारशीलः**—शास्त्रजन्य ज्ञानयुक्त परन्तु अनुभवरहित विद्वान् **परमार्थभूतम्**—परमार्थ सत्तावाले अर्थात् व्यवहार तथा प्रातिभासिक सत्ताओं से विलक्षण, त्रिकाल अबाधित **निजस्वरूपम्**—अपने स्वरूप को **विलक्षणम्**—देह से विलक्षण **वेत्ति**—जानता है। विचारशील पुरुष शरीर और आत्मा का विवेचन तो अर्धनिश्चय से जानता है, परन्तु अपने को अनुभव से आत्मा नहीं जानता ।।१६१।।

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धिः, देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः ।
विवेकविज्ञानवतो महात्मनो, ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि ।।१६२।।

अर्थ—जड पुरुष की 'मैं देह हूँ'—ऐसी देह में ही अहंबुद्धि होती है, विद्वान् (शास्त्रज्ञ) की देह और जीव में और विवेक-विज्ञानयुक्त महात्मा की 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी सत्य आत्मा में ही अहंबुद्धि होती है।

व्याख्या—इस श्लोक के पूर्वार्ध में पूर्व श्लोक के भाव को संक्षेप में कहा है, और उत्तरार्ध में महात्मा का निश्चय कहते हैं।

जडस्य—मूढ की **अहम् देहः इति एव बुद्धिः**—मैं देह हूँ, मैं आत्मा नहीं हूँ, देह के पालन पोषण में ही मेरा कल्याण है। देह ही मेरी परमगति है, इस प्रकार मूढ का निश्चय होता है और **विदुषः तु**—विद्वान् की विचारशील की **देहे च जीवे अहम् धीः**—लौकिक व्यवहार में स्थूल देह में आत्मबुद्धि और विचारकाल में, परलोक को दृष्टि में रखते हुए, जीवभाव में आत्मबुद्धि होती है, अर्थात् विचारशील शरीर को भी 'पुष्यति-उक्षति-अवति विषयैः तन्तुभिः कोशकृद्वत्' और साथ-साथ वैदिक कर्म, स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये यज्ञादिकर्म में रत होने से जीवभाव में भी आत्म-

बुद्धि रखता है। समुद्रतीर पर खड़े पुरुष की न्याईं वह जल और स्थल दोनों को देखता है। शास्त्रज्ञाता, अनुभव के अभाव में, देह और आत्मा के, जीव और शरीर के भेद को, निश्चयपूर्वक नहीं जानता। लेकिन जड, मूढबुद्धि से विचारशील की श्रेणी ऊँची है।

विवेक-विज्ञानवतः महात्मनः–विवेक–आत्मा अनात्मा का विवेचन, और उस विवेचन के ज्ञान से अनात्मा का आत्मा में प्रविलापन करके जो उत्पन्न हुआ आत्मसाक्षात्कार, वही है विज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभव, उस विवेक–विज्ञान से युक्त महात्मा का, महात्मा–महान् है आत्मा जिसका, अर्थात् देश-काल-वस्तु परिच्छेद रहित महान्, निरुपाधि, पंचकोशातीत, अनल्प, आत्मा, भूमा, ऐसे विवेकविज्ञान युक्त महात्मा की **ब्रह्म अहम् इति एव सदात्मनि मतिः**–मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार उसकी सर्वदा अपने सत् स्वरूप आत्मा में ही आत्मबुद्धि होती है, देह में अथवा जीव-भाव में कदापि उसकी आत्मधी नहीं होती। महात्मा का निश्चय 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा होता है ।।१६२।।

अब मूढ को उपदेश करते हैं।

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे, त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशौ।
सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे, कुरुष्व शान्तिं परमां भजस्व ।।१६३।।

अर्थ––अरे स्थूलबुद्धि! इस त्वचा, मांस, मेद, अस्थि और मल के समूह में आत्मबुद्धि छोड़, सर्वात्मा निर्विकल्प ब्रह्म में ही आत्मभाव कर और परम शान्ति का भोग कर।

व्याख्या––**मूढबुद्धे**–हे स्थूलबुद्धि, विवेकहीन! तेरे को दो उपदेश देता हूँ, सुन। **त्वक्मांसमेदःअस्थिपुरीषराशौ अत्र आत्मबुद्धिम् त्यज**–पहला उपदेश यह है कि तू इस स्थूल देह में जो कि त्वचा–मांस-चर्बी-हड्डी-मल का राशि-मात्र है, ऐसे अपवित्र जड़, परप्रकाश्य देह में आत्मबुद्धि त्याग, 'यह मेरा शरीर ही मेरा आत्मा है, मैं शरीर हूँ', इस निश्चय को त्याग दे। यह मेरा त्याग–उपदेश है, अब ग्रहण–उपदेश भी सुन। **सर्वात्मनि निर्विकल्पे ब्रह्मणि कुरुष्व**–जो सबका आत्मा है, जो सब आत्मा ही है, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' छान्दोग्योपनिषद ३।१४।१।, निश्चय ही यह सब प्रपंच ब्रह्म ही है। जो निर्विकल्प–सर्व का अधिष्ठान होने से अद्वितीय, विविध कल्पनाओं से शून्य है, ऐसे ब्रह्म–परमात्मा में आत्मबुद्धि कर, अर्थात् 'अहम् ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा निश्चय कर। अब मेरे उपदेशानुसार आचरण करने

का फल सुन, **परमां शान्तिम् भजस्व**—परम—मुक्तिसुखद, शान्ति—निरतिशय आनन्द को **भजस्व**—प्राप्त हो, अनुभव कर ।।१६३।।

अब विद्वान् के लिये उपदेश करते हैं ।

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां विद्वानहंतां न जहाति यावत् ।
तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्ताप्यस्त्वेष वेदान्तनयान्तदर्शी ॥१६४॥

अर्थ—जितने काल तक विद्वान् असत् देह और इन्द्रियादि में भ्रम से उत्पन्न हुई अहंता को नहीं त्यागता, तबतक वह वेदान्तशास्त्र पारदर्शी क्यों न हो, उसके मोक्ष की कोई बात ही नहीं है ।

व्याख्या—अब विद्वान् के विषय में अकाट्य सिद्धान्त बताते हैं। **यावत्**—जितने काल तक **विद्वान्**—अनुभवहीन शास्त्रवेत्ता विचारशील, कभी देह में कभी जीवत्व में अभिमान करनेवाला, 'देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः' **असति**—मिथ्या **देहेन्द्रियादौ**—देह, इन्द्रिय और आदि शब्द से प्राण लेना चाहिये, इनमें, 'माया मायाकार्यम् सर्वं महदादि देहपर्यन्तम्', इनमें **भ्रमोदिताम्**—अज्ञान से उत्पन्न हुई **अहंताम् न जहाति**—देहात्मबुद्धि, तथा जीवात्मबुद्धि को नहीं त्यागता है, **तावत्**—उतने काल **तस्य**—उस विद्वान की **विमुक्तिवार्ता न अस्ति**—मोक्ष की कथा भी नहीं हो सकती, मोक्ष तो दूर रहा । **अपि एषः**—चाहे यह विद्वान् **वेदान्तनयान्तदर्शी अस्तु**—वेदान्त शास्त्र के अन्त, पार का दर्शन करने वाला क्यों न हो, चाहे वेदान्त का पारंगत, सूक्ष्म अर्थद्रष्टा पण्डित ही क्यों न हो । ब्रह्मविद्या के शास्त्र पढ़ने मात्र से मोक्ष नहीं होता । जैसे पूर्व में कहा है, 'अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्रधीतिस्तु निष्फला', इसलिये प्रयत्न करके यह निश्चय करना चाहिये : 'ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि' ।।१६४।।

छायाशरीरे प्रतिबिम्बगात्रे यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पितांगे ।
यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचिज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु ॥१६५॥

अर्थ—क्योंकि छाया, प्रतिबिम्ब, स्वप्न और मन में कल्पित किये हुए शरीरों में जिस प्रकार तेरी कभी आत्मबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जीवित शरीर में भी कभी न होनी चाहिये ।

व्याख्या—**यत् छायाशरीरे**—क्योंकि सूर्यचन्द्रादि के प्रकाश से शरीर की छाया में, **प्रतिबिम्बगात्रे**—दर्पण जलादि में प्रतिबिम्बित, प्रतीयमान शरीर में

स्वप्नदेहे–स्वप्नावस्था में प्रतीत होने वाले शरीर में हृदि **कल्पितांगे**–जाग्रत् कालीन अवस्था में कल्पना की तीव्रता से मन से विरचित शरीर में, मनोराज्य से भासने वाले शरीर में **यथा**–जिस प्रकार **तव काचित्**–तेरी किंचित् मात्र भी **आत्मबुद्धिः नास्ति**–आत्मबुद्धि नहीं होती, **तथैव**–उसी प्रकार **जीवत्–शरीरे च मा अस्तु**–प्राणधारी शरीर में भी आत्मबुद्धि न होवे। अपनी छाया देख कर तू कभी नहीं कहता, 'मैं छाया हूँ' अथवा दर्पण में अपना प्रतिविम्ब देखकर कभी नहीं कहता, 'मैं प्रतिविम्ब हूँ'। इसी युक्ति से इस स्थूल शरीर को देखकर भी नहीं कहना चाहिये कि 'मैं स्थूल शरीर हूँ'। द्रष्टा दृश्य से भिन्न होता है ।।१६५।।

देहात्मधीः क्यों त्यागनी चाहिये ?

देहात्मधीरेव नृणामसद्धियां जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम् ।
यतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्नात्त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा ।।१६६।।

अर्थ—क्योंकि देहात्म-बुद्धि ही मिथ्यानिश्चय वाले मनुष्यों के जन्मादि दुःखों की उत्पत्ति की कारण है, अतः तू आत्मधी को प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे, उस बुद्धि के छूट जाने पर फिर पुनर्जन्म की कोई सम्भावना नहीं रहती।

व्याख्या—**यतः देहात्मधीः एव**–क्योंकि देह ही आत्मा है, ऐसी बुद्धि जैसे पूर्व में कहा है 'वपुरिदमसत्सत्यमित्यात्मबुद्धया' देह में आत्मा का अभिमान होना, ऐसा निश्चय **असत् धियाम् नृणाम्**–मिथ्या निश्चयवाले पुरुषों के **जन्मादिदुःख-प्रभवस्य बीजम्**–जन्म, आदि पद से जरा, व्याधि मरणदुःख ग्रहण करने चाहियें, इस दुःख समूह के प्रभव, उत्पत्ति का बीज, कारण है। जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि ये शरीर के धर्म हैं, जो अपने को शरीर जानेगा वही पैदा होगा, मरेगा, रोग ग्रस्त होगा। जो अपने को आत्मा जानेगा वह षड्भाव विकारों से मुक्त रहेगा, क्योंकि आत्मा अजन्मा, असंग, अक्रिय, साक्षी है।

ततः त्वम् ताम्–इसलिये तू देहात्मबुद्धि को **प्रयत्नात् जहि**–वहुत सावधानी से यत्न करके, श्रवण-मनन-निदिध्यासन का अभ्यास करके, **अथवा निर्गुण** वा सगुण उपासना से, अर्थात् जिस प्रकार भी वने, उसी प्रकार देह में आत्मा होने की भ्रान्ति को त्याग दे। अव इसका फल कहते हैं। **त्यक्ते तु चित्ते**–ऐसे चित्त, निश्चय, बुद्धि, देहात्मबुद्धि के त्याग देने पर **पुनः**–त्यागने के उपरान्त अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस निश्चय के होने पर **भव-आशा न**–संसार की आशा नहीं रहती। संसार क्या है ? जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख ही का नाम संसार है।

'ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः', तत्त्व के जान लेने पर, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा साक्षात्कार होने पर संसार नहीं रहता। भव का अर्थ जन्म भी होता है, आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है और ब्रह्म का जन्म नहीं होता, जैसा कि श्रीभगवत्पाद आगे कहेंगे, 'अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद् ब्रह्मणः कुत उद्भवः' ।।१६६।।

यहाँ तक अन्नमय कोश का निरूपण हुआ है, शास्त्र प्रमाण से तथा **युक्ति से** अन्नमय कोश का निराकरण किया गया है। आत्मा, स्थूल देह से, **विलक्षण है,** स्थूल देह आत्मा नहीं है। स्थूल देह और अन्नमय कोश एक ही वात है। **अब** दो श्लोकों में प्राणमय नाम दूसरे कोश का निरूपण किया जाता है।

कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं, प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः।
येनात्मवानन्नमयोऽनुपूर्णः, प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु ।।१६७।।

अर्थ—पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोश कहलाता है, जिससे पूरित होने पर यह अन्नमय कोश वलवाला होता है। प्राणमय कोश स्वयं मनोमयादि अन्य कोशों से पूर्ण हुआ समस्त कर्मों में प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के प्रथम पाँच अनुवाकों में पंचकोशों का विषय आया है। श्रीभगवत्पाद ने श्रुत्यनुसार ही यहाँ पंचकोशों का विशद वर्णन किया है। अन्नमय कोश के भीतर एक और आत्मा है, जिसको प्राणमय कोश कहते हैं। **अयम् प्राणः**—सूक्ष्म पंचभूतों के मिले हुए रज अंश से इस प्राण की उत्पत्ति है, और वृत्तिभेद से मुख्य प्राण ही पाँच प्रकार का प्राण वन जाता है, **पंचभिः कर्मेन्द्रियैः**—पाँच कर्मेन्द्रियों से, 'वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थः कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु' इनसे **अंचितः**—विशिष्ट, युक्त **प्राणमयः कोशः भवेत्**—प्राणमय कोश होता है। अशना—पिपासादि इसके धर्म हैं। उच्छ्वास निःश्वासविजृम्भणादि इसकी विविध क्रियायें हैं। आत्मा का मिथ्या प्राणमय कोश के साथ तादात्म्य सा होकर आत्मा अपने को प्राणमय कोश समझ बैठता है। 'मैं भूखा हूँ', 'मैं प्यासा हूँ', इस प्रकार प्राण के धर्म अपने में मोहवश आरोपित करता है। क्षुधा पिपासा प्राण के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा नित्यतृप्त आप्तकाम है। वह प्राण का भी प्राण है, आत्मा के प्रकाश से चेतन होकर प्राण प्राणवान है। प्राणमयकोश आत्मा का आवर्तक है।

येन–जिस प्राणमय कोश से **आत्मवान् अन्नमयः**–अन्नमय कोश आत्मवान् होता है, अर्थात् वलवाला होता है। प्राणमय कोश से अन्नमय कोश भरा हुआ है, सारे स्थूल शरीर में प्राण भरे हैं, जिसके कारण यह शरीर चेतनावान है। **अनुपूर्णः**– और स्वयं अन्य कोशों से पूर्णता को प्राप्त होता है, अर्थात् अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय कोश, प्राणमय कोश के भीतर मनोमय कोश, उसके भीतर विज्ञानमय कोश, उसके भीतर आनन्दमय कोश और आनन्दमय कोश से ढका हुआ प्रत्यगात्मा। इस प्रकार ये पंचकोश आत्मा के आवर्तक हैं, ये सव जड़ मिथ्या उपाधिमात्र हैं। आत्मा स्वयं ज्योतिः है। उसके सान्निध्य से ये समस्त कोश चेतना प्राप्त करके चेतन से भासते हैं जैसे अग्नि में तपा हुआ लोहे का पिण्ड अग्नि सा प्रतीत होता है।

असौ–यह प्राणमय कोश चैतन्यात्मा के अधिष्ठान से **सकल-क्रियासु**–सव क्रियाओं में **प्रवर्तते**–संलग्न होता है। खाना, पीना, चलना, उछलना, संकुचन आदि अनेक कार्य करता है, अचेतन होकर भी चेतन की भांति कार्य करता है। 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।' कठोपनिषद २।२।५, कोई भी मनुष्य न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से ही। वे तो, जिसमें ये दोनों आश्रित है, ऐसे किसी अन्य से ही (आत्मा से) जीवित रहता हैं ।।१६७।।

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो
गन्तागन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः।
यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं
स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः ॥१६८॥

अर्थ––वायु विकार होने से प्राणमय कोश भी आत्मा नहीं है, वायु के समान ही वाहर-भीतर जाने-आनेवाला है और नित्य परतन्त्र है। इस कारण से यह कभी भी अपना इष्ट-अनिष्ट, अपना-पराया भी कुछ नहीं जानता।

व्याख्या––वायुविकारः प्राणमयः अपि न एव आत्मा–वायु विकार होने से प्राणमय कोश भी अन्नमय कोश के सदृश आत्मा नहीं है। अपंचीकृत भूतों के रजोगुण का कार्य होने से प्राण आत्मा नहीं है, क्यों? आत्मा की उत्पत्ति नहीं है। असंग आत्मा का न कोई कारण है और न कार्य। एषः–यह प्राणमय कोश, प्राण कहने से कर्मेन्द्रियों का भी प्राण में अन्तर्भाव समझना चाहिये, **वायुवत्**–वाह्य वायु

की भांति **अन्तर्गन्ता**—उच्छ्वास में, श्वास लेने की क्रिया में प्राण भीतर आता है, **बहिर् आगन्ता**—निःश्वास में, श्वास छोड़ने की क्रिया में वाहर जाता है अथवा जन्म लेने पर आता है, मरने पर परलोक गमन करता है। आत्मा निष्क्रिय है, न आता है न जाता है, सर्वव्यापी होने से कोई देश, काल, वस्तु, उससे शून्य नहीं है, जहाँ उसका आना जाना वने।

अव प्राणमय कोश की अचेतनत्व अर्थात् परतन्त्रता वताते हैं **यस्मात्**—सक्रियता तथा परिच्छिन्नता के कारण प्राणमय कोश चैतन्य स्वयं आत्मा नहीं है, इसलिये **किंचित् क्वापि**—रंचमात्र भी किसी देश, काल अथवा वस्तु में **इष्टम्**—प्रिय, सुख **अनिष्टम्**—अप्रिय, दुःख **स्वं वा**—अथवा आत्मा को, अपने आपे को **अन्यम् वा**—दूसरे को, दृश्यवर्ग को **किंचन न वेत्ति**—विलकुल नहीं जानता, परप्रकाश्य होने से, अतः **नित्यं परतन्त्रः**—सदा परतन्त्र अचेतन है। क्रियावान्, परिच्छिन्न नित्य-परतन्त्र प्राणमय कोश अपने से विलक्षण आत्मा नहीं है ।।१६८।।

इस प्रकार अन्नमय कोश, और प्राणमय कोश 'मुंजादिषीकामिव दृश्यवर्गात्' का निराकरण करके अव अगले सात श्लोकों में मनोमय नाम तीसरे कोश का प्रतिपादन करते हैं।

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्या-
त्कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयां-
स्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भते यः ।।१६९।।

अर्थ—ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही मनोमय कोश कहलाता है। मायिक पदार्थों में 'मैं' 'मेरा' इस प्रकार विकल्पों का कारण है। नामादि भेद रचना शक्ति से युक्त हुआ बड़ा बलवान् है तथा पूर्व-कोशों को व्याप्त करके विस्तार पाता है।

व्याख्या—ज्ञानेन्द्रियाणि च मनः च—पंच ज्ञानेन्द्रिय 'वुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि घ्राणं च जिह्वा विषयाववोधनात्,' और मन, अन्तःकरण की संकल्प विकल्प करनेवाली वृत्ति, ज्ञानेन्द्रियाँ और मन **मनोमयः कोशः स्यात्**—मनोमय कोश होता है। मनोमय कोश प्राणमय कोश की आत्मा है, अर्थात् उसके भीतर है, जैसे कि विज्ञानमय और आनन्दमय कोश, मनोमय कोश के भीतर हैं। सर्वेन्द्रियाँ मन के आधीन होने से मनोमय कोश कहने में ज्ञानेन्द्रियों का मन में अन्तर्भाव समझना चाहिये। सव कोशों का आकार समान होता है।

अब इसका कार्य बताते हैं, । 'अहम् मम' इति **वस्तुविकल्पहेतुः**–वस्तु–देह-इन्द्रिय-प्राणादि में अहन्ता, गृहदारसुतादि में ममता की कल्पना का हेतु है, कारण है, मन ही देहगेह में अहम्-मम की कल्पना उत्पन्न करता है **यः संज्ञादिभेदकलनाकलितः**–जो, संज्ञा, नाम, जैसे राधा, कृष्ण, आदि पद से रूप लेना चाहिये, जैसे चाम्पेय रूप, कृष्ण वर्ण, नाम रूप भेद की कलना–रचना शक्ति से कलित–विशिष्ट, युक्त मनोमय कोश होता है, 'यह मेरी माता है, यह मेरी भार्या है, यह मेरी पुत्री है' आदि नामरूप भेद करने की शक्ति से युक्त । नामरूप ही संसार है, इसलिये समस्त नामरूप मन का विषय होने से समस्त दृश्य प्रपंच मनोवृत्ति का विषय है, अत एव **बलीयान्**–बन्ध मोक्ष का भी कारण होने से मनोमयकोश, प्राणमय कोश से जो कि वायु का विकार है, और अन्नमय कोश से जो कि अन्नजल का विकार है, बलवान् है । शरीर और प्राण बन्ध मोक्ष के कारण नहीं हैं, ज्ञानशक्ति के अभाव से ।

तत्पूर्वकोशम्–अपने से पूर्व कोश, प्राणमय कोश को **अभिपूर्य**–पूर्ण करता हुआ, व्याप्त करता हुआ **विजृम्भते**–स्वकार्य करता है, अपनी अभिव्यक्ति करता है । विस्तार पाता है । मन तो जड़ है, यह कैसे कार्य करता है ? चैतन्यात्मा के बिम्ब को ग्रहण करके चेतन सा होता हुआ मन स्वकार्य करता है । मोहवश आत्मा, मनोमय कोश के साथ तादात्म्य को प्राप्त सा होकर मन के धर्मों को अपने में आरोपण सा करता है, अतः एव ऐसी कल्पना करता है, 'मैं मनोहरलाल शर्मा हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मेरा ब्राह्मण वर्ण है' आदि, ये सब मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं, निरुपाधिक होने से । मनोमयकोश आत्मा नहीं है ।।१६९।।

यह संसार दहकती हुई भट्ठी है, इसका निर्वाह मन से होता है, अब यह बताते हैं

पञ्चेन्द्रियैः पञ्चभिरेव होतृभिः, प्रचीयमानो विषयाज्यधारया ।
जाज्वल्यमानो बहुवासनेन्धनैर्मनोमयाग्निर्वहति प्रपञ्चम् ।।१७०।।

अर्थ—पञ्चेन्द्रियरूप पाँच होताओं द्वारा विषयरूपी घृत की आहुतियों से बढ़ाया हुआ तथा नाना प्रकार की वासनारूपी ईंधन से प्रज्वलित हुआ यह मनोमय कोश रूप अग्नि प्रपंच का वहन करता है ।

व्याख्या—**पंचेन्द्रियैः एव**–पाँच ज्ञानेन्द्रियां ही **पंचभिः होतृभिः**–पाँच यज्ञ-कर्ता हैं, उनसे **विषय-आज्यधारया**–शब्दादि पंचविषय ही इस मनोमयाग्नि में घृत की धारा है, उससे **प्रचीयमानः**–प्रचण्ड हुई **बहुवासना-इन्धनैः**–नाना प्रकार की वासना, इहलोक और परलोक के भोगों की वासनायें ही मनोमयाग्नि में समिधा

हैं, उनसे **जाज्वल्यमानः**–प्रज्वलित की हुई **मनोमयाग्निः**–मनोमय कोश नाम वाली यज्ञाग्नि **प्रपंचम्**–जगत् को **वहति**–वहन करती है। विषय चिन्तन से वासना, वासना से क्रिया, उससे फल भोग, भोग से फिर कर्म, कर्म से फिर भोग इस प्रकार यह संसार निरन्तर वनता रहता है। मनोमयाग्निरूप यज्ञ का फल संसार की प्रतिष्ठा है।

कई पुस्तकों में 'वहति प्रपंचम्' के स्थान में 'दहति प्रपंचम्' भी पाठान्तर मिलता है। हमें यह पाठ अभीष्ट नहीं, क्योंकि विषय-वासना सेवन से प्रपंच दहन नहीं होता, वहन होता है ॥१७०॥

मन ही अविद्या और भववन्ध हेतु है।

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भतेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते॥१७१॥

अर्थ––मन के अतिरिक्त अविद्या और कुछ नहीं है, मन ही अविद्या है अतः भव-वन्धन का कारण है। उसके नष्ट होने पर सव नष्ट हो जाता है और उसके उदय होने पर सव कुछ विस्तार पाता है।

व्याख्या––अन्वय व्यतिरेक से मन का वन्धकत्व समझाते हैं। **मनसः अतिरिक्ता**–मन से अतिरिक्त, पृथक् **अविद्या न हि अस्ति**–अविद्या निश्चय ही नहीं है। अविद्या और मन पर्यायवाचक शब्द हैं। मन अविद्या का कार्य होने से अविद्या ही है। **मनः हि भवबन्धहेतुः अविद्या**–मन ही संसारवन्धन का कारण अविद्या है। सुषुप्ति में मन के अपने कारणरूप अविद्या में लीन होने पर संस्काररूप से अवस्थान होने पर, संसार नहीं भासता। सुषुप्ति टूटने पर, मन के उदय होने पर संसार फिर उदय हो जाता है। संसार चित्तभूमि में ही है, आत्मा में नहीं। **तस्मिन् विनष्टे**–मन के नष्ट होने पर, स्वरूप नष्ट होने पर, वोध होने पर, अथवा सुषुप्ति काल में मन के लय होने पर **सकलम्**–समस्त जगत् प्रपंच **विनष्टम्**–नष्ट हो जाता है, वोध होने पर समाधिकाल में जगत् का अत्यन्ताभाव हो जाता है, समाधि से उत्थान होने पर जगत् ब्रह्मरूप भासता है। जगत् की प्रातिभासिक प्रतीति होती है, सुषुप्ति काल में मन के अभाव होने से जगत का वाध हो जाता है। **अस्मिन् विजृम्भिते**–मन के उदय होने पर, वर्धमान होने पर **सकलम्**–समस्त जगत्प्रपंच **विजृम्भते**–विस्तार पा जाता है, नामरूप जगत् पहले के समान खड़ा हो जाता है ॥१७१॥

अव मन की सृजन क्रिया वताते हैं।

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या, भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेष-स्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥१७२॥

अर्थ—सामग्री शून्य स्वप्न में मन ही अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भोक्तादि प्रपंच रचता है, उसी प्रकार जागृति में भी कोई विशेषता नहीं है, यह सब मनका विलास-मात्र है।

व्याख्या—अर्थ-शून्ये—स्थूल पदार्थों के अभाव में **स्वप्ने**—स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ उपराम हो जाती हैं, वहाँ भी **मनः एव स्वशक्त्या**—मन ही अपनी शक्ति से, विना सामग्री के ही, आत्मा के प्रतिविम्ब के सामर्थ्य से समर्थवान् होकर 'ममाह-मिति वस्तुविकल्पहेतुः संज्ञादिभेदकलना-कलितो बलीयान्' **भोक्त्रादि सर्वम् विश्वम् सृजति**—भोक्ता—जीव, आदि पद से भोग्यवस्तु, पंच विषय, इनसे युक्त समस्त विश्व की स्वप्न में सृष्टि रचता है, वस्तुतः नहीं। अपने कमरे में पर्यंक पर सुख से सोया पुरुष रात्रिकाल में सूर्य की भी रचना कर लेता है, गंगादि विशाल नदियाँ रचता है, स्वप्नकाल में यह सृष्टि सत्य भासती है, जागने पर मिथ्या भासती है।

तथैव—उसी प्रकार **जाग्रति अपि**—जाग्रदवस्था में भी **नो विशेषः**—कोई विशे-षता नहीं है। जैसे मन स्वप्न की सृष्टि रचता है, वैसे ही जाग्रत् की सृष्टि भी मन ही रचता है। जैसे जागने पर स्वप्नसृष्टि मिथ्या भासती है, वैसे ही आत्मसाक्षात्कार होने पर जाग्रत् सृष्टि असत्य भासती है। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि **मनसः**—इस मन का ही **एतत् तत् सर्वम्**—यह सब जाग्रत् कालीन सृष्टि तथा स्वप्न-सृष्टि **विजृम्भणम्**—खेल है, विलास है, मन ही सृष्टि के रूप में परिणत हो जाता है ॥१७२॥

मन की कल्पना से संसार है।

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने, नैवास्ति किञ्चित्सकलप्रसिद्धेः।
अतो मनःकल्पित एव पुंसः, संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ॥१७३॥

अर्थ—सुषुप्ति अवस्था में मनके बीजरूप से अवस्थान होने पर कुछ भी नहीं रहता—यह बात सबको विदित ही है। अतः इस जीव का यह संसार मन की कल्पना-मात्र ही है, वस्तुतः नहीं है।

व्याख्या—सुषुप्ति काले—सुषुप्ति अवस्था में **मनसि प्रलीने**—मन के अपने कारण अव्यक्त माया में लय होने पर, बीज रूप से अवस्थान प्राप्त होने पर, नाम

रूपभेद, रचनाशक्ति से उत्पन्न होने वाले परिणामों के त्यागने पर **न एव अस्ति किंचित् सकलप्रसिद्धेः**–कुछ भी नहीं रहता है, जगत् का अभाव हो जाता है, नामरूप सृष्टि विलीन हो जाती है, सकलप्राणियों के अनुभव से यह प्रसिद्ध है, अर्थात् इसमें विवाद की सम्भावना नहीं। **अतः एतस्य पुंसः**–इसलिये इस वद्ध जीव का **संसारः**–जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःखरूप संसार, नामरूप युक्त संसार **मनः कल्पितः एव**–मन से ही कल्पित है, 'वस्तुविकल्पहेतुः' क्योंकि मन ही वस्तुओं की, भोक्ता भोग्य की कल्पना का हेतु है **न वस्तुतः अस्ति**–परमार्थ से संसार नहीं है, स्वप्न और सुषुप्ति में संसार के अभाव से यह सिद्ध होता है। परमार्थवस्तु का त्रिकाल में भी अभाव नहीं होता। नित्य आत्मा त्रिकाल-अवाधित है। आत्मा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी है ॥१७३॥

वन्ध और मोक्ष दोनों ही मन की कल्पना हैं।

वायुना-नीयते मेघः पुनस्तेनैव लीयते।
मनसा कल्प्यते वन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ॥१७४॥

अर्थ—मेघ वायु के द्वारा लाया जाता है और उसी के द्वारा उड़ाकर छिन्न-भिन्न किया जाता है, इसी प्रकार मन से वन्धन की कल्पना होती है और उसी से ही मोक्ष की भी।

व्याख्या—अव दृष्टान्त देकर समझाते हैं। **मेघः**–वादल **वायुना नीयते**–वायु से लाया जाता है **पुनः तेन एव**–फिर उसी वायु से ही **लीयते**–लय किया जाता है। वायु ही वादल को लाता है, और वही उसको छिन्न-भिन्न कर देता है। इसी प्रकार **वन्धः**–अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि, देहगेहादि में राग, पंचकोशों में आत्माभिमान **मनसा कल्प्यते**–मन से ही कल्पित किया जाता है, वास्तव में वन्धन नहीं है, **मोक्षः तेन एव कल्प्यते**–मोक्ष भी उसी से कल्पित किया जाता है। 'अज्ञानाज्जनन-मरण-क्लेशसम्पातहेतुः' वन्ध से दुःखी होकर पुरुष सद्गुरु की शरण में जाकर, उनसे ब्रह्मविद्या का उपदेश पाकर, श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि ब्रह्माभ्यास के वल से मन को सूक्ष्म करके ब्रह्म साक्षात्कार करता है, तव मोक्ष पाता है। मन के ही दोनों काम हैं, वन्ध भी और मोक्ष भी। परमार्थ में न वन्ध है न मोक्ष ॥१७४॥

अव यह वताते हैं कि मन किस प्रकार वाँधता है, और किस प्रकार मुक्त करता है।

देहादिसर्वविषये परिकल्प्य रागं बध्नाति तेन पुरुषं पशुवद्गुणेन ।
वैरस्यमत्र विषवत्सुविधाय पश्चादेनं विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ।।१७५।।

अर्थ——यह मन ही देह आदि तथा सब विषयों में राग की कल्पना करके उसके द्वारा रस्सी से पशु की भांति अविवेकी को बाँधता है और फिर इन विषवत् देहादि में तथा विषयों में विरक्ति उत्पन्न करके इसको बन्धन से मुक्त कर देता है ।

व्याख्या——**देहादि-सर्वविषये**—मन ही देह, आदिपद से गेहसुतदारा तथा शब्दस्पर्शादि विषयसमुदाय में **रागम्**—आसक्ति **परिकल्प्य**—पैदा करके, दृढ़ मोह उत्पन्न करके **तेन**—उस उरु राग पाश से **पुरुषम्**—जीव को, अविवेकी पुरुष को **पशुवत्**—पशु, गायभैंस की भांति **गुणेन बध्नाति**—रज्जु से, राग रूपी रज्जु से बाँध देता है, अपने स्वरूप जानने में असमर्थ कर देता है, **पश्चात्**—पुण्यों के उदय होने पर, 'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्, साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्' ।। अपरोक्षानुभूतिः ।।३।। अपने वर्णाश्रम धर्म और तप द्वारा श्री हरि को प्रसन्न करने से मनुष्यों को वैराग्यादि साधनचतुष्टय की प्राप्ति होती है । **तन्मनः एव**—वही मन ही **विषवत्**—विष के सदृश, अनर्थकारी होने से **अत्र**—'देहादिसर्वविषये' **वैरस्यम्**—विरक्ति, वैराग्य, अनासक्ति का **सुविधाय**—सुन्दर विधान करके, देहादिसर्वविषय में दोषदृष्टि उत्पन्न करके **एनम्**—वद्ध पुरुष को **बन्धात् मोचयति**—अनात्म बंधन से छुड़ा देता है, ब्रह्म में स्थिति कर देता है, देहाभिमान से मुक्त कर देता है ।।१७५।।

किस प्रकार का मन बन्ध और मोक्ष का हेतु है ।

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने ।
बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणैर्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम् ।।१७६।।

अर्थ——इसलिये इस जीव के वन्ध और मोक्ष के विधान में मन ही कारण है, रजोगुण से मलिन हुआ यह वन्धन का हेतु है तथा रज-तम से रहित शुद्ध सात्त्विक होने पर यह मोक्ष का कारण होता है ।

व्याख्या——**तस्मात्**—इसलिये **अस्य जन्तोः**—इस वद्ध प्राणी के **बन्धस्य मोक्षस्य च वा**—अनात्म वस्तुओं में आत्माभिमानरूप वन्ध के या उस वन्धन से मुक्त होने के **विधाने**—विधान में अर्थात् वन्ध और मोक्ष के उत्पादन करने में **मनः कारणम्**—मन कारण है । 'तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम्' । किस प्रकार का मन वन्ध का हेतु है, और किस प्रकार का मोक्ष का हेतु है ? **बन्धस्य हेतुः**—वन्ध का कारण

रजोगुणैः मलिनम्–रजोगुण के धर्मों से मलिन हुआ मन। गुण का अर्थ धर्म लेना चाहिये। 'रजो रागात्मकं विद्धि' गीता १४।७ रजोगुण को रागद्वेषवाला जानो। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, असूया, अहंकार, ईर्ष्या, मत्सरादि रजोगुण के घोर धर्म हैं। इन धर्मों से युक्त मन मलिन होता है। ये धर्म मन में विक्षेप और अशान्ति उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण मन में स्थिरता नहीं होती, और लक्ष्य में एकाग्रता नहीं बैठती। जैसे पूर्व में कहा है 'विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम्' 'ततः कामक्रोधप्रभृतिभिरमुं वन्धनगुणैः। परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्ति-र्व्यथयति।'

मोक्षस्य विरजस्तमस्कम् शुद्धम्–मोक्ष का कारण रज और तमोगुण से रहित हुआ शुद्ध सतोगुणी मन होता है क्योंकि विशुद्ध सत्त्वगुण के धर्म पूर्व में इस प्रकार कहे हैं, 'विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः, स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः। तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा' आदि। तमोगुण की प्रशान्ति से आवरण और रजोगुण की प्रशान्ति से विक्षेप सत्त्वगुणयुक्त मन में नहीं होते। इसलिये सत्त्वगुणयुक्त मन आवरण रहित और निश्चल ब्रह्म का साक्षात्कार करता है ।।१७६।।

अव मन की शुद्धि की विधि वताते हैं।

विवेकवैराग्य-गुणातिरेकाच्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै।
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षोस्ताभ्यां दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे ।।१७७।।

अर्थ––विवेक-वैराग्य इन धर्मों के उत्कर्ष से शुद्धता को प्राप्त हुआ मन मुक्ति का हेतु होता है, अतः पहले बुद्धिमान् मुमुक्षु के विवेकज्ञान तथा वैराग्य दोनों ही दृढ़ होने चाहियें।

व्याख्या––विवेक-वैराग्य-गुणातिरेकात्–'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या', इस निश्चय का नाम विवेक है, मिथ्या वस्तु में किसी की आसक्ति नहीं होती, इसलिये विवेक का फल वैराग्य-इहलोक और परलोक के भोगों में घृणा, काकविष्ठा की भांति भोगों में घृणा होने से उनमें मन का अनुराग नहीं होता। 'ब्रह्म सत्यं' इस निश्चय से तमोगुण का आवरण क्षीण होता है, विषयों में अनुराग के अभाव में रजोगुण की विक्षेप शक्ति निर्व्यापार हो जाती है। इसलिये विवेक वैराग्य के गुण-धर्मों के अतिरेक–अतिशयता से, वढ़ने से **शुद्धत्वम् आसाद्य**–निर्मलता प्राप्त करके **मनः विमुक्त्यै भवति**–मन मोक्ष देनेवाला होता है, 'विरजस्तमस्कम्' मन शुद्ध होता है और शुद्ध अर्थात् सत्त्वगुण के अतिरेक से, जिससे विक्षेप देने वाला रज, और आवरक तमोगुण दव जाते हैं, मन मोक्षदाता होता है।

अतः—इस कारण से **आदौ**—पहले, मोक्ष साधना के आरम्भ में **बुद्धिमतः मुमुक्षोः**—चतुर, उपायकुशल मोक्ष की इच्छावाले के **ताभ्याम् दृढाभ्याम्**—वे दोनों, विवेक और वैराग्य दृढ़, अदृढ़ नहीं **अग्रे भवितव्यम्**—मोक्ष प्राप्ति से पहले होने चाहियें। विवेक और वैराग्य मुमुक्षु को शीघ्रता से मोक्षलक्ष्य की ओर ले जाते हैं, अतः इनका महत्त्व है ।।१७७।।

मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ।।१७८।।

अर्थ—मन नाम का महाव्याघ्र विषयरूप **वन** में घूमता है। जो सावधान मुमुक्षु हैं, वे वहाँ न जायँ।

व्याख्या—मनः नाम महाव्याघ्र:—मन नाम का एक महासिंह, साधारण सिंह नहीं, **विषयारण्यभूमिषु**—विषय ही वन है, उन भूमियों में **चरति**—संचार करता है, घूमता है। **अत्र**—इन विषय भूमियों में **ये साधवः मुमुक्षवः**—जो शुभ वासना-युक्त, मोक्षकामी हैं, वे **न गच्छन्तु**—न जायें। इन्द्रियाँ वहिर्मुख होती हैं, और विषयों की ओर धावन करती हैं। उनका दमन करे। इन्द्रियों का राजा मन है, मन को विवेक वैराग्य से शमन करे। पूर्व में 'विषयाशा-महापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात्। स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ।।८०।।' 'दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि' आदि श्लोकों में विषय की निन्दा की है। मन को महा-व्याघ्र इसलिये कहा कि जव तक यह मन रजोगुण तमोगुण के आधीन होता है, तव तक अनर्थकारी, अकल्याण पदगामी रहता है, परन्तु जव उसमें सत्त्वगुण की अतिशय वृद्धि हो जाती है, कल्याण-गुणवाला वनकर यही व्याघ्र रजोगुण तमोगुण का हिंसक वन जाता है और साधक की रक्षा करता है, किसी अनर्थ को समीप नहीं आने देता। चूंकि यह व्याघ्र हिंसक शत्रु भी है, और रक्षक वन्धु भी है, इसलिये महाव्याघ्र है ।।१७८।।

मनः प्रसूते विषयानशेषान्स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः।
शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान् गुणक्रियाहेतुफलानि नित्यम् ।।१७९।।

अर्थ—मन ही स्थूल-सूक्ष्म अशेष विषयों को, शरीर, वर्ण, आश्रम, जाति भेदों को तथा गुण, क्रिया, साधन और कर्म फलों को भोक्ता के लिये नित्य उत्पन्न करता रहता है।

व्याख्या—अब 'स्वप्ने अर्थशून्ये सृजति' आदि वाले श्लोक का विशदीकरण करते हैं। **मनः**—अन्तःकरण की संकल्पविकल्प करनेवाली वृत्ति मन **स्थूलात्मना**—जाग्रदवस्था में स्थूलरूप से **सूक्ष्मतया च**—स्वप्नावस्था में सूक्ष्म रूप से **भोक्तुः**—जीव के लिये, अज्ञानीजन के लिये **अशेषान् विषयान्**—समस्त भोगों को, शब्दस्पर्शादि विषयों को, 'शब्दादयः पंच सुखाय भोक्तुः', **भोक्तुः**—भोक्ता के लिये रचता है, तथा **शरीर-वर्णाश्रम-जातिभेदान्**-शरीर-नाना प्रकार की योनियाँ, देवतिर्यक्-मनुष्यादि शरीर, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र वर्ण, ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-सन्यासाश्रम और आर्य-द्रविड-यवन-मलेच्छादि जातियाँ, इनके भेदों को, नामरूप भेदों को मन ही रचता है, पूर्व में भी कहा है कि मन 'संज्ञादिभेदकलनाकलितो वलीयान्', तथा **गुण-क्रिया-हेतु-फलानि** गुण—विविध स्वभावों को, ब्राह्मण का स्वभाव शान्त, क्षत्रिय का ऐश्वर्ययुक्त, वैश्य का निरन्तर चेष्टावान, इन को क्रिया—विविध कर्मों को, कतव्यों को, ब्राह्मण के शमदमादि कर्म, क्षत्रिय के शूरतातेजादि कर्म, वैश्य के कृषिगोरक्षादि कर्म, शूद्र के सेवा आदि कर्म, इन भिन्न भिन्न कर्मों को हेतु—साधनों को, कर्म साधनों को जैसे ब्राह्मण के लिये माला आसन धर्मग्रन्थ, क्षत्रिय के लिये खड्ग आदि को, और फल—उन उन शुभाशुभ कर्म-फलों को, पुण्य पाप को मन ही **नित्यम् प्रसूते**—निरन्तर, आसुषुप्ति, आमोक्ष अपनी शक्ति से आत्मा के प्रतिफलन के सामर्थ्य से जाग्रत्-स्वप्नावस्था में सृजन करता है। सुषुप्ति काल में मन के अभाव से इन नाना नामरूप भेदों का भी अभाव हो जाता है ॥१७९॥

असङ्गचिद्रूपममुं विमोह्य, देहेन्द्रिय-प्राणगुणैर्निबध्य ।
अहंममेति भ्रमयत्यजस्रं, मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु ॥१८०॥

अर्थ—इस असङ्ग चिद्रूप आत्मा को मोहित करके तथा इसे देह, इन्द्रिय, प्राण के धर्मों से बाँधकर, यह मन ही इसको 'मैं-मेरा' भाव से अपने कर्म और उनके फलोपभोग में निरन्तर भटकाता है।

व्याख्या—**मनः**—मन **असंग-चित्रूपम् अमुम्**—आत्मा असंग है, और ज्ञानरूप है, ऐसे इस आत्मा को भी यह मन **देह-इन्द्रिय-प्राणगुणैः**—देह के, इन्द्रियों के और प्राण के धर्मों से **विमोह्य**—मोहित करके, अर्थात् देह के इन्द्रियों के और प्राण के धर्मों को अपने आत्मा का धर्म मानकर, इनमें आत्मभिमान करके, इनके साथ तादात्म्य सा करके यह मन **अहम् मम इति**—'मैं देह हूँ' मेरा देह है, मेरा प्राण है,

मेरे पुत्रदारगृहादि हैं, इस प्रकार मन ही आत्मा को अहंता और ममता से जड देहेन्द्रियप्राण के साथ **निबध्य**—बाँध कर, चित्-जड ग्रन्थि से बाँध कर, रागोरुपाश से अनात्म वस्तुओं में दृढ आसक्ति करके **अजस्रम्**—निरन्तर, दिन रात, मोक्ष-पर्यन्त **स्वकृत्येषु**—अपनी कृतियों में, शरीर वर्णाश्रम जाति भेदों में, अशेष विषयों में प्रवृत्त कराकर **फलोपभुक्तिषु**—उन-उन कर्मों के शुभाशुभ फल भोगों में **भ्रमयति**—मोहित से हुए आत्मा को, अज्ञानी पुरुष को जन्म मृत्यु जराव्याधि दुःखरूप संसार में भटकाता है ।।१८०।।

मन द्वारा कल्पित अध्यास वन्ध ही संसार का निदान है ।

अध्यासयोगात्पुरुषस्य संसृति-रध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः ।
रजस्तमोदोषवतोऽविवेकिनो, जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत् ।।१८१

अर्थ—अध्यास के योग से ही पुरुष को जन्म-मरणरूप संसार होता है और यह अनात्म वन्ध मन का कल्पित किया हुआ है तथा रज-तम दोषयुक्त अविवेकी पुरुष के लिये यह ही जन्मादि दुःख का मूल कारण है ।

व्याख्या—अध्यास-योगात्—भ्रान्तिज्ञान का नाम अध्यास, इसके योग से, तमोगुण की आवरणशक्ति योग से तथा रजोगुण की विक्षेपशक्तियोग से **पुरुषस्य**—पुरुष को, मोहित हुए आत्मा को, अज्ञानी को **संसृतिः**—संसार है, जन्म-मृत्यु जरा-व्याधि दुःख है, और यह **अध्याससबन्धः**—अनात्मवन्ध, देहात्मधी **तु**—भी **अमुना एव**—इसी मन के द्वारा ही **कल्पितः**—कल्पित किया गया है, परमार्थ में वन्ध नहीं है। 'मनसा कल्प्यते वन्धः' **रजस्तमोदोषवतः**—रजोगुण और तमोगुण से दोष-युक्त । रजोगुण के दोष, इसके घोर धर्म—क्रोध लोभ ईर्ष्या मत्सरादि, और उनसे मन में विक्षेप चंचलता । तमोगुण के दोष—'अज्ञानमालस्य-जडत्व-निद्रा-प्रमाद—मूढत्वमुखास्तमोगुणाः' और उनसे स्वरूप का आवरण । विक्षेप और आवरण से युक्त **अविवेकिनः**—विवेकशून्य के, आत्मा अनात्मा में विवेचन करने में अयोग्य के **जन्मादिदुःखस्य**—जन्म, आदि पद से मृत्यु जरा व्याधि लेने चाहिऐं, इनसे दुःख का **एतत् निदानम्**—यह मन मूल कारण है । 'विरजस्तमस्तकम्' शुद्ध सत्त्वगुणी मन वाले पुरुष के लिये संसार नहीं होता । उसको अपना अखण्ड, ज्योतिर्मय, निरावरण स्वरूप स्पष्ट भासता है ।।१८१।।

मन ही अविद्या है ।

अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
वियेनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम् ।।१८२।।

अर्थ—अतः तत्त्वदर्शी मर्मज्ञ शास्त्रवेत्ता मनको ही अविद्या कहते हैं; जिसके द्वारा वायु से मेघ-मण्डल की भाँति यह सम्पूर्ण विश्व भ्रमाया जा रहा है ।

व्याख्या—**अतः**—इसलिये **तत्त्वदर्शिनः**—तत्त्व, आत्मा का दर्शन, साक्षात्कार किया है जिन्होंने ऐसे **पण्डिताः**—वेदान्तशास्त्र के मर्मज्ञ ज्ञाता, आत्मविवेकी, सुपरिष्कृत बुद्धिवाले **मनः एव**—मन को ही **अविद्याम् प्राहुः**—अविद्या कहते हैं । पूर्व में कहा है, 'अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या.·...... यया जगत्सर्वमिदम् प्रसूयते ।' 'अव्यक्तमेतत्-त्रिगुणै-निरुक्तं, तत्कारणम् नाम शरीरमात्मनः ।' अविद्या कारण है, मन इसका कार्य है, इसलिये अविद्या और मन एक ही वस्तु हुए, जैसे घट, और उसका कारण मिट्टी एक ही वस्तु हैं । **येन एव**—जिसके द्वारा, रजोगुण से मलिन हुए मन के द्वारा ही **विश्वम्**—जीव, जगत् **भ्राम्यते**—भटकाया जाता है, विक्षिप्त किया जाता है । अब दृष्टान्त देते हैं, **वायुना अभ्रमण्डलम् इव**—जैसे वायु से मेघमाला इतस्ततः उड़ाई जाती है । शुद्ध हुआ मन नहीं भटकाता, वह साधक को मोक्षोन्मुख ले जाता है ।।१८२।।

मन का शोधन मुमुक्षु का कर्तव्य है ।

तन्मनःशोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा ।
विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते ।।१८३।।

अर्थ—उस मन का मुमुक्षु से प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिये, उसके शुद्ध हो जाने पर मुक्ति हथेली पर रक्खे फल के सदृश निस्सन्देह प्राप्त होती है ।

व्याख्या—पहले कह चुके हैं कि 'मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम्,' इसलिये **मुमुक्षुणा**—मुमुक्षु द्वारा **तन्मनः शोधनम्**—उस मलिन मन का, जो कि बन्ध का कारण है, शोधन, शुद्धि करनी चाहिये, उसको 'विरजस्तमस्कम्,' रजोगुण तमोगुण रहित **प्रयत्नेन कार्यम्**—प्रयत्नपूर्वक सत्त्वप्रधान करना चाहिये । **एतस्मिन् च विशुद्धे सति**—और इसके, अशुद्ध मलिन मन के शुद्ध होने पर **मुक्तिः**—मोक्ष, सर्वदुःखरूप निवृत्ति सर्वसुखरूप प्राप्ति, मोक्ष **करफलायते**—हथेली पर रखे हुए फल के समान प्रत्यक्ष प्राप्त होती है ।।१८३।।

मनःशोधन की विधि बताते हैं ।

मोक्षैकसक्त्या विषयेषु रागं, निर्मूल्य संन्यस्य च सर्वकर्म ।
सच्छ्रद्धया यः श्रवणादिनिष्ठो, रजःस्वभावं स धुनाति बुद्धेः ।।१८४।।

अर्थ—मोक्ष की एकमात्र आसक्ति से विषयों में राग का निर्मूलन करके तथा सर्वकर्मों को त्यागकर, शुद्ध श्रद्धा से युक्त हुआ श्रवणादि में जो तत्पर रहता है, वह मन के रजोमय स्वभाव को नष्ट कर देता है।

व्याख्या—पहले कहा है, 'विवेकवैराग्यगुणातिरेकात् शुद्धत्त्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै'। ज्ञान साधनों के मूल्यांकन में वैराग्य और मुमुक्षुता को प्रधानता दी है, 'वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।' विवेक वैराग्य को मन शोधन का हेतु बता कर अब मुमुक्षुता हेतु का विशदीकरण करते हैं। **मोक्षैकसक्त्या**—मोक्ष में ही एकमात्र आसक्ति से, तीव्र मुमुक्षुता से **विषयेषु रागम् निर्मूल्य**—विषयों में शब्दस्पर्शरूपादि विषयों में राग—आसक्ति का निर्मूलन करके, जड़ से नष्ट कर, विषयों में सुखरूपता न देख कर, दोषदृष्टि से विषयों में राग, देहाभिमान त्याग कर **संन्यस्य च सर्वकर्म**-नित्य-नैमित्तिक—काम्य, सर्वकर्मो का स्वरूप से त्याग कर, कर्म में अकर्म देखकर, कर्म में अहंकार और आसक्ति त्याग कर, सब कर्मों में फल की वासना त्याग कर, क्योंकि

सत् श्रद्धया—सत्, ब्रह्म, उसमें निश्चित बुद्धि के साथ अथवा शास्त्र गुरु के वचनों में पूर्ण विश्वास से **यः श्रवणादिनिष्ठः**—जो मुमुक्षु श्रवण-मनन-निदिध्यासन तत्त्वंपदार्थ शोधन—इन मोक्ष के प्रयत्नों में निरन्तर स्थित है, **सः**—वह मुमुक्षु **बुद्धेः रजःस्वभावम्**—मन के रजोगुण के स्वभाव को, विक्षेप को, दुष्कर्म को **धुनोति**—नष्ट कर देता है, दूर कर देता है, मन में सत्त्वगुण की वृद्धि करता है ।।१८४।।

मनोमयो नापि भवेत्परात्मा, ह्याद्यन्तवत्त्वात्परिणामिभावात् ।
दुःखात्मकत्वाद्विषयत्वहेतो, र्द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः ।।१८५।।

अर्थ—मनोमय कोश भी आद्यन्तवान्, परिणामी, दुःखात्मक और विषयरूप होने के कारण परात्मा नहीं हो सकता; क्योंकि द्रष्टा कभी दृश्यरूप नहीं देखा जाता।

व्याख्या—अब मनोमय कोश के विषय का उपसंहार करते हैं। **मनोमयः अपि**—जैसे अन्नमय कोश, प्राणमय कोश आत्मा नहीं हैं, वैसे ही मनोमय कोश भी **परात्मा न भवेत् हि**—परमात्मा नहीं हो सकता, निश्चय ही। इसके लिये चार कारण बताते हैं, **आदि-अन्तवत्त्वात्**—आदि अन्त वाला होने से, सुषुप्ति अवस्था में मन का लय हो जाता है, सुषुप्ति टूटने पर मन का उदय होता है, बोध होने पर

मन का स्वरूप नाश होता है, विदेहमुक्ति होने पर अरूप नाश होता है। तप्त तवे पर जलविन्दु गिरने से, जैसे जलविन्दु का संस्कारचिन्ह रहता है, उस प्रकार के मनोनाश को स्वरूप नाश कहते हैं। जीवन्मुक्ति में मन का स्वरूप नाश होता है, जीवन्मुक्त के शरीर गिरने पर विदेहमुक्ति अवस्था में उस मन के संस्कार का भी नाश होता है, यही अरूप नाश है।

परिणामिभावात्–परिणामी, विकारी होने से, नामरूप नाना भेदों में परिणत होने से मन निर्विकार अपरिणामी परमात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा 'न चेष्टते नो विकरोति किंचन' **दुःखात्मकत्वात्**–देह–अध्यास द्वारा नाना प्रकार के दुःखों का उत्पादन करने से। पूर्व में कहा है, 'अहंममेति भ्रमयत्यजस्रं मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु', अतः मन आनन्दरूप आत्मा नहीं हो सकता।

विषयत्वहेतोः–साक्षी का विषय होने से, साक्षी आत्मा मन को, तथा सुषुप्ति में मन के अभाव को जानता है, 'ज्ञाता मनोऽहंकृतिविक्रियाणाम्' –साक्षी आत्मा मन और अहंकार के विविध विकारों को जानता है, आत्मा का कोई साक्षी नहीं है। वह मन वाणी का विषय नहीं है, इन चार कारणों से **द्रष्टा**–ज्ञाता, साक्षी आत्मा **दृश्यात्मतया**–दृश्य रूप से, मन रूप होकर दृश्य के धर्मों को ग्रहण करके **न हि दृष्टः**–नहीं ही देखा जाता है, यह सर्वप्रसिद्ध है। क्योंकि द्रष्टा सर्वदा दृश्य से पृथक् होता है। घट का द्रष्टा, दृश्यरूप घट से, विलग होता है ।।१८५।।

अब विज्ञानमय चौथे कोश का निरूपण करते हैं, २४ श्लोकों में।

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम् ।।१८६।।

अर्थ––ज्ञानेन्द्रियों के साथ वृत्तियुक्त बुद्धि ही कर्तापन के लक्षणवाला विज्ञानमय कोश है, जो अविवेकी पुरुष के संसार का कारण है।

व्याख्या––**बुद्धीन्द्रियैः**–पंच ज्ञानेन्द्रियों के **सार्धम्**–साथ **सवृत्तिः**–निश्चयात्मिका वृत्ति के सहित **बुद्धिः कर्तृलक्षणः**–ज्ञान इच्छा लक्षण वाली **बुद्धि कर्तृत्व** अभिमान युक्त **विज्ञानमयकोशः**–विज्ञानमय कोश, विशेष रूप से ज्ञान वाला कोश, **स्यात्**–होता है। यह कोश **पुंसः**–आत्मा को आच्छादन करने से अज्ञानी के **संसारकारणम्**–जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख लक्षणवाले संसार का हेतु है।

एक ही अन्तःकरण की संशयात्मिका वृत्ति मन, और निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि कही जाती है। इसलिये मन का करणत्व है, और बुद्धि का कर्तृत्व है, क्योंकि

निश्चय करके ही कर्म किया जाता है। बुद्धि मन से अधिक सूक्ष्म है, श्रेष्ठ है, 'मनसस्तु परा बुद्धिः' कठोपनिषद १।३।१०, इस लिये विज्ञानमय कोश का अन्तर्भाव है, और मनोमय कोश का वहिर्भाव है। जव मन संकल्पविकल्प करता है, संज्ञादिभेदकलना से युक्त होता है, तो वहिर्मुख मनोमय होता है, और यही कोश जव निश्चय करता है, संज्ञादिभेद रचना के गोरखधन्धे से ज्ञान-इच्छा के अनुसार प्रयोजनमात्र सामग्री निर्णीत करता है, उस समय अन्तर्मुख विज्ञानमय कोश कहलाता है ।।१८६।।

विज्ञानमय कोश में ज्ञान-क्रिया का अभिमान होता है।

अनुव्रजच्चित्प्रतिविम्वशक्ति, र्विज्ञानसंज्ञः प्रकृतेर्विकारः।
ज्ञानक्रियावानहमित्यजस्रं, देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम् ।।१८७।।

अर्थ—बुद्धि में अनुगमन करनेवाली चेतन की प्रतिविम्व शक्ति विज्ञानमय कोश नामवाला है। यह प्रकृति का विकार है। वह 'मैं ज्ञानवान और क्रियावान हूँ' ऐसा देह-इन्द्रिय आदि में निरन्तर अति अभिमान करता है।

व्याख्या—पंचभूतों के सत्त्वांश का कार्य होने से बुद्धि स्वच्छ है, उसमें चैतन्य आत्मा का प्रतिविम्व पड़ता है, उस प्रतिविम्व की शक्ति। दर्पणादि में सूर्य के प्रतिविम्व में सूर्य से अप्रकाशित स्थान जैसे भीतर के कमरे आदि को प्रकाशित करने की शक्ति होती है।। यही प्रतिविम्व शक्ति है। चेतन की शक्ति से जड़ बुद्धि चेतन सी हो उठती है, और उसमें भासक शक्ति आ जाती है। यही विज्ञानमय कोश परमात्मा के अति समीप होने से उसके चैतन्य सामर्थ्य से आलोकित हो उठता है, और यह समझने लगता है कि यह उसकी अपनी शक्ति है।

अनुव्रजत् चित् प्रतिबिम्बशक्तिः—बुद्धि में पीछे आने वाले चित्—परमात्मा विम्व का बुद्धि में प्रतिविम्व, उस प्रतिविम्व की शक्ति **विज्ञानसंज्ञः**—विज्ञानमय कोश नामवाला **प्रकृतेः विकारः**— अविद्या, मूल प्रकृति का विकार है, सूक्ष्म पंचभूतों के सत्त्वगुणों का कार्य है, इसलिये जड परप्रकाश्य है। **ज्ञानक्रियावान्**—ज्ञान, वृत्तिज्ञान, क्रिया—विषय विचार, ध्यान, लोकान्तर गमनादि, ज्ञानक्रिया युक्त यह विज्ञानमय कोश **अजस्रम्**—निरन्तर **देह इन्द्रियादिषु अहम् इति**—जैसे पूर्व में कहा है 'अन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि। अहमित्यभिमानेन तिष्ठत्याभासतेजसा ।।१०५।। अहंकारः स विज्ञेयः कर्ताभोक्ताभिमान्ययम्' इसलिये जीव का जो अभिमान देह में, इन्द्रियों में, आदि शब्द से प्राण

ग्रहण करना चाहिये, प्राण में है, सो अभिमान भी बुद्धि के विना नहीं हो सकता, इसलिये यह कोश, बुद्धिकोश, जीव अनात्म पदार्थों में अहंकार **करता है भृशम् अभिमन्यते**—अत्यन्त अभिमान करता है, 'मैं मनुष्य हूँ, मेरा स्थूल शरीर है, मेरी इन्द्रियाँ पटु हैं, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मैं श्वास लेता हूँ', इस प्रकार इनमें अभिमानवाला होता है ।।१८७।।

अब चार श्लोकों में विज्ञानमय कोश की महिमा वताते हैं ।

अनादिकालोऽयमहंस्वभावो, जीवः समस्तव्यवहारवोढा ।
करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः, पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ।।१८८।।
भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु व्रजन्नायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः ।
अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्था सुखदुःखभोगः ।।१८९।।
देहादिनिष्ठाश्रमधर्मकर्मगुणाभिमानं सततं ममेति ।
विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः ।
अतो भवत्येष उपाधिरस्य यदात्मधीः संसरति भ्रमेण ।।१९०।।

अर्थ—यह अहंस्वभाववाला विज्ञानमय कोश ही अनादिकालीन जीव संसार के समस्त व्यवहारों का निर्वाह करनेवाला है। यह अपनी पूर्व-वासना से पुण्य-पापमय अनेकों कर्म करता और उनके फल भोगता है। विचित्र योनियों में भ्रमण करता हुआ कभी नीचे आता और कभी ऊपर जाता है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाएँ, सुख-दुःख भोग, देहादि में आत्माभिमान, आश्रमादि के धर्म-कर्म तथा उनके गुणों का अभिमान और उनमें सर्वदा ममता इस विज्ञानमय कोश के ही होते हैं। यह आत्मा के अति निकटता के कारण अत्यन्त प्रकाशमय है। अतः यह आत्मा की उपाधि है, जिसमें भ्रम से आत्मबुद्धि करके यह जन्म-मरणरूप संसार में भटकता है।

व्याख्या—**अनादिकालः**—जिसका आदिकाल, उत्पत्ति मालूम न हो, 'किस काल से आरम्भ हुआ' यह ज्ञान न हो ऐसा **अयम्**—यह देहेन्द्रियों में अहन्ता, **अहम्स्वभावः**—देहादि में अभिमान, वासना ही स्वभाव है जिसका वह अहम्स्वभाव **जीवः समस्त-व्यवहारवोढा**—जीव लौकिक-स्मार्त्त-वैदिक सर्व प्रकार का व्यवहारकर्ता, **पूर्व-वासनः**—पूर्व जन्मों की अतृप्त वासनाओं से युक्त **कर्माणि अपि**—कर्म भी, कैसे कर्म ? **पुण्यानि**—शास्त्रविहित कर्म **अपुण्यानि च**—तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्म **करोति**—करता

है, 'कर्तृलक्षणः' होने **से तत्फलानि भुंक्ते**–उन-उन पुण्यापुण्य कर्मों के फलों को भोगता है, क्योंकि यह कर्ताभोक्ताभिमानी है **विचित्रासु योनिषु अपि व्रजन्**–नाना प्रकार की योनियों में, लख चौरासी योनियों में भी भटकता हुआ, सुखदुःख भोगता हुआ **एषः**–यह विज्ञानमय कोश, जीव, आत्मा की उपाधि **अधः आयाति**–नीचे, दुष्कर्मों के कारण नरकादि में, मूढयोनियों में आता है, पुनः **ऊर्ध्वम् निर्याति**–ऊपर, पुण्य कर्मों के फल से स्वर्गादि में, उच्च योनियों में जाता है, अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार।

अस्य एव विज्ञानमयस्य–इसी विज्ञानमयकोश की ही **जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाः**-जाग्रत, स्वप्न, आदि पद से सुषुप्ति समाधि–तुर्या मूर्च्छा ग्रहण करने चाहियें, अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति समाधि, मूर्च्छा ये सब बुद्धि वृत्ति की ही अवस्थायें है, आत्मा की नहीं, असंग होने है, 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः। **सुख-दुःखभोगः**–सुख दुःख का अनुभव करता है, 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' ऐसा आत्मा में आरोपण करता है, सुख-दुःख विज्ञानमय कोश के धर्म हैं, आत्मा निरतिशय आनन्दघन रूप है। **देहादिनिष्ठा**–देह, इन्द्रिय प्राणों में सत्य बुद्धि और उसके फलस्वरूप **आश्रम धर्म कर्म गुणाभिमानम्**–शरीर के वर्णाश्रम धर्म, उनके पालन में जो कर्मानुष्ठान–वैदिक–लौकिक, उस कर्मों का गुण–सकाम अथवा निष्काम– इन में आत्माभिमान **सततम् मम इति**–और इनमें अभिमान होने के कारण इनमें निरन्तर ममत्व करता है। 'मैं ब्राह्मण हूँ, ज्ञान प्राप्त करना मेरा कर्तव्य है, मैं गृहस्थ हूँ, संन्यासियों की सेवा करना मेरा धर्म है' इस प्रकार आश्रम धर्मादि में ममत्व रखता है।

परमात्मनः–परमात्मा के, 'चेतनश्चेतनानाम्', चेतनों का भी जो चेतन है, 'असंगचिद्रूपम्' उसके **प्रकृष्टसान्निध्यवशात्**–अत्यन्त समीप होने से, बुद्धि-कोश परमात्मा के अत्यन्त समीप है, इसलिये **अयम् विज्ञानकोशः**–यह विज्ञान-मय कोश, धीकोश **अतिप्रकाशः**–बहुत प्रकाशमान है, आत्मप्रतिफलन की महिमा से, अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा साक्षात् चैतन्य आत्मा के समीप होने से बुद्धिकोश अति प्रकाशमान है। **अतः**–इसलिये, परमात्मा के समीप होने से **अस्य**–आत्मा का **एषः**–यह कोश, जीव **उपाधिः भवति**–भेद हेतु उपाधि है। **यत्**–इस उपाधि में **आत्मधीः**–आत्मबुद्धि, 'मैं जीव हूँ, मैं कर्ता भोक्ता हूँ, जन्ममरणधर्मा हूँ', जीवत्व में अभिमान करता है और **भ्रमेण**–अध्यासयोग से, भ्रान्ति से **संसरति**–संसार चक्र में पड़ता है, सुख-दुःख का भोग करता है। कर्तृलक्षण होने से विज्ञानमय कोश 'पुंसः संसारकारणम्' ॥१८८,१८९,१९०॥

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि स्फुरत्स्वयंज्योतिः ।
कूटस्थः सन्नात्मा कर्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थः ॥१९१॥

अर्थ––यह जो विज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं ज्योति हृदय के भीतर प्राणादि में स्फुरित हो रहा है, वह कूटस्थ (निर्विकार) होने पर भी उपाधि के संयोग से कर्ता-भोक्ता सा हो जाता है ।

व्याख्या––**यः अयम् विज्ञानमयः**–जो यह ज्ञानस्वरूप चिद्रूप, यहाँ इसका विज्ञानमय कोश अर्थ नहीं है **आत्मा स्वयंज्योतिः**–आत्मा, अपना आपा, स्वयं प्रकाश, परप्रकाश्य नहीं **प्राणेषु**-प्राणों में **हृदि**–हृदय कमल के मध्य, बुद्धि में **स्फुरत्**–स्फुरणा करता हुआ, अपने प्रकाश से प्राणों को, बुद्धि को चेतन सा करता हुआ **कूटस्थः**–घन की तरह स्थिर, अविकारी **सन् अपि**–होता हुआ भी **उपाधिस्थः**–विज्ञानमय कोश की उपाधि में अभिमान करने के कारण उस उपाधि के धर्मों को अपने में आरोपित करता हुआ **कर्ता भोक्ता भवति**–कर्ता भोक्ता सा वन जाता है, वास्तव में नहीं । इस श्लोक का पूर्वार्ध वृहदारण्यक श्रुति ४।३।७ का अवतरण हैं । श्रुति इस प्रकार है, 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः ।' ॥१९१॥

विज्ञानकोश से उपहित आत्मा अपने को परिच्छिन्न देखता है ।

स्वयं परिच्छेदमुपेत्य बुद्धे, स्तादात्म्यदोषेण परं मृषात्मनः ।
सर्वात्मकः सन्नपि वीक्षते स्वयं, स्वतः पृथक्त्वेन मृदो घटानिव ॥१९२॥

अर्थ––वह परात्मा मिथ्या बुद्धि के अल्पत्व से तादात्म्य दोष के कारण स्वयं सर्वोत्कृष्ट सर्वात्मक होते हुए भी मिट्टी से घड़े के समान अपने को ही अपने से पृथक् देखता है ।

व्याख्या––**मृषात्मनः**–माया का कार्य होने से अनात्म असत् रूप **बुद्धेः**–बुद्धि के, विज्ञानमय कोश के **तादात्म्य दोषेण**–साथ एकता, अभिन्नत्व दोष से **स्वयम्**–अपने में **परिच्छेदम्**–अल्पत्व, विज्ञानमय कोश के अल्पत्व को अपनें में **उपेत्य**–प्राप्त करके **परम्**–भूमा होकर भी **सर्वात्मकः**–सर्व की अखण्ड एकात्मा **सन् अपि**–होकर भी **स्वयम्**–अपने आपको **स्वतः**–अपने से **पृथक्त्वेन**–पृथक् **मृदो घटानिव**–मिट्टी से पृथक् घटों की भांति **वीक्षते**–देखता है । घट का उपादान कारण मृत्तिका है, मृत्तिका का कार्य घट अपने कारण मृत्तिका से पृथक नहीं होता, ऐसे ही उपाधि संयोग से अनन्त परमात्मा अपने को अल्प विज्ञानमय कोश समझता है, पर वास्तव में नहीं है, परात्मा ही है ॥१९२॥

उपाधि-सम्बन्धवशात्परात्मा-प्युपाधिधर्माननुभाति तद्गुणः ।
अयोविकारानविकारिवह्निवत्सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात् ॥१६३॥

अर्थ—जिस प्रकार लोहे के विकारों में व्याप्त हुआ अविकारी अग्नि उन्हीं के आकारवाला सा होकर भासता है, उसी प्रकार वह परात्मा स्वभाव से सदा एकरूप होता हुआ भी उपाधि के सम्बन्ध से उसके गुणों से युक्त-सा होकर उसी के धर्मों को प्रकाशित करता है ।

व्याख्या—**अयोविकारान्**—विविध आकारवाले लौहपिण्डों को—गोल, त्रिकोण, चौकोर आदि को **अविकारिवन्हिवत्**—निर्विकार अग्नि की तरह । विविध आकार वाले लौह पिण्ड अग्नि में तप्त होने पर अग्नि की भांति प्रकाशमान और दाहकत्व शक्ति वाले हो जाते हैं । यद्यपि अग्नि स्वतः निर्विकार है, तो भी उन लौह पिण्डों के साथ तादात्म्य करके उन लौह पिण्डों के आकारवाला सा भासता है । अग्नि गोल है, त्रिकोण है, चौकोर है; उसी प्रकार **परात्मा अपि**—निर्विकारी असंग चिद्रूप आत्मा भी **उपाधिसम्बन्धवशात्**—उपाधि के साथ तादात्म्य सम्वध के कारण परमात्मा, भ्रान्तिवश कोशों के साथ अभेद एकता समझ बैठता है, और उसके फलस्वरूप **उपाधि-धर्मान्**—उपाधि के धर्मों को, 'करोति कर्माण्यपि—अनुपूर्व-वासनः पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि भुंक्ते' । कर्तृत्व भोक्तृत्व भाव को, उपाधि के धर्मों को आगे भी कहेंगे, 'उपाधिरायाति स एव गच्छति, स एव कर्माणि करोति भुंक्ते । स एव जीर्यन्म्रियते सदाहं, कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थितः ॥'५०२, उपाधि ही आता है, जाता है, कर्म करता है, फलभोक्ता है, वृद्ध होकर मरता है । मैं आत्मा तो कुलाचल की भांति अचल ही हूँ ।

अनु—उपाधि धर्मों के अनुसार **तद्गुणः**—उपाधि गुण वाला होकर उपाधि में अभिमान करता हुआ सा **भाति**—प्रकाशता है, अपनी अभिव्यक्ति करता है, उपाधि की भांति आचरण करता है 'महिमा घटी समुद्र की रावण वसत पड़ोस' । **स्व-भावात्**—स्वभाव से ही, स्वभाव में कारण नहीं खोजा जाता, परमात्मा **परः**—माया तथा माया के कार्य से परे, मायातीत 'तमसः परस्तात्' **सदा एकरूपः अपि**—निर्विकार एकरस, षड्भावातीत होने पर भी, परमात्मा उपाधि के संयोग से जीव सा बन जाता है ॥१६३॥

इतना उपदेश सुनकर विचारवान शिष्य शंका करता है, दो श्लोकों में ।

शिष्य उवाच

भ्रमेणाप्यन्यथा वास्तु जीवभावः परमात्मनः ।
तदुपाधेरनादित्वान्नानादेर्नाश इष्यते ॥१९४॥

अर्थ—शिष्य ने कहा ! भ्रम से हो अथवा वस्तुतः हो, परमात्मा को जीव-भाव की प्राप्ति हुई है । उसकी उपाधि अनादि है तथा अनादि वस्तु का नाश हो नहीं सकता ।

व्याख्या—**शिष्यः उवाच**–शिष्य ने कहा **परात्मनः**–सत् रूप परमात्मा का **जीवभावः**–जीवपना **भ्रमेण अपि वा**–भ्रान्ति से भी हो या **अन्यथा अस्तु**–वस्तुतः हो, चाहे जिस प्रकार से हो **तत् उपाधेः**–उस विज्ञानमय कोश उपाधि के, आत्मा की भांति **अनादित्वात्**–अनादि होने से 'अनादि कालोऽयमहंस्वभावः', **अनादेः**–अनादि वस्तु का **नाशः न इष्यते**–नाश नहीं हो सकता, किसी को भी इष्ट नहीं ।।१९४।।

अतोऽस्य जीवभावोऽपि नित्यो भवति संसृतिः ।
न निवर्तेत तन्मोक्षः कथं मे श्रीगुरो वद ॥१९५॥

अर्थ—अतः इस आत्मा का जीवभाव भी नित्य है और ऐसा होने से इसका संसार कभी निवृत्त नहीं हो सकता; तो फिर , हे श्रीगुरुदेव ! इसका मोक्ष कैसे होगा ? सो कहिये ।

व्याख्या—पूर्व श्लोक से सम्वन्ध चलता है । **अतः**–इसलिये, अनादिवस्तु के नाश के अभाव में **अस्य**–परमात्मा का **जीवभावः अपि**–विज्ञानमय कोश उपाधि भी **नित्यः भवति**–अविनाशी है । **संसृतिः न निवर्तेत**–'विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम्' संसार के हेतु विज्ञानमय कोश के विद्यमान रहते हुए संसार की निवृत्ति नहीं होती, **तत्मोक्षः कथम्**–उस विज्ञानमय कोश उपाधि से मोक्ष, छुटकारा किस प्रकार होगा । **श्री गुरो ! मे वद**–हे श्रीगुरुदेव ! मुझे कहो, मेरी शंका का निवारण करो ।।१९५।।

श्रीगुरुरुवाच

सम्यक्पृष्टं त्वया विद्वन्सावधानेन तच्छृणु ।
प्रामाणिकी न भवति भ्रान्त्या मोहितकल्पना ॥१९६॥

अर्थ—श्री गुरु ने कहा—हे विद्वान्, तूने बहुत ठीक बात पूछी है। अब सावधान होकर सुन। मोहयुक्त पुरुष की भ्रमवश की हुई कल्पना माननीय नहीं हुआ करती।

व्याख्या—**श्री गुरुरुवाच**—श्रीगुरु ने उत्तर दिया **विद्वन्**—हे विचार में निपुण **त्वया सम्यक् पृष्टम्**—तुम्हारे द्वारा ठीक पूछा गया है, जो प्रश्न तुम्हें करना चाहिये था, वही प्रश्न तुम ने किया है **सावधानेन**—एकाग्रचित्त होकर **तच्छृणु**—अपने प्रश्न का उत्तर सुनो। **भ्रान्त्या**—अज्ञान से उत्पन्न हुई **मोहितकल्पना**—मोहित पुरुष की कल्पना कि 'मैं विज्ञानमय कोश, जीव हूँ'। 'भ्रान्ति' और 'मोहित' दो शब्दों का क्यों प्रयोग किया ? एक ही तो पर्याप्त था, नहीं, क्योंकि मोहित कहने से दृढ़ अज्ञान का भान होता है, इसलिये एक तो अज्ञानी और उसपर भी दृढ अज्ञानी, विमूढ, ऐसे पुरुष से की हुई कल्पना **प्रामाणिकी**—प्रमाणसिद्धा, मानने योग्य **न भवति**—नहीं होती, शास्त्र सम्मत और विज्ञों के अनुभवगत नहीं होती ।।१९६।।

विना भ्रान्ति के असंग परमात्मा का सम्बन्ध उपाधि से किसी प्रकार सम्भव नहीं।

भ्रान्तिं विना त्वसङ्गस्य निष्क्रियस्य निराकृतेः ।
न घटेतार्थसम्बन्धो नभसो नीलतादिवत् ।।१९७।।

अर्थ—जो असङ्ग, निष्क्रिय और निराकार है, उस आत्मा का उपाधि से, नीलता आदि से आकाश के समान भ्रम के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या—**भ्रान्तिम् विना तु**—आत्मा का बुद्धि, विज्ञानमय कोश के साथ तादात्म्य के विना, स्वरूप के अज्ञान के विना, 'तु' से अन्य कारण का निराकरण होता है **असंगस्य**—संगहीन, निरवयव, नित्य, 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः, **निष्क्रियस्य**—क्रिया रहित का, निरपेक्ष आत्मा का, 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति श्रुतिः, श्वेताश्वतरोपनिषद ६।१९। **निराकृतेः**—आकार रहित का, असंग, निष्क्रिय निराकार आत्मा का विना मोह के किसी प्रकार भी **अर्थ-सम्बन्धः**—उपाधि के साथ सम्बन्ध, दृश्य प्रपंच के साथ योग **न घटेत**—नहीं घटता, सम्भव नहीं हो सकता। **नभसः नीलतादिवत्**—असंग, निष्क्रिय, रूपरहित निराकार आकाश में मूढ लोग नीले वर्ण का आरोपण करते हैं, आकाश में नीलिमा है, ऐसा कहते हैं। वास्तव में

आकाश वर्णरहित है, वायु के व्यवधान से आकाश में वर्ण भासता है, वस्तु-स्थिति के अज्ञान से आकाश में नीलिमा देखने की भाँति शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा में जगत् देखना है ।।१९७।।

बुद्धिभ्रान्ति से प्राप्त जीव-भाव सत्य नहीं ।

स्वस्य द्रष्टुर्निर्गुणस्याक्रियस्य, प्रत्यग्बोधानन्दरूपस्य बुद्धेः ।
भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न सत्यो, मोहापाये नास्त्यवस्तु स्वभावात्।।१९८।।

अर्थ—साक्षी, निर्गुण, अक्रिय और आत्मज्ञानानन्दस्वरूप उस आत्मा में बुद्धि के भ्रम से ही जीव-भाव की प्राप्ति हुई है, वह सत्य नहीं है; क्योंकि वह अवस्तु रूप होने से, मोह दूर हो जाने पर, स्वभाव से ही नहीं रहता ।

व्याख्या—द्रष्टुः—साक्षी का, 'साक्षिरूपेण बुद्धेः' **निर्गुणस्य**—गुणातीत, निर्धर्मक का **अक्रियस्य**—निष्क्रिय का, क्रिया में प्रवृत्ति राग-द्वेष से होती है, आत्मा में राग-द्वेष नहीं है, इसलिये आत्मा में क्रिया सम्भव नहीं **प्रत्यग्बोधानन्दरूपस्य**—प्रत्यग्—सर्वान्तर, बोध—ज्ञान, चित्, उससे जो मिले आनन्द, वही है स्वरूप जिसका, उसका, आत्मज्ञानान्दरूप का **स्वस्व**—आत्मा का, अपने आपे का **बुद्धेः भ्रान्त्या**—बुद्धि की भ्रान्ति से **प्राप्तः जीवभावः**—प्राप्त हुआ जीवभाव, आत्मा को यह भ्रान्ति सी हो जाती है कि 'मैं बुद्धि हूँ, विज्ञानमय कोश हूँ, कर्ता भोक्ता हूँ, जन्ममरण धर्मा हूँ, विकारी हूँ', इस भ्रान्ति से प्राप्त हुआ जीवभाव, जीवत्व में अभिमान **न सत्यः**—सत्य नहीं, वस्तुतः नहीं, 'प्रामाणिकी न भवति भ्रान्त्या मोहित-कल्पना' ।

इसका कारण वताते हैं **मोह-अपाये**—भ्रान्ति के दूर होने पर चित्—जड ग्रन्थि भंग होने पर, आत्मसाक्षात्कार होने पर **अवस्तु**—कल्पित वस्तु, भ्रान्ति से उपाधि में आत्मबुद्धि **स्वभावात्**—अपने धर्मों से ही **न अस्ति**—नहीं होती, उसका स्वाभाविक अभाव है, रज्जु में सर्प की भांति ।।१९८।।

यावद् भ्रान्तिस्तावदेवास्य सत्ता, मिथ्याज्ञानोज्जृम्भितस्य प्रमादात् ।
रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव, भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत् ।।१९९।।

अर्थ—जैसे भ्रम की स्थितिपर्यन्त ही रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है, भ्रम के नाश होने पर फिर सर्प भी प्रतीत नहीं होता, वैसे ही जव तक भ्रम है, तभी तक स्वरूप की विस्मृति से मिथ्या ज्ञान से प्रकट हुए जीव-भाव की सत्ता है ।

व्याख्या—**रज्ज्वाम्**—रज्जु में, थोड़े अन्धकार में रज्जु के स्वरूप का ज्ञान न होने से रज्जु में **सर्पः**—साँप दिखाई देता है, परन्तु सर्प के दिखाई देने के काल की अवधि **भ्रान्तिकालीनः एव**—भ्रान्ति काल ही है, जितने काल तक भ्रान्ति है, उतने काल तक सर्प की सत्ता है **भ्रान्तेः नाशे**—भ्रान्ति के नाश होने पर, प्रकाश में रज्जु का स्वरूप दिखाई देने पर **सर्पः अपि नैव**—सर्प भी नहीं रहता। 'अपि' से यह ध्वनित होता है कि भ्रान्ति काल में चाहे वह सर्प कितना ही भयंकर क्यों न दिखाई दिया हो।

तद्वत्—उसी प्रकार **मिथ्या-अज्ञानोज्जृम्भितस्य**—विपरीत ज्ञान से उत्पन्न हुए की **प्रमादात्**—आत्मा, अधिष्ठान के स्वरूप की विस्मृति से जो विज्ञानमय कोश में आत्मा का तादात्म्य है, उसकी, 'भ्रान्त्या प्राप्तः जीव-भावः' उसकी सत्ता, स्थितिकाल **यावत् भ्रान्तिः**—जब तक सर्वाधिष्ठान आत्मा का बोध नहीं होता है, अपने स्वरूप का अज्ञान है **तावत् एव**—उतने काल तक ही है, उससे अधिक नहीं, **अस्य**—जीव-भाव की, विज्ञानमय कोश की **सत्ता**—स्थिति है, आत्मसाक्षात्कार होने पर उपाधि की प्रतीति नहीं होती, जैसे रज्जु दिखाई देने पर सर्प का अभाव हो जाता है।।१९९।।

अनादित्वमविद्यायाः कार्यस्यापि तथेष्यते।
उत्पन्नायां तु विद्यायामाविद्यकमनाद्यपि ॥२००॥
प्रबोधे स्वप्नवत्सर्वं सहमूलं विनश्यति।
अनाद्यपीदं नो नित्यं प्रागभाव इव स्फुटम्।
अनादेरपि विध्वंसः प्रागभावस्य वीक्षितः ॥२०१॥

अर्थ—अविद्या तथा उसके कार्य का अनादित्व कहा जाता है। विद्या के उदय होने पर अविद्याकाल तक रहनेवाला अनादि होते हुए भी अविद्या का सब कार्य अपने कारण अविद्या सहित नष्ट हो जाता है, जागने पर स्वप्न प्रपंच की भाँति। यह अविद्या और उसका कार्य अनादि होने पर भी, प्रागभाव के सदृश नित्य नहीं है। अनादि प्रागभाव का भी नाश देखा जाता है।

व्याख्या—शिष्य ने यह शंका उठाई थी, 'तदुपाधेः अनादित्वात् न अनादेः नाश इष्यते।' उपाधि अनादि है, अनादि वस्तु का नाश नहीं होता। इसका उत्तर श्रीगुरु ने यह दिया कि उपाधि भ्रान्ति कल्पित है, इसलिये भ्रान्तिकालीन है,

भ्रान्ति के नाश होने पर कल्पित वस्तु का भी नाश हो जाता है । अब दो श्लोकों में इसी भाव को विशद करते हैं। यद्यपि उपाधि अनादि है, पर सान्त है, अन्तसहित है ।

अविद्यायाः–माया का **तथा कार्यस्य अपि**–तथा माया के कार्य का, बुद्धि का, विज्ञानमय कोश का भी **अनादित्वम् इष्यते**–अनादिपना कहा जाता है। यह कोई नहीं कह सकता कि अमुक तिथि को अविद्या की उत्पत्ति हुई, अथवा उपाधि की उत्पत्ति हुई, परन्तु **विद्यायाम् तु उत्पन्नायाम्**–विद्या के उत्पन्न होने पर, विद्या अविद्या का नाश करती है, इसलिये अविद्या का कार्य अपने कारण अविद्या के सहित नष्ट हो जाता है । इससे सिद्ध होता है कि **अनादि अपि आविद्यकम्**–अनादि होने पर भी अविद्या और अविद्या का कार्य, विज्ञानमय कोश उपाधि, विद्या के उत्पन्न होने तक ही रहता है । विद्या के उत्पन्न होने पर, आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेने पर अनादि अविद्या भी अन्त को प्राप्त होती है, नष्ट हो जाती है ।।२००।।

प्रबोधे स्वप्नवत् सर्वम् सहमूलम् विनश्यति–यहाँ दृष्टान्त देते हैं, स्वप्न से जागने पर, जैसे स्वप्नकालीन सर्वसृष्टि अपने कारण निद्रा के साथ नष्ट हो जाती है। स्वप्न की सत्ता जाग्रदवस्था उदय होने तक ही है। वैसे ही, पूर्ववत् **इदम् अनादि अपि**–यह अविद्या और उसका कार्य उपाधि अनादि होने पर भी **नो नित्यम्**–नित्य नहीं है, सर्वकाल अबाधित नहीं है, निर्विकारी निराकृति निरवयव नहीं है ।

प्राक् अभावः इव स्फुटम्–प्राक् अभाव–कार्य की उत्पत्ति से पूर्व जो कार्य का अभाव है, उसे प्रागभाव कहते हैं। मानो कोई कहता है कि मृत्तिका से घट का जन्म १२ बजे हुआ । इसका यह अर्थ है कि १२ बजे से पूर्व घट का अभाव था, यही प्राग-भाव है। परन्तु जब घट का जन्म हुआ तो घट के प्राक्-अभाव का तुरन्त नाश हुआ, इसी को प्रागभाव का विध्वंस कहते हैं। प्रागभाव अनादि होता है, कोई नहीं कह सकता कि मिट्टी में से घट के जन्म का अभाव कितने काल से था । अनादि प्रागभाव के समान अनादि अविद्या और उसका कार्य सान्त हैं ।

अनादेः अपि प्रागभावस्य विध्वंसः वीक्षितः–क्योंकि अनादि होने पर भी प्राग-भाव का नाश देखा जाता है । घट के उदय होने पर घट के प्रागभाव का, पूर्व-अभाव का नाश हो जाता है । यहाँ तक शिष्य के प्रश्न का, 'न अनादेः नाश इष्यते' उत्तर दिया है । अनादि परमात्मा का सत् वस्तु का तो नाश नहीं होता परन्तु 'भ्रान्त्या मोहितकल्पना' का नाश, अनादि होने पर भी, होता है ।।२०१।।

जीवत्व भाव वास्तव में अपने अधिष्ठान आत्मा से भिन्न नहीं ।

यद्बुद्ध्युपाधि-सम्बन्धात्परिकल्पितमात्मनि ।
जीवत्वं न ततोऽन्यत्तु स्वरूपेण विलक्षणम् ॥२०२॥

अर्थ—बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा में जो जीव-भाव कल्पित किया गया है और जो आत्मा से भिन्न भासता है, वह आत्मा के स्वरूप से वास्तव में भिन्न नहीं है ।

व्याख्या—**आत्मनि**—आत्मा में, अपने स्वरूप में **बुद्धि-उपाधिसम्बन्धात्**—बुद्धि कोश ही है उपाधि, उसके सम्बन्ध से. अज्ञान से उसमें आत्मा का आरोपण करने से **यत् जीवत्वम् परिकल्पितम्**—जिस जीवभाव की कल्पना की गई है, वह वास्तव में है तो आत्मा परन्तु मोहवश अपने को नश्वर जीव जानता है, वह जीव **ततः**—सत्य रूप अविनाशी आत्मा से **अन्यत्**—जो भिन्न भासता है, वह वास्तव में **स्वरूपेण**—आत्मा से **विलक्षणम्**—भिन्न **न** तु—नहीं है, अर्थात् वही है । आरोपित वस्तु अधिष्ठान से व्यतिरिक्त कुछ नहीं होती, अर्थात् अधिष्ठान ही होता है, जैसे रज्जु से व्यतिरिक्त आरोपित सर्प कुछ नहीं होता, रज्जु ही होता है, वैसे ही आत्मा में आरोपित जीवभाव आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है ॥२०२॥

सम्बन्धः स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरःसरः ।
विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा ॥२०३॥

अर्थ—अपने आत्मा का बुद्धि के साथ सम्बन्ध मिथ्या अज्ञानमूलक है । इसकी निवृत्ति सम्यक् ज्ञान से हो सकती है और किसी प्रकार से नहीं ।

व्याख्या—**स्वात्मनः**—अपने आत्मा का **बुद्ध्या सम्बन्धः**—बुद्धि के साथ सम्बन्ध, अन्योन्याध्यास, अन्य के धर्म अन्य में आरोपण करना, आत्मा असंग निष्क्रिय है, बुद्धि कर्तृत्वलक्षणा है, उन दो विरोधी धर्म वालों का संग कैसे हो सकता है ? और यदि कहो कि संग है तो फिर अवश्य ही **मिथ्याज्ञानपुरःसरः**—मिथ्या, अज्ञानपूर्वक है, अर्थात् इन दोनों का तादात्म्य विना अज्ञान के, किसी अन्य कारण से नहीं हो सकता, अज्ञानमूलक है ॥

इस अज्ञानमूलक संगता की निवृत्ति कैसे हो ? इस पर कहते हैं, **सम्यक्-ज्ञानेन**—सम्यक् ज्ञान से, ब्रह्म साक्षात्कार से, जीव की और ब्रह्म की अभेद एकता के अनुभव से **तस्य**—उस अज्ञानजनित आत्मा और बुद्धि के सम्बन्ध की

विनिवृत्तिः–विशेष रूप से निवृत्ति होती है अर्थात् जिससे पुनः आत्मा का और बुद्धि का तादात्म्य न हो सके **न अन्यथा**–इसका अन्य उपाय नहीं है, विद्या से अविद्या का नाश होता है ।।२०३।।

सम्यक् ज्ञान क्या होता है ?

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम् ।।२०४।।

अर्थ––ब्रह्म और आत्मा की एकता का विज्ञान सम्यक् ज्ञान है । श्रुति का यह मत है ।

व्याख्या––ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञानम्–ब्रह्म और जीव की एकता का विज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभव ही **सम्यक् ज्ञानम्**–सम्यक् ज्ञान, ब्रह्मज्ञान है **श्रुतेः मतम्**–ऐसा श्रुतिभगवती का मत है । 'तत्त्वमसि', तू वही ब्रह्म है, 'अहं ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्म हूँ, 'अयमात्मा ब्रह्म', यह आत्मा ब्रह्म है, 'प्रज्ञानं ब्रह्म', ज्ञान ब्रह्म है, इत्यादि श्रुतियाँ जीव ब्रह्म की परमार्थ में एकता दिखाती हैं ।।२०४।।

आत्मा-अनात्मा को विवेक कर्तव्य है ।

तदात्मानात्मनोः सम्यग्विवेकनैव सिध्यति ।
ततो विवेकः कर्तव्यः प्रत्यगात्मासदात्मनोः ।।२०५।।

अर्थ––उस सम्यक् ज्ञान की सिद्धि आत्मा और अनात्मा के भले प्रकार विवेक (पार्थक्य-ज्ञान) से ही होती है । इसलिये प्रत्यगात्मा और मिथ्यात्मा का भले प्रकार भेद करना चाहिये ।

व्याख्या––तत्–वह सम्यक् विज्ञान **आत्मा-अनात्मनः**–आत्मा-अनात्मा के **विवेकेन एव सिध्यति**–भेद से ही सिद्ध होता है । भेदज्ञान से एकता सिद्ध नहीं होती, इसलिये श्रीभगवत्पाद का यह अभिप्राय है कि आत्मा-अनात्मा का भेद-ज्ञान समझ कर फिर अनात्मा को आत्मा में लय करके ब्रह्मसाक्षात्कार करे । जैसे पूर्व में कहा है, 'मुंजादिषीकामिव दृश्यवर्गात्, प्रत्यंचमात्मानमसंग-मक्रियम् । विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ।।१५५।।' **ततः**–इस-लिये **प्रत्यगात्मा असत् आत्मनोः**–प्रत्यगात्मा–पंच कोशों से सूक्ष्म, सर्वान्तर आत्मा, पंच कोशातीत चैतन्य कूटस्थ आत्मा, तथा असत् आत्मा अर्थात् अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय पंचकोश असत् आत्मा हैं, इन दोनों के बीच में **विवेकः कर्तव्यः**–भेद करना चाहिये । आत्मा नित्य है, दृश्यवर्ग अनित्य है, अनित्य

वस्तु मिथ्या होती है, मिथ्या की सत्ता नहीं होती इसलिये सर्व आत्मा ही है। 'एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः' इति श्रुतिः, यह आत्मा अन्तर्यामी और अमर है, 'एष त आत्मा सर्वान्तरः नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता इति श्रुतिः। यह आत्मा अन्तर्यामी है। इस अन्तरात्मा से भिन्न न कोई द्रष्टा है, न श्रोता, न मनन करने वाला, और न ज्ञाता ही है ।।२०५।।

जलं पङ्कवदस्पष्टं पङ्कापाये जलं स्फुटम्।
यथा भाति तथात्मापि दोषाभावे स्फुटप्रभः ।।२०६।।

अर्थ—कीचड़ युक्त जल अस्वच्छ होता है, परन्तु जिस प्रकार कीचड़ के बैठ जाने पर स्वच्छ जल रह जाता है उसी प्रकार उपाधिसंगदोष दूर हो जानेपर आत्मा भी स्पष्टतया प्रकाशित होने लगता है।

व्याख्या—जलम् पंकवत् अस्पष्टम्—कीचड़ मिट्टी युक्त जल अस्पष्ट, अशुद्ध गदला होता है। **पंक-अपाये**—कीचड़ मिट्टी के दूर होने पर, नीचे बैठने पर **जलम् स्फुटम्**—जल स्पष्ट, शुद्ध, स्वच्छ **यथा भाति**—जिस प्रकार मिट्टी के निराकरण से गदला जल स्वच्छ दिखाई देता है, **तथा**—उसी प्रकार **आत्मा अपि**—आत्मा भी जो स्वभाव से असंग, अक्रिय है, परन्तु उपाधि के संग से क्रियावान और संगवान सा होता है, ऐसा आत्मा भी **दोष-अभावे**—उपाधि संगदोष के दूर होने पर पूर्ववत् **स्फुटप्रभः**—स्पष्ट है प्रभा, प्रकाश जिसका वह, अखण्डचैतन्यप्रकाश भासता है ।।२०६।।

आत्मा का अहंकारादि से निरास कर्तव्य है।

असन्निवृत्तौ तु सदात्मना स्फुटं प्रतीतिरेतस्य भवेत्प्रतीचः।
ततो निरासः करणीय एवासदात्मनः साध्वहमादिवस्तुनः ।।२०७।।

अर्थ—असत् की निवृत्ति होने पर इस प्रत्यक् सर्वान्तरात्मा की नित्य आत्मा स्वरूप से स्पष्ट प्रतीति होने लगती है। अतः अहंकार आदि असदात्मा का भले प्रकार वाध करना ही चाहिये।

व्याख्या—असत्-निवृत्तौ तु—असत् दृश्यवर्ग अन्नमयादि पंचकोशरूपी उपाधि के दूर होने पर ही **एतस्य प्रतीचः**—इस सर्वान्तरात्मा की, त्वम् पद के लक्ष्यार्थ की **सत्-आत्मना**—नित्य आत्मरूप से **स्फुटम् प्रतीतिः**—स्पष्ट प्रतीति होती है। अपने

निरुपाधिक **स्वरूप** का साक्षात्कार होता है। **ततः**—इस कारण से **असत् आत्मनः**—मिथ्या आत्मस्वरूप वाले **अहमादिवस्तुनः**—अहं आदि वस्तु का, अहंकारदि का 'अहंकारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान्', इस अवस्तु का **साधु**—अच्छे प्रकार से **निरासः**—निराकरण, अपवाद, निषेध **करणीयः एव**—करने योग्य ही है, क्योंकि 'दोषाभावे स्फुटप्रभः'। जैसे पहले कहा है 'पंचानामपि कोशानाम् अपवादे विभात्ययं शुद्धः' ।।२०७।।

अब विज्ञानमय कोश का अनात्मत्व बताते हैं।

अतो नायं परात्मा स्याद्विज्ञानमयशब्दभाक्।
विकारित्वाज्जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुतः।
दृश्यत्वाद्व्यभिचारत्वान्नानित्यो नित्य इष्यते ।।२०८।।

अर्थ—इसलिए विज्ञानमय शब्द से प्रसिद्ध यह कोश भी विकारी, जड, परिच्छिन्न तथा दृश्य और व्यभिचारी होने के कारण परात्मा नहीं हो सकता; अनित्य वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती।

व्याख्या—**अतः** इस लिये, श्लोक १८६ से २०७ तक विज्ञानमय कोश के सम्बन्ध में जो बताया है, उन हेतुओं से **अयम् विज्ञानमयशब्दभाक्**—यह विज्ञानमय संज्ञावाला कोश **परात्मा न स्यात्**—परमात्मा नहीं है। इस के संक्षेप में पाँच कारण बताते हैं। **विकारित्वात्**—परिणामी होने से, अज्ञान के साथ उदय होने से तथा उसी के साथ नाश होने से **जडत्वात् च**—जड़ होने से, परप्रकाश्य होने से। आत्मा के प्रकाश से, तथा प्रतिबिम्ब के विशेष प्रकाश से अचेतन होते हुए भी चेतनी सा होकर कार्यरत होता है। विज्ञानमय कोश स्वयंप्रकाश नहीं है **परिच्छिन्नत्वहेतुतः**—एक देशीय, अल्प, असर्वगत् होने से, प्रत्येक शरीरी का विज्ञानमय कोश पृथक् होता है, इसलिये सीमित होने से **दृश्यत्वात्**—चैतन्य साक्षी आत्मा का विषय होने से, आत्मा उसको साक्ष्य रूप से जानता है, **व्यभिचारित्वात्**—अस्थिर होने से, कभी किसी कर्म का कर्ता, कभी किसी भोग का भोक्ता होने से, चंचल होने से, इसलिये **अनित्यः**—अनित्य, असत् विज्ञानमयकोश **नित्यः**—नित्य, सत् आत्मा **न इष्यते**—नहीं हो सकता, नहीं माना जा सकता ।।२०८।।

अब आनन्दमय नाम के पाँचवें कोश का निरूपण करते हैं, तीन श्लोकों में। पहले उसका गठन, अवयव, उदय तथा प्रभाव बताते हैं।

आनन्दप्रतिविम्ब-चुम्बिततनु-र्वृत्तिस्तमोजृम्भिता
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः ।
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूपः स्वयं
भूत्वा नन्दति यत्र साधु तनुभृन्मात्रः प्रयत्नं विना ॥२०९॥

अर्थ—आनन्दस्वरूप आत्मा के प्रतिविम्व से व्याप्त शरीर तथा तमोगुण से प्रकट हुई वृत्ति आनन्दमय कोश है। वह प्रिय आदि (प्रिय, मोद और प्रमोद) तीन अवयवों से युक्त है और अपने अभीष्ट पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रगट होता है। पुण्यकर्म के परिपाक होने पर उसके फलरूप सुख का अनुभव करते समय पुण्यवान पुरुषों को पुण्य के फल के अनुभव के समय आनन्दमय कोश विशेष रूप से प्रकाशता है। जिससे देहधारी मात्र विना प्रयत्न के ही स्वयं आनन्दपूर्ण होकर अति हर्षवान होता है।

व्याख्या—**आनन्द-प्रतिबिम्बचुम्बिततनुः**—आनन्दघन परमात्मा के प्रतिविम्व, प्रतिफलन से चुम्वित, व्याप्त शरीर, जिसका तथा **वृत्तिः तमोजृंभिता**—वृत्ति, स्वरूप, तमोगुण से उत्पन्न स्वरूप, अर्थात् आनन्दप्रतिविम्व युक्त अविद्या, अज्ञानावृतानन्द। चैतन्य अधिष्ठान, अविद्या का आवरण तथा उस आवरण में चैतन्य का प्रतिविम्व इन तीनों से आनन्दमय कोश का कलेवर वनता है। **आनन्द-मयः स्यात्**—आनन्दमयकोश होता है, यहाँ कारण शरीर अविद्या में आनन्द का प्रतिविम्व पड़ता है, तमोगुण प्रधान अविद्या चंचलता रहित, विक्षेप रहित होती है। **प्रियादिगुणकः**—प्रियादि अवयव वाला है। 'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरःपक्षः, आनन्द आत्मा ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इति श्रुति। तैत्ति-रीयोपनिषद् २।५, इष्टवस्तु के दर्शन से प्रिय अवयव, वृत्ति, इष्टवस्तु के लाभ से मोद अवयव, वृत्ति तथा इष्ट वस्तु के भोग से प्रमोद अवयव, वृत्ति, इन प्रिय-मोद-प्रमोद सुख विशेष देने वाले अवयवों से आनन्दमय कोश युक्त है

अव इस कोश की अभिव्यक्ति वताते हैं, **स्वेष्टार्थलाभोदयः**—अपने इष्ट वस्तु के दर्शन-लाभ-भोग से आनन्दमय कोश वृत्ति का उदय होता है, 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार सुखाकार वृत्ति का उदय होता है, जाग्रत्-स्वप्नावस्था में, इस कोश की साधारण अभिव्यक्ति स्वार्थ लाभ से होती है, स्वार्थलाभ कभी-कभी होता है, इसलिये इसकी विरलता है **कृतिनाम् पुण्यस्य अनुभवे विभाति**—पुण्यवानों के पुण्य के फल के अनुभव के समय यह कोश विशेष रूप से प्रकाशता है। **यत्र**—आनन्दमय कोश

के उदय होने पर **तनुभृत्-मात्रः**–सर्व शरीरधारी मात्र **प्रयत्नम् विना**–विना प्रयत्न के क्योंकि 'पुण्यस्य अनुभवे विभाति' पूर्व जन्म में जो शुभ कर्म कर चुके हैं, उनके फलोन्मुख होने के समय, इसलिये प्रस्तुत प्रयत्न के विना, पूर्व प्रयत्न के फल रूप **स्वयम् आनन्दमयः भूत्वा**–स्वयं आनन्दपूर्ण होकर, आनन्दमय कोश के योग से तादात्म्य से, निरालम्ब नहीं **साधु नन्दति**–प्रकृष्ट हर्षवान होता है। यह आनन्द भी आत्मा-आनन्द नहीं है क्योंकि यह अज्ञानाच्छादित सुखाकार वृत्तिमात्र है, पुण्य के प्रभाव से, स्वेष्टार्थलाभ से यह आनन्द मिलता है, यह स्वरूप का आनन्द नहीं है, क्योंकि बोधहोने पर ज्ञानवान प्रिय-अप्रिय असत् भोगों के प्राप्त होने पर हर्ष-शोक नहीं करता, 'हर्षशोकौ जहाति' इति श्रुतिः, कठोपनिषद १।२।१२। सांख्यमतावलम्वी आनन्दमय कोश को महत्तत्त्व कहते हैं ।।२०९।।

आनन्दमय कोश की सुखाकार वृत्ति की विशेष अभिव्यक्ति सुषुप्ति अवस्था में होती है।

आनन्दमयकोशस्य सुषुप्तौ स्फूर्तिरुत्कटा।
स्वप्नजागरयोरीषदिष्टसंदर्शनादिना ।।२१०।।

अर्थ—आनन्दमय कोश की तीव्र प्रतीति तो सुषुप्ति में ही होती है, परन्तु जाग्रत् और स्वप्न में भी इष्टवस्तु के दर्शन आदि से उसका किंचित् भान होता है।

व्याख्या—आनन्दमयकोशस्य–आनन्दमय कोश की **सुषुप्तौ**–सुषुप्ति अवस्था में, गाढी निद्रा में, जहाँ सुख से सोता है, कुछ खवर नहीं रहती **स्फूर्तिः**–स्फुरण, अभिव्यक्ति **उत्कटा**–तीव्र, अधिक होती है। जाग्रत् अथवा स्वप्न में आदमी को सुख मिले या न मिले, परन्तु सुषुप्ति में सुख अवश्य मिलता है, इस सुख के विना मनुष्य वहुत काल तक जीवित नहीं रह सकता। तो भी सुषुप्तानन्द मुख्यानन्द नहीं है, क्योंकि यह अज्ञानाच्छादित रहता है, 'वृत्तिस्तमोजृम्भिता' यह सुखाकार वृत्ति तमोगुणजनित है। **इष्टसंदर्शनादिना**–स्वेष्टार्थ दर्शन से, आदि पद से इष्टार्थ का लाभ, भोग समझना चाहिये **स्वप्नजागरयोः**–इष्टार्थ दर्शन लाभ भोग स्वप्न में भी होते हैं, और जाग्रत् में भी। इष्टार्थ के स्वप्न में भी दर्शनादि उतना ही सुख देते हैं, जितना कि जाग्रत् काल में **ईषत्**–किन्तु सुषुप्ति की अपेक्षा अल्प मात्रा में। सुषुप्तावस्था तो निरन्तर अज्ञानावरित आनन्द अवस्था है, परन्तु जाग्रत्-स्वप्नावस्था में सुखाकार वृत्ति कभी कभी होती है ।।२१०।।

आनन्दमय कोश आत्मा नहीं है।

नैवायमानन्दमयः परात्मा, सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात् ।
कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया, विकारसङ्घातसमाहितत्वात् ॥२११॥

अर्थ—यह आनन्दमय कोश भी परात्मा नहीं है, क्योंकि यह उपाधियुक्त है, प्रकृति का विकार है, शुभकर्मों का फल है और प्रिय-मोद-प्रमोद अवयवों के संघात से युक्त है।

व्याख्या—**अयम् आनन्दमयः**—यह आनन्दमय कोश भी **परात्मा**—परमात्मा, मुख्यात्मा **नैव**—नहीं ही है, इसके चार कारण वताते हैं। **सोपाधिकत्वात्**—आत्मा की उपाधि होने से, आत्मा साक्षी है, उपाधि साक्ष्य है, 'द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः' साक्षी में साक्ष्य के धर्म नहीं होते, इसलिये आनन्दमय कोश आत्मा की उपाधि होने से आत्मा नहीं है। **प्रकृतेः विकारात्**—प्रकृति, अविद्या का विकार होने से, 'तमो-जृम्भिता' अविद्या के तमोगुण से उत्पन्न होने से, यह कोश प्रकृति का विकार है **सुकृतिक्रियायाः कार्यत्वहेतोः**—इस वृत्ति के उदय होने का कारण पुण्य कर्म हैं, जैसे पूर्व में कहा है 'पुण्यस्यानुभवे विभाति' पुण्यों का फल होने से, आत्मसाक्षात्कार होने पर आनन्दमयकोश—उपाधि का वाध हो जाता है, इसलिये यह अनित्य अविद्या का कार्य है **विकार-संघात-समाहितत्वात्**—विकारों के संघात से उदय होने के कारण। 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रुति से प्रिय-मोद-प्रमोद सुखरूप अवयव जो कि इष्टार्थ दर्शन-लाभ-भोग सुख को अनुभव करते हैं, उन अवयवों के संघात से जायमान, आनन्दमय कोश आत्मा नहीं है ॥२११॥

पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः कृते ।
तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते ॥२१२॥

अर्थ—श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पाँचों कोशों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अवधिरूप बोधस्वरूप साक्षी आत्मा वच रहता है।

व्याख्या—**पंचानामपि कोशानाम्**—पाँचों कोशों के, अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय कोशों के **युक्तितः**—युक्ति द्वारा, विधिपूर्वक, श्लोक १५६ से लेकर २११ तक वताई हुई विधि से **निषेधे कृते**—'नायमात्मा' यह आत्मा नहीं है, इस प्रकार प्रत्येक कोश का निषेध, निराकरण कर देने पर, **तन्निषेधावधिः**—उस कोशों के निराकरण की जो अवधि, सीमा है, वाध करने पर जो अधिष्ठान रहता है, वह **साक्षी**—द्रष्टा, **बोधरूपः**—केवल ज्ञानरूप, निर्विषयक ज्ञानरूप **अवशिष्यते**—

साक्षी आत्मा बचता है। साक्षी भी साक्ष्यभाव की अपेक्षा से कहा जाता है, वास्तव में तो वह निरुपाधिक निर्गुण मायातीत मन वाणी का अविषय शुद्ध अद्वितीय ब्रह्म ही है ।।२१२।।

वह अवशेष रहनेवाला ही मुख्यात्मा है।

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरञ्जनः ।
सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता ।।२१३।।

अर्थ——जो यह आत्मा स्वयंप्रकाश, पाँचों कोशों से पृथक्, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी, त्रिकाल–अबाधित, निर्विकार, निर्मल और नित्यानन्दस्वरूप है, उसे ही विवेकी पुरुष अपना वास्तविक आत्मा जाने।

व्याख्या——**यः अयम् आत्मा**–जो यह पंचकोशों के निराकरण के उपरान्त बचता है, साक्षी बोधरूप, आत्मा **स्वयंज्योतिः**–स्वयंप्रकाश **पंचकोशविलक्षणः**–पाँचों कोशों से विलक्षण, भिन्न **अवस्थात्रयसाक्षी**–जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का जाननेवाला, साक्षीरूप से तटस्थ होकर जाननेवाला **सत्**–त्रिकाल-अबाधित **निर्विकारः**–षड्भाव विकार से शून्य, अपरिणामी **निरंजनः**–शुद्ध, पवित्र, माया के दोषों से असंग, निर्लेप **सदानन्दः**–अखण्ड आनन्दरूप **सः**–वह ही **विपश्चिता**–विद्वान्, विवेकशील, विचारवान पुरुष द्वारा, **स्वात्मत्वेन**–अपने आत्मा के रूप से, अपना आपा **विज्ञेयः**–जानना चाहिये ।।२१३।।

'अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहंप्रत्ययलम्बनः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पंचकोशविलक्षणः ।।१२७।।'

इस श्लोक से जिस परमात्मा के स्वरूप का वर्णन आरम्भ किया था, उसका ऊपर के श्लोक में उपसंहार किया है। परन्तु पंचकोश के अपवाद के पश्चात् क्या शेष रहता है, यह बात शिष्य की समझ में नहीं आई, इसलिये वह शंका करता है

शिष्य उवाच

मिथ्यात्वेन निषिद्धेषु कोशेष्वेतेषु पञ्चसु ।
सर्वाभावं विना किञ्चिन्न पश्याम्यत्र हे गुरो ।
विज्ञेयं किमु वस्त्वस्ति स्वात्मनात्र विपश्चिता ।।२१४।।

अर्थ—शिष्य ने कहा—हे गुरो ! इन पाँचों कोशों के मिथ्यारूप से निषिद्ध हो जाने पर तो मैं शून्यता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखता, फिर विचार कुशल पुरुष किस वस्तु को अपना आत्मा जाने ।

व्याख्या—**शिष्यः उवाच**—शिष्य ने कहा **हे गुरो**—हे श्री गुरुदेव ! **मिथ्यात्वेन**—मिथ्या रूप से **एतेषु पंचसु कोशेषु निषिद्धेषु**—इन पाँच कोषों का निषेध, निराकरण किया जाने पर **अत्र**—इस शरीर में **सर्व-अभावम्**—सर्व के अभाव, शून्यता के **विना**—अतिरिक्त **किंचित् न पश्यामि**—मैं कुछ नहीं देखता, अर्थात् मन वाणी का विषय कुछ बाकी नहीं रहता इसलिये **विपश्चिता**—विवेक कुशल साधक द्वारा **स्वात्मना**—अपने आत्मा के रूप से, 'यही मेरी आत्मा है, मुख्यात्मा है' इस प्रकार निश्चय से **विज्ञेयम्**—जानने के लिये **किमु वस्तु अस्ति**—क्या वस्तु रहती है, अर्थात्, पंचकोश निराकरण के पश्चात् कोई ऐसी वस्तु नहीं रहती जिसे आत्मा के रूप से जाना जाये । मैं किसे आत्मा जानूं, मेरी यह शंका दूर करो ।।२१४।।

यद्यपि करुणासिन्धु गुरु ने 'अथ ते संप्रवक्ष्यामि स्वरूपं परमात्मनः' इस श्लोक से आरम्भ करके 'नियमितमनसा त्वम्' इस श्लोक के अन्त तक १२ श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है, तो भी विषय की दुरूहता से शिष्य अभी समझा नहीं है, इसलिये शिष्य पर परम अनुग्रह करने के लिये श्रीगुरुदेव शिष्य के प्रश्न की प्रशंसा करके पुनः समझाते हैं । शिष्य के प्रश्न से गुरु ने जान लिया है कि उसकी बुद्धि की स्थूलता अभी पूरी तरह से नष्ट नहीं हुई है, इसलिये बुद्धि को सूक्ष्म बनाने के लिये फिर से उपदेश करते हैं । बुद्धि की सूक्ष्मता की ओर श्लोक २१६ में संकेत भी करते हैं । इस शंका की ओट में श्रीभगवत्पाद ने नास्तिक शून्यवादी बौद्धों का मत दिया है, और आगे उसका खण्डन भी किया है ।

श्रीगुरुरुवाच

सत्यमुक्तं त्वया विद्वन्निपुणोऽसि विचारणे ।
अहमादिविकारास्ते तदभावोऽयमप्यथ ।।२१५।।
सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते ।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया ।।२१६।।

अर्थ—श्रीगुरु ने कहा—हे विद्वान् तुमने ठीक ही कहा है, तुम विचार करने में कुशल हो । वे अहमादि विकार, उनके निराकरण के उपरान्त उनका अभाव,

ये भाव-अभाव सब जिससे अनुभव किये जाते हैं, परन्तु जो स्वयं अनुभव में नहीं आता, उस जानने वाले साक्षी को तुम अतिसूक्ष्म बुद्धि वृत्ति से अपना आत्मा जानो।

व्याख्या—**श्री गुरुः उवाच**–श्रीगुरुदेव कहने लगे **विद्वन्**–हे मुमुक्षो! **त्वया**–तुझसे **सत्यम् उक्तम्**–सत्य ही कहा गया है, अर्थात् तेरा प्रश्न श्लाघनीय है, यह विषय सुगम नहीं है, **विचारणे निपुणः असि**–परन्तु तू विचार करने में निपुण है, कुशल है, 'ऊहापोहविचक्षणः'।

अब समझाना आरम्भ करते हैं। **ते अहमादि-विकाराः**–वे अहमादि विकार, अहंकार से लेकर स्थूल देहपर्यन्त, पंचकोश, इनका भाव **अथ**–इनके भाव के निराकरण के पश्चात्, **अयम् तत् अभावः अपि**–यह जो अभाव रहता है वह भी, अर्थात् भाव-अभाव दोनों ही **सर्वे**–अहंकारादि के भाव, उनके अपवाद होने पर उनका अभाव, अहंकारादि के साथ तादात्म्य होने पर उनमें आत्माभिमान, आत्मा अनात्मा का विवेक होने पर अहंकारादि से आत्मा की पृथकता अर्थात् अहंकारादि में तादात्म्य का अभाव **येन अनुभूयन्ते**–जिस साक्षी रूप आत्मा द्वारा अनुभव किये जाते हैं **यः स्वयम् न अनुभूयते**–जो स्वयं अनुभव में नहीं आता, सर्वसाक्षी होने से आत्मा का साक्षी अन्य कोई नहीं है **तम् वेदितारम्**–उस सर्वसाक्षी को **सुसूक्ष्मया बुद्ध्या**–एकाग्र, अन्यवासक्तिरहित बुद्धि से **आत्मानम् विद्धि**–आत्मा को जान, साक्षात् अनुभव कर। आत्मा का स्वरूप केवल युक्ति से समझ में नहीं आयगा, ब्रह्माकार-वृत्ति से, सूक्ष्म वृत्ति से आत्मसाक्षात्कार करने पर ही आत्मा, अपना आपा, जाना जाता है ॥२१५; २१६॥

पूर्व में कहा है कि पंचकोश के निषेध होने पर 'तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते।' इस तथा पूर्वके श्लोक में भी साक्षी को विशद किया और अगले दो श्लोकों में भी साक्षी भाव का ही निरूपण किया है।

तत्साक्षिकं भवेत्तत्तद्यद्यद्येनानुभूयते।
कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्यते ॥२१७॥

अर्थ—जिस-जिस वस्तु का जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है उस-उस वस्तु का अनुभव करनेवाला उस-उस वस्तु का साक्षी है। जो विषय किसी के अनुभव में न आये, उसका साक्षी कोई नहीं होता।

व्याख्या—**यत्-यत्**–जिस-जिस वस्तु का **येन अनुभूयते**–जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है **तत्-तत्**–उस-उस वस्तु का **तत् साक्षिकम् भवेत्**–वह अनुभव करने वाला उस-उस वस्तु का साक्षी है। जब तुम कहते हो 'सर्वभावं विना किंचित् न पश्यामि' इससे सिद्ध होता है कि तुम सर्व-अभाव को देखते हो। तुम उस अभाव के साक्षी हो, 'तत्साक्षिकम्' इसलिये तुम बोधरूप आत्मा हो। अब इस का कारण बताते हैं। **अन्-अनुभूतार्थे**–जो अर्थ, वस्तु अपने अनुभव का विषय न बनसके उस अर्थ में **कस्यापि**–किसी भी पुरुष का **साक्षित्वम् न उपयुज्यते**–साक्षीपना नहीं स्वीकार किया जाता।

साक्षी और साक्ष्य ये दोनों सापेक्षिक शब्द हैं, साक्षी के विना साक्ष्य नहीं होता, और साक्ष्य के विना साक्षी नहीं होता। जब दृश्य प्रपंच का बाध होता है, तो साक्षी का भी बाध हो जाता है। आत्मा साक्षी है, अहंकारादि भाव तथा उनका अभाव साक्ष्य हैं। जब वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है तो साक्षी और साक्ष्य दोनों का विराम हो जाता है, और वृत्ति स्वयं ब्रह्म बन कर अपने को जानती है। आत्मा के साक्षी के अभाव में आत्मा को आत्मा ही जानता है। जहाँ भी अनुभव होगा, वहीं साक्षी होगा, साक्षी के विना अनुभव नहीं बनता ॥२१७॥

असौ स्वसाक्षिको भावो यतः स्वेनानुभूयते।
अतः परं स्वयं साक्षात्प्रत्यगात्मा न चेतरः ॥२१८॥

अर्थ—यह आत्मा अपना स्वयं ही साक्षी है, क्योंकि यह स्वयं अपने ही से अनुभव किया जाता है। इसलिये प्रत्यगात्मा ही साक्षात् स्वयंप्रकाश परंब्रह्म है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

व्याख्या—**असौ भावः**–वह भाव, पंचकोशों के निषेध होने पर जो भावसत्ता अवशेष रहे, वह **स्वसाक्षिकः**–अपना साक्षी आप ही है **यतः स्वेन अनुभूयते**–क्योंकि उस आत्मा का अनुभव स्व-आत्मा से किया जाता है, अन्य के अनुभव से आत्मा का साक्षित्व नहीं बनता। **अतः परम् प्रत्यगात्मा**–इसलिये सर्व से सूक्ष्म सर्वान्तरात्मा ही, कूटस्थ चैतन्यात्मा ही **साक्षात् स्वयं**–प्रत्यक्ष, सबके अनुभव से निज में अपना साक्षी है **इतरः न च**–अपने से भिन्न आत्मा का दूसरा साक्षी नहीं है। मायिक पदार्थ जड़ होने से, उनका अनुभव चैतन्यात्मा द्वारा ही होता है। परन्तु आत्मा, स्वयंप्रकाश

होने से अपना आप ही साक्षी है, 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतिः ।।२१८।।

पूर्व विषय का ही स्पष्टीकरण करते हैं। श्रीगुरुदेव ने शिष्य की त्रुटि को पकड़ लिया, इसलिये उसकी बुद्धि को तीक्ष्ण करने के लिये इस सूक्ष्म प्रक्रिया को वार-वार कहते हैं। अगले श्लोक में कठिन प्रक्रिया है, उसके पश्चात् चार श्लोकों में (श्लोक २२३ तक) इसी प्रक्रिया को सरल दृष्टान्तों से समझाते हैं।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरं योऽसौ समुज्जृम्भते
प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तः स्फुरन्नैकधा ।
नानाकारविकारभागिन इमान्पश्यन्नहंधीमुखान्
नित्यानन्दचिदात्मना स्फुरति तं विद्धि स्वमेतं हृदि ।।२१९।।

अर्थ—अन्तरात्मारूप से जो सदा एकरस 'मैं, मैं' करके स्फुरित होता हुआ, इन नाना आकार विकारों में विभाजित अहंकार बुद्धि आदिकों को साक्षीरूप से देखता हुआ जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं में जो यह अतिस्पष्ट प्रकाशता है, और जो सच्चिदानन्द रूप से अन्तःकरण में स्फुरित होता है, उसी को तू अपना आपा (आत्मा) जान।

व्याख्या—**प्रत्यग्रूपतया**—अन्नमय कोश के भीतर एक अन्तरात्मा है जिसे प्राणमय कोश कहते हैं, उसके भीतर मनोमयकोश अन्तरात्मा है। इसी प्रकार अन्य कोशों को समझना। सर्वकोशों के भीतर, जिस से आगे अन्य कोश नहीं है, सर्वान्तर आत्मा है, जिसे प्रत्यगात्मा कहते हैं, कूटस्थ चैतन्यात्मा, व्यक्तिगत आत्मा जो विभु भी है, उस रूप से **सदा**—सर्वकाल में, उस प्रत्यगात्मा का कभी वाध नहीं होता **एकधा**—एक रूप से, विना विकार के।

'अहम् अहम्' इति स्फुरन्—'मैं' 'मैं' करके जिसकी स्फुरणा होती है। यह 'अहम्' दो प्रकार का है, एक गौण, एक मुख्य। यहाँ मुख्य 'अहम्' से प्रयोजन है। जड़ अन्तःकरण, बुद्धि आत्मा की समीपता से उस के प्रकाश से चेतनी होकर, उसके प्रतिविम्व को ग्रहण करती है, बुद्धि में आत्मा का प्रतिविम्व पड़ता है जैसे दर्पण में सूर्य का प्रतिविम्व जो कि अन्धकार को प्रकाशित भी कर सकता है, उसी प्रकार यह प्रतिविम्व भी अपने को 'मैं' 'मैं' की स्फुरणा से प्रगट करता है। मर्खों की दृष्टि

में यही चिदाभास, आत्मप्रतिफलनयुक्त अन्तःकरण ही आत्मा है, पर यह मुख्यात्मा नहीं है, जैसे दर्पण में सूर्य प्रतिविम्ब सूर्य नहीं है। दूसरा मुख्य 'अहम्'—अर्थात् स्वयं-प्रकाश सर्वाधिष्ठान आत्मा है, 'सा काष्ठा सा परा गतिः' इति श्रुतिः, कठोपनिषद १।३।११, यह आत्मा भी 'अहम्' 'अहम्' करके स्फुरित होता है, साक्षी रूप से स्फुरित होता है। सभी प्राणी श्रीमान् 'अहम्' के न जानते हुए भी उसके उपासक हैं, निरन्तर श्रीमान् 'अहम्' आत्मा की प्रसन्नता के लिये यत्नवान हैं, चाहे विधिपूर्वक चाहे अविधि पूर्वक सभी उसके भक्त हैं। 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, विश्राम करने से मुझे सुख मिलेगा, सिनेमा देखने से मुझे सुख मिलेगा। सुन्दर भोजन से सुख मिलेगा' इत्यादि प्रकार से श्रीमान् 'अहम्' की प्रसन्नता के लिये ही समस्त जगद्व्यवहार है। यह गौण 'अहम्' अहंकार है, मुख्य 'अहम्' आत्मा है। गौण 'अहम्' देहप्राणेन्द्रियादि में आत्माभिमान से उत्पन्न होता है। मुख्य 'अहम्' दृश्य पदार्थों के भाव तथा अभाव के साक्षी रूप से प्रगट होता है।

अहंधीमुखान्—अहंकार, बुद्धि से लेकर स्थूल देहपर्यन्त, अहंकार जिसमें मुख्य है **इमान्**—इनको **नाना आकारविकार-भागिनः**—कैसे हैं ये? नाना आकार, रूप, विकार—षड्भावों से प्रभावित होनेवाले, जन्म-स्थिति-विपरिणाम्-वृद्धि-अपक्षय-नाशरूप नाना विकारों में भागी-विभाजित, नाना रूप नाम विकारों में विभाजित, ऐसे परिणाम को प्राप्त हुए 'अहंधीमुखान्' इनको **पश्यन्**—साक्षीरूप से देखता हुआ, प्रकाशित करता हुआ, विषय करता हुआ **जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिषु**—जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में, तीनों का साक्षी होने से 'अवस्थात्रयसाक्षी' तीनों अवस्थाओं में अवाधित, उनमें **स्फुटतरम्**—अतिस्पष्ट, मैं जाग्रत् को जानता हूँ, जाग्रत् से जब स्वप्नावस्था में जाता हूँ तो मैं स्वप्न को जानता हूँ, जब सुषुप्ति में जाता हूँ तो सुषुप्ति को भी जानता हूँ, जाग्रत् के भोगों को छोड़कर उनसे अलिप्त मैं स्वप्नावस्था में जाता हूँ, और सुषुप्ति में जाग्रत्-स्वप्न दोनों लय हो जाते हैं, परन्तु मैं तब भी रहता हूँ, इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में 'मैं' साक्षी रूप से स्पष्ट भासता हूँ। **यः**—जो आत्मा **समुज्जृम्भते**—स्पष्ट भासता है **असौ**—यह 'अहम्' वही है।

नित्यानन्दचिदात्मना हृदि स्फुरति—सदा आनन्द और बोधरूप से अन्तःकरण वृत्ति में जिसकी स्फुरणा होती है, प्रकाश पड़ता है **तम् एतम्**—उस इसको ही **स्वम् विद्धि**—आत्मा जान जो 'अहम्' 'अहम्' करके प्रगट होता है, अहंकारादि जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है, तीनों अवस्थाओं का साक्षी है, अन्तःकरण वृत्ति में जिसका

प्रतिफलन पड़ता है, उसी प्रत्यगात्मा को तू अपना आत्मा जान। यही 'त्वम्' पद का शोधित अर्थ है ।।२१९।।

इसी विषय को सरलता से सदृष्टान्त समझाते हैं।

घटोदके बिम्बितमर्कबिम्ब-मालोक्य मूढो रविमेव मन्यते ।
तथा चिदाभासमुपाधिसंस्थं, भ्रान्त्याहमित्येव जडोऽभिमन्यते ।।२२०।।

अर्थ——जिस प्रकार मूढ पुरुष घड़े के जल में प्रतिबिम्बित सूर्यबिम्ब को देखकर उसे सूर्य ही समझता है, उसी प्रकार उपाधि में स्थित चिदाभास को अज्ञानी पुरुष भ्रम से यही 'मैं हूँ' इस प्रकार उसमें आत्मत्व का अभिमान करता है।

व्याख्या——अब गौण 'अहम्' को जो कि मूढों का निश्चय होता है सदृष्टान्त बताते हैं। **मूढः**–अविवेकी **घट-उदके**–घट के जल में अन्तर्गत **बिम्बितम्**–प्रतिफलित हुए **अर्कबिम्बम्**–सूर्यमण्डल के प्रतिबिम्ब को **आलोक्य**–देखकर **रविः एव**–यह सूर्य है **मन्यते**–ऐसा मानता है **तथा**–उसी प्रकार **उपाधिस्थम्**–उपाधि में प्रतिबिम्बित, पंचकोशों में प्रतिबिम्बित **चित् आभासम्**–चैतन्य आत्मा के आभास को, प्रतिफलन को **भ्रान्त्या**–अज्ञान से, अविवेक से **जडः**–स्थूलबुद्धि, मूढ **'अहम्' इति एव**–यह 'मैं' हूँ, यही आत्मा है **अभिमन्यते**–इस प्रकार उपाधिस्थ चिदाभास में आत्माभिमान करता है। यह उपाधिस्थ चिदाभास 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है ।।२२०।।

घटं जलं तद्गतमर्कबिम्बं, विहाय सर्वं विनिरीक्ष्यतेऽर्कः ।
तटस्थ एतत्त्रितयावभासकः, स्वयंप्रकाशो विदुषा यथा तथा ।।२२१।।

अर्थ——घट जल और जल में स्थित सूर्य प्रतिबिम्ब इन तीनों को न देखकर, इन तीनों के प्रकाशक स्वयंप्रकाश सूर्य को जैसे विवेकशील पुरुष विशेषरूप से देखता है, उसी प्रकार (उपाधिस्थ चिदाभास को न देखकर मुख्य चेतन को देखे।)

व्याख्या——अब मुख्य 'अहम्' आत्मा के स्वरूप को विद्वान् की दृष्टि से बताते हैं। **घटम्**–घट को **जलम्**–जल को–**तद्गतम् अर्कबिम्बम्**–तथा घट के जल में अन्तर्गत सूर्य प्रतिबिम्ब को **सर्वम्**–इन तीनों को **विहाय**–छोड़कर, न देखकर **तटस्थः**–उदासीन, घट, जल तथा प्रतिबिम्ब से अलिपायमान, असंग **एतत्–त्रितय अवभासकः**–घट, जल तथा प्रतिबिम्ब इन तीनों के प्रकाशक **स्वयंप्रकाशः**–अपने प्रकाश से प्रकाशित, घट, जल, प्रतिबिम्ब की भाँति अन्य से प्रकाशित नहीं,

यथा–जिस प्रकार **विदुषा**–विवेकशील पुरुष से **अर्कः**–साक्षात् सूर्यविम्व **विनिरीक्ष्यते**–विशेष रूप से स्पष्ट देखा जाता है **तथा**–उसी प्रकार ।।२२१।।

देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेतं, विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम् ।
द्रष्टारमात्मानमखण्डबोधं, सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम् ।।२२२।।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म-मन्तर्बहिःशून्यमनन्यमात्मनः ।
विज्ञाय सम्यङ्निजरूपमेत-त्पुमान्विपाप्मा विरजो विमृत्युः ।।२२३।।

अर्थ––स्थूल देह, अन्तःकरण और चिदाभास–इन तीनों को छोड़कर बुद्धि-गुहा में स्थित साक्षीरूप इस आत्मा को अखण्डबोधस्वरूप, सबके प्रकाशक और सत्-असत् दोनों से भिन्न, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, भीतर-वाहर के भेद से रहित और अपने आपसे सर्वथा अभिन्न इस (आत्मा) को भलीभाँति अपने निजरूप से साक्षात्कार करके पुरुष पापरहित, शान्त और अमर हो जाता है ।

व्याख्या––श्लोक २२१ से सम्बन्धित है । अब 'त्वम्' पद का शोधित अर्थ वताते हैं । **देहम्**–घट के सदृश स्थूल देह को **धियम्**–स्वच्छ जल के सदृश **बुद्धि** को तथा **एतम् चित्प्रतिबिम्बम्**–जल में अन्तर्गत सूर्य प्रतिविम्व की भांति स्वच्छ बुद्धि में पड़े हुए चैतन्य आत्मा के प्रतिबिंव को **विसृज्य**–छोड़कर, त्यागकर **बुद्धौ गुहायाम्**–बुद्धिरूपी गुफा में, बुद्धि उपाधि होने से आत्मा का आवरक, है, इसलिये **निहितम्**–ढके हुए, माया के आवरण की ओट में ऐसे आत्मा को **द्रष्टारम् आत्मानम्**–तटस्थ साक्षी को, मुख्य चैतन्य द्रष्टा को, प्रतिविम्व द्रष्टा को नहीं, सर्वसाक्षी आत्मा को **अखण्डबोधम्**–अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप, एकरस ज्ञानरूप को, इसलिये **सर्व प्रकाशम्**–सर्व के प्रकाशक को, ज्ञान-अज्ञान दोनों के प्रकाशक को, इसलिये

सत् असत् विलक्षणम्–सत्-प्रत्यक्ष, अग्नि, जल, पृथ्वी अन्नादि; असत्-अप्रत्यक्ष, वायु, आकाश, इनसे भिन्न, अथवा प्रकृति और उसके विकारों से भिन्न, अथवा सत्–जो प्रतीत हो पर हो नहीं, स्वप्न सृष्टि के समान, असत्–जो हो ही नहीं, शशशृंग, आकाशसुमुन के सदृश । सत् असत् से विलक्षण को **नित्यम्**–जिसकी सत्ता तीनों कालों तथा तीनों अवस्थाओं में ज्यों की त्यों रहे, कालपरिच्छेद रहित को **विभुम्**–देश परिच्छेदरहित, सर्वव्यापी, उसको **सर्वगतम्**–सर्वाधिष्ठान, जगत् प्रतिष्ठा, उपादान कारण रूप से सर्वानुगत, उसको **सुसूक्ष्मम्**–रूपादिरहित होने से दुर्ज्ञेय, पंच कोशों के सर्वान्तिर होने से सुसूक्ष्म, माया से परे, उसको **अन्तर्-**

बहिः शून्यम्—अनन्त और निरवयव होने से भीतर बाहर से रहित, देश-काल-वस्तु परिच्छेदरहित, उसको 'अनन्तरमबाह्यम्' इति श्रुतिः। **आत्मनः अनन्यम्**—आत्मा से अन्य नहीं, ब्रह्म से अभिन्न, अपने आपे से अभिन्न, उसको

एतत् निजरूपम्—इस अपने आपे का **सम्यक् विज्ञाय**—प्रत्यक्ष आत्मसाक्षात्कार करके, शास्त्रज्ञान से नहीं, निर्विकल्प समाधि में ब्रह्म का साक्षात् अनुभव करके **पुमान्**—विद्वान् **विपाप्मा**—निष्पाप **विरजः**—रजोगुणरहित, चंचलतारहित, शान्त, निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा होने से त्रिताप हेतु रजोगुणरहित, प्रपंच में मिथ्या बुद्धि होने से काम-क्रोध-लोभ-मद-मात्सर्यादि जो रजोगुण के घोर धर्म हैं, उनसे अविचलित, **विमृत्युः**—अमर, ब्रह्म आदि अन्त हीन है, इसलिये ब्रह्मवेत्ता भी अमर है, मृत्युरहित है। स्वरूपच्युति ही मृत्यु है, उससे रहित हो जाता है। 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' सनतसुजातोक्ति। मैं स्वरूप में प्रमाद को ही मृत्यु कहता हूँ।

ये चार श्लोक २२०-२२३ महत्त्व पूर्ण हैं, यहां श्रीभगवत्पाद ने सरल दृष्टान्तों से इस गहन विषय को समझाया है, साथ-साथ इनमें साधना प्रक्रिया भी निहित है, बुद्धि गुहा ध्यानस्थल बताया है, साधक वहीं आत्मानुसन्धान करे। ॥२२२-२२३॥

अगले श्लोक में 'त्वम्' पद के शोधित अर्थ का उपसंहार करते हैं।

विशोक आनन्दघनो विपश्चित्स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित्।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्धमुक्तेर्विना स्वतत्त्वावगमं मुमुक्षोः॥२२४॥

अर्थ—वह प्रज्ञावान पुरुष शोकरहित और आनन्दघनरूप हो जाने से स्वयं कभी किसी से भयभीत नहीं होता। मुमुक्षु पुरुष के लिये आत्मतत्त्व के साक्षात्कार किये विना, संसार बन्धन से छूटने का और कोई मार्ग नहीं है।

व्याख्या—**विशोकः**—निर्दुःख, 'न वै तस्य भवेन्मोहो न च शोको ऽद्वितीयतः' अपरोक्षानुभूति ॥५४॥ उस अवस्था में सम्पूर्ण भूतों को आत्मरूप से जानने वाले उस महात्मा को, द्वितीय के अभाव में, न मोह होता है न शोक। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति श्रुति ईशावास्य १।७। सर्वप्राणियों में एक आत्मतत्व देखनेवाले को कहाँ मोह और कहाँ शोक रहता है। **आनन्दघनः**—गाढा आनन्द, आनन्द की मूर्त्ति, प्रतिष्ठा **विपश्चित्**—सर्वज्ञ, सर्वको आत्मरूप से जाननेवाला **स्वयम् कुतश्चित् कश्चित् न बिभेति**—अपने आप कहीं भी किसी से भी नहीं

डरता, सब देश-काल-वस्तु में वह अपना आत्मा देखता है, अपने से भय नहीं होता, दूसरे से भय होता है, 'न विभेति कुतश्चनेति' इति श्रुतिः, नवम अनुवाक तैत्तिरीयोपनिषद । **मुमुक्षोः**–नित्यनिरतिशय निरालम्व सुख की इच्छा करने वाले का **स्वतत्त्व-अवगमम् विना**–अपने आत्मा का साक्षात्कार किये विना **भवबन्धमुक्तेः**–अहंकार से लेकर देह तक के संसारबन्धन से छूटने का **पन्थाः**–मार्ग, उपाय **अन्यः न अस्ति**–दूसरा कोई उपाय नहीं है । यह चौथे प्रश्न 'कथं विमोक्षः ?' का पुनः उत्तर दिया है ॥२२४॥

इस प्रकार यहाँ तक 'त्वम्' पद के अर्थ का शोधन किया है । 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ 'अल्पज्ञ, अल्पशक्ति , परतन्त्र, कर्ता, भोक्ता, दीन-दुःखी देहेन्द्रिय प्राण अन्तःकरण में अभिमान करनेवाला अविद्या के वशीभूत अविद्याविशिष्ट जीव है' (गुरु वचन) । दूसरे शब्दों में यह कहो कि 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ पंचकोश हैं । पंचकोशों का निराकरण करना 'त्वम्' पद का अर्थशोधन करना है । 'नायमात्मा' कहकर पंचकोशों का श्लोक १५५ से २१२ तक अपवाद किया है, और फिर 'तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपो ऽ वशिष्यते' कहकर त्वम् पद का लक्ष्यार्थ चैतन्य कूटस्थ प्रत्यगात्मा वताया है जो कि पंचकोश विलक्षण, अवस्थात्रयसाक्षी और असंग है ।

अब 'तत्' पद के वाच्यार्थ का परिशोधन करते हैं । 'तत्' पद का वाच्यार्थ ईश्वर, और ईश्वर सम्वन्धिनी माया तथा उसका कार्य प्रपंच जगत्, 'तत्' पद के वाच्यार्थ को शोध कर उसका लक्षितार्थ 'ब्रह्म' वतायेंगे ।

जीव और ब्रह्म का अभेदज्ञान भवमोक्ष का कारण है, दो श्लोकों में ।

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञान भवमोक्षस्य कारणम् ।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः ॥२२५॥

अर्थ—ब्रह्म और जीव का अभेद विज्ञान ही भवबन्धन से मुक्त होने का कारण है, जिससे यत्नशील मुमुक्षु अद्वितीय आनन्दस्वरूप ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या—ब्रह्म-अभिन्नत्व-विज्ञानम्–'अहं ब्रह्मास्मि',–मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव से अपने को ब्रह्म से अभिन्न जानना, अपरोक्षानुभव से, विज्ञान का अर्थ है विशेषज्ञान अर्थात् अनुभवसहित ज्ञान, यही विज्ञान **भवमोक्षस्य**–संसार से मुक्ति का **कारणम्**–उपाय है । **येन**–इस प्रत्यक्ष अनुभव से **अद्वितीयम्**–निर्भेद **आनन्दम्**–अतिशय सुखरूप **ब्रह्म**–ब्रह्म को **बुधैः**–यत्नशील मुमुक्षु **सम्पद्यते**–प्राप्त

करते हैं, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होता है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है 'आनन्दो ब्रह्म' ब्रह्म आनन्दरूप है 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म एक ही अद्वितीय है इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं ।।२२५।।

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः ।
विज्ञातव्यमतः सम्यग्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ।।२२६।।

अर्थ—ब्रह्मनिष्ठ हो जाने पर ब्रह्मवेत्ता फिर जन्म-मरणरूप संसार-चक्र में नहीं पड़ता, इसलिये आत्मा का ब्रह्म से अभिन्नत्व भले प्रकार अनुभव से जान लेना चाहिये ।

व्याख्या—**ब्रह्मभूतः**—ब्रह्म में निष्ठ हुआ **विद्वान्**—ब्रह्मवेत्ता **पुनः न आवर्तते**—फिर संसार में नहीं लौटता । 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतिः । **अतः आत्मनः**—इसलिये जीवात्मा की **ब्रह्म-अभिन्नत्वम्**—ब्रह्म से अभिन्नता **सम्यक्**—प्रत्यक्ष **विज्ञातव्यम्**—अनुभव करनी चाहिये । पूर्व में कहा है, 'ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम्' और आगे भी कहेंगे, 'ब्रह्मैव जीवः सकलम् जगच्च' ब्रह्म ही **जीव और सकल जगत् है** ।।२२६।।

अब निष्प्रपंच ब्रह्म का निरूपण करते हैं ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतःसिद्धम् ।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति ।।२२७।।

अर्थ—ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप अनन्त शुद्ध, पर, स्वतः-सिद्ध, नित्य आनन्दरस-स्वरूप प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न है तथा निरन्तर विजयी होता है ।

व्याख्या—ब्रह्म कैसा है ? इस श्लोक का प्रथम चरण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', तैत्तिरीयोपनिषद की २।१ श्रुति है, इसमें निर्गुण ब्रह्म के लक्षण बताये हैं । **सत्यम्**—त्रिकाल अबाधित **ज्ञानम्**—बोधरूप **अनन्तम्**—देश काल वस्तु परिच्छेदरहित **विशुद्धम्**—एकतत्त्व, अन्य-अमिश्रित, केवल **परम्**—मायातीत **स्वतः-सिद्धम्**—अपनी सत्ता, स्फूर्ति, प्रियता से ही सिद्ध, स्वयं-प्रकाश, परनिरपेक्ष **नित्यानन्दैकरसम्**—सर्वदेश सर्वकाल में एकरस आनन्द, निर्विकारी आनन्द **प्रत्यगभिन्नम्**—आत्मा से अभिन्न, 'अयमात्मा ब्रह्म', अथर्ववेद का महावाक्य, मांडूक्योपनिषद ।२। **निरन्तरम्**—सर्वदा, विना परिच्छेद के **ब्रह्म जयति**—ब्रह्म विजय पाता है, सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तता है, सकल से अबाधित सर्वाधिष्ठान है ।।२२७।।

सदिदं परमाद्वैतं स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात् ।
न ह्यन्यदस्ति किञ्चित्सम्यक्परमार्थतत्त्वबोधे हि ॥२२८॥

अर्थ—यह ब्रह्म परमाद्वैत सत्य पदार्थ है, स्वात्मा से अतिरिक्त और किसी वस्तु के अभाव से। इस परमार्थ-तत्त्व का साक्षात् बोध हो जानेपर और कुछ भी नहीं रहता।

व्याख्या—**इदम्**—यह ब्रह्म **सत्**—सत्तावान है, त्रिकाल अबाध्य **परम्-अद्वैतम्**—शुद्ध अद्वैत ब्रह्म, जिसमें दूसरी वस्तु की गन्ध भी नहीं है, यही सत् है। **स्वस्मात्**—ब्रह्म से, अपने से **अन्यस्य वस्तुनः अभावात्**—दूसरी वस्तु के अभाव से, क्योंकि वह 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः। परमद्वैतब्रह्म सत् है, तो प्रतीत होनेवाला जगत् क्या है? इस पर कहते हैं **हि**—क्योंकि **सम्यक् परमार्थतत्त्वबोधे**—प्रत्यक्ष परमार्थ-तत्त्व—ब्रह्म, इसका साक्षात्कार होने पर **न हि अन्यत् अस्ति**—दूसरा कुछ नहीं रहता। जगत् की परमार्थ सत्ता नहीं है ब्रह्म ही जगत् बन कर भासता है। ॥२२८॥

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥२२९॥

अर्थ—अज्ञान के कारण नाना रूप से प्रतीत होनेवाला 'इदम्' रूप पूर्ण विश्व समस्त कल्पना के दोष से रहित ब्रह्म ही है।

व्याख्या—यह प्रतीयमान जगत् क्या है? **अज्ञानात्**—अविद्या से **नानारूपम्**—बहुरूप भेदवाला स्त्री पुरुष पशु कीट पतंगादि **सकलम् विश्वम्**—समस्त जगत् **यत्**—जो कि **इदम् प्रतीतम्**—इदम् रूपसे, यह है, 'अहम्' या 'त्वम्' रूप से नहीं इस प्रकार दृश्यमान है **तत् सर्वम्**—यह समस्त दृश्यमान विश्व, मन बुद्धि प्राणादि से विषयी होने वाला प्रपंच **प्रत्यस्त-अशेषभावना-दोषम्**—प्रत्यस्त-निकल गया है, मिट गया है, अशेष-समस्त, भावनादोष—कल्पना का दोष जिसमें से, सर्वकल्पना दोष शून्य, संज्ञादि भेद कलनारहित **ब्रह्मैव**—ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं है। जगत् में से नाम रूप निकाल देने पर जो अवशेष रहता है, वही ब्रह्म है, नाना नामरूप माया द्वारा कल्पित हैं, वस्तुतः जगत् ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है ॥२२९॥

अब मृत्तिका और घट का दृष्टान्त देकर इसको फिर समझाते हैं।

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः, कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात् ।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः, कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः ॥२३०॥

अर्थ—सब ओर से मृत्तिकारूप होने के कारण मिट्टी का घटनाम का कार्य मिट्टी से पृथक् नहीं होता. घड़े का रूप मृत्तिका से पृथक् नहीं है, अतः घट क्या वस्तु है ? घट शब्द मिथ्या ही कल्पित नाम मात्र है ।

व्याख्या—**मृत्-कार्यभूतः अपि**—मिट्टी का कार्य होता हुआ भी, घट का उपादान कारण मिट्टी है **कुम्भः मृदः**—घट अपने उपादान कारण मिट्टी से **भिन्नः न अस्ति**—पृथक नहीं है, कार्य कारणरूप ही होता है । 'सुवर्णात् जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम् ।' योगशिखोपनिषद ।७।, सुवर्ण आभूषणों में सुवर्णता शाश्वत रूप से रहती है, आभूषण सुवर्ण ही हैं । **सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्**—घट का सर्वदेश मिट्टी का स्वरूप होने से, अभिन्नता से । गोल, चौकोर पेटवाली मिट्टी **कुम्भरूपम्**—कुम्भ का रूप धारण करने से, नीली लाल चित्रकारी ऊपर होने से कुम्भ रूप घट **न पृथक् अस्ति**—अपने कारणभूत मिट्टी से पृथक्, भिन्न नहीं है **कुतः कुम्भः**—मिट्टी से भिन्न प्रतीत होने वाला मिट्टी के अतिरिक्त 'कुम्भः' इस नामवाली क्या कोई वस्तु है, अर्थात् कुछ वस्तु नहीं । **मृषा कल्पितनाममात्रः**—कुम्भ शब्द मिथ्या ही कल्पित नाम मात्र है, मिट्टी से व्यतिरिक्त कुम्भ की सत्ता नहीं है । 'वाचारंभणं विकारो नामधेयम्' इति श्रुतिः छान्दोग्योपनिषद ६।१।४ विकार तो वाणी से नाममात्र है ।।२३०।।

इसी भाव का विशदीकरण करते हैं ।

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते ।
अतो घटः कल्पित एव मोहान्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम् ।।२३१।।

अर्थ—मिट्टी से पृथक् घड़े का रूप कोई भी नहीं दिखा सकता, इसलिये घड़ा नाम तो मोह से ही कल्पित है, वास्तव में सत्य मुख्यपदार्थ तो मृत्तिका ही है ।

व्याख्या—**घटस्य स्वरूपम्**—घट का अपना रूप **मृद्भिन्नतया**—मिट्टी से भिन्न, पृथक् **केनापि**—किसी से भी, ईश्वर से भी **संदर्शयितुम् न शक्यते**—दिखाने में समर्थ नहीं हुआ जाता । **अतः**—मिट्टी से घट अभिन्न होने के कारण **घटः**—घट नाम **मोहात् कल्पितः एव**—मिट्टी के उपादान कारण के अज्ञान से घटनाम कल्पित किया है **परमार्थभूतम् मृत् एव सत्यम्**—घट का मुख्यार्थभूत मिट्टी ही सत्य है । घट से पहले मिट्टी थी, घट के पीछे मिट्टी रहेगी । इसलिये जो आदि में न हो और अन्त में न रहे, ऐसा घट वर्तमान में भी नहीं है, वह मिट्टी ही है ।।२३१।।

सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदैव, तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति ।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो, विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥२३२॥

अर्थ––यह सकल प्रपंच सदा ही सत्स्वरूप ब्रह्म का कार्य है, यह सम्पूर्ण वही तो है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है । जो कहता है कि उससे पृथक् भी कुछ है उसका मोह दूर नहीं हुआ है, उसका यह कथन सोये हुए पुरुष के वड़वड़ाने के समान है ।

व्याख्या––सद्ब्रह्मकार्यम् सकलम्–सत् है रूप जिसका ऐसा ब्रह्म, उसका कार्य, सकल कार्य–आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि पंच महाभूत तथा उनके विकार बुद्धि प्राणदेहादि समस्त जड जंगम विश्व **सदा एव**–सर्वकाल में ही **एतत्**–यह विश्व **तन्मात्रम्**–अपने उपादान कारण ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, ब्रह्म ही है । 'उपादानं प्रपंचस्य ब्रह्मणो ऽ न्यन्न विद्यते । तस्मात्सर्वप्रपंचोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत्' योगशिखोपनिषद ४।३, प्रपंच का उपादान कारण ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं, अतः यह सम्पूर्ण प्रपंच ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं । **ततः**–ब्रह्म से **अन्यत्**–भिन्न **न अस्ति**–नहीं है । मृत्तिका और घट का दृष्टान्त पिछले श्लोक में देकर विषय की भूमिका बाँधी थी । जैसे घट, मिट्टी से भिन्न नहीं है, वैसे ही जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है । **अस्ति इति यो वक्ति**–जगत् ब्रह्म से भिन्न है, इस प्रकार जो कहता है, **तस्य मोहः न विनिर्गतः**–उसका मोह, भ्रान्ति, अज्ञान, सम्यक् प्रकार से दूर नहीं हुआ है और ऐसे पुरुष की वाणी को ऐसा समझना चाहिये **निद्रितवत्प्रजल्पः**–जैसे कि कोई पुरुष नींद में वड़वड़ाता हो । निद्रित पुरुष असंवद्ध अनर्गल वचन बोलता है । नींद टूटने पर विचार कर बोलता है ।

श्री गुरुदेव इस श्लोक पर विशेषरूप से जोर दिया करते और इसको सिद्धान्त रूप से माना करते । यदि जगत् कुछ है, नामरूप कुछ है, तो यह सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही कार्य है, परन्तु दूध का परिणाम दधि की न्याईं ब्रह्म का परिणाम जीव ईश्वर जगत् नहीं है यह साक्षात् ब्रह्म ही है । विश्व को ब्रह्म का विकार मानना विकार–भ्रान्ति कहलाती है । इस भ्रान्ति का नाश करने के लिये रज्जु-सर्प के दृष्टान्त पर वार-वार विचार करना चाहिये । ईषत् अन्धकार में रज्जु ही सर्पाकार होकर भासती है, प्रकाश होने पर रज्जु भासती है, परन्तु सर्पभ्रान्ति से रज्जु विषैली नहीं होती । ऐसे ही अज्ञान से ब्रह्म ही विश्व होकर भासता है, ज्ञान होने पर ब्रह्म ही शेष रहता है, पर जगत् का विकार ब्रह्म को स्पर्श नहीं करता । 'रज्ज्वज्ञानात्क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी । भाति तद्वच्चितिः साक्षात् विश्वाकारेण केवला ।।' योग-

शिखोपनिषद ४।२।, रज्जु के अज्ञान से जैसे एक ही क्षण में, माता पिता से विना जन्म लिये ही, वह सर्पिणी प्रतीत होने लगती है, वैसे ही साक्षात् शुद्ध ब्रह्म अज्ञान योग से विना हुए ही विश्वरूप होकर भास रहा है ।।२३२।।

इस पक्ष की पुष्टि में अथर्ववेद का प्रमाण देते हैं।

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी, श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा ।
तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं, नाधिष्ठानाद्भिन्नतारोपितस्य ।।२३३।।

अर्थ—'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है' ऐसा अथर्ववेद की अति श्रेष्ठ वाणी कहती है। इसलिये यह विश्व ब्रह्ममात्र ही है, क्योंकि आरोपित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से पृथक नहीं होती।

व्याख्या—**श्रौती**–वैदिकी **अथर्वनिष्ठा**–अथर्व वेद की मुण्डक नाम उपनिषद की श्रुति २।२।११ **वरिष्ठा वाणी**–श्रेष्ठ, असाधारण प्रभाशालिनी वाणी '**ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्**'–सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म ही यह विश्व है, **इति ब्रूते**–इस प्रकार कहती है। **तस्मात्**–इसलिये **एतत् विश्वम्**–यह विश्व, जगत्, दृश्य प्रपंच **ब्रह्ममात्रम्**–ब्रह्ममात्र है, अन्य कुछ नहीं है। 'घटनाम्ना यथा पृथ्वी, पटनाम्ना हि तन्तवः। जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम्'। योगशिखोपनिषद् ४।१७। घटनाम से जैसे मृत्तिका, वस्त्र नाम से जैसे धागे वैसे ही जगत् नाम से ब्रह्म प्रकाशता है, परमार्थ में केवल ब्रह्ममात्र है। **हि**–निश्चय ही **आरोपितस्य**–अधिष्ठान में कल्पित् वस्तु की **अधिष्ठानात्**–अपने अधिष्ठान, आधार से **भिन्नता न**–पृथकता नहीं होती। सर्प रज्जु से पृथक् नहीं, रज्जु ही है ।।२३३।।

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनोऽनन्तत्वहानि-र्निगमाप्रमाणता।
असत्यवादित्वमपीशितुः स्यान्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ।।२३४।।

अर्थ—यदि यह जगत् सत्य मान लिया जाय तो आत्मा की अनन्तता में दोष आता है और श्रुति अप्रामाणिक हो जाती है तथा ईश्वर (भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र) भी मिथ्यावादी ठहरते हैं। ये तीनों ही बातें आस्तिक पुरुषों के लिये शुभ और हित-कर नहीं हैं।

व्याख्या—**एतत् जगत्**–यह कल्पित जगत् **यदि सत्यम् स्यात्**–यदि सत्य, सत्ता-वान्, मान लिया जाता है तो इससे तीन हानियां हैं **आत्मनः अनन्तत्वहानिः**–आत्मा

की अनन्तता की हानि, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियां। यह अनन्तता तीन प्रकार की कही गई है। देश की अनन्तता, अर्थात् ब्रह्म सर्व देश में व्याप्त है, काल की अनन्तता—ब्रह्म त्रिकाल अबाधित है, और वस्तु की अनन्तता—ब्रह्म सर्ववस्तु का अधिष्ठान है। यदि जगत को सत्य माना जाये, तो जगत् को, दूसरी सत्ता होने से, ब्रह्म व्याप्त न कर सकेगा, और ब्रह्म में अनन्त न होने का दोष आ जायगा, **निगम-अप्रमाणता**—वेदों के वचन की अप्रमाणता सिद्ध होगी, 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' इति श्रुतिः, ब्रह्म ही विश्व है, यदि जगत् को ब्रह्म से भिन्न सत्य माना जाये, तो यह वेद प्रमाण के विरुद्ध होगा **ईशितुः अपि असत्यवादित्वम् स्यात्**—सर्वज्ञ ईश्वर भगवान्कृष्ण पर अयथार्थ वचन कहने का दोष आयेगा। भगवान् कृष्ण ने गीता में विश्व को असत्, मिथ्या कहा है। इसका प्रमाण श्रीभगवत्पाद अगले श्लोक में देंगे।

एतत् त्रयम्—ये तीनों, आत्मा की अनन्तता की हानि, निगमाप्रमाणता तथा ईश्वर पर मिथ्या वचन का दोषारोपण। ये तीनों दोष जगत् को सत्य मानने से होते हैं। आत्मा की अनन्तता की हानि कैसे होगी? आत्मा अनन्त है, यदि जगत् को सत्य माना जाय तो जगत् की सत्ता उस सीमा से आरम्भ होगी जहाँ आत्मा की अनन्तता समाप्त होगी क्योंकि जगत् की सत्ता आत्मा की अनन्तता से बाहर ही हो सकती है। यदि उसको आत्मा की अनन्तता के अन्तर्गत मानो तो जगत् की पृथक सत्ता नहीं रहेगी। यदि अनन्तता की सीमा होगी तो वह अनन्तता नहीं रहेगी। अतः जगत को सत्य स्वीकार करने से आत्मा की अनन्तता को हानि होगी यह पक्ष वेद विरुद्ध होने से त्याज्य है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतिः। इसलिये

साधु हितम् न—यह पक्ष शोभनीय और हितकारी नहीं हैं **महात्मनाम्**—आस्तिकों के लिये। यह भी कह सकते हैं कि श्रवण-मनन-निदिध्यासन साधनों द्वारा जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया है, अर्थात् जिन्होंने ब्रह्म से जगत् की अभिन्नता प्रत्यक्ष देखी है, ऐसे महात्माओं के लिये जगत् को सत्य मानना अनुभव विरुद्ध होने से कल्याणकारी और सुविचारसम्मत पक्ष नहीं ॥२३४॥

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानीत्येवमेव व्यचीकथत् ॥२३५॥

अर्थ—परमार्थ-तत्त्व के जाननेवाले भगवान् कृष्णचन्द्र ने यह कहा है कि 'न तो मैं ही भूतों में स्थित हूँ और न वे ही मुझमें स्थित हैं।'

व्याख्या—परमार्थ तत्त्व के ज्ञाता सर्वज्ञ ईश्वर भगवान् कृष्णचन्द्र ने गीता के नवें अध्याय के चौथे पाँचवें श्लोक में कहा है, 'मत्स्थानि सर्वभूतानि **न चाहं तेष्वस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि** पश्य मे योगमैश्वरम्।' सर्व भूत मुझ ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं, परन्तु भूत मेरा अधिष्ठान नहीं हैं। भूत मुझमें नहीं है, नाम रूप जगत् मुझ में नहीं है, मैं केवल शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्ण परमात्मा हूँ। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' पहले यह कहना, फिर 'न च मत्स्थानि भूतानि' यह कहना ये दोनों वचन विरोधी से भासते हैं, परन्तु मेरी माया 'अघटित-घटना—पटीयसी' है, इसलिये तू मेरे योगैश्वर्य को देख। तात्पर्य यह है कि परमार्थ में जगत् नहीं है, व्यवहार में यह जगत् मुझमें ही प्रतिष्ठित है, और मुझसे भिन्न नहीं है, 'नाधिष्ठानात् भिन्नता आरोपितस्य' **इति एवम् एव**—इस प्रकार ही **वस्तुतत्त्वज्ञः**—ब्रह्म तत्त्व के जाननेवाले **ईश्वरः**—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र ईश्वर ने **व्यचीकथत्**—कहा है ॥२३५॥

वेद प्रमाण तथा ईश्वरवचन का प्रमाण देकर अब जगत् का मिथ्यात्व युक्ति से सिद्ध करते हैं।

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम्।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा ॥२३६॥

अर्थ—यदि विश्व सत्य होता तो सुषुप्ति में भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये थी, किन्तु उस समय इसकी कुछ भी प्रतीति नहीं होती; इसलिये असत् स्वप्न के समान और मिथ्या है।

व्याख्या—यदि सत्यम् भवेत् विश्वम्—यदि यह जगत् सत्य होता **सुषुप्तौ उपलभ्यताम्**—तो सुषुप्ति अवस्था में प्रतीत होना चाहिये, क्योंकि सत्य का कभी अभाव नहीं है, 'नाभावो विद्यते सतः।' गीता २।१६, **यत् न किंचित् उपलभ्यते**—चूंकि सुषुप्ति अवस्था में जगत् किंचित् मात्र भी नहीं रहता, प्रतीत नहीं होता, **अतः**—इस कारण से, सुषुप्ति में जगत् का अभाव हो जाने से, जगत् **असत्**—अन्तवाली, मिथ्या, सत्ताहीन है **स्वप्नवत् मृषा**—स्वप्नावस्था में देखे हुए पदार्थों की भांति जागने पर **मृषा**—मिथ्या, दृष्टनष्ट स्वरूप होने से मिथ्या, अनिर्वचनीय रूप है, जो प्रतीत हो, पर हो नहीं, वह मृषा ॥२३६॥

अब ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् का अभाव अगले दो श्लोकों में निरूपण करते हैं।

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः, पृथक्प्रतीतिस्तु मृषा गुणाहिवत्।
आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ताऽधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥२३७॥

अर्थ—इसलिये परमात्मा से पृथक् जगत् नहीं है, उसकी पृथक् प्रतीति तो रज्जु में सर्प की प्रतीति के समान मिथ्या ही है। आरोपित वस्तु की सत्ता ही क्या? अधिष्ठान ही तो भ्रम से उस प्रकार भासता है।

व्याख्या—**अतः**—इसलियें वेद प्रमाण, ईश्वरवचन, महात्माओं के अनुभव तथा युक्ति से यह सिद्ध होता है कि **परात्मनः**—ब्रह्म से **पृथक् जगत् न अस्ति**—भिन्न जगत् नहीं है, और जो यह **पृथक् प्रतीतिः तु**—ब्रह्म से भिन्न जगत् की प्रतीति है, सो **गुण-अहिवत्**—रज्जु में सर्प की भांति **मृषा**—मिथ्या है, दृष्टनष्ट स्वरूप है, रज्जु में सर्प नहीं है, रज्जु मात्र है, सर्प प्रतीति मिथ्या है, ऐसे ही ब्रह्म से भिन्न जगत् प्रतीति मिथ्या है, वेद प्रमाण, युक्ति तथा अनुभव से **आरोपितस्य किम् अर्थवत्ता अस्ति**—आरोपित की हुई वस्तु की क्या कोई सत्ता है? अर्थात् कोई भी नहीं। **भ्रमेण अधिष्ठानम् तथा आभाति**—ब्रह्म के अज्ञान से अधिष्ठान ही आरोपित वस्तु बनकर प्रकाशता है। रज्जु के अज्ञान से रज्जु ही सर्परूप होकर भासती है। जब रज्जु के स्वरूप का ज्ञान हो जायगा, तब रज्जु ही भासेगी, सर्प नहीं। ऐसे ही ब्रह्म भी, अज्ञान के कारण, जगत्‌रूप प्रतीत होता है, ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ब्रह्म ही भासता है, जगत् नहीं। 'रज्जुरूपे परिज्ञाते सर्पखण्डं न तिष्ठति। अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपंचः शून्यतां व्रजेत्॥' अपरोक्षानुभूतिः ॥९६॥ रज्जु का स्वरूप जान लेने पर सर्प का खण्ड भी अवशेष नहीं रहता, उसी प्रकार जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म को जान लेने पर प्रपंच शून्यरूप, निःसत्व हो जाता है ॥२३७॥

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमतः प्रतीतं, ब्रह्मैव तत्तद्रजतं हि शुक्तिः।
इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यते, त्वारोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम् ॥२३८॥

अर्थ—मोहित पुरुष को विवेकशून्यतावश जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है, जिस प्रकार भ्रम से प्रतीत हुई चाँदी वस्तुतः सीपी ही है। इदम् रूप से भासने वाला जगत् सत् ब्रह्म ही है, ब्रह्म में आरोपित जगत् तो नाममात्र ही है।

व्याख्या—**भ्रान्तस्य**—मोहित पुरुष को **भ्रमतः**—विवेकशून्यता के कारण, **यत् यत् प्रतीतम्**—जो-जो नानारूप जगत् भासता है, प्रतीत होता है, ब्रह्म से भिन्न भासता है **तत् तत् ब्रह्म एव हि**—वह वह निश्चय ही अधिष्ठानभूत हुआ ब्रह्म ही है, 'नाधिष्ठानात् भिन्नतारोपितस्य', आरोपित वस्तु की अपने अधिष्ठान से भिन्न सत्ता नहीं, 'आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ता' आरोपित वस्तु की भी कोई सत्ता होती है? **रजतम् हि शुक्तिः**—दूर से प्रकाश में चाँदी प्रतीत होनेवाली वास्तव में

रजत का अधिष्ठान सीपी ही है । **ब्रह्म सत् एव**–सत् रूप ही, आद्यन्तहीन, त्रिकाल-अबाधित ब्रह्म ही **इदन्तया**–जगत् नाम से, नामाकार से **रूप्यते**–प्रकाशित होता है, रूपवान होता है, वास्तव में **ब्रह्मणि आरोपितम् तु**–ब्रह्म में आरोपित वस्तु, नाना नामाकार जगत्, रज्जु में सर्प की भांति **नाममात्रम्**–नाम मात्र है, कल्पना मात्र है, माया का कार्य है, सत् वस्तु नहीं । परमार्थ में ब्रह्म ही है, जगत् नहीं है ।।२३८।।

ब्रह्म के स्वरूप का 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदिवाले श्लोक में निरूपण करके ब्रह्म वाचक 'तत्' पद के वाच्यार्थ का परिशोधन यहाँ तक किया है । 'तत्' पद का वाच्यार्थ नानारूप विश्व, ईश्वर है, वेद प्रमाण, युक्ति से जगत् को ब्रह्म में आरोपित दिखा कर, उसका निराकरण करना 'तत्' पद के वाच्यार्थ का शोधन करना है । परिशोधन के उपरान्त अब उसका सही अर्थ लक्षित करते हैं ।

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं, विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम् ।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं, निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ।।२३९।।

अर्थ—इसलिये परब्रह्म सत्, अद्वितीय, शुद्ध, विज्ञानघन, निर्मल, शान्त, आदि-अन्त-रहित, अक्रिय और अखण्ड आनन्दरसस्वरूप है ।

व्याख्या—**अतः**–इसके उपरान्त, ब्रह्म में आरोपित जगत् का मिथ्यात्व दिखा-कर, अब 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ बताते हैं । **परम् ब्रह्म**–सर्वोत्कृष्ट, मायातीत ब्रह्म, वह क्या है, सो बताते हैं **सत्**–अबाध्य, नित्यरूप, **अद्वितीयम्**–जिसका कोई द्वितीय नहीं है, एक, **विशुद्धविज्ञानघनम्**–निर्मल विज्ञान शरीर, बोधरूप, **निर-ञ्जनम्**–कालिमा, पाप रहित, निष्पाप, निरुपाधिक, **प्रशान्तम्**–क्षोभरहित, अपरि-णामी, **आदि-अन्तविहीनम्**–उत्पत्ति-विनाश रहित, अविनाशी, अविकारी **अक्रि-यम्**–निष्क्रिय, केवल सत्ता-बोध-प्रियतारूप **निरन्तरानन्दरसस्वरूपम्**–परिच्छेद-रहित अखण्ड आनन्दघन, 'रसो वै सः' तैत्तिरीयोपनिषद २।७।, ब्रह्म रस है । सुखरसस्वरूप ।।२३९।।

'तत्' पद का लक्ष्यार्थ ब्रह्म और वह कैसा है ? अगले श्लोक में बताते हैं ।

निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम् ।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिःस्वयंकिञ्चिदिदं चकास्ति ।।२४०।।

अर्थ---समस्त मायिक भेदों से रहित, नित्य, सुखस्वरूप, निरवयव प्रमाणादि का अविषय, अरूप, अव्यक्त, अनाप और स्वयं प्रकाश यह कोई ब्रह्म प्रकाशता है।

व्याख्या---**निरस्तमायाकृतसर्वभेदम्**--निकल गये हैं जिसमें से माया विरचित नामाकार भेद ऐसा, निर्भेद, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद रहित निरुपाधिक **नित्यम्**--अव्यय **सुखम्**--अखण्ड सुखरूप **निष्कलम्**--कला रहित, अवयव रहित **अप्रमेयम्**--जो प्रमाण से न वन्ध सके, जिसका माप-तोल न हो सके **अरूपम्**--जो नेत्र से न ग्रहण किया जा सके, निराकार **अव्यक्तम्**--जो वाणी से व्यक्त न किया जा सके, 'मनोवाचमगोचरम्' **अनाख्यम्**--नाम शून्य, 'ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च।।' योगशिखोपनिषद् ४।६।, ब्रह्म ही सर्वनाम सर्वरूप है **अव्ययम्**--अविनाशी, अनादि और निर्गुण होने से अव्यय, अपक्षयरहित **स्वयंज्योतिः**--पर-अप्रकाश्य **किंचित् इदम् चकास्ति**--यह कोई ब्रह्म प्रकाशता है। ब्रह्म का कोई साक्षी नहीं है, इसलिये किंचित् शब्द का प्रयोग किया है। मन वाणी का विषय न होने से ब्रह्म का वर्णन कैसे किया जाये, इसलिये किंचित्, ब्रह्म नाम की कोई वस्तु है। वह निरन्तर सत्तावान् होने से सर्वदेश सर्वकाल सर्वरूप सर्वनाम सर्वरहित सर्वातीत रूप से प्रकाशता है।।२४०।।

ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञानशून्यमनन्तं निर्विकल्पकम्।
केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः।।२४१।।

अर्थ---उस परम तत्त्व को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी से रहित, अनन्त, निर्विकल्प, केवल और अखण्ड-चैतन्यमात्र को आत्मवेत्ता लोग निज आत्मारूप से जानते हैं।

व्याख्या---ब्रह्म का निरूपण चल रहा है। **ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञानशून्यम्**--ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी से रहित, किसी वस्तु के जानने के लिये तीन वस्तुएं आवश्यक हैं, एक ज्ञाता, दूसरा जानने योग्य वस्तु ज्ञेय, तीसरा ज्ञाता और ज्ञेय के सम्पर्क से ज्ञान, इनको त्रिपुटी कहते हैं। त्रिपुटी रहित, उसका कारण **अनन्तम्**--ब्रह्म अनन्त है, स्थूल वृत्ति की सीमा में नहीं आ सकता, देश-काल-वस्तु परिच्छेद रहित इसलिये **निर्विकल्पम्**--सर्व कल्पनाओं से रहित है, अद्वितीय तत्त्व **केवलाखण्डचिन्मात्रम्**--शुद्ध परिच्छेदरहित ज्ञानैकरूपमात्र, शुद्ध बोधमात्र, निर्मल विज्ञानरूप **परम् तत्त्वम्**--सर्वोत्कृष्ट परमार्थ तत्त्व ब्रह्म को **बुधाः**--ज्ञानवान् पुरुष, ब्रह्मवेत्ता **विदुः**--प्रत्यक्ष अनुभव से अपना आत्मा जानते हैं।।२४१।।

अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्णं महन्महः ॥२४२॥

अर्थ—ब्रह्म त्याग अथवा ग्रहण के अयोग्य, मन-वाणी का अविषय, अप्रमेय, आदि-अन्तरहित, परिपूर्ण तथा महान् तेज है ।

व्याख्या—अहेयम्—न ब्रह्म त्यागने योग्य है, अर्थात् इसका बाध नहीं हो सकता, **अनुपायदेम्**—न ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि **मनोवाचामगोचरम्**—मन और वाणी से ग्राह्य न होने के कारण मनोवाचामगोचरम्, मन वाणी का विषय नहीं है। **अप्रमेयम्**—प्रमाण से अप्राप्य **अनाद्यन्तम्**—आदि अन्तरहित, जन्म-मृत्यु-रहित अतः **ब्रह्म पूर्णम्**—ब्रह्म पूर्ण है, निरपेक्ष है, स्वयंज्योति, स्वमहिमा में स्थित अनन्त है **महन्महः**—महत् का, सूर्यचन्द्रमादि का भी प्रकाशक महः—ज्योति है 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' ब्रह्म है । यह हुआ तत्पदार्थ का शोधित अर्थ ॥२४२॥

'त्वम्' पद तथा 'तत्' पद के वाच्यार्थों का परिशोधन करके अब महावाक्य का अर्थ कहना आरम्भ करते हैं। 'वेद में असंख्य वाक्य हैं। प्रधानतः ये वैदिक वाक्य दो प्रकार के हैं। एक अवान्तर वाक्य, दूसरे महावाक्य। अवान्तर वाक्य यथा, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ये वाक्य ब्रह्म की सत्ता बताते हैं। महावाक्य जीव और ब्रह्म की एकता बताते हैं, यथा :—

१—प्रज्ञानं ब्रह्म—ऋग्वेद
२—अहं ब्रह्मास्मि—यजुर्वेद
३—तत्त्वमसि—सामवेद
४—अयमात्मा ब्रह्म—अथर्ववेद

चारों वेदों के उपरोक्त चार महावाक्य हैं। वाक्य के बीच में जितने पद हैं, उन पदों का, प्रत्येक पद का, पृथक्-पृथक् अर्थ बोध होने पर ही वाक्यार्थ बोध होता है। अतः वाक्यार्थ बोध के निमित्त पदों के अर्थ का विचार किया जाता है।' श्रीगुरु वचन। श्रीभगवत्पाद ने 'त्वम्' पद के अर्थ का तथा 'तत्' पद के अर्थ का परिशोधन पिछले श्लोकों में किया है, । 'त्वम्' पद का शोधित अर्थ प्रत्यगात्मा है, 'तत्' पद का शोधित अर्थ ब्रह्म है। अब महावाक्य के अर्थ को समझाते हैं। वेदान्त सम्प्रदाय की यही बोधप्रणाली है।

तत्त्वं पदाभ्यामभिधीयमानयोर्ब्रह्मात्मनोः शोधितयोर्यदित्थम् ।
श्रुत्या तयोस्तत्त्वमसीति सम्यगेकत्वमेव प्रतिपाद्यते मुहुः ॥२४३॥

अर्थ—'तत्' और 'त्वम्' पदों से कही हुई ब्रह्म और आत्मा के इस प्रकार शोधित अर्थों की एकता को ही श्रुति ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भले प्रकार वारम्वार प्रतिपादित किया है।

व्याख्या—तत्त्वम् पदाभ्याम्—'तत्' पद से तथा 'त्वम्' पद से **अभिधीयमानयोः**—कहे जाने वालों अर्थों का, बोध्यमान होनेवालों का **ब्रह्म-आत्मनोः**—ब्रह्म और आत्मा का, अर्थात् ईश्वर और जीव का **यत् इत्थम्**—जो इस प्रकार **शोधितयोः**—पूर्व रीति से परिशोधित किये हुओं का **'तत्त्वमसि' इति श्रुत्या**—'तत्त्वमसि' इस छान्दोग्य उपनिषद् ६।६।८ के महावाक्य से **तयोः**—केवल चिन्मात्र रूप में उन दोनों की **एकत्वम् एव**—एकता ही, अभिन्नता ही **मुहुः**—वारम्वार **सम्यक् प्रतिपाद्यते**—भली प्रकार से प्रतिपादित की गई है ।।२४३।।

'पद का अर्थ दो प्रकार का होता है : एक वाच्यार्थ दूसरा लक्ष्यार्थ। पद का जो अर्थ से सम्वन्ध है, उसको शब्द की वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति दो प्रकार की है : एक शक्ति वृत्ति, दूसरी लक्षणा वृत्ति। शक्ति वृत्ति से पद के उच्चारण मात्र से विना प्रयास के अर्थबोध हो जाता है। जहाँ शक्ति वृत्ति से अर्थ ज्ञान न हो, वहाँ लक्षणा वृत्ति करनी पड़ती है। यथा घट के उच्चारण से मृत्तिका का परिणाम रूप गोल पेटवाले जलपात्र का वोध हो जाता है। परन्तु जहाँ शक्ति वृत्ति से अर्थ का वोध नहीं होता वहाँ लक्षणा करनी पड़ती है। यथा 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के तीन पदों में से प्रथम 'तत्' पद का अर्थ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्व नियन्ता, सर्वानन्दरूप, परमदयालु, सर्व हितैषी, अत्यन्त स्वाधीन मायाधीश मायाविशिष्ट परमेश्वर है। दूसरे 'त्वम्' पद का अर्थ अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परतन्त्र, कर्ता, भोक्ता, दीन-दुःखी देहेन्द्रिय प्राण अन्तःकरण में अभिमान करनेवाला अविद्या के वशीभूत अविद्याविशिष्ट जीव है। तीसरे 'असि' पद का अर्थ 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों की एकता स्थापन करता है। उद्दालक मुनि अपने पुत्र श्वेतकेतु के प्रति 'परमेश्वर तू है' इस प्रकार परमेश्वर और जीव की एकता प्रतिपादन करने वाला यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य है:—

'तत्', का अर्थ परमेश्वर
'त्वम्' ,, ,, जीव
'असि' ,, ,, है

शक्तिवृत्ति से परमेश्वर का जीव होना सिद्ध नहीं होता। सर्वज्ञतादि धर्मों से सम्पन्न माया विशिष्ट परमेश्वर, अल्पज्ञतादि धर्मों से युक्त अविद्या विशिष्ट जीव कैसे हो सकता है? परस्पर विरुद्ध धर्म होने से परमेश्वर जीव की एकता शक्ति वृत्ति से सम्भव नहीं। इसी कारण महावाक्य के अर्थ में लक्षणा वृत्ति का प्रयोग करना पड़ता है'। श्रीगुरु वचन।

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययो, र्निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्मिणोः।
खद्योतभान्वोरिव राजभृत्ययोः, कूपाम्बुराश्योः परमाणुमेर्वोः ॥२४४॥

अर्थ—सूर्य और खद्योत (जुगनू), राजा और सेवक, समुद्र और कूप तथा सुमेरु और परमाणु के समान परस्पर विरुद्ध धर्मवालों का 'तत्' 'त्वम्' पदों का एकत्व लक्ष्यार्थ में ही कहा गया है, वाच्यार्थ में नहीं।

व्याख्या—किंचित् प्रकाशयुक्त तथा महाप्रकाशयुक्त **खद्योत भान्वोः**—परिच्छिन्न प्रकाशयुक्त खद्योत, जुगनू तथा महाप्रकाशयुक्त सूर्य, इनमें **राजभृत्ययोः**—नियामक राजा तथा नियम्य भृत्य, सेवक, इनमें **कूपाम्बुराश्योः**—सीमित जल युक्त कूप तथा अनन्तजलराशि सागर, इनमें, तथा **परमाणु मेर्वोः**—सूक्ष्म परमाणु तथा बृहत् स्थूलकाय मेरु पर्वत इनमें, इनकी न्याईं **अन्योन्यविरुद्ध धर्मिणोः तयोः**—वाच्यार्थ की दृष्टि से परस्पर विरुद्ध धर्मवाले जीव और ईश्वर में **लक्षितयोः**—लक्षणा वृत्ति से बोधित किये जाने पर **ऐक्यम्**—अभिन्नता **निगद्यते**—कही गई है, **वाच्ययोः न**—'त्वम्' पद के वाच्यार्थ अल्पज्ञ अल्पशक्ति परतन्त्र जीव, और 'तत्' पद के वाच्यार्थ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्र ईश्वर में नहीं, वाच्यार्थ की दृष्टि से एकता नहीं कही गई है ॥२४४॥

अन्योन्य विरोधी धर्म का कारण बताते हैं।

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो, न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः।
ईशस्य माया महदादिकारणं, जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशाः ॥२४५॥

अर्थ—वाच्यार्थों में यह विरोध उपाधि के कारण है और यह उपाधि कुछ वास्तविक नहीं है। ईश्वर की उपाधि महत्तत्त्वादि की कारण माया है तथा जीव की उपाधि कार्यरूप पंचकोश हैं।

व्याख्या—**तयोः**—वाच्यार्थों में **अयम् विरोधः**—यह विरोध **उपाधिकल्पितः**—उपाधि के कारण कल्पित किया गया है, **न वास्तवः**—वास्तव में यह विरोध नहीं है।

विरोध का कारण **कश्चित् उपाधिः एषः**—यह कोई उपाधि है, वह उपाधि क्या है ? **ईशस्य माया महदादि कारणम्**—ईश्वर की उपाधि माया है जो कि महदादि का कारण है, महतत्त्वाहंकार-पंचतन्मात्रादि, जो कि सकल जगत के कारण हैं, माया ईश्वर की उपाधि है, **जीवस्य कार्यम्**—जीव की उपाधि क्या है, ऐसा पूछे तो **शृणु**—सुन, **पंचकोशाः**—जीव की उपाधि अविद्या का कार्य पंचकोश हैं। जीव की कार्य-उपाधि है, ईश्वर की कारण-उपाधि है ।।२४५।।

उपाधि के हटाने से न ईश्वर रहता है और न जीव।

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः सम्यङ्निरासे न परो न जीवः।
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटकस्तयोरपोहे न भटो न राजा ।।२४६।।

अर्थ—ये दोनों परमेश्वर और जीव की उपाधियाँ हैं। इनका भली प्रकार बाध हो जाने पर न परमेश्वर ही रहता है और न जीवात्मा ही। जिस प्रकार राज्य राजा की उपाधि है, तथा ढाल सैनिक की; इन दोनों उपाधियों के न रहने पर न कोई राजा है और न भट।

व्याख्या—परजीवयोः—परमेश्वर तथा जीव जो कि 'तत्' और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ हैं, इनकी **एतौ उपाधी**—ईश्वर की माया, तथा जीव की अविद्या, पंचकोश, ये क्रमशः दो उपाधियां हैं। **तयोः**—माया और पंचकोश, इन दोनों उपाधियों के **सम्यक् निरासे**—भली प्रकार से अपवाद किये जाने पर **न परः न जीवः**—न ईश्वर रहता है और न जीव रहता है, केवल चिन्मात्ररूप रहता है, भेद करनेवाली उपाधि के अभाव से। अब दृष्टान्त देते हैं **नरेन्द्रस्य राज्यम्**—राजा की उपाधि राज्य है **भटस्य खेटकम्**—सैनिक की उपाधि खेटक, ढाल, शस्त्र विशेष है **तयोः अपोहे**—राजा के राज्य और सैनिक के खेटक के अभाव में **न राजा न भटः**—न राजा रहता है, और न भट रहता है, क्योंकि उन दोनों की भेदक उपाधि हटा ली गई है, वे मनुष्यमात्र अवशेष रहते हैं ।।२४६।।

उपाधि के निराकरण की विधि बताते हैं।

अथात आदेश इति श्रुतिः स्वयं, निषेधति ब्रह्मणि कल्पितं द्वयम्।
श्रुतिप्रमाणानुगृहीत-युक्त्या, तयो निरासः करणीय इत्थम् ।।२४७।।

अर्थ—ब्रह्म में कल्पित द्वैत को 'अथात आदेशो नेति नेति' श्रुति स्वयं निषेध करती है; इसलिये श्रुति-प्रमाणानुसार युक्ति से उपर्युक्त उपाधियों का इस प्रकार बाध करना ही चाहिये।

व्याख्या—'**अथातः आदेशो नेति नेति**'–, बृहदारण्यकोपनिषद २।३।६, वेद भगवान् का आदेश है 'यह नहीं है' 'यह नहीं है', इस प्रकार **श्रुतिः**–वेद भगवान् **स्वयम्**–अपने मुख से **ब्रह्मणि कल्पितम् द्वयम् निषेधति**–ब्रह्म में कल्पित दूसरी वस्तु का निषेध करती है। द्वय क्या ? जो जो प्रतीत हो रहा है, वह सव ब्रह्म अधिष्ठान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। **श्रुतिप्रमाण-अनुगृहीतयुक्त्या**–श्रुति के प्रमाण के अनुसार युक्ति से **तयोः**–ईश्वर की उपाधि माया का तथा जीव की उपाधि अविद्या के कार्य पंचकोशों का **निरासः**–निराकरण, निषेध **इत्थम्**–इस प्रकार, जैसा आगे बतायेंगे **करणीयः**–करना चाहिये ॥२४७॥

नेदं नेदं कल्पितत्वान्न सत्यं, रज्जौ दृष्टव्यालवत्स्वप्नवच्च ।
इत्थं दृश्यं साधु युक्त्या व्यपोह्य, ज्ञेयः पश्चादेकभावस्तयोर्यः ॥२४८॥

अर्थ—यह उपाधि सत्य नहीं है कल्पित होने के कारण, रज्जु में कल्पित सर्पवत् तथा स्वप्नवत्। इस प्रकार उपाधि को वेदानुसारिणी युक्ति से बाध करके उसके उपरान्त उन दोनों में जो एकता रहती है, वही जाननी चाहिये।

व्याख्या—**न इदम् न इदम्**–पहले 'इदम्' पद से ईश्वर की उपाधि माया तथा दूसरे 'इदम्' पद से जीव की उपाधि पंचकोश, यह उपाधि सत्य नहीं है, यह उपाधि सत्य नहीं है **कल्पित त्वात्**–ब्रह्म में कल्पित किये जाने के कारण उपाधि **न सत्यम्**–सत्य नहीं हैं, ब्रह्म अधिष्ठान में आरोपित किये जाने से सत्य नहीं है 'आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ता'। **रज्जौ दृष्टव्यालवत्**–रस्सी में प्रतीत हुए सर्प की भाँति तथा **स्वप्नवत् च**–निद्रा से उठने पर स्वप्नालोकित पदार्थों की न्याईं सत्य नहीं हैं। **इत्थम्**–इस प्रकार **दृश्यम्**–उपाधि का **साधु युक्त्या**–श्रुति-अनुसारिणी युक्ति से **व्यपोह्य**–सम्यक् निषेध करके, दूर करके **पश्चात्**–'तत्' पद और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ से उपाधि हटाने के उपरान्त **तयोः**–अनुपहित केवल चिन्मात्र में, ईश्वर की उपाधि माया तथा जीव की उपाधि पंचकोश इन दोनों के दूर होने के पश्चात् जो चिन्मात्र अवशेष रहता है, उन दोनों में **यः एकभावः** जो–एकता है वह ही **ज्ञेयः**–जाननी चाहिये, ग्रहण करनी चाहिये ॥२४८॥

ततस्तु तौ लक्षणया सुलक्ष्यौ, तयोरखण्डैकरसत्वसिद्धये ।
नालं जहत्या न तथाजहत्या, किन्तूभयार्थात्मिकयैव भाव्यम् ॥२४९॥

अर्थ—जीवात्मा और परमात्मा की अखण्डैकरसता की सिद्धि के लिये उन दोनों को लक्षणा वृत्ति से देखना चाहिये। उनकी एकता के ठीक-ठीक ज्ञान के लिये

न तो जहती-लक्षणा और न अजहती ही पर्याप्त है, । इसलिये इस जगह जह-त्यजहती लक्षणा का प्रयोग करना चाहिये ।

व्याख्या—ततः तु—दृश्य वस्तु के व्यपोहन के अनन्तर शब्द से एकता जानकर **तयोः**—उन दोनों की ईश्वर जीव की **अखण्ड-एकरसत्व-सिद्धये**—अटूट एकता के अनुभव के लिये **तौ**—शुद्ध हुए 'तत्' पद तथा 'त्वम्' पद के अर्थ **लक्षणया**—लक्षणा वृत्ति से **सुलक्ष्यौ**—अच्छे प्रकार से देखना चाहिये, क्या? ईश्वर जीव की लक्षणा वृत्ति से अखण्ड एकरसता, परिच्छेदरहित एकता की सिद्धि । ईश्वर जीव की एकता वाच्यार्थ से सिद्ध नहीं होती । यह एकता **न जहत्या**—जहती लक्षणा से नहीं **तथा न अजहत्या**—और न अजहती लक्षणा से **अलम्**—इस एकता के लिये जहती और अजहती लक्षणा पर्याप्त नहीं हैं । अर्थात् जीव ईश्वर की एकता जहती तथा अजहती लक्षणा से सिद्ध नहीं होती **किन्तु**—वल्कि **उभयार्थात्मिकया एव**—उभय अर्थवाली लक्षणा से, जहती-अजहती लक्षणा से जिसको भाग-त्याग लक्षणा भी कहते हैं **भाव्यम्**—एकता जाननी चाहिये, भागत्याग लक्षणा से अर्थात् एक भाग के त्याग से जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है । एव शब्द के प्रयोग से जहती तथा अजहती लक्षणा का स्वतंत्र प्रयोग निराकरण किया गया है ।।२४९।।

अब जैसा श्रीगुरुमुख से सुना है, वैसा लिखते हैं :—

'लक्षणा तीन प्रकार की है, एक जहती दूसरी अजहती, तीसरी जहती-अजहती। इसको भागत्याग लक्षणा भी कहते हैं । 'तत्त्वमसि' महावाक्य में जहती लक्षणा सम्भव नहीं । जहती लक्षणा में वाच्यार्थ का परित्याग करके वाच्यार्थ के सम्वन्धी का ग्रहण किया जाता है । यथा 'गंगायां घोषः' (गंगा में घोषियों का गाँव है) । गंगा जलप्रवाह का नाम है । जलप्रवाह के वीच में गाँव का होना असम्भव है । अतः जल प्रवाह रूप वाच्यार्थ का परित्याग करके जल प्रवाह रूप वाच्यार्थ के सम्वन्धी गंगा तट की लक्षणा करनी पड़ती है ।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद के वाच्यार्थ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान जीव इन दोनों का परित्याग करके 'तत्' पद के वाच्यार्थ की सम्वन्धी माया और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ की सम्वन्धी 'अविद्या' इन दोनों की 'असि' पद से एकता सिद्ध होती है, सो असंगत है । माया और अविद्या की एकता से वेदान्त का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । वेदान्त अद्वैतब्रह्म का प्रतिपादक है । माया और अविद्या की सत्यता में वेदान्त का प्रयोजन

नहीं है। अतः 'तत्त्वमसि' महावाक्य में जहती लक्षणा किसी प्रकार भी सम्भव नहीं।

अजहती लक्षणा भी सम्भव नहीं। अजहती लक्षणा में वाच्यार्थ के सम्बन्धी सहित वाच्यार्थ का ग्रहण किया जाता है, यथा 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है) यहाँ वाच्यार्थ शोण है। 'शोण' के दौड़ने में कोई प्रसंग नहीं बनता। अतः लक्षणा की सहायता लेनी पड़ती है। लाल रंग का सम्बन्धी घोड़ा है। लाल रंग वाला घोड़ा दौड़ता है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद का वाच्यार्थ ईश्वर और ईश्वर की संबंधिनी माया, और 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ जीव, और जीव की सम्बन्धिनी अविद्या—इन दोनों की, 'असि' पद से एकता सिद्ध होती है। अर्थात् माया सहित ईश्वर अविद्या सहित जीव है। माया सहित परमेश्वर और अविद्या सहित जीव इन दोनों की एकता करने में जीव का परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। वेदान्तशास्त्र अद्वैत ब्रह्म के विज्ञान से मोक्ष मानता है। ईश्वर जीव के ज्ञान से नहीं। अतः 'तत्त्वमसि' महावाक्य में अजहती लक्षणा भी असंगत है।' श्रीगुरुवचन।

स देवदत्तोऽयमितीह चैकता, विरुद्धधर्मांशमपास्य कथ्यते।
यथा तथा तत्त्वमसीति वाक्ये, विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा ॥२५०॥
संलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनो-रखण्डभावः परिचीयते बुधैः।
एवं महावाक्यशतेन कथ्यते, ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभावः ॥२५१॥

अर्थ—जैसे 'वह देवदत्त यह है' इस वाक्य में 'वह' और 'यह' इन दोनों पदों के विरोधी धर्मवाले परोक्षत्व और अपरोक्षत्व अंशों को निकाल कर देवदत्त में एकता कही है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' और 'त्वं' पदों में से औपाधिक विरोधी भावों का भागत्यागलक्षणा से बाध करके ब्रह्म और जीव की चैतन्यांश में एकता विवेकशील पुरुषों द्वारा अनुभव में लाई जाती है। इस प्रकार सैकड़ों महावाक्यों से ईश्वर और जीव की अखण्डभावरूप एकता कही गई है।

व्याख्या—**यथा**—उदाहरणार्थ **सः अयम् देवदत्तः इति इह च**—जहती-अजहती लक्षणा (भागत्याग लक्षणा) से 'तत्' और 'त्वम्' पद की एकता सम्भव है। इस लक्षणा के अनुसार वाच्यार्थ में विरुद्ध अंश का परित्याग करके समानांश में एकता की जाती है यथा 'सः अयम् देवदत्तः यो ऽयं मया विंशतिवर्षपूर्वं काश्यां दृष्टः

स एव इदानीम् वर्तमानसमये कलिकातानगरे विद्यते' यह वही देवदत्त है जिसको मैंने बीस वर्ष पहले काशी में देखा था, सोई देवदत्त अब इसकाल कलकत्ता नगर में है। **इह**—इस वाक्य में **विरुद्धधर्मांशम् अपास्य एकता कथ्यते**—विरुद्ध अंश देश और काल का परित्याग करके देवदत्त मात्र में एकता होती है **तथा च**—उसी प्रकार **तत्त्वमसि इति वाक्ये विरुद्धधर्मान् उभयत्र हित्वा**—'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों के वाच्यार्थ में माया और अविद्या ये दोनों उपाधियां विरुद्ध धर्मोवाली हैं। ईश्वर और जीव दोनों में चैतन्य अंश समान है। ईश्वर और जीव इन दोनों के विरुद्ध अंश माया और अविद्या का परित्याग करके, **संलक्ष्य चिन्मात्रतया सदा आत्मनोः अखण्डभावः**—ईश्वर, और जीव के चैतन्य अंश में भागत्याग लक्षणा से एकता संगत है। ईश्वर में चैतन्य भाग ब्रह्म कहाता है, और जीव में चैतन्य भाग कूटस्थ साक्षी है। अतः सदा ईश्वर और जीव, इन दोनों में अखण्डभाव—एकता भाग त्याग लक्षणा से सिद्ध होती है **बुधैः परिचीयते**—विवेकी पुरुषों द्वारा जीव ईश्वर की एकता अनुभव में लाई जाती है। **एवम्**—इस प्रकार, यहाँ एक महावाक्य का दृष्टान्त दिया है, **महावाक्य शतेन**—सैंकड़ों अन्य महावाक्यों द्वारा भी **ब्रह्मात्मनोः**—ब्रह्म और कूटस्थ साक्षी की अथवा ईश्वर और जीव की **अखण्डभावः ऐक्यम्**—अखण्डभावरूप एकता **कथ्यते**—कथन की गई है। सैंकड़ों महावाक्यों का संग्रह तो हमारे देखने में नहीं आया, परन्तु महावाक्यार्थदर्पण में संग्रहीत ११ महावाक्य नीचे दिये जाते हैं :—

१—तत्त्वमसि। २—अहं ब्रह्मास्मि। ३—अयमात्मा ब्रह्म। ४—एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। ५—स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एषः। ६—प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। ७—विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। ८—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ९—स एवमेव पुरुषो ब्रह्म। १०—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। ११—एकमेवाद्वितीयम् ॥२५०-२५१॥

अब 'तत्त्वमसि' महावाक्य के उपदेश को दृढ़ करने के लिये ब्रह्मभावना का उपदेश करते हैं।

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य, सिद्धं स्वतो व्योमवदप्रतर्क्यम्।
अतो मृषामात्रमिदं प्रतीतं, जहीहि यत्स्वात्मतया गृहीतम्।
ब्रह्माहमित्येव विशुद्धबुद्ध्या, विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम् ॥२५२॥

अर्थ—'अस्थूलम्' इति श्रुति से असत् स्थूलता आदि का निरास करने से आकाश के समान अतर्क्य स्वयं सिद्ध वस्तु रहती है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस शुद्ध बुद्धि से

अपने आत्मा को अखण्ड बोधस्वरूप जान। इसलिये आत्मरूप से गृहीत दृश्यमान यह देह मिथ्या है, इसमें आत्मबुद्धि को छोड़।

व्याख्या––'**अस्थूलम्** अन्-अणु-अ ह्रस्वम्-अदीर्घम्' इति बृहदारण्यकोपनिषद ३।८।८ श्रुतिः। वह अक्षर (ब्रह्म) स्थूल से भिन्न है, अणु (सूक्ष्म) से भी भिन्न है, ह्रस्व (छोटे) से भी भिन्न है तथा (दीर्घ) लम्बे से भी भिन्न है। इस श्रुति से स्पष्ट होता है कि **एतत्**–दृश्यमान, शरीरादि जिनमें मोटा, पतला, छोटा, बड़ा आदि धर्म हैं, **असत्**–मिथ्या है इसको **निरस्य–ब्रह्म** से भिन्न जानकर, पुनः ब्रह्म में ही 'प्रविलाप्य', उसको ब्रह्म रूप से जानकर, जैसे पूर्व में कहा है, 'सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदैव तन्मात्रमेतन्न ततो ऽन्यदस्ति', **स्वतः सिद्धम्**–अपनी ही सत्ता स्फूर्ति से सिद्ध, परनिरपेक्ष **व्योमवत् अप्रतर्क्यम्**–आकाश के सदृश अनन्त, असंग, तर्क का अविषय, स्वसंवेद्य होने से। चर्मदृष्टि से आकाश ही ऐसी वस्तु है जो सीमा रहित जान पड़ता है। कोई नहीं कह सकता कि आकाश की कितनी लम्बाई, कितनी चौड़ाई है। आत्मा के अनन्तता की उपमा आकाश से दी जाती है **ब्रह्म अहम् एव इति**–मैं ही व्योमवत् अप्रतर्क्य–ब्रह्म हूँ **विशुद्ध बुद्धचा**–सूक्ष्म बुद्धि से, रजोगुण तमोगुण रहित बुद्धि से, श्रवण-मनन-निदिध्यासन से, सत्त्वप्रधाना बुद्धि से **स्वम् आत्मानम्**–निजरूप आत्मा को **अखण्डबोधम्**–अटूट ज्ञानरूप को, जिसके बोधस्वरूप में खण्ड, परिच्छेद न हों, किसी काल में बोधरूप किसी काल में अबोधरूप ऐसा नहीं, बल्कि सर्वदा, सर्वत्र, निरन्तर बोधरूप, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओं में साक्षी बोधरूप, ऐसे को **विद्धि**–प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर। **अतः**–इसलिये **यत् स्व-आत्मतया गृहीतम्**–जिस शरीरादि असत् पंचकोश को, श्रीगुरु उपदेश से पहले, अपने आत्मारूप से ग्रहण किया था, अपनाया था, **इदम् प्रतीतम्**–उस इस अज्ञान से दृश्यमान शरीर आदि को **मृषामात्रम्**–मिथ्या मात्र जानकर **जहीहि**–त्याग दे, क्योंकि निश्चय ही यह देह आत्मा नहीं है, इस में आत्मबुद्धि त्याग दे ।।२५२।।

छान्दोग्य उपनिषद के छठे अध्याय में उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को जो उपदेश दिया था, उसी के अनुसार अब संग्रहरूप से कहा जाता है। श्रीगुरु ने शिष्य को महावाक्य का उपदेश दे दिया है। अब उसको दृढ़ करने के लिये ग्यारह वार वही उपदेश करते हैं, 'तत्त्वमसि' वही ब्रह्म तू है। प्रतिबन्धशून्य महावाक्य आत्मसाक्षात्कार कराने में समर्थ है, प्रतिबद्ध महावाक्य नहीं।

मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाभित-
स्तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम् ।

यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥२५३॥

अर्थ––जैसे मृत्तिका के कार्य घट आदि सर्व प्रकार से मृत्तिका ही है उसी प्रकार सत् से उत्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण जगत् सन्मात्र ही है; क्योंकि सत् से भिन्न और कुछ भी नहीं है, वही सत्य है **और** वही स्वयम् आत्मा है; इसलिये जो ब्रह्म शान्त, निर्मल और अद्वितीय है वह तुम हो।

व्याख्या––**मृत्कार्यम्**–मिट्टी का कार्य, मिट्टी उपादान कारण है **घटादि सकलम्**–कुम्भ, आदि पद से मिट्टी के अन्य पात्र सुराही सकोरे तश्तरी आदि समझने चाहियें **सततम् मृत्मात्रम् अभितः**–चारों ओर से, ऊपर-नीचे, दायें-वायें, आगे-पीछे सव ओर से मृत्तिकापात्र मृत्तिका ही हैं, जैसे पूर्व में 'मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः; कुम्भो ऽ स्ति सर्वत्र मृत्स्वरूपात्' आदि दो श्लोकों से कहा गया है, कुम्भ नामाकार वाणी मात्र हैं, 'मृदेव सत्यं परमार्थभूतम्' **तद्वत्**–उसी प्रकार **सत्-जनितम्**–सत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ **इदम् अखिलम्**–यह समस्त विश्व, माया से स्थूल देह तक **सत्-आत्मकम्**–सत् आत्मा वाला, सत्प्रतिष्ठा, जैसे पूर्व में कहा है 'यदिदं सकलं विश्वम् नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् सत्सर्वं ब्रह्मैव' **सत्-मात्रम् एव**–सत् मात्र ही है, ब्रह्म ही है, नीचे-ऊपर दायें-वायें आगे-पीछे सव ओर से ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, ब्रह्म ही विश्वरूप से भासता है। 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' इति श्रुतिः, मुण्डकोपनिषद २।२।११, **यस्मात् सतः**–चूंकि ब्रह्म से **परम्**–भिन्न **किम् अपि न अस्ति**–कुछ भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है, अन्य की सत्ता को ब्रह्म में भिन्न सत्ता मानने से ब्रह्म की अनन्तता में दोष आता है, इसलिये यह पक्ष श्रुति विरुद्ध होने से अग्राह्य है।

छान्दोग्योपनिषद के छठे अध्याय की श्रुति इस प्रकार है, 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि, श्वेतकेतो', उद्दालक ऋषि ने जपने पुत्र श्वेतकेतु को ९ वार इस प्रकार उपदेश दिया था। इस श्रुति को श्रीभगवत्पाद ने अपने श्लोक में दिया है **तत् सत्यम्**–ब्रह्म परमार्थ तत्त्व है, त्रिकाल-अवाध्य अविनाशी तत्त्व है **स्वयम् सः आत्मा**–ब्रह्म ही निजस्वरूप आत्मा है, चैतंन्य कूटस्थ साक्षी प्रत्यगात्मा है। **तस्मात् प्रशान्तम्**–इसलिये निश्चल, निष्क्रिय, विकार रहित अतएव **अमलम्**–मलरहित माया से असंस्पृष्ट, शुद्ध अतएव **अद्वयम्**–एकतत्त्व, अन्य वस्तु से अमिश्रित, केवल, अतएव **परम्**–मायातीत, निर्गुण, सर्वोत्कृष्ट **यत् ब्रह्म**–जो ब्रह्म है, **तत्**–

वही ब्रह्म **त्वम् असि**–तू है, ईश्वर और जीव के चैतन्यांश में एकता है उपाधि के संयोग से भिन्नता भासती है ॥२५३॥

निद्राकल्पित-देश-काल-विषय-ज्ञात्रादि सर्वं यथा
मिथ्या तद्वदिहापि जाग्रति जगत्स्वाज्ञानकार्यत्वतः ।
यस्मादेवमिदं शरीर-करण-प्राणाहमाद्यप्यसत्
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥२५४॥

अर्थ—जैसे निद्रावस्था में निद्रा-दोष से कल्पित देश, काल, विषय और ज्ञाता आदि सभी मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार जाग्रदवस्था में भी यह जगत् अपने अज्ञान का कार्य होने के कारण, मिथ्या ही है। इसी कारण से ये शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और अहंकार आदि सभी असत्य हैं, अतः शान्त, निर्मल और अद्वितीय जो परब्रह्म है वही तुम हो।

व्याख्या—**निद्राकल्पित-देश-काल-विषय-ज्ञात्रादि सर्वम् यथा मिथ्या**–निद्रावस्था में जहाँ किसी प्रकार की साधन सामग्री नहीं होती, उस अवस्था में मन 'स्वप्ने अर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या, भोक्त्रादिविश्वं मन एव सर्वम्', देश, काल, विषय, द्रष्टा, आदि पद से कर्ता-भोक्ता सर्व-विश्व की रचना कर लेता है, जैसे जागने पर स्वप्न सृष्टि मिथ्या होती है, क्योंकि प्रबुद्ध होने पर स्वप्न सृष्टि प्रतीत नहीं होती, **तद्वत्**–उसी प्रकार **स्व अज्ञान कार्यत्वतः**–अपने स्वरूप के अज्ञान से, माया का कार्य होने से **इह अपि जाग्रति**–यहाँ भी जाग्रदवस्था में **जगत्**–भासमान जगत्, ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने वाला नामाकार वाला जगत् मिथ्या है, क्योंकि सुषुप्ति में तथा स्वप्न में जाग्रदवस्था सृष्टि का सर्वथा अभाव हो जाता है। **यस्मात् एव**–जिससे ही **शरीर-करण-प्राण-अहमादि अपि असत्**–स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीर, ज्ञानकर्मेन्द्रियां, पंचप्राण, अहंकार, आदि पद से अन्तःकरण की अवशेष वृत्तियां, मन बुद्धि चित्त ग्रहण करनी चाहियें। ये भी अविद्या का कार्य होने से असत् हैं, मिथ्या हैं। **तस्मात् प्रशान्तम् अमलम् अद्वयम् परम् यत् ब्रह्म तत् त्वम् असि**–पूर्ववत् ॥२५४॥

जाति-नीति-कुल-गोत्रदूरगं, नाम-रूप-गुण-दोषवर्जितम् ।
देश-काल-विषयातिवर्ति यद्, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५५॥

अर्थ—जो जाति, नीति, कुल और गोत्र से परे है; नाम, रूप, गुण और दोष से रहित है तथा देश, काल और वस्तु का अतिक्रमण करता है, वही ब्रह्म तुम हो—अपने अन्तःकरण में ऐसी भावना करो।

व्याख्या—**जाति-नीति-कुल-गोत्रदूरगम्**—जाति—ब्राह्मण क्षत्रियादि जातियां, नीति—उचित अनुचित विचार, कुल—वंश, गोत्र, इनसे दूर, अस्पृष्ट, असम्बन्धित, जाति, नीति कुल गोत्र शरीर के धर्म हैं, ब्रह्म के नहीं, निधर्मक होने से **नाम-रूप-गुण-दोषवर्जितम्**—नाम, रूप—आकार, गुण-दोष—अच्छापन बुरापन इनसे रहित, ब्रह्म निर्गुण होने से नामरूपगुणदोष रहित है **देश-काल-विषयातिवर्ति**—देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहित ब्रह्म अनन्त है, इसलिये देश-काल वस्तु सीमा से अतीत है। इस प्रकार का **यत् ब्रह्म**—जो ब्रह्म है, पहली तीन पंक्तियों में कहे हुए विशेषणों से रहित जो है **तत् त्वम् असि**—वही ब्रह्म तू है, **आत्मनि**—बुद्धि में जीव ईश्वर की एकतारूप से **भावय**—भावना कर, एकता का ध्यान कर, प्रत्यक्ष अनुभव कर। इस एकता का अनुभव निर्विकल्प समाधि में अखण्डब्रह्माकार वृत्ति से ही सम्भव है ॥२५५॥

यत्परं सकलवागगोचरं, गोचरं विमलबोधचक्षुषः।
शुद्धचिद्घनमनादिवस्तु यद्, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५६॥

अर्थ—जो माया और माया के कार्य से परे और सब वाणी का अविषय है, निर्मल ज्ञानचक्षुओं से जाना जा सकता है तथा शुद्ध चिद्घन अनादि वस्तु है, तुम वही ब्रह्म हो—अपने अन्तःकरण में ऐसी भावना करो।

व्याख्या—**यत्परम्**—जो ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट है, माया तथा माया के कार्य से परे है **सकलवाक् अगोचरम्**—सब वाणी से अप्राप्य है, 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह', इति श्रुतिः तैत्तिरीयोपनिषद २।४।, जिस ब्रह्म को मन और वाणी प्राप्त न करके लौट आते हैं, जो शब्द की शक्तिवृत्ति से प्रतिपादित न हो सके। वाक् उपलक्षणरूप से प्रयुक्त है, सकल शब्द होने से वाक् शब्द से दश इन्द्रियाँ और अन्तःकरण चतुष्टय ग्रहण करने चाहियें। **विमलबोधचक्षुषः गोचरम्**—निर्मल ज्ञानरूप ही है जिसका चक्षु, उससे ग्राह्य, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्माकारवृत्ति का विषय **शुद्ध-चिद्घनम्-अनादिवस्तु**—शुद्ध—केवल, अद्वितीय, निर्गुण, चित्-बोधरूप, घन—मूर्त्ति, ज्ञानमूर्ति, अनादिवस्तु, उत्पत्ति रहित नित्यवस्तु **यत् ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**—इसका अर्थ पूर्ववत् ॥२५६॥

षड्भिरूर्मिभिरयोगि योगिहृद्-भावितं न करणैर्विभावितम् ।
बुद्धयवेद्यमनवद्यभूति यद् ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५७॥

अर्थ—क्षुधा-पिपासा आदि छः ऊर्मियों से सम्वन्धरहित योगिजन जिसका हृदय में आदर से ध्यान करते हैं, जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा वुद्धि से अगम्य और निर्दोष ऐश्वर्यशाला है, वही ब्रह्म तुम हो—अन्तःकरण में ऐसी भावना करो ।

व्याख्या—षड्भिः ऊर्मिभिः—छः ऊर्मियों से, तरंगों से । 'अशना च पिपासा च शोकमोहौ जरामृतिः । एते षडूर्मयः प्रोक्ताः ।' भूख प्यास ये प्राण के धर्म है, शोक मोह ये मन के धर्म, तथा जरा मृत्यु ये स्थूल शरीर के धर्म, इन छः ऊर्मियों से **अयोगि**—योगरहित, सम्वन्धशून्य **योगिहृद्भावितम्**—योगियों के हृदय में आदर से ध्यान लगाया हुआ, विषयों से जिनकी चित्तवृत्ति निरुद्ध है, ऐसे योगियों द्वारा ध्यान के योग्य **न करणैः विभावितम्**—ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, अन्तःकरण द्वारा जिसका विषय न हो सके 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा ।' इति श्रुतिः । ब्रह्म न नेत्र से ग्रहण किया जा सकता है, और न ही वाणी से । **बुद्धि-अवेद्यम्**—शब्द स्पर्श रूपादि रहित होने से स्थूल बुद्धिवृत्ति से भी अग्राह्य **अनवद्यभूति**—निर्दोष ऐश्वर्य वाला अनिन्द्य महिमावाला, निष्कलंकविभूति युक्त **यत् ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**—पूर्ववत् ॥२५७॥

भ्रान्तिकल्पितजगत्कलाश्रयं, स्वाश्रयं च सदसद्विलक्षणम् ।
निष्कलं निरुपमानमृद्धिमद्, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५८॥

अर्थ—जो इस भ्रान्तिकल्पित जगत का अंशरूप से आधार है, स्वयं अपने ही आश्रय स्थित है, सत् और असत् दोनों से भिन्न है तथा जो निरवयव उपमारहित और परम ऐश्वर्यसम्पन्न है, वही परब्रह्म तुम हो—अन्तःकरण में ऐसी भावना करो ।

व्याख्या—भ्रान्तिकल्पित-जगत-कलाश्रयम्—अज्ञान से कल्पित जगत्, वही है कला—अंश, उसका आश्रय—अधिष्ठान, 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि' इति पुरुषसूक्त । सारा जगत् उस ब्रह्म के एक चरण—चौथाई भाग में है, जगदाधार **स्व-आश्रयम्**—सत्ता स्फूर्ति से अपना आप ही आश्रय, पर-अनाधारित, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति स्वे महिम्नि' इति श्रुतिः, छान्दोग्य ७।२४।१ । हे भगवन् ! आत्मा किसमें प्रतिष्ठित है ? अपनी महिमा में **च सत् असत् विलक्षणम्**—और व्यक्त

अव्यक्त से भिन्न, कारण–कार्य रूप प्रकृति से भिन्न **निष्कलम्**–कला रहित, निरवयव **निरुपमानम्**–जिसकी कोई उपमा न हो **ऋद्धिमद्**–सर्वेश्वर, सत्य-संकल्प **ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**–पूर्ववत् ।।२५८।।

जन्म-वृद्धिपरिणत्यपक्षय-व्याधि-नाशनविहीनमव्ययम् ।
विश्वसृष्टयवनघातकारणं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२५६।।

अर्थ––जो उत्पत्ति बढ़ना, बदलना, अपक्षय, व्याधि और नाश–इन छहों विकारों से रहित और अविनाशी है तथा विश्व की सृष्टि, पालन और विनाश का कारण है, वह ब्रह्म तुम ही हो–अपने अन्तःकरण में ऐसी भावना करो ।

व्याख्या––**जन्म-वृद्धि-परिणति-अपक्षय-व्याधि नाशविहीनम्**–उत्पत्ति-अंग-प्रसार-परिवर्तन-अंग संकोच-रोग-मृत्यु-इन छः भावों से रहित, 'षड्भावविकृति-श्चास्ति जायते वर्धते ऽपि च । परिणामं क्षयं नाशं षड्भावविकृतिं विदुः ।।' मायिक पदार्थों में छः विकारभावों का प्रभाव पड़ता है, ब्रह्म पर नहीं, अतएव **अव्ययम्**–जो व्यय न हो, जो घटे नहीं, अविनाशी, **विश्वसृष्टि-अवन-घात कार-णम्**–जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा संहार का कारण, 'मय्यैव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितं, मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ।' इति कैवल्योपनिषद् ।।१६।। मुझ अद्वय ब्रह्म में सकल विश्व की उत्पत्ति, प्रतिष्ठा तथा लय होता है । श्री भगवत्पाद आगे कहेंगे । 'मय्यखंडसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः । उत्प-द्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात्' ।।४६७।। ऐसा **ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**–पूर्ववत् ।।२५६।।

अस्तभेदमनपास्तलक्षणं, निस्तरङ्गजलराशिनिश्चलम् ।
नित्यमुक्तमविभक्तमूर्त्ति यद्, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२६०।।

अर्थ––जो भेदरहित और एकरस है, तरङ्गहीन सागर के समान निश्चल है तथा नित्यमुक्त और विभागरहित है, वह ब्रह्म तुम ही हो–अन्तःकरण में ऐसा ध्यान करो ।

व्याख्या––**अस्तभेदम्**–जिसमें भेद, नानात्व नष्ट हो गया है, अर्थात् अद्वितीय तत्त्व 'नेह नानास्ति किंचन ।' इति कठोपनिषद २।१।११, ब्रह्म में नानापन नहीं है । **अनपास्त लक्षणम्**–अत्यक्त लक्षण, अविचल लक्षण अर्थात् एकरस नित्य अविकारी, सच्चिदानन्द लक्षणवाला **निस्तरंगजलराशिनिश्चलम्**–तरंग रहित

सागर की भांति निश्चल, शान्त **नित्यमुक्तम्**–जो आदि में मुक्त, मध्य में भी मुक्त और अन्त में भी मुक्त हो वह नित्यमुक्त, 'आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन।' इति ब्रह्मानुचिन्तनम्, १६। सर्वदा बन्धरहित, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में मैं मुक्त हूँ, मैं कभी भी बद्ध नहीं **अविभक्तमूर्त्ति**–भेद रहित मूर्त्ति, स्वरूप, शरीर अर्थात् अखण्डरूप अथवा निरवयव, निर्विकारी, ऐसा **यत् ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**–पूर्ववत् ।।२६०।।

एकमेव सदनेककारणं, कारणान्तर-निरासकारणम् ।
कार्यकारण-विलक्षणं स्वयं, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२६१।।

अर्थ––जो एक होकर भी अनेकों का कारण तथा अन्य कारणों के निषेध का कारण है, किन्तु जो स्वयं कार्य-कारणभाव से अलग है, वह ब्रह्म तुम ही हो–अन्तः-करण में ऐसा ध्यान करो ।

व्याख्या––**एकम् एव**–एक ही, 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः। **सत्**–नित्य तत्त्व **अनेक-कारणम्**–नाना नामरूप जगत् का एकमात्र कारण, अधिष्ठान, 'रूपं रूपंप्रतिरुपो बभूव' इति श्रुतिः कठ० २।२।६, एक होने पर भी माया से परमात्मा अनेक रूप होता है, **कारणान्तर-निरासकारणम्**–निरपेक्ष, अन्य कारणों के दूर करने का कारण, सृष्टि का कारण माया, माया का कार्य सृष्टि । नेति-नेति करके वेद भगवान् माया का, तथा उसके कार्य का निराकरण करते हैं । यदि जगत् का कोई कारण है तो ब्रह्म ही है, 'उपादानं प्रपंचस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते' इति योग-शिखोपनिषद ।।२।।, प्रपंच का उपादान कारण ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है । यह श्रुति अन्य सब कारणों का निषेध करती है । **कार्यकारण-विलक्षणम्**–माया का कार्य गगन वायु अग्नि आदि जगत्, तथा कारणरूप माया, उनसे भिन्न । 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' गीता १५।१७।, क्षर अक्षर से विलक्षण उत्तम पुरुष कोई अन्य है **स्वयम्**–स्वयंप्रकाश, अपना कारण आप है, स्वतःसिद्ध ऐसा **ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**–पूर्ववत् ।।२६१।।

निर्विकल्पकमनल्पमक्षर, यत्क्षराक्षरविलक्षणं परम् ।
नित्यमव्ययसुखं निरञ्जनं, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।२६२।।

अर्थ––जो निर्विकल्प, अनन्त और अविनाशी है, क्षर और अक्षर से भिन्न है तथा नित्य, अखंडानन्द स्वरूप और निष्पाप है, वह ब्रह्म तुम ही हो––अन्तःकरण में ऐसी भावना करो ।

व्याख्या—**निर्विकल्पकम्**—जहाँ दूसरा विकल्प न हो, अद्वितीय तत्त्व, माया द्वारा रचित भेदों से शून्य **अनल्पम्**—अनन्त, 'यो वै भूमा तदमृतम्' जो भूमा है वह अमृत है, 'यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्' इति श्रुतिः, छान्दोग्योपनिषद ७।२४।१, जहाँ आत्मा से भिन्न देखता है, सुनता है, जानता है, वह अल्प है, 'अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' जो अल्प है, वह नाशवान् है, जो अल्प न हो वह अनल्प **अक्षरम्**—जो क्षर, व्यय न हो, घटे नहीं वह अक्षर, अविनाशी **क्षर अक्षर विलक्षणम्**—क्षर—सर्वभूत, अक्षर—माया, माया और माया के कार्य से विलक्षण, भिन्न। अथवा जिसमें जीव और माया के लक्षण न हों, वह क्षराक्षर विलक्षण **परम्**—सर्वोत्कृष्ट **नित्यम्**—त्रिकाल अबाध्य, सर्वसाक्षी, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति श्रुतिः, छान्दोग्योपनिषद ६।३।२, **अव्ययसुखम्**—एकरस सुख, अखण्ड आनन्द 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' इति श्रुतिः। छान्दोग्योपनिषद ७।२३।१, जो भूमा है वह सुख है अल्प में सुख नहीं है **निरंजनम्**—अंजन, कालिमा रहित, निष्पाप, अज्ञानशून्य ऐसा **यत् ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**—पूर्ववत् ॥२६२॥

यद्विभाति सदनेकधा भ्रमान्नामरूपगुणविक्रियात्मना।
हेमवत्स्वयमविक्रियं सदा ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६३॥

अर्थ—सुवर्ण के समान जो सत् स्वयं निर्विकार है तथापि भ्रमवश नाना नाम, रूप, गुण और विकारों से अनेक रूप में भासता है, वह ब्रह्म तुम ही हो—ऐसा अपने अन्तःकरण में ध्यान करो।

व्याख्या—**हेमवत्**—सुवर्ण के सदृश, जैसे एक स्वर्ण कटक कुण्डल केयूर रूप से नाना नाम आकार के आभूषणों वाला होता है, वैसे ही **सत्**—अद्वितीय ब्रह्म **भ्रमात्**—अज्ञान योग से, भ्रान्तिमोहित कल्पना से **नाम-रूप-गुण-विक्रियात्मना**—विविध नाम, आकार, गुण भेद से विकारवान सा होकर **अनेकधा**—वहुत प्रकार से **विभाति**—भासता है। यद्यपि स्वरूप से **ब्रह्म सदा**—सर्वकाल में **स्वयम् अविक्रियम्**—अपने स्वरूप में विकाररहित है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' ऋग्वेद ६।४७।१८, माया से इन्द्र (परमात्मा) अनेक रूप से चेष्टा करता है। 'एकं सन्तम् वहुधा कल्पयन्ति' एक होने पर भी उसकी वहुत प्रकार से कल्पना करते हैं। 'अजायमानो वहुधा विजायते', इत्यादि श्रुतियाँ, वह विना उत्पन्न हुए ही अनेक रूप में उत्पन्न सा होता है, ऐसा **यत् ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**—पूर्ववत् ॥२६३॥

यच्चकास्त्यनपरं परात्परं, प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम् ।
सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६४॥

अर्थ—जो कार्य कारण रहित है, बुद्धि से भी श्रेष्ठ है, प्रत्यक्, एकरस और स्वतन्त्र नियन्ता अनन्त और अव्यय रूप से प्रकाशमान है, वह ब्रह्म तुम ही हो—अपने अन्तःकरण में ऐसा ध्यान करो ।

व्याख्या—**अनपरम्**—जिससे अधिक कोई श्रेष्ठ नहीं है, अद्वितीय, जिसका कोई पर-कार्य न हो, 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरम्' इति श्रुतिः । वह यह ब्रह्म कार्य-कारण रहित है । **परात्-परम्**—पर से, बुद्धि से परम् श्रेष्ठ '**यो बुद्धेः** परतस्तु सः ।' गीता ३।४२, जो बुद्धि से श्रेष्ठ है वह यही है **प्रत्यक्**—सर्वान्तरात्मा **एकरसम्**—अविकारी **आत्मलक्षणम्**—आत्मा के लक्षणवाला, जो आत्मा का स्वरूप है वही ब्रह्म का स्वरूप है, अथवा स्वतन्त्र नियन्ता **सत्यचित्सुखम्**—सच्चिदानन्दस्वरूप **अनन्तम्**—अपरिच्छिन्न **अव्ययम्**—नित्य **चकास्ति**—प्रकाशित होता है **यत् ब्रह्म तत्त्वमसि आत्मनि भावय**—पूर्ववत् ॥२६४॥

उक्तमर्थमिममात्मनि स्वयं, भावय प्रथितयुक्तिभिर्धिया ।
संशयादिरहितं कराम्बुवत्, तेन तत्त्वनिगमो भविष्यति ॥२६५॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त विषय को अपनी बुद्धि से वेदान्त-प्रसिद्ध युक्तियों द्वारा अपने चित्त में स्वयं ध्यान करो । इससे हाथ पर रक्खे जल के समान संशय-विपर्यय से रहित तत्त्वबोध हो जायेगा ।

व्याख्या—**उक्तम् इमम् अर्थम्**—पूर्व में कहे हुए इस अर्थ को अर्थात् 'ब्रह्म तत्त्वमसि' ईश्वर जीव की एकता को **प्रथितयुक्तिभिः**—वेदान्तार्थ के अनुसार स्वीकृत युक्तियों, दृष्टान्तों से **धिया**—निर्मल अन्तःकरण से **स्वयम् भावय**—जीव ब्रह्म की एकता का मन में ध्यान करो **तेन**—इस ध्यानबल से **कराम्बुवत्**—हाथ में रक्खे हुए जल के सदृश स्पष्ट **तत्त्वनिगमः**—तत्त्वबोध, आत्मबोध, आत्मदर्शन **संशयादि-रहितम्**—संशय, आदि पद से असम्भावना तथा विपरीतभावना ग्रहण करनी चाहियें, इनसे रहित यथार्थ बोध **भविष्यति**—हो जायेगा । यहाँ श्रीभगवत्पाद प्रतिज्ञा करते हैं । जीव ब्रह्म की एकता का दृष्टान्तों सहित वारम्वार विचार करने से यथार्थ बोध हो जायेगा ।

भ्रम निवृत्ति के लिये वेदान्त के कुछ प्रसिद्ध दृष्टान्त इस प्रकार हैं।

भ्रम	भ्रमों की निवृत्ति के लिये वेदान्त के प्रसिद्ध दृष्टान्त
१—भेद भ्रम— जीव ईश्वर में भेद है।	१—दर्पण में अपने मुख के प्रतिविम्ब का दृष्टान्त—इस पर विचार से भेद भ्रम नष्ट होता है।
२—कर्तृत्व भ्रम— आत्मा कर्ताभोक्ता है।	२—लाल पुष्प पर रक्खी स्फटिक मणि की लालिमा का दृष्टान्त—इस पर विचार से कर्तृत्व भ्रम नष्ट होता है।
३—संग भ्रम— शरीरत्रय के साथ आत्मा का संग है।	३—घटाकाश मठाकाश के दृष्टान्त पर विचार से संगभ्रम नष्ट होता है।
४—विकार भ्रम— आत्मा विकारवान है।	४—सुवर्ण के आभूषणों के दृष्टान्त पर विचार करने से विकार भ्रम नष्ट होता है।
५—सत्यत्व भ्रम— जगत् अपने कारण ब्रह्म से भिन्न सत्य है।	५—रज्जु-सर्प के दृष्टान्त पर विचार करने से जगत् का सत्यत्व भ्रम नष्ट होता है।

यह विषय अन्नपूर्णोपनिषद के प्रथम अध्याय में आया है ॥२६५॥

स्वं बोधमात्रं परिशुद्धतत्त्वं, विज्ञाय सङ्घे नृपवच्च सैन्ये।
तदात्मनैवात्मनि सर्वदा स्थितो, विलापय ब्रह्मणि दृश्यजातम् ॥२६६॥

अर्थ—सेना के बीच में राजा के समान भूतों के संघातरूप शरीर के मध्य में स्थित इस स्वयंप्रकाशरूप विशुद्ध तत्त्व को जान कर सदा तन्मयभाव से स्वस्वरूप में स्थित रहते हुए सम्पूर्ण दृश्यवर्ग को उस ब्रह्म में ही लीन करो।

व्याख्या—**सैन्ये**—योद्धाओं के बीच में **नृपवत्**—सर्वनियन्ता राजा के सदृश **संघे**—कार्यकरणसंघात शरीर में **स्वम् बोधमात्रम्**—स्वयं प्रकाश केवल निर्मल ज्ञान रूप, अनुभव रूप **परिशुद्धतत्त्वम्**—लक्षणावृत्ति से शोधन किये हुए तत्त्व को **विज्ञाय**—जानकर, विवेक से अनुभव करके **तदात्मना एव**—उस ज्ञानात्मा

रूप से ही **सर्वदा आत्मनि स्थितः**—सदा स्वरूपनिष्ठ हुआ **ब्रह्मणि दृश्यजातम् विलापय**—ब्रह्म में दृश्य जगत् का प्रलय करो, सर्व को ब्रह्मरूप देखो। ब्रह्मानुचिन्तनम् नामक पुस्तिका में श्रीभगवत्पाद ने लय-क्रम इस प्रकार बताया है, 'पृथिव्यप्सु पयो वह्नौ वह्नि र्वायौ नभस्यसौ। नभोप्यव्याकृते तच्च शुद्धे शुद्धोस्म्यहं हरिः ॥' पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अव्यक्त माया में, माया शुद्ध ब्रह्म में लय होती है, और वही शुद्ध हरि (ब्रह्म) मैं हूँ ॥२६६॥

बुद्धौ गुहायां सदसद्विलक्षणं, ब्रह्मास्ति सत्यं परमद्वितीयम्।
तदात्मना योऽत्र वसेद् गुहायां, पुनर्न तस्याङ्गऽगुहाप्रवेशः ॥२६७॥

अर्थ—वह सत्-असत् से विलक्षण अद्वितीय सत्य परब्रह्म बुद्धिरूप गुहा में विराजमान है। जो इस गुहा में उससे एकरूप होकर रहता है, हे वत्स! उसका फिर गर्भ रूपी कन्दरा में प्रवेश नहीं होता।

व्याख्या—**सत्-असत्-विलक्षणम्**—माया और माया के कार्य से भिन्न **सत्यम्**—त्रिकाल अबाध्य, नित्य **अद्वितीयम्**—अद्वय **परम् ब्रह्म**—सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म **बुद्धौ गुहायाम्**—बुद्धि कोश अन्तरात्मा का आवरक होने से बुद्धि को गुफा कहा है, उस गुफा में **अस्ति**—है, अर्थात् बुद्धि गुफा में उसका साक्षात्कार हो सकता है, वैसे तो ब्रह्म विभु और अनन्त है, परन्तु उसका अनुसन्धान विज्ञानमय कोश में ही होता है। **तदात्मना**—ब्रह्म रूप से **यः अत्र गुहायाम्**—जो बुद्धिगुफा में **वसेत्**—वसता है, अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति से रहता है **तस्य**—उस ब्रह्मात्मस्थिति मे रहनेवाले का **अंग**—हे शिष्य! अत्यधिक स्नेहाधिकारी के लिये अंग शब्द कहा है **पुनः**—फिर, आत्म-साक्षात्कार होने के पश्चात **गुहाप्रवेशः न**—गर्भरूपी गुफा में प्रवेश नहीं होता, पुनर्जन्म नहीं होता। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है, और ब्रह्म अजन्मा है 'अजो नित्यः' इति श्रुतिः ॥२६७॥

यहाँ तक श्रवण प्रकरण समाप्त हो जाता है। प्रारम्भिक भूमिका ज्ञान के चार साधन, तीनों शरीरों का निरूपण, पंचकोश निरूपण, 'त्वम्' पद का परिशोधन, जगत् का स्वरूप 'तत्' पद का परिशोधन, महावाक्य द्वारा लक्षणा वृत्ति से 'तत्' और 'त्वम्' पद की एकता और उसके उपरान्त 'तत्त्वमसि' की दृढ़ता के लिये अभ्यास, तथा उसका फल 'संशयादि रहित कराम्बुवत् तेन तत्त्वनिगमः भविष्यति' बताकर श्रीगुरु ने शिष्य को वेदान्त प्रक्रिया श्रवण कराई है।

यहाँ तक के उपदेश से शिष्य को ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान हुआ है। दूसरे श्लोक में कहे हुए 'आत्मानात्मविवेचनम्' तक यह उपदेश हुआ है। परन्तु अभी तक शिष्य को 'स्वनुभवः' नहीं हुआ है। इसलिये श्रीभगवत्पाद अब शिष्य को 'स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति र्मुक्तिः।' कराने के लिये उपदेश देना आरम्भ करते हैं। इस में मनन, निदिध्यासन, समाधि सभी सम्मिलित हैं।

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूडामणिः' पर पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा 'सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' का श्रवण नाम दूसरा प्रकरण समाप्त।

३—मनन प्रकरण—

श्रवण से बुद्धि की मन्दता, मनन से कुतर्क तथा निदिध्यासन से विपरीत भावना निवृत्त होती हैं। श्रीगुरु ने महावाक्य से जीव-ब्रह्म की एकता प्रतिपादन की है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रतिवद्ध महावाक्य आत्मसाक्षात्कार नहीं करा सकता, प्रतिवन्ध शून्य महावाक्य ही जीव ब्रह्म की अभिन्नता का साक्षात्कार करा सकता है। वासना, अहंकार, ममता, संकल्प, पुण्य-पाप रूप कर्म ये ही महावाक्य के प्रतिवन्धक हैं। मनन की सामग्री श्रीभगवत्पाद ने ८६ श्लोकों में (२६८ से ३५३) दी है। श्रवण के पश्चात् शिष्य के विचार के लिये श्री गुरु मनन-सामग्री देते हैं। एक ही विषय को कई ढंग से वताते हैं। इस प्रकरण में अध्यात्मोपनिषद के वहुत से मंत्र हैं।

ज्ञाते वस्तुन्यपि वलवती वासनानादिरेषा
कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य संसारहेतुः।
प्रत्यग्दृष्ट्यात्मनि निवसता सापनेया प्रयत्ना-
न्मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत् ॥२६८॥

अर्थ—आत्म-वस्तु का परोक्ष ज्ञान हो जाने पर भी, जो यह वासना कि 'मैं कर्ता और भोक्ता हूँ' वह दृढ़ है और संसार का कारण है। उस प्रवल अनादि-वासना को अन्तर्मुखी वृत्ति से आत्मस्वरूप में स्थित होकर प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिये; क्योंकि जीवितावस्था में वासना की क्षीणता को ही मुनियों ने मुक्ति कहा है।

व्याख्या—वस्तुनि ज्ञाते अपि—आत्मतत्त्व के परोक्ष ज्ञान होने पर भी, पंच-कोश विलक्षण ब्रह्म-अभिन्न प्रत्यगात्मा को गुरूपदेश से, शास्त्र से तथा युक्ति से जान

लेने पर भी, साक्षात् नहीं, परोक्ष रूप से **या वासना ग्रस्य संसार हेतुः**—जो इस जीव की वासना है, जो कि जन्म-मृत्यु जराव्याधि दुःखरूप संसार का कारण है, कैसी है वह वासना ? **ग्रहम् कर्ता भोक्ता इति**—मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ। इस प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्व जो कि विज्ञानमय कोश के धर्म हैं, उनमें ग्रात्माभिमान करना। 'कर्तृलक्षणः' 'ज्ञानक्रियावानहमिति', इस प्रकार की यह वासना **दृढा**—दुरुच्छेद्या है, माया के तमोगुण की शक्ति ग्रावरण द्वारा स्वरूप ढका होने से पंचकोश ही ग्रात्मा भासते हैं, ग्रौर यह भ्रान्ति ग्रत्यन्त सुदृढ़ है ग्रर्थात् कर्मकाण्ड तथा उपासना से ग्रच्छेद्य है, यह वासना दृढ़ ही नहीं है, वल्कि **ग्रनादिः**—ग्रनादि भी है, इसकी ग्रादि, उत्पत्ति कोई नहीं जानता, किस काल, तिथि से इसकी उत्पत्ति हुई है, तात्कालिक होने से, इसलिये **एषा बलवती**—यह वासना वलवान् प्रतिवन्ध है, वासना से प्रतिवद्ध महावाक्य ग्रात्मसाक्षात्कार नहीं करा सकता।

ग्रव इसके निवारण का उपाय कहते हैं, **ग्रात्मनि प्रत्यग्दृष्टया निवसता सा ग्रपनेया इह**—इसी जीवितावस्था में—ब्रह्म में, प्रत्यग्दृष्टया—ग्रन्तर्मुखी दृष्टि से, ब्रह्माकारवृत्ति से, निवसता—प्रतिष्ठित हुए पुरुष से **सा ग्रापनेया**—यह वलवती, दृढ़, ग्रौर ग्रनादि वासना दूर करनी चाहिये। ज्यों-ज्यों वृत्ति ग्रन्तर्मुखी होगी, वहिर्मुख विषयों का ग्राश्रय न करेगी, त्यों-त्यों वासना क्षीण होती चली जायेगी, जैसे-जैसे स्वरूप की समीपता प्राप्त होगी तैसे-तैसे वासना क्षीण होगी, परन्तु यह ग्रवस्था स्वतः नहीं प्राप्त होगी इस लिये **प्रयत्नात्**—यत्न से, ब्रह्माभ्यास से, जीव ग्रौर ब्रह्म के ग्रभेदज्ञान की दृढ़ता से, पूर्व में वताये हुये १३ श्लोकों की विचार पूर्वक वारम्वार ग्रावृत्ति करने से यह वासना शिथिल होती है।

यत् वासना तानवम् तत् मुक्ति मुनयः प्राहुः—क्योंकि वासना की जो क्षीणता है उसी को मुनियों ने, ग्रनुभवशील महात्माग्रों ने, मुक्ति कहा है। 'वासना तानवं ब्रह्मन् मोक्ष इत्यभिधीयते' महोपनिषद् २।४१।. ।।२६८।।

देहाध्यास प्रतिवन्ध हेतु है।

अहंममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया ।।२६६।।

ग्रर्थ—देह-इन्द्रिय ग्रादि ग्रनात्म-वस्तुग्रों में जीव का जो ग्रहं ग्रौर ममभाव है यही ग्रध्यास है। विद्वान् को ग्रात्मनिष्ठा से इसे दूर करना चाहिये।

व्याख्या—अध्यात्मोपनिषद में यह पहला मंत्र है । **अनात्मनि**–अनात्म वस्तु में देहाक्षादौ–स्थूल शरीर, अक्ष से ज्ञानेन्द्रियां समझना, आदि पद से कर्मेन्द्रियां, प्राण, अन्तःकरण ग्रहण करना, इनमें जो कि असत् हैं, आत्मा की कल्पित उपाधियां हैं **अहम् मम् इति**–अहंकार और ममत्व, आत्माभिमान का **यः भावः**–जो भाव, अहंता ममता है वह **अयम्**–यह **अध्यासः**–मिथ्याज्ञान का नाम अध्यास है, इसको पूर्व में वन्ध नाम से कहा है, 'अत्र अनात्मनि अहमिति मतिः वन्धः एषोऽस्य पुंसः प्राप्तः अज्ञानात्' । अध्यास और वन्ध एक ही वस्तु हैं, यह अध्यास, अनात्म पंच-कोशों में मिथ्या आत्माभिमान **विदुषा**–मननशील विद्वान् से **स्वात्मनिष्ठया**–अपने स्वरूप में निष्ठा से 'मैं ब्रह्म हूँ, देहाक्षादि नहीं हूँ' **निरस्तव्यः**–दूर करना चाहिये । ।।२६९।।

अध्यास निवृत्ति तथा स्वात्मनिष्ठा का प्रकार वताते हैं ।

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम् ।
सोऽहमित्येव सद्वृत्त्यानात्मन्यात्ममतिं जहि ॥२७०॥

अर्थ—प्रत्यगात्मरूप अपने-आप को बुद्धि और उसकी वृत्तियों का साक्षी जानकर 'मैं वही हूँ' ऐसी ब्रह्माकार वृत्ति से अनात्म-वस्तुओं में आत्मबुद्धि का त्याग करो ।

व्याख्या—अध्यात्मोपनिषद में यह दूसरा मंत्र है, अन्तिम चरण में कुछ परि-वर्तन है, पर अर्थ में विशेषता नहीं । **स्वम्**–अपने को **बुद्धि-तद्वृत्ति-साक्षिणम्**–बुद्धि और उसकी वृत्तियों का साक्षी, द्रष्टा, तटस्थ, उसको **प्रत्यगात्मानम्**–सर्वान्त-रात्मा **ज्ञात्वा**–जानकर, दृढ़ता से अनुभव करके, किस प्रकार ? **सः अहम् इति एव**–वह प्रत्यगात्मा मैं ही हूँ । आत्मा परमात्मा का अभेद ज्ञान जानकर इस प्रकार **सद्वृत्त्या**–सत् को विषय करनेवाली वृत्ति से, प्रज्ञा से, ब्रह्माकारवृत्ति के वल से **अनात्मनि आत्ममतिम् जहि**–अनात्म देहाक्षादि में, भ्रान्ति से उत्पन्न आत्मबुद्धि-रूप वन्ध अध्यास को त्यागो ।।२७०।।

वासनात्रय त्याग से देहाध्यास नाश ।

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७१॥

अर्थ—लोकवासना, देहवासना और शास्त्रवासना इन तीनों को छोड़कर अनात्मा में आत्मबुद्धि का त्याग करो ।

व्याख्या--यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में तीसरा मंत्र है। अब तीन प्रकार की वासना का निरूपण करके उनके त्याग का उपदेश करते हैं। **लोकानुवर्तनम् त्यक्त्वा**–लोकों का अनुवर्तन, अनुसरण, लोकाचार की मुख्यता को त्याग कर, लोकैषणा छोड़कर **देहानुवर्तनम् त्यक्त्वा**–देह के अनुसरण को त्याग कर, यह शरीर जैसे भी सुन्दर लगे, पुष्ट हो वैसा ही आचरण करने को त्याग कर, **शास्त्रानुवर्तनम् त्यक्त्वा**–शास्त्रों को साध्य समझ कर उनका अनुसरण करना, शास्त्रैषणा को त्याग कर **स्वाध्यसापनयम् कुरु**–अहन्ता ममता का नाश कर। लोक वासना , देह वासना, शास्त्र वासना ये तीनों महावाक्य के प्रतिवन्धक हैं, इसलिये इनका त्याग कर, जिससे कि आत्मदर्शन प्रत्यक्ष हो सके ॥२७१॥

असत् पदार्थों के विनाश के लिये महावाक्य गोलेवारुद के सदृश है। चाहे वासना, चाहे अहंकार, चाहे असद्-ग्रह, उपाधि चाहे संकल्प जो कुछ भी कहो इन सवके प्रलय करने का महास्त्र महावाक्य है। अव श्रीभगवत्पाद इसका प्रयोग वताते हैं।

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥२७२॥

अर्थ--लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना इन तीनों के रहने से जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं ही होता।

व्याख्या--**लोक वासनया**–लोक वासना, मैं ऐसा आचरण करूं जिससे सव लोग मेरी प्रशंसा करें, कोई मेरी निन्दा न करे, ऐसी भावना लोकवासना। लोकों की निन्दा स्तुति की ओर कान न दे, जैसा श्रेयस्कर हो वैसा आचरण करे। 'तुल्यनिन्दास्तुतिः' निन्दा और स्तुति में समान रहे। सव लोगों को कौन प्रसन्न कर सकता है। **शास्त्रवासनयापि च**–शास्त्र वासना से भी, मैं सव शास्त्र पढ़ूं, मेरा सव शास्त्रों पर अधिकार हो, शास्त्रार्थ में मैं विजय पाऊँ, मैं नाना अनुष्ठान करूँ, ऐसी भावना शास्त्रवासना है, यह मोक्ष में प्रतिवन्धक है, इससे भी तथा **देहवासनया**–देह को आत्मा मान कर देह को सदा स्थायी रखने की वासना, मैं सदा सुन्दर स्वस्थ युवा रहूँ, इससे **जन्तोः यथावत् ज्ञानम्**–जीव को यथार्थ ज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, जीव ईश्वर का अनुभवयुक्त अभेदज्ञान **नैव जायते**–नहीं ही होता है। जव सव प्रकार की द्वैतपरक वासनायें शान्त होंगी तव बोध होगा, 'मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवम् यत्' ॥२७२॥

वासनात्रय से छुटकारा ही सम्यक् मुक्ति है।

संसारकारागृहमोक्षमिच्छो, रयोमयं पादनिबद्धशृङ्खलम् ।
वदन्ति तज्ज्ञाः पटुवासनात्रयं, योऽस्माद्विमुक्तः समुपैति मुक्तिम् ॥२७३॥

अर्थ—संसाररूप कारागार से मुक्त होने की इच्छावाले पुरुष के लिये ब्रह्मज्ञ पुरुष इस तीव्र वासनात्रय को पैरों में पड़ी हुई लोहे की बेड़ी बतलाते हैं, जो इससे छुटकारा पा जाता है वही मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्या—तत्ज्ञाः—ब्रह्मवेत्तागण **पटुवासनात्रयम्**—तीव्र वासनात्रय को, लोक-शास्त्र-देह वासनात्रय को **संसार-कारागृह-मोक्षमिच्छोः**—संसार ही है कारावास, वन्दीगृह, उससे छुटकारा पाने की इच्छावाले के लिये **अयोमयम्**—लोहमयी, अतिदृढ़ **पादनिबद्धशृंखलम्**—पांव बांधने वाली शृंखला, जंजीर **वदन्ति**—कहते हैं। पांव बांधने से मनुष्य गति में असमर्थ होता है, ऐसे ही त्रिवासनायुक्त प्राणी आत्मपद को प्राप्त करने में चेष्टा नहीं कर सकता, **यः अस्मात् विमुक्तः**—जो साधक इस वासनात्रय से छूटा हुआ है, अबद्ध है वह ही **मुक्तिम्**—मोक्ष पद को, कैवल्य मोक्ष को **समुपैति**—प्राप्त होता है, यथार्थ ज्ञान जानता है, वासनापन्न पट्शास्त्रवेदी भी नहीं ॥२७३॥

वासनात्रय त्याग से परमात्मवासना का उदय होता है, तीन श्लोकों में।

जलादिसम्पर्कवशात्प्रभूत-दुर्गन्धधूतागरुदिव्यवासना ।
सङ्घर्षणेनैव विभाति सम्यग्विधूयमाने सति बाह्यगन्धे ॥२७४॥

अर्थ—जलादि के सम्पर्क से अत्यन्त दुर्गन्ध से दबी हुई चन्दन की दिव्य गन्ध संघर्ष के द्वारा बाह्य गन्ध के दूर होने पर ही अच्छी तरह प्रतीत होती है।

व्याख्या—जलादि-सम्पर्कवशात्—जल, आदि पद से सूर्य और वायुधूलि समझने चाहियें, इनके स्पर्श में आने से **प्रभूत दुर्गन्धधूता**—बहुत दुर्गन्ध से दबी हुई **अगुरु-दिव्यवासना**—चन्दन की सुहावनी, घ्राणप्रिय सुगन्ध **संघर्षणेन**—रगड़ने से **बाह्यगन्धे**—बाहर की दुर्गन्ध के **सम्यक् विधूयमाने सति** एव—भले प्रकार हटाये जाने पर, दूर किये जाने पर ही **विभाति**—अगरु की दिव्य वासना प्रतीत होती है, बिना दुर्गन्ध के हटाये दिव्य सुगन्ध दबी रहती है। यह दृष्टान्त अगले श्लोक की भूमिका है ॥२७४॥

अन्तःश्रितानन्तदुरन्तवासना, धूलीविलिप्ता परमात्मवासना ।
प्रज्ञातिसङ्घर्षणतो विशुद्धा, प्रतीयते चन्दनगन्धवत्स्फुटा ॥२७५॥

अर्थ––अन्तःकरण में स्थित अनन्त दुर्वासनारूपी धूलि से ढकी हुई परमात्म-वासना अत्यन्त संघर्ष से शुद्ध होकर चन्दन की गन्ध के समान ही स्पष्ट प्रतीत होने लगती है ।

व्याख्या––अन्तःश्रिता-अनन्त-दुरन्त-वासना-धूली-विलिप्ता–अन्तःकरण में रहनेवाली जो असंख्यात् दुर्दमनीय वासनाओं की धूलि, उससे ढकी हुई **परमात्म-वासना**–शुभ वासना, मोक्ष की वासना रहती है । पहले 'पटुवासनात्रयं' का उल्लेख आया है, जो कि 'अयोमयं पादनिबद्धश्रृंखलम्' साधक को बांधने में लोहमयी श्रृंखला है ।

अब चौथे प्रकार की वासना, परमात्मवासना को जो कि पटुवासनात्रय–लोक-शास्त्र देहवासना–को भंजन करनेवाली है, उसे बताते हैं । यह परमात्म-वासना **अति संघर्षणतः**–अति संघर्षण से, अर्थात् श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप दीर्घ पुरुषार्थ से, प्रज्ञा नाम है ब्रह्माकारवृत्ति का, उसकी प्राप्ति के यत्न का नाम संघर्ष, उससे **विशुद्धा प्रज्ञा**–पटुवासनात्रयरहिता, अनात्मवासना असंयुक्ता, ब्रह्माकारवृत्ति, परमात्मवासना **चन्दन गन्धवत् स्फुटा प्रतीयते**–चन्दन के गन्ध के सदृश स्पष्ट प्रगट होती है ।।२७५।।

अनात्मवासनाजालैस्तिरोभूतात्मवासना ।
नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशे भाति स्वयं स्फुटा ।।२७६।।

अर्थ––अनात्मवासनाओं के समूह से छिपी हुई आत्मवासना निरन्तर आत्म-निष्ठा में स्थित रहने से उनके नाश हो जाने पर स्पष्ट भासने लगती है ।

व्याख्या––अनात्मवासनाजालैः–लोकवासना, शास्त्रवासना तथा देहवासना इनके समूह से, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, क्रूरता आदि आसुरी सम्पत्ति से **तिरो-भूता**–ढकी हुई **आत्मवासना**–मोक्ष होने की इच्छा, परमात्मवासना **नित्यात्म-निष्ठया**–नित्य, सदा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने से **तेषाम् नाशे**–अनात्मवासना जाल के नाश होने पर आत्मवासना **स्वयम् स्फुटा**–विना प्रयत्न के स्पष्ट भासती है, परमात्मवासना, आत्मवासना एक ही वस्तु है ।।२७६।।

अनात्मवासनाजाल का नाश सहसा नहीं होता । वासना के निःशेष नाश से ही स्वरूप प्रतिबन्धशून्य होता है ।

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मनस्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासनाः ।
निःशेषमोक्षे सति वासनानामात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या ।।२७७।।

अर्थ—जैसे-जैसे मन अन्तर्मुख होता जाता है वैसे-वैसे ही वह बाह्य वासनाओं को छोड़ता जाता है। जिस समय वासनाओं से पूर्णतया छुटकारा हो जाता है, उस समय प्रतिबन्धशून्य आत्मसाक्षात्कार होता है।

व्याख्या—**यथा यथा**—जैसे-जैसे **मनः**—मन, अभ्यास वैराग्य बल से **प्रत्यक्-अवस्थितम्**—आत्मस्वरूप में अवस्थान करता है, अन्तर्मुखी होता है, जैसे पूर्व में कहा है, 'विवेकवैराग्य-गुणातिरेकात् शुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै' जैसे-जैसे मन शुद्ध होता है **तथा तथा**—वैसे-वैसे **बाह्यवासनाः**—अनात्म पदार्थों में वासनाओं को, देहादि में अहंता सुतदारगृहादि में ममता, इनको **मुंचति**—छोड़ देता है, बहिर्मुखता त्याग देता है, **वासनानाम् निःशेषमोक्षे सति**—समस्त वासनाओं के समूचे रूप से छूटने पर, जब वासना का लेश भी न रहे 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्' गीता २।५५।, हे अर्जुन मनुष्य जब सब वासनाओं को त्याग देता है तब बोधवान् होता है, स्थितप्रज्ञ, जीवन्मुक्त होता है। किसी प्रकार की द्वैत सम्बन्धी वासना का लेश भी न रहना 'वासनातानवम्' कहलाता है। वासनाओं के निवृत्त होने पर **आत्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या**—सब प्रकार के प्रतिबन्धों से शून्य होने से आत्मसाक्षात्कार अचिरात् उपलब्ध होता है। 'निवृत्तिः परमा तृप्तिः' वासनाओं से निवृत्ति ही निरंकुशा तृप्ति होती है, 'मुक्ति प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवम् यत्' अध्यास, बन्ध, वासना एक ही वस्तु है ॥२७७॥

स्वरूप में अवस्थान से मनोनाश तथा वासना क्षय, इनसे देहाध्यास नाश।

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७८॥

अर्थ—निरन्तर आत्मस्वरूप में ही स्थिर रहने से योगी का मन नष्ट हो जाता है और उसकी वासनाओं का भी क्षय हो जाता है इसलिये अपने अध्यास को दूर करो।

व्याख्या—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति अध्यात्मोपनिषद के चौथे मंत्र का पूर्वार्ध है। **स्वात्मनि एव सदा स्थित्या**—अपने स्वरूप में निरन्तर स्थिति के लिये यत्न करने से **योगिनः मनः**—योगी का मन, विषयों से, रजोगुण तमोगुण वृत्तियों से, निरुद्ध चित्त वाले योगी का मन **नश्यति**—धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है, मनका स्वरूप नाश हो जाता है, संकल्प विकल्पात्मक मन विलीन हो जाता है। 'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः' जब तक मन विलीन नहीं होता है तब तक वासनाक्षय नहीं होती। इस संबंध में अन्नपूर्णोपनिषद के ५ वें अध्याय की श्रुतियां उद्धृत करते हैं :—

न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ।
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ।।७९
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ।
यावन्न वासनानाशः तावत्तत्त्वागमः कुतः ।।
यावन्न तत्त्वसंप्राप्ति र्न तावद्वासनाक्षयः ।।८०
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानानि स्थितान्यतः ।।८१।।

वासनाक्षय मनोनाश तत्त्वबोध, ये तीनों एक ही हैं, एक के साधने से सब सधते हैं। **अतः स्वाध्यासापनयम् कुरु**–इसलिये विपरीत भावना को दूर करो, पंचकोशों में, सम्यक् विचार से, आत्मबुद्धि को छोड़ दो, सुतदारगृहादि में ममता को त्याग दो ।।२७८।।

मन शोधन का उपाय बताते हैं। मन में सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से अध्यास नाश करो।

तमो द्वाभ्यां रजः सत्त्वात्सत्त्वं शुद्धेन नश्यति ।
तस्मात्सत्त्वमवष्टभ्य स्वाध्यासापनयं कुरु ।।२७९।।

अर्थ––रजोगुण और सत्त्वगुण से तम, मिश्रित सत्त्वगुण से रज और शुद्ध सत्त्व गुण से मिश्रित सत्त्वगुण का नाश होता है, इसलिये शुद्ध सत्त्व का आश्रय लेकर अपने अध्यास का त्याग करो।

व्याख्या––द्वाभ्याम् तमः–सत्त्वगुण और रजोगुण इन दोनों से तमोगुण नष्ट होता है, दब जाता है। यह अनुभव प्रसिद्ध है कि काव्य शास्त्र विनोदादि से तथा व्यायाम से आलस्य निद्रादि तामसधर्म नष्ट हो जाते हैं, **सत्त्वात् रजः**–मिश्रित सत्त्वगुण से रजोगुण नष्ट हो जाता है, भजन में चित्तैकाग्रता होने से रजोगुण का धर्म विक्षेप दूर हो जाता है। **सत्त्वम् शुद्धेन नश्यति**–और मिश्रित सत्त्वगुण का नाश विशुद्ध सत्त्वगुण से होता है। समाधि में भजनादि सात्त्विक क्रिया भी नष्ट हो जाती है। विशुद्ध सत्त्वगुण के धर्म पूर्व में बताये हैं, 'स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः, तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा।' **तस्मात्**–चूंकि शुद्ध सत्त्वगुण, मिश्रित सत्त्वगुण का, रजोगुण का, तमोगुण का नाश कर सकता है इसलिये **सत्त्वम् अवष्टभ्य**–शुद्ध सत्त्वगुण का आश्रय लेकर, विवेक वैराग्य और तीव्र मुमुक्षुता से सत्त्वगुण की अभिवृद्धि करके **स्वाध्यासापनयम् कुरु**–देहादि अनात्म वस्तुओं में अहंता

ममता त्यागो। 'इसलिये वृत्तियों को निरन्तर सात्त्विक रखने के लिये सात्त्विक कर्म, भजन, पूजन, नाम स्मरण, सत्संग, कीर्तन, जपनादि करने का प्रयत्न करे। उत्तम कर्म से वृत्तियां शीघ्र ही सात्त्विक हो सकती है।' श्रीगुरु वचन ॥२७९॥

प्रारब्धं पुष्यति वपुरिति निश्चित्य निश्चलः।
धैर्यमालम्ब्य यत्नेन स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८०॥

अर्थ––प्रारब्ध ही शरीर का पोषण करता है; ऐसा निश्चय कर निश्चलभाव से धैर्य धारण करके यत्नपूर्वक देह-अध्यास को त्यागो।

व्याख्या––यदि तुम्हें यह भय हो कि देह वासना के परित्याग से शरीर की उपेक्षा होगी, और देहपात हो जायगा, सो ठीक नहीं, क्योंकि **प्रारब्धम् वपुः पुष्यति इति**–प्रारब्ध कर्म शरीर की रक्षा करता है, ऐसा **निश्चित्य**–निश्चय करके **निश्चलः**–क्षोभरहित चित्तवाला होकर **धैर्यम् आलम्ब्य**–धीरज से **यत्नेन स्वाध्यासापनयम् कुरु**–यत्न पूर्वक देहादि में अहंता ममता त्याग दो। जब तक प्रारब्ध भोग है तब तक शरीर रक्षा है, प्रारब्ध भोग क्षय होने पर शरीर पात अवश्यंभावी है ॥२८०॥

अब अध्यास निवारण की विधि बताते हैं। महावाक्य अभ्यास से अध्यास नाश करो।

नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्यतद्व्यावृत्तिपूर्वकम्।
वासनावेगतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८१॥

अर्थ––मैं जीव नहीं हूँ, परब्रह्म हूँ, इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न पदार्थों का निषेध करते हुए वासनात्रय के वेग से प्राप्त हुए देह अध्यास का त्याग करो।

व्याख्या––**'न अहम् जीवः परम् ब्रह्म' इति**–मैं जन्मरणधर्मा कर्ताभोक्ता जीव नहीं हूँ, मैं अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर हूँ 'नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि तथैव च। न मनोऽहं न बुद्धिश्च नैव चित्तमहंकृतिः।' ब्रह्मानुचिन्तनम् ॥२१॥, 'सर्वज्ञो ऽहमनन्तोहं सर्वेशः सर्वशक्तिमान्। आनन्दः सत्यबोधो ऽहमिति ब्रह्मानुचिन्तनम् ॥' ब्रह्मानुचिन्तनम् ॥२५॥। **अतत्**–न तत्, अतत्, ब्रह्म से भिन्न **व्यावृत्तिपूर्वकम्**–पदार्थों के निषेध पूर्वक, निषेध मुख से अनात्म पदार्थों का निराकरण करते हुए **वासनावेगतः**–अनात्म वासना, लोक-देह-शास्त्रवासनात्रय के वेग से,

वासना के पटुत्व—तीव्रता से, अज्ञान से **प्राप्त**—प्राप्त हुए **स्वाध्यासापनयम् कुरु**—देह अध्यास को दूर करो ॥२८१॥

श्रुति प्रमाण, युक्ति तथा स्वानुभूति के बल से अध्यास नाश करो ।

श्रुत्या युक्त्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ।
क्वचिदाभासतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८२॥

अर्थ—श्रुति, युक्ति और अपने अनुभव से आत्मा की सर्वात्मता को जानकर आत्मा के प्रकाश से कुछ प्रकाशित से हुए देहादि में आत्मबुद्धि त्याग करो ।

व्याख्या—इस श्लोक का पूर्वार्ध अध्यात्मोपनिषद के चौथे मन्त्र का उत्तरार्ध है । **श्रुत्या**—श्रुति प्रमाण से 'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म' छान्दोग्योपनिषद ३।१४।१; यह सब ब्रह्म है । 'इदं सर्वं यदयमात्मा', 'आत्मैवेदं सर्वम्' यह सब जगत् आत्मा ही है । **युक्त्या**—युक्ति से, रज्जु में सर्प प्रतीति की भांति, ब्रह्म ही जगत्रूप से भासता हूँ । 'स्वप्नो जागरणे ऽलीकः स्वप्ने ऽपि जागरो न हि । द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्यभयोर्न च ॥११॥ त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम् । अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येकश्चिदात्मकः ॥ १२॥ इति योगशिखोपनिषद । जाग्रत् में स्वप्न मिथ्या है, स्वप्न में जाग्रत नहीं रहता, सुषुप्ति में जाग्रत और स्वप्न दोनों नहीं रहते । इस प्रकार तीन गुणों से उत्पन्न हुई तीनों अवस्थायें मिथ्या हैं, किन्तु इन तीनों का जानने वाला द्रष्टा गुणों से परे नित्य एक बोधरूप है । इस प्रकार युक्ति से तथा **स्वानुभूत्या**—अपने अनुभव से, अनुभव सर्वोपरि है **आत्मनः**—ब्रह्म की, आत्मा की **सार्वात्म्यम्**—सर्वात्मता को, अनन्तता को, सर्वव्यापीपन, सर्वग्रासीपन को सर्वाधिष्ठानता को 'नाधिष्ठानात् भिन्नतारोपितस्य' **ज्ञात्वा**—जानकर, अनुभव कर **क्वचित् आभासतः**—आत्मा के प्रकाश से कुछ चेतनीभूत से हुए कोशों में **प्राप्त स्वाध्यासापनयम् कुरु**—भ्रान्तिवश प्राप्त हुई आत्मबुद्धि को त्याग दो, देहादि में अहन्ता, सुतदारगृहादि में ममता त्याग दो ॥२८२॥

बोधवान की कर्तव्यरहितता ।

अन्नादानविसर्गाभ्यामीषन्नास्ति क्रिया मुनेः ।
तदेकनिष्ठया नित्यं स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८३॥

अर्थ—मुनि का अन्नादान और मल-मूत्र त्यागने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं है इसलिये निरन्तर आत्मनिष्ठाद्वारा अपने अध्यास को त्यागो ।

व्याख्या––**अन्नआदान-विसर्गाभ्याम्**–शरीर स्थिति हेतु अन्नग्रहण करना, तथा मल-मूत्र त्याग इन क्रियाओं के अतिरिक्त, इसमें शरीराच्छादन क्रिया भी शामिल है **मुनेः**–परमात्मा के स्वरूप में निरन्तर चिन्तन करनेवाले के लिये **ईषत् क्रिया नास्ति**–अन्य थोड़ा भी कोई कर्तव्य नहीं है। 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्' गीता, ४।२१, शरीर रक्षा हेतु क्रिया करने से मुनि को पाप नहीं लगता। अतः **नित्यश् तदेकनिष्ठया**–उस परमात्मा में निरन्तर जो अचल स्थिति के लिये प्रयास है, उसके बल से **स्वाध्यासापनयम् कुरु**–पूर्ववत् ।।२८३।।

सही बात तो यह है कि शरीररक्षा प्रारब्ध द्वारा होती है चाहे कोई मूढ शरीर रक्षा का अहंकार ही क्यों न करे। ऐसा अहंकार प्रयास भी वास्तव में प्रारब्ध प्रेरित ही होता है। ब्रह्म भावना की दृढ़ता से अध्यास नाश करो।

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थ-ब्रह्मात्मैकत्वबोधतः।
ब्रह्मण्यात्मत्वदार्ढ्याय स्वाध्यासापनयं कुरु ।।२८४।।

अर्थ––'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से उत्पन्न ब्रह्म और जीव के एकत्वज्ञान से ब्रह्म में आत्मबुद्धि को दृढ़ करने के लिये अपने अध्यास को दूर करो ; ।

व्याख्या––**तत्त्वमसि-आदिवाक्योत्थ-ब्रह्म-आत्मैकत्वबोधतः**–'तत्त्वमसि' तथा आदि पद से अन्य महावाक्य, उनसे उत्पन्न जो ब्रह्म और जीव की एकता का बोध, ईश्वर जीव का अभेद परोक्ष ज्ञान, उससे **ब्रह्मणि आत्मत्वदार्ढचाय**–ब्रह्म में अपने आपे की, निजरूप की स्थिति की दृढ़ता करने के लिये **स्वाध्यासापनयम् कुरु**–महावाक्य के अभ्यास से अनात्मवस्तु में आत्मभ्रान्ति दूर करो। 'तत्त्वमसि' महावाक्य के पदार्थ शोधन से जीव और ब्रह्म की जो परोक्ष एकता सिद्ध होती है, उस परोक्ष ज्ञान को अपरोक्ष करने के लिये, जिससे कि ब्रह्म ही अपना स्वरूप दृढ़ता से, अभ्रान्त रूप से अनुभव में आ सके देहाध्यास दूर करो। यहाँ १६ श्लोकों में (२५० से २६७) कथित अभ्यास की ओर संकेत है ।।२८४।।

कितने काल तक अध्यास दूर करने का अभ्यास करे, सो बताते हैं तीन श्लोकों में।

अहंभावस्य देहेऽस्मिन्निःशेषविलयावधि।
सावधानेन युक्तात्मा स्वाध्यासापनयं कुरु ।।२८५।।

अर्थ—इस देह में अहंभाव के पूर्णतया नाश हो जाने तक सावधानतापूर्वक युक्तचित्त से अपने अध्यास को दूर करो।

व्याख्या—अब अध्यास निवारण के लिये यत्न की अवधि बताते हैं। **अस्मिन्-देहे**—इस स्थूल तथा लिंग शरीर में **अहंभावस्य**—'अहम्' भाव की, आत्माभिमान की **निःशेषविलयावधि**—पूर्ण रूप से, विना कुछ अवशेष रहे, जब तक अहंकार का विलय, नाश न हो, उतने काल तक **सावधानेन**—विना प्रमाद किये **युक्तात्मा**—समाहितचित्त होकर **स्वाध्यासापनयं कुरु**—देहादि में अहंता ममता त्यागो। देहाध्यास टूटने के उपरान्त कोई कर्तव्य नहीं रहता है ॥२८५॥

अब दूसरे प्रकार से कहते हैं।

प्रतीतिर्जीवजगतोः स्वप्नवद्भाति यावता।
तावन्निरन्तरं विद्वन्स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८६॥

अर्थ—जब तक जीव और जगत् की प्रतीति स्वप्न के पदार्थों के समान न हो, तब तक हे विद्वन्! अपने अध्यास का निरन्तर त्याग करो।

व्याख्या—**यावता**—जितने काल तक **जीव जगतोः प्रतीतिः**—जीव और जगत् की प्रतीति, प्रत्यगात्मा और ब्रह्म से भिन्न प्रतीति **स्वप्नवत् भाति**—प्रबुद्ध होने पर स्वप्नपदार्थ जैसे मिथ्या भासते हैं, वैसे ही जब तक जीव और जगत की प्रतीति मिथ्या भासने लगे **तावत्**—तब तक **विद्वन्**! हे विचारशील मुने **निरन्तरम्**—मिथ्या अहंकार को विना अवसर दिये तैलधारावत् **स्वाध्यासापनयम् कुरु**—पूर्ववत् ॥२८६॥

अब इस श्लोक में प्रयुक्त 'निरन्तर' पद को खोलते हैं।

निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरपि विस्मृतेः।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥२८७॥

अर्थ—निद्रा, लौकिक बातचीत तथा शब्दादि विषय चिन्तन से कभी भी आत्मविस्मृति को अवसर न देकर अपने अन्तःकरण में निरन्तर स्वरूप का चिन्तन करो।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद का पांचवां मंत्र है। **निद्रायाः**—निद्रा से **लोकवार्तायाः**—प्राकृत अपारमार्थिक वार्ता से **शब्दादेः**—शब्द स्पर्श रूप रसादि

विषय चिन्तन से भी **विस्मृतेः**—जो स्वरूप विस्मरण होता है, उसको **क्वचित्**—कभी भी **अवसरम् न दत्त्वा**—अवसर न देकर **आत्मनि**—बुद्धि में **आत्मानम्**—अपने स्वरूप का चिन्तन करो, बुद्धि वृत्ति को परमात्मचिन्तन में प्रवृत्त रक्खो।

निदिध्यास से विपरीतभावना का नाश होता है। निदिध्यासन काल में, ब्रह्माभ्यास में रत पुरुष को नाना विघ्न सताते हैं। यहाँ तीन विघ्नों का निरूपण है, एक तो ध्यानावस्था में निद्रा सताती है, एक सांसारिक वार्ता बीच-बीच में विक्षेप देती है, और तीसरे विषयों के प्रति आसक्ति बाधा देती है, इस लिये सावधानी से और युक्तात्मा होकर ब्रह्माभ्यास करो। निदिध्यासन काल में निद्रा, संसार चिन्ता और विषय चिन्ता स्वरूप से भ्रष्ट कर देती हैं ॥२८७॥

अब देह वासना से विरक्ति उपजाने के लिये कहते हैं।

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव ॥२८८॥

अर्थ—माता-पिता के रजवीर्य से उत्पन्न तथा मल मांस से भरे हुए इस शरीर को चाण्डाल के सदृश दूर से ही त्याग कर ब्रह्मभाव में स्थित होकर कृतकृत्य हो जाओ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में छठा मंत्र है। **मातापित्रोः**—माता-पिता के **मलोद्भूतम्**—रज वीर्य से उत्पन्न **मलमांसमयम्**—मांस पुरीष राशि **वपुः**—शरीर को **चांडालवत् दूरं त्यक्त्वा**—चांडाल के सदृश दूर छोड़कर **ब्रह्मीभूय**—ब्रह्म होकर, ब्रह्मात्मना संस्थिति से प्रतिष्ठित होकर **कृती भव**—कृतकृत्य हो। शरीर का उद्गम अपवित्र स्थान से है, तथा इसके भीतर भी अशुचि मांस पुरीषादि भरे हैं, ऐसे बीभत्स देह में आत्मबुद्धि त्याग दो, और ब्रह्मभावना से अपने स्वरूप में स्थिर हो जावो ॥२८८॥

अब उपाधि विलय का उपदेश करते हैं।

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥२८९॥

अर्थ—हे मुने! जैसे घटाकाश महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही जीवात्मा की परमात्मा से अभिन्नता करके सर्वदा सार्वात्म्य भाव से मौन होकर स्थित रहो।

व्याख्या——यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में सातवां मंत्र है। **महाकाशे घटाकाशम् इव**—महाकाश में घटाकाश के सदृश। महाकाश और घटाकाश का अन्तर घट की मिट्टी निर्मित दीवार ने कर रक्खा है। यदि दीवार टूट जाये, अर्थात् घट टूट जाये तो घट में परिच्छिन्न घटाकाश सहसा महाकाश वन जाता है। जल का वुलबुला फूटने से सागर ही वन जाता है **अखण्डभावेन**—सार्वात्म्य भाव से, जीव ब्रह्म की अभिन्नता से **परात्मनि**—शुद्ध चैतन्य परमात्मा में **आत्मानम्**—बुद्धिरूपी उपाधि को, जीव भाव को, विज्ञानमय कोश को **विलाप्य**—परमात्मा के साथ अभिन्नता करके, भेद ज्ञान नष्ट करके **सदा मुने**!—हे मननशील साधक सदा **तूष्णीम् भव**—मौन हो जा, कोई कर्तव्य शेष न रहने के कारण निश्चल कूटस्थ स्वरूप में स्थिर हो जा। जिस मन में वासनाओं का कोलाहल न हो, वही मन तूष्णी होता है।।२८९।।

अव देहवासना और लोकवासना दोनों को त्यागने का उपदेश करते हैं।

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत्।।२९०।।

अर्थ——जगत् का अधिष्ठान जो स्वयंप्रकाश परब्रह्म है, उस सत्स्वरूप से स्वयं एक होकर शरीर और ब्रह्माण्ड दोनों को मल से भरे हुए घट के समान त्याग दो।

व्याख्या——यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में आठवां मंत्र है। **स्वप्रकाशम् अधिष्ठानम्**—स्वयंप्रकाश स्वतःसिद्ध सर्वदृश्यजगत् का अधिष्ठान **स्वयंभूय**—उस अधिष्ठान को निजरूप जानकर, उसका साक्षात्कार करके, वही ब्रह्म आप वनकर **सदात्मना**—सत् रूप आत्मा से अथवा सर्वदा आत्मा से, अर्थात् बुद्धि वृत्ति में जीव ब्रह्म की एकता का अनुभव करने से **पिंडांडम्**—स्थूल शरीर को **ब्रह्माण्डमपि**—ब्रह्माण्ड को, चतुर्दशभुवनों को भी **मलभांडवत्**—पुरीषपूर्ण घट की भाँति अस्पृश्य समझ कर **त्यजताम्**—शरीर में आत्मबुद्धि त्याग दे, उसका स्मरण भी न करे, क्योंकि देह वासना लोक वासना से 'ज्ञानं यथावन्नैव जायते' ये वासनायें आत्म साक्षात्कार, समाधिसुख में वाधक हैं। ब्रह्माण्ड के एकछत्र साम्राज्य में भी ममता, वासना त्याग दे, क्योंकि ब्रह्माण्ड का भी अधिष्ठान तेरा स्वरूप ही है। ।।२९०।।

अव लिंग शरीर में आत्मबुद्धि त्याग का उपदेश करते हैं।

चिदात्मनि सदानन्दे देहारूढामहंधियम्।
निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा।।२९१।।

अर्थ—देह में अहंबुद्धि को नित्यानन्दस्वरूप चिदात्मा में स्थित करके लिंग-शरीर के अभिमान को भी छोड़कर सदा अद्वितीयरूप से स्थित रहो।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में नवां मंत्र है। **देहारूढाम् अहम्-धियम्**—देह में जो 'अहम्' इति मति है, देह में आत्माभिमान, उसको **चिदात्मनि सदानन्दे**—चैतन्यरूप नित्यानन्द स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान परामात्मा में **निवेश्य**—रखकर,प्रतिष्ठित करके **लिंगम् उत्सृज्य**—फिर लिंग शरीर में भी, पुर्यष्टक में, सूक्ष्म शरीर में भी आत्माभिमान को त्याग कर **सर्वदा केवलः भव**—सर्वदा असंग, निर्गुण विजातीय-सजातीय-स्वगतभेद रहित अद्वितीय हो जा। 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'। मूलाधार के अवशेष रहने का अर्थ ही उसमें कल्पित वस्तुओं का नाश है ॥२९१॥

ब्रह्म विज्ञान से ही कृतकृत्यता प्राप्त होती है।

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२९२॥

अर्थ—जिसमें यह जगत् का आभास दर्पण में प्रतिफलित नगर के समान प्रतीत हो रहा है, वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसा जानकर तुम कृतकृत्य हो जाओगे।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में दशवां मंत्र है। **दर्पणान्तः पुरम्-यथा**—जैसे स्वच्छ छिद्ररहित दर्पण में गिरि नद प्रासाद युक्त नगर का प्रतिविम्ब प्रतीत होता है, यथार्थ में वह दर्पणमात्र है, उसी प्रकार **यत्र**—जिस ब्रह्म में **एषः जगदाभासः**—यह जो जगत् का आभास है वह मिथ्या है, दर्पणान्तर्गत नगर की भाँति, अधिष्ठान ब्रह्म सत्य है, जैसे पूर्व में कहा है 'सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदैव, तन्मात्रमेतन्न ततो ऽन्यदस्ति' उस अधिष्ठान को **तद्ब्रह्म-अहम् इति ज्ञात्वा**—उस ब्रह्म को अपना आपा जानकर, साक्षात् अनुभव करके **कृतकृत्यः भविष्यसि**—करने योग्य वस्तु को कर लेगा, निःशेष-कर्तव्य हो जायगा, जीवन सफल हो जायगा। ॥२९२॥

अपने स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो।

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं, चिदद्वयानन्दमरूपमक्रियम्।
तदेत्य मिथ्यावपुरुत्सृजैनच्छैलूषवद्वेषमुपात्तमात्मनः ॥२९३॥

अर्थ—जो चेतन, अद्वितीय, आनन्दस्वरूप, रूपरहित मुख्य सत्यस्वरूप निज-रूप ब्रह्म है उसको प्राप्त होकर नट के समान धारण किये इस शरीररूपी मिथ्या वेष को त्याग दो।

व्याख्या—**चित्-अद्वय-आनन्दम्**—बोधरूप अद्वितीय तत्त्व आनन्दस्वरूप **अरूपम्**—रूपरहित, नेत्र इन्द्रिय का अविषय **अक्रियम्**—निष्क्रिय, आप्तकाम **यत्**—जो **आद्यम्**—आदि का, मुख्य **सत्यभूतम् निजरूपम्**—सही अपना स्वरूप है, आत्म-स्वरूप है **तत्-एत्य**—उसको प्राप्त होकर, उसका साक्षात्कार करके **एतत् मिथ्या-भूतम् वपुः उत्सृज**—इस मिथ्या स्थूल शरीर को, इसमें आत्माभिमान को छोड़, किस प्रकार? **शैलूषवत्**—नाटक में अभिनय करनेवाले नट के सदृश **आत्मनः**—**उपात्तम् वेशम्**—नाटक में अभिनय के निमित्त जो अपना वेश धारण किया जाता है, उसको नट अभिनय के उपरान्त त्याग देता है। ऐसे ही अपने को आत्मा जानकर शरीररूपी मिथ्या वेश में आत्ममति हटा ॥२६३॥

अब दो द्रष्टाओं का विवेचन करते हैं। एक वह 'अहम्' जो देहादि में अभि-मान करता है, और दूसरा वह 'अहम्' जो आत्मा का प्रत्यय है और आदि स्वरूप है।

सर्वात्मना दृश्यमिदं मृषैव, नैवाहमर्थः क्षणिकत्वदर्शनात्।
जानाम्यहं सर्वमिति प्रतीतिः, कुतोऽहमादेः क्षणिकस्य सिध्येत् ॥२६४॥

अर्थ—यह शरीर सब प्रकार से मिथ्या ही है। इसकी क्षणिकता देखने में आती है, इसलिये यह अन्तःकरण का साक्षी आत्मा नहीं हो सकता। अतः इन क्षणिक अहंकारादि को 'मैं सब कुछ जानता हूँ'—ऐसी प्रतीति कैसे हो सकती है?

व्याख्या—अब मिथ्या 'अहम्' अर्थात् अहंकार का द्योतक तथा सत्य 'अहम्' मुख्य आत्मा के सूचक का अन्तर दिखाते हैं। **इदम् दृश्यम्**—यह पंचात्मक वपु **सर्वात्मना**—सब प्रकार से, श्रुति, युक्ति और अनुभव से **मृषा एव**—मिथ्या है। **क्षणिकत्व-दर्शनात्**—क्षणिक दर्शन होने से, दृश्य शरीर जाग्रत् में भासता है, स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि में इसकी प्रतीति का अभाव हो जाता है, सब अवस्थाओं में इसके दर्शन नहीं होते। जन्म से पहले, मृत्यु के पश्चात् इसके दर्शन नहीं होते। शरीर में अभिमान करने वाला भी अस्थिर वृत्ति वाला है, 'मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं आदान प्रदान करता हूँ' आदि वृत्तियां उठती हैं और लय होती हैं, परन्तु इस संघात का जो साक्षी है वह सत्य और नित्य है। इसलिये अन्तःकरण विशिष्ट द्रष्टा, अथवा चिदाभास, जीवात्मभाव का अभिमानी, आत्मा का प्रतिबिम्ब, अन्तःकरण

की वृत्ति विशेष अहंकार जो कि 'मैं मैं' करके अपनी अभिव्यक्ति करता है वह **अहम् अर्थः न एव**–अन्तःकरण का साक्षी आत्मा, मुख्यात्मा नहीं ही हो सकता ।

'अहम् सर्वं जानामि' इति प्रतीतिः **क्षणिकस्य अहमादेः कुतः सिध्येत्**– 'मैं सबको जानता हूँ' ऐसी प्रतीति विकारी अहमादि को–अहंकार से लेकर स्थूल देह तक, पंचकोशों को कैसे सिद्ध हो सकती है । सुप्त पुरुष जाग्रत् को नहीं जानता, सुषुप्त पुरुष जाग्रत् और स्वप्न को नहीं जानता, पर इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी आत्मा तीनों अवस्थाओं को जानता है ।

इस विषय पर श्री गुरुदेव ने विशेष प्रकाश डाला था । 'इस संघात (शरीर) के दो द्रष्टा हैं । एक अन्तःकरण विशिष्ट जीव दूसरा अन्तःकरण का साक्षी आत्मा । इन दोनों से ही यह देह इन्द्रिय प्राणादि संघात प्रकाशित हो रहा है' इत्यादि श्रीगुरुवचन हमने श्लोक १३७ की व्याख्या पृष्ठ १०३ पर ज्यों के त्यों रक्खे हैं । इस गहन विषय को समझने के लिये पाठक उनको पुनः अवश्य पढ़ें । ।।२६४।।

अहंपदार्थस्त्वहमादिसाक्षी नित्यं, सुषुप्तावपि भावदर्शनात् ।
ब्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिः स्वयं, तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षणः ॥२६५॥

अर्थ––मुख्यात्मा तो अहंकार आदि का साक्षी है, उसकी सत्ता सुषुप्ति में भी देखी जाती है । स्वयं श्रुति भी उसे 'अजो नित्यः' कहती है । अतः वही प्रत्यगात्मा है और व्यक्ताव्यक्त से भिन्न है ।

व्याख्या––अहमादि दृश्य का पूर्व श्लोक में निराकरण करके कहा है कि यह द्रष्टा आत्मा नहीं, तो वह अहम् तत्त्व जिसको आत्मा कहते हैं क्या है ? **अहंपदार्थः**– आत्मा वाचक 'अहम्' शब्द तो **अहमादि साक्षी**–अन्तःकरण विशिष्ट चिदाभास, तथा ज्ञानेन्द्रियों प्राण कर्मेन्द्रियों स्थूल शरीर का साक्षी है, पूर्व श्लोक में जिसको 'क्षणिकत्वदर्शनात्' मृषा कहा है, उसका साक्षी, अर्थात् दूसरा द्रष्टा अन्तःकरण का साक्षी आत्मा है । जैसे पूर्व अन्यस्थान में भी कहा है 'अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यम् अहम्-प्रत्ययलम्बनः । अवस्थात्रयसाक्षी सन्पंचकोशविलक्षणः ।१२७' 'अहं-शब्देन विख्यातः एक एव स्थितः परः' इति अपरोक्षानुभूतिः । अहम् शब्द से प्रसिद्ध परात्मा एकमात्र तत्त्व है **सुषुप्तौ अपि भावदर्शनात्**–अहंकार, जो प्रथम द्रष्टा है, का अभाव सुषुप्ति में हो जाता है, परन्तु आत्मा जो स्वयंप्रकाश चैतन्य द्रष्टा है, उसकी सुषुप्ति में भी सत्ता रहती है, वह सुषुप्ति का भी साक्षी है । दूसरा द्रष्टा

ही आत्मा है। **हि**—क्योंकि '**अजो नित्यः** शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' इति कठश्रुतिः १।२।१८, वह आत्मा अजन्मा, नित्य अविनाशी तथा पुराण है। यह शरीर के नाश होने पर, नष्ट नहीं होता **इति श्रुतिः**—इस प्रकार श्रुति भगवती **स्वयं ब्रूते**—अपने मुख से कहती है। **तत्**—इसलिये **प्रत्यगात्मा**—सच्चिदानन्दरूप सर्वान्तर आत्मा **सदसद्विलक्षणः**—व्यक्ताव्यक्त से भिन्न है। अब श्रीगुरुवचनों का उद्धरण करते हैं:—

'सुषुप्ति काल में यह द्रष्टा-अन्तःकरण अज्ञान में विलीन हो जाता है। अन्तः-करण अज्ञान में विलीन हो जाता है। अन्तःकरण में रहनेवाला चिदाभास अज्ञान गत चिदाभास में विलीन हो जाता है। उस समय अज्ञान मात्र ही आत्मा की उपाधि सिद्ध होती है।'

'यद्यपि विचार करने से सुषुप्ति में भी त्रिपुटी का अभाव नहीं है, किन्तु अविद्या विशिष्ट जीव अध्यात्म, माया-विशिष्ट ईश्वर अधिदेव और आवृत सुख अधिभूत इस प्रकार की त्रिपुटी सुषुप्ति में भासती है। उस आवृत सुख को अज्ञान वृत्तियों से प्रज्ञा नामा जीव भोक्ता है। यदि ऐसा नहीं होता तो सुषुप्ति से जागकर जाग्रत काल में 'मैं सुख से सोया', यह स्मृति कदापि नहीं होती। यह सब के अनुभव-सिद्ध है। 'मैं कुछ नहीं जानता भया' यह जागे हुए पुरुष का अनुभव अन्तःकरण के अज्ञान में विलीन होने का सूचक है। इस सुषुप्ति काल में होने वाली त्रिपुटी का प्रकाशक हमारा सच्चिदानन्द परमात्मा है। इस द्रष्टा से भिन्न कोई अन्य सत्य द्रष्टा श्रुति और अनुभव से सिद्ध नहीं होता।'

'इस आत्मानुभव को प्रकाश करनेवाली माध्यन्दिनी शाखा की श्रुति डंका बजा कर कहती है। 'नान्योऽतोऽस्ति दृष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता।' (इस अन्तर्यामी परमात्मा से भिन्न न कोई दृष्टा, न कोई श्रोता, न मनन करनेवाला, और न जानने वाला है) अतः वेदभगवान दूसरे द्रष्टा का निषेध करके एक अद्वितीय प्रत्यगात्मा साक्षी चेतन का प्रतिपादन करता हुआ, एक ही प्रकाशरूप परमात्मा से समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है, प्रतिपादन करता है। जो वादी लोग दूसरे द्रष्टा की कल्पना करते हैं, वे समस्त भेदवादी वेद-बाह्य हैं।'

'इस संघात के बीच में जो दो द्रष्टा वर्णन किये गये थे, वे दोनों 'अहम्' 'अहम्' इस अनुभव से स्पष्ट भासते हैं। मूलाविद्या की निवृत्ति जब तक नहीं होती,

तब तक मनुष्य अन्तःकरण विशिष्ट द्रष्टा में अहम्-बुद्धि करता है। ज्ञान होने के पश्चात् कूटस्थ साक्षी को अपना स्वरूप जानता है।'

'अविद्या ही अन्तःकरणरूप से परिणत है। अतः अविद्याविशिष्ट जीव ही अन्तःकरण विशिष्ट है। वही स्थूल शरीर पर अभिमान करके विश्व नाम से प्रसिद्ध होता है। इसमें अन्तर नहीं समझना चाहिये। बुद्धि अथवा अविद्या इस विशिष्ट जीव का विशेषण है। विशिष्ट का विशेषण होता है। इन दोनों में (मिथ्या और सत्य अहम् में) परस्पर तादात्म्य है। इसी कारण से यह विशिष्ट-जीव के बुद्धि आदि के धर्म को अपने में आरोप करता है। वास्तव में तो आभास का स्वभाव भी केवल प्रकाश है। ये ज्वर सब शरीरों के धर्म हैं। यह विषय पंच-दशी में विस्तार से निरूपण किया गया है। ज्ञान होने पर यह चैतन्य आत्मा का आभास जीव अपने आभास स्वरूप का भी बाध करके अपने असंग साक्षी चैतन्यात्मा को अपना स्वरूप जानता है। इस साक्षी आत्मा में तो मायिक विकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, बन्ध मोक्षादि समस्त धर्म बुद्धि के हैं। आत्मा इन से सर्वथा असंग निर्विकार निर्लेप अकर्ता अभोक्ता स्वयंप्रकाश साक्षी मात्र है।' ॥२९५॥

अब शरीर तथा शरीर के अभिमानी का मिथ्यात्व बताते हैं।

विकारिणां सर्वविकारवेत्ता, नित्योऽविकारो भवितुं समर्हति।
मनोरथस्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटं पुनः पुनर्दृष्टमसत्त्वमेतयोः ॥२९६॥

अर्थ—विकारी वस्तुओं के समस्त विकारों को जाननेवाला नित्य तथा अवि-कारी ही हो सकता है। मनोरथ-स्वप्न और सुषुप्ति-काल में इन दोनों शरीरों का अभाव तथा उनमें अभिमान करनेवालों का अभाव बार-बार स्पष्ट देखा गया है।

व्याख्या—**विकारिणाम्**—जो विकारशील हैं, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर, उनके **सर्वविकारवेत्ता**—सर्व प्रकार के स्थूल शरीर के जन्ममरणादि विकारों को, सूक्ष्म शरीर के कर्तत्वृ भोक्तृत्व, सुख दुःखादि विकारों को जानने वाला **भवितुम् समर्हति**—वही हो सकता है जो स्वयं **नित्यः**—त्रिकाल अबाध्य **अविकारः**—और षड्भाव विकाररहित हो, क्योंकि विकारी वस्तुओं का बाध हो जाता है। **एतयोः**—इन दोनों का, स्थूल सूक्ष्म शरीर का **असत्वम्**—मिथ्यापन, बाध, अभाव **मनोरथ-स्वप्न-सुषुप्तिषु** मनोरथ—कल्पनाओं की तारतम्यता में शरीर के अभान से, धूपवर्षादि का भान नहीं होता। स्वप्न—स्वप्नावस्था में जाग्रत् अवस्था के

शरीर तथा उस शरीर में अभिमानी का अभाव हो जाता है, क्योंकि स्वप्न काल की सृष्टि दूसरी ही होती है, जैसे पहले कहा है, 'स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादिविश्वं मन एव सर्वम् ।' मन दूसरा ही शरीर और दूसरा ही शरीराभिमानी रचता है। सुषुप्ति–सुषुप्ति में जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों अवस्थाओं के शरीर तथा दोनों में अभिमान करने वाले विश्व और तैजस का भी अभाव हो जाता है। यह सर्व के अनुभव सिद्ध है **पुनः पुनः**–वारम्वार इन दोनों शरीरों का असत्व मिथ्यात्व **स्फुटम् दृष्टम्**–स्पष्ट निर्विवाद देखा जाता है ।।२९६।।

अव अगले दो श्लोकों में देहवासना विषय का उपसंहार करते हैं।

अतोऽभिमानं त्यज मांसपिण्डे, पिण्डाभिमानिन्यपि बुद्धिकल्पिते ।
कालत्रयाबाध्यमखण्डबोधं, ज्ञात्वा स्वमात्मानमुपैहि शान्तिम् ।।२९७।।

अर्थ—इसलिये इस शरीर और बुद्धि-कल्पित अभिमानी जीव में अहंबुद्धि छोड़ो और अपने आत्मा को तीनों कालों में अवाधित और अखण्ड ज्ञानस्वरूप से साक्षात्कार करके शान्ति-लाभ करो।

व्याख्या—**अतः**–स्थूल और लिंग असत् होने के कारण **मांसपिण्डे**–स्थूल शरीर में तथा **बुद्धिकल्पिते पिण्डाभिमानिनि अपि**–स्थूल देह के अभिमानी मायाकल्पित विश्वनामक जीव में भी, चित्प्रतिविम्व में **अभिमानम्**–साक्षी चैतन्यात्मा का तादात्म्य, आत्मबुद्धि **त्यज**–छोड़ दे। आत्म-बुद्धि कहाँ करे ? इस पर कहते हैं **कालत्रय-अबाध्यम्**-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भी जिसका वाध नहीं हो सकता, सर्वसाक्षी होने से उसको अतएव **अखण्ड बोधम्**–जो नित्यज्ञानरूप, अनुभवरूप है, उसी को **स्वम् आत्मानम् ज्ञात्वा**–अपना निजस्वरूप जानकर, साक्षात्कार करके **शान्तिम्**–सर्व दुःख निवृत्ति सर्वसुख प्रप्ति रूप शान्ति को, मुक्ति को **उपैहि**–प्राप्त हो ।।२९७।।

अव इसी विषय को अधिक विशद करते हैं।

त्यजाभिमान कुलगोत्रनामरूपाश्रमेष्वार्द्रशवाश्रितेषु ।
लिङ्गस्य धर्मानपि कर्तृतादींस्त्यक्त्वा भवाखण्डसुखस्वरूपः ।।२९८।।

अर्थ—गीले मृतकतुल्य स्थूल शरीर पर आश्रित रहनेवाले, कुल, गोत्र, नाम, आकार और आश्रम का अभिमान छोड़ो तथा लिंगदेह के कर्तापन आदि धर्मों को भी त्यागकर अखण्ड आनन्दस्वरूप हो जाओ।

व्याख्या—**आर्द्रशवाश्रितेषु**—स्थूल शरीर पर आधारित, आर्द्र—गीला, शव-मुरदा, उसपर आश्रित रहने वाले। बोध होने पर स्थूल शरीर ज्ञानाग्नि दग्ध हो जाता है, और अज्ञानी के लिये जैसे मरा हुए शरीर, ज्ञानवान के लिये वैसे ही प्राणधारी शरीर अबंधनकारी है, **कुल-गोत्र-नाम-रूपाश्रमेषु**—वंश, गोत्र, संज्ञा, आकार तथा ब्रह्मचर्य गृहस्थादि आश्रम, ये सब स्थूल देह के धर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं, उनमें **अभिमानम् त्यज**—ममता, आत्म-अभिमान त्याग दे, शरीर के धर्मों का आत्मा में आरोपण न कर। तथा **लिंगस्य कर्तृतादीन् धर्मान**—विकारी और अनित्य होने से सूक्ष्म शरीर के कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्मों को **अपि**—भी **त्यक्त्वा**—अपने में, निजरूप आत्मा में आरोपण न करके **अखण्डसुखस्वरूपः भव**—नित्यानन्द रूप हो। गुरु का यह आशीश वचन है ; ॥२९८॥॥

अब स्वरूप के अन्य प्रतिवन्धकों का निरूपण करते हैं। इनमें मुख्य प्रतिवन्ध अज्ञान का प्रथम विकार अहंकार है, १३ श्लोकों में कहते हैं।

सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः ।
तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहङ्कारः ॥२९९॥

अर्थ—पुरुष को इस संसार-बन्धन की प्राप्ति के कारणरूप और भी कई प्रतिवन्ध हैं; उन सवके मध्य में अज्ञान का प्रथम विकार अहंकार ही एक मुख्य है।

व्याख्या—**पुंसः**—पुरुष के **संसारहेतवः अन्ये प्रतिबन्धाः दृष्टाः**—संसार के कारण, अन्य-रागद्वेष, कामक्रोधलोभादि, मिथ्या 'अहम्' अहंकार के अतिरिक्त प्रतिवन्ध—अपने स्वरूप के आवरक देखे जाते हैं, परन्तु **तेषाम् एषाम्**—उन इन सब के मध्य में **प्रथम विकारः**—अज्ञान का प्रथम कार्य **अहंकारः**—चेतन प्रतिविम्ब में आत्माभिमान **एकम् मूलम् भवति**—एकमात्र मूल, जड़ मुख्य कारण है। पूर्व में कहा है, 'अन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि। अहमित्यभिमानेन तिष्ठत्याभास-तेजसा ॥१०५॥ अहंकारः स विज्ञेयः कर्ताभोक्ताभिमान्ययम्' अन्य प्रतिवन्धों की प्रादुर्भूति अहंकार से है, इसलिये इसको मूल कारण कहा है ॥२९९॥

यावत्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहङ्कारेण दुरात्मना ।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा ॥३००॥

अर्थ—जब तक इस दुरात्मा अहंकार से आत्मा का तादात्म्य है, तवतक मुक्ति जैसी विलक्षण वात भी नहीं हो सकती।

व्याख्या---**यावत्**--जितने काल तक **स्वस्य**--सत् रूप आत्मा का **दुरात्मना अहंकारेण सम्बन्धः**--मिथ्या आत्मा से, चैतन्य के आभास से तादात्म्य सम्बन्ध है, मिथ्या अहंकार इतना दुष्ट और बलवान है कि वह अपने प्रभाव से नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अज अविनाशी आत्मा को भी मोहित सा कर देता है, अतः वह दुरात्मा कहा गया है। **तावत्**--उतने काल तक **लेशमात्रा अपि**--किंचित् भी **विलक्षणा**--सर्वलक्षणरहित **मुक्तिवार्ता न**--जो मुक्ति है, 'ब्रह्मात्मना संस्थिति र्मुक्तिः' उसकी वार्ता भी नहीं हो सकती, मुक्ति तो कहाँ से होगी। मिथ्या अहमादि से प्रतिबद्ध महावाक्य आत्म साक्षात्कार नहीं करा सकता। मुक्ति साधना में अहंकार ही मुख्य प्रतिबन्धक है ॥३००॥

अहङ्कारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः ॥३०१॥

अर्थ--अहंकाररूपी ग्रह, (राहु) से मुक्त हो जाने पर पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान आत्मा निर्मल, अखण्ड एवं नित्यानन्दस्वरूप स्वयंप्रकाश होकर अपने निज रूप को प्राप्त होता है।

व्याख्या--**अहंकारग्रहात् मुक्तः**--अनात्मवस्तु में आत्माभिमान यही है ग्रह, मकर, इससे मुक्त, छूटा हुआ, आत्मा अनात्मा वस्तु के विवेक से **स्वरूपम्**--निज रूप को, आत्मदर्शन को **उपपद्यते**--प्राप्त होना है, **चन्द्रवत्**--राहु से मुक्त होने पर पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान **विमलः**--माया रहित, राहु की छाया रहित **पूर्णः**--अखण्ड, अपरिच्छिन्न **सदानन्दः**--नित्यानन्दरूप आल्हादकारी **स्वयंप्रभः**--स्वयं-प्रकाश, अनाच्छादित प्रकाश। अहंकार से मुक्त होने पर मोक्षसिद्धि मिलती है॥३०१॥

यो वा पुरे सोऽहमिति प्रतीतो, बुद्ध्या विक्लृप्तस्तमसातिमूढया ।
तस्यैव निःशेषतया विनाशे, ब्रह्मात्मभावः प्रतिबन्धशून्यः ॥३०२॥

अर्थ--अज्ञान द्वारा अत्यन्त मोहित बुद्धि से कल्पित इस शरीर में ही जो 'यही मैं आत्मा हूँ'--ऐसी प्रतीति हो रही है, उसका निःशेष नाश हो जाने पर ब्रह्म में प्रतिबन्धरहित आत्मभाव हो जाता है।

व्याख्या--**पुरे**--शरीर में **तमसा**--अज्ञान से **अतिमूढया बुद्ध्या**--आत्मा अनात्मा विवेचन में असमर्थ बुद्धि से, आवरण से ढकी बुद्धि से **विक्लृप्तः**--कल्पित **यः** जो **सः**

अहम् इति–वह शरीर मैं आत्मा ही हूँ, इस प्रकार जो **प्रतीतः**–शरीर ही आत्मा रूप से प्रतीत होता है **तस्य एव**–उस देह में आत्मबुद्धि के **निःशेषतया विनाशे**–सर्वथा नाश होने पर, ऐसा नाश होने पर कि जिससे उसका पुनः उदय न हो, **ब्रह्मभावः**–मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसा अनुभवयुक्त निश्चय **प्रतिबन्धशून्यः**–सब प्रकार के प्रतिबन्ध से रहित हो जाता है, अर्थात् विपरीतभावना के नाश होने पर ब्रह्म-साक्षात्कार होता है ।।३०२।।

ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताहङ्कारघोराहिना
संवेष्टयात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डस्त्रिभिर्मस्तकैः ।
विज्ञानाख्यमहासिना श्रुतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं
निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः ।।३०३।।

अर्थ––ब्रह्मानन्दरूपी परमधन को अहंकाररूप महाभयंकर नाग ने अपने सत्त्व, रज, तमरूप तीन प्रचण्ड मस्तकों से लपेटकर छिपा रक्खा है; जब धीर पुरुष अनुभवज्ञानरूप श्रुतिसम्मत महान् खड्ग से इन तीनों मस्तकों को काटकर इस नाग का नाश कर देता है, तभी वह इस परम आनन्ददायिनी निधि को भोग सकता है।

व्याख्या––महाबलवता–विषय रूपी दुग्ध पान से अतिबलवान **अहंकारघोराहिना**–अहंकार रूपी भयानक नाग से **ब्रह्मानन्दनिधिः**–आत्मानन्द, निरतिशय सुख, वही है निधि, धन की खानि **गुणमयैः त्रिभिः प्रचण्डैः मस्तकैः**–सत्व-रज-तम गुणोंवाले तीन विषैले भयंकर शिरों से, सर्प के एक शिर होता है, नाग के एक से अधिक **आत्मनि सम्वेष्टय रक्ष्यते**–अपने शरीर से लपेट कर अहंकार नाग ब्रह्मानन्द निधि की रक्षा करता है, दूसरों के लिये उपभोग में बाधक है। 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' गीता ७।२५।, मैं (आत्मा) अपनी माया से लिपटा हुआ होने के कारण सर्व को (मूढ़ों को) प्रत्यक्ष प्रकाशित नहीं।

उस निधि को प्राप्त करने का उपाय बताते हैं। **विज्ञानाख्यमहासिना**–आत्मा-अनात्मा के विवेक से उत्पन्न जो बोध वही है महा खड्ग, उससे **श्रुतिमता**–वेद भगवान से जो सम्मत है, अर्थात् प्रामाणिक, अमोघ, श्रुतिरूप खड्ग से **शीर्षत्रयम्**–नाग के त्रिमुण्डों को, अहंकारनाग के प्रधान अनर्थकारी सत्वरजतम्गुणरूप तीन मस्तक, इनको **विच्छिद्य**–काट कर **अहिम् निर्मूल्य**–अहंकार नाग का निर्मूलन करके, निःशेष विनाश करके **धीरः**–धैर्यवान पुरुष, फलप्राप्ति में अदीन, असफलता

से अनुत्साहित **इमम् सुखकरम्**—इस सुख देनेवाले **निधिम्**—खजाने को **अनुभोक्तुम् क्षमः**—यद्येच्छा भोगने में समर्थ होता है, अहंकार के निःशेषनाश होने पर निर्विकल्प समाधि का सुख मिलता है। 'ब्रह्मभावः प्रतिवन्धशून्यः' अन्तःकरण की अहंकार नाम वृत्ति में से आत्मभावना का निकालना, पृथक करना ही अहंकार नाश है ॥३०३॥

यावद्वा यत्किञ्चिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे।
कथमारोग्याय भवेत्तद्वदहन्तापि योगिनो मुक्त्यै ॥३०४॥

अर्थ—जवतक देह में विष का थोड़ा सा भी प्रभाव रहता है, तव तक उसे नीरोगता कैसे प्राप्त होगी ? उसी प्रकार अहंकार का यत्किञ्चित् लेश भी रहने पर योगी के लिये मोक्ष कैसे हो सकता है।

व्याख्या—यावत् वा—या दूसरे शब्दों में यों कहो कि जितने काल तक **चेत्**—यदि **देहे**—शरीर में **यत् किंचित्**—जो थोड़ा भी **विषदोषस्फूर्तिः अस्ति**—जहर के दोष का वेग रहता है, उतने काल तक **कथम्**—किस प्रकार **आरोग्याय भवेत्**—आरोग्यता प्राप्त हो, विष रहते नीरोगता कैसी ? **तद्वत्**—उसी प्रकार **अहन्ता अपि**—किंचित्-मात्र अहंकार, वासना के रहते-रहते, निःशेष नाश हुए विना **योगिनः**—साधक की, चित्तनिरोध करनेवाले मुमुक्षु की **मुक्त्यै**—मुक्ति के लिये सिद्धि प्राप्ति किस प्रकार ? जिस प्रकार शरीर से पूर्णरूपेण विष निष्कासन के विना आरोग्यता नहीं मिलती, उसी प्रकार अहंकार के निःशेष नाश के विना मोक्ष नहीं होता ॥३०४॥

इसी विषय को पुनः कहते हैं।

अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्पसंहृत्या।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकादयमहमस्मीति विदन्ते तत्त्वम् ॥३०५॥

अर्थ—अहंकार की पूर्ण निवृत्ति से तथा उससे उत्पन्न हुए नाना प्रकार के किवल्पों का नाश हो जाने पर, आत्मततत्त्व के विवेक से 'यह आत्मा मैं ही हूँ' ऐसा तत्त्व-बोध प्राप्त होता है।

व्याख्या—अहमः—मिथ्या 'अहम्' की, चित्प्रतिविम्व में आत्माभिमान की **अत्यन्तनिवृत्या**—निःशेष निवृत्ति से, मिथ्या अहमादि के असत्व का ज्ञान होने से, **तत्कृत-नानाविकल्पसंहृत्या**—मिथ्या द्रष्टा द्वारा किये हुए नाना प्रकार के विकल्पों के संहार से, चिदाभास द्वारा पिण्ड में, कुलगोत्रनामरूपश्रमादि विकल्पों में आत्म-

धी के नाश होने से, अहंकार तथा उसके विकाररूप कुल गोत्रनामादि के पूर्णतः बाध होने पर **प्रत्यक्-तत्त्वविवेकात्**—सर्वान्तर आत्मा के स्वरूप विवेचन से, श्रवण-मनन-निदिध्यासनजन्य विवेक से **अयम् अहम् अस्मि इति**—यह मुख्यात्मा, मुख्य द्रष्टा में ही हूँ, इस प्रकार **तत्त्वम् विन्दते**—अपने स्वरूप का साक्षात् अनुभव प्राप्त करता है ।।३०५।।

इसलिये अहंकारमोचन का उपदेश करते हैं ।

अहङ्कर्तर्यस्मिन्नहमिति मतिं मुञ्च सहसा
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुषि ।
यदध्यासात्प्राप्ता जनि-मृति-जरा-दुःखबहुला
प्रतीचश्चिन्मूर्तेस्तव सुखतनोः संसृतिरियम् ।।३०६।।

अर्थ—इसके अध्यास के कारण से ही तुझ बोधरूप, आनन्दस्वरूप प्रत्यगात्मा को जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि नाना प्रकार के दुःखों से पूर्ण यह संसार प्राप्त हुआ है । इस विकारात्मक, चिदाभास और स्वरूप को छिपानेवाले अहंकार में अहंबुद्धि को शीघ्र ही त्याग दे ।

व्याख्या—**प्रतीचः चिन्मूर्तेः सुखतनोः तव**—तुझ सर्वान्तरात्मा, ज्ञानस्वरूप, आनन्दशरीर को **यत्**—जो **अध्यासात्**—भ्रान्तिवश चिदाभास जीव में आत्मबुद्धि रखने से **जनिमृतिजरादुःखबहुला इयम् संसृतिः प्राप्ता**—जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-क्लेश पूर्ण यह संसार प्राप्त हुआ है, **अस्मिन् विकारात्मनि**—इस परिणामी, परिवर्तनशील, **आत्मप्रतिफलजुषि**—आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करनेवाले **स्वस्थितिमुषि**—आत्मा की जो सहज स्थिति है, चिदानन्दरूपता, उसको चुरानेवाले, स्वरूप विस्मरण, च्युति करनेवाले **अहंकर्तरि**—मिथ्या अहंकार में, अनात्मा में **अहम् इति मतिम्**—मैं यही हूँ, मेरा यही स्वरूप है, मेरा अपना आपा है, इस निश्चय को **सहसा**—हठात् से, विना विचार किये ही **मुंच**—त्याग दे । श्रुति प्रमाण, युक्ति से, महात्माओं के अनुभव से मिथ्या सिद्ध हुए अहंकार में आत्मबुद्धि को विना सोचे विचारे छोड़ दे । इसी में तेरा कल्याण है ।।३०६।।

सदैकरूपस्य चिदात्मनो विभो, रानन्दमूर्तेरनवद्यकीर्तेः ।
नैवान्यथा क्वाप्यविकारिणस्ते, विनाहमध्यासममुष्य संसृतिः ।।३०७।।

अर्थ—इस अनात्म अहंकार में आत्मबुद्धि किये विना सर्वदा एकरूप, चिदात्मा, व्यापक, आनन्दस्वरूप, पवित्रकीर्ति और अविकारी तुझ आत्मा को और किसी प्रकार संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती।

व्याख्या—पूर्वोक्त भाव को बुद्धि में सुगमता से स्थापित करने के लिये पुनः कहते हैं। **सदा एकरूपस्य**—कालत्रय में जो अवाध्य है, ऐसे निर्विकारी को **चिदात्मनः**—बोधरूप को **विभोः**—सर्वव्यापी, अपरिच्छिन्न को **आनन्दमूर्तेः**—सुखतनु, आनन्दरूप को **अनवद्यकीर्तेः**—अनिन्द्य कीर्ति, धवलयश वाले को **अविकारिणः**—विकार रहित **ते**—तुझको **अहम्-अध्यासम् विना**—आत्मा का अनात्म वस्तुओं के साथ तादात्म्य के विना, देह में आत्मबुद्धि किये विना **अन्यथा क्व अपि**—अन्य किसी कारण से किसी दशा में भी **अमुष्य संसृतिः**—यह संसार, जनिमृतिजरादुःखबहुला संसार **न एव**—नहीं ही हो सकता। तुम आत्मा एकरस हो, संसार विकारी है, तुम ज्ञानरूप हो, संसार जड़ है, तुम सर्वव्यापी हो, संसार परिच्छिन्न है, तुम आनन्द-मूर्ति हो, संसार दुःखरूप है, तुम अविकारी हो, संसार परिवर्तनशील है। भला आत्मा तथा संसार का, विरोधी स्वरूप होने से अज्ञानयोग के विना कैसे सम्बन्ध हो सकता है ॥३०७॥

ऐसी स्थिति में फिर अहंकार नाश का उपदेश करते हैं।

तस्मादहङ्कारमिमं स्वशत्रुं, भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम्।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं, भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ॥३०८॥

अर्थ—अतः भोजन करनेवाले पुरुष के गले में काँटे के समान इस अहंकाररूप अपने शत्रु को विज्ञानरूप महाखड्ग से भली प्रकार छेदन कर आत्म-साम्राज्य-सुख का यथेष्ट भोग करो।

व्याख्या—**तस्मात्**—किसी दशा में भी तुझ असंग आत्मा को विना भ्रान्ति के संसार नहीं हो सकता, इसलिये **इमम् अहंकारम्**—इस अहंकार को, अनात्म वस्तु में आत्माभिमान को **स्वशत्रुम्**—अपने शत्रु को, स्वरूप भ्रष्ट करने से शत्रु, 'स्वस्थिति-मुषि' को, आत्मसाक्षात्कार में वाधक होने से शत्रु **भोक्तुः गले कण्टकवत् प्रतीतम्**—जैसे भोजन करने वाले के कण्ठ में खटकने वाला काँटा भोजन सुख का वाधक है, वैसे ही अहंकार ब्रह्मानन्द के निरतिशय सुख के उपभोग में वाधक है, इस अहंकार शत्रु का नाश कर। कैसे कर? **विज्ञान-महासिना**—ब्रह्माभ्यास से उत्पन्न हुए ज्ञान रूपी खड्ग से **विच्छिद्य**—सिर काट कर, चिरकाल तक निरन्तर ब्रह्माभ्यास के वल

से अहंकार का निर्मूलन कर । शुद्ध ज्ञान के अतिरिक्त, ' न कर्मणा न प्रजया धनेन' इति कैवल्योपनिषद ३।; कर्मानुष्ठान, सन्तान, धन से अहंकार का नाश नहीं हो सकता **स्फुटम् आत्मसाम्राज्यसुखम्**–आत्मवैभव के साक्षात् स्वतंत्र परमसुख का **यथेष्टम्**–पूर्ण तृप्ति से **भुंक्ष्व**–उपभोग कर, अहंकार शत्रु के निःशेष विलय के उपरान्त अनावृत अखण्डरसानुभूति प्राप्त होती है ।।३०८।।

ततोऽहमादेर्विनिवर्त्य वृत्तिं, सन्त्यक्तरागः परमार्थलाभात् ।
तूष्णीं समास्स्वात्मसुखानुभूत्या, पूर्णात्मना ब्रह्मणि निर्विकल्पः ।।३०९।।

अर्थ––फिर अहंकार आदि में से वृत्ति को हटाकरपरमार्थ-तत्त्व की प्राप्ति से रागरहित होकर आत्मानन्द के अनुभव से ब्रह्मभाव में पूर्णतया स्थित होकर निर्विकल्प हुए मौन हो जाओ ।

व्याख्या––ततः–अहंकार नाश से तुझे निष्कंटक आत्मसाम्राज्यसुख मिलेगा, इसलिये **अहमादेः**–अनात्म वस्तु में आत्माभिमान से **वृत्तिम्**–विषयाभिमुख मन को **विनिर्वत्य**–वहिर्मुखता से हटाकर, मन का शमन करके **परमार्थ लाभात्**–नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अपने स्वरुप का साक्षात्कार लाभ करके **संत्यक्तरागः**–विषयों से पराङ्मुख होता हुआ, उनमें राग को त्यागता हुआ **आत्मसुखानुभूत्या**–ब्रह्मानन्द की अनुभूति से **निर्विकल्पः**–शुद्ध, अपने को अद्वितीय आत्मा जान कर **पूर्णात्मना**–पूर्ण रूप से **ब्रह्मणि**–ब्रह्मपद में आरूढ़ होकर **तूष्णीम् समास्व**–मौनावस्था को प्राप्त हो जाओ । जिस अवस्था में वासनाओं का उपद्रव न हो वही तूष्णी अवस्था, निर्वासित अवस्था है ।।३०९।।

विषयचिन्तन से अहंकार को जीवनदान मिलता है, दो श्लोकों में ।

समूलकृत्तोऽपि महानहं पुन, र्व्युल्लेखितः स्याद्यदि चेतसा क्षणम् ।
सञ्जीव्य विक्षेपशतं करोति, नभस्वता प्रावृषि वारिदो यथा ।।३१०।।

अर्थ––यह प्रवल अहंकार जड-मूल से नष्ट सा कर दिया जाने पर भी यदि एक क्षणमात्र को विषय चिन्तन हो जाय तो पुनः प्रकट होकर सैकड़ों विक्षेप खड़े कर देता है; जैसे कि वर्षाकाल में वायु से लाया हुआ एक क्षुद्र मेघ ।

व्याख्या––समूलकृत्तः अपि–विवेक वल से अहंकार के मूल सहित कट से जाने पर भी, अर्थात् अहंकारनाश का मिथ्याभिमान होने पर **महान् अहम्**–वलवान्

अहंकार, मरने का दम्भ करके जीनेवाला अहंकार, चित्प्रतिविम्ब को **यदि पुनः**—ब्रह्माभ्यास के वल से क्षीण किये हुए को, निःशेष नाश से पूर्व, आत्म-साक्षात्कार होने से पहले, यदि पुनः **क्षणम्**—क्षण भर के लिये भी **चेतसा व्युल्लेखितः स्यात्**—मन से विषय चिन्तन हो जाय, असावधानी वश विषयों का संकल्प हो जाय, तो यह अहंकार **संजीव्य**—सजीव होकर , पुनः उत्पन्न होकर, क्रियाशील होकर **विक्षेपशतम् करोति**—सैकड़ों प्रकार की चंचलता, विक्षेप करता है, नाना नाम रूपों की रचना करता है, उनमें कर्तृत्व—भोक्तृत्वादि का अभिमान करता है, और जनिमृतिजरादुःखवहुला संसृति को साधक के पीछे लगा देता है। चोट खाये चौर की भांति मृत्यु का दंभ भर कर पुनः उठकर सैकड़ों अनर्थ करता है, घातक और दग़ावाज़ शत्रु है **यथा**—जैसे कि छोटा सा नष्टप्राय अग्रिम **वारिदः**—मेघ **प्रावृषि**—वर्षाकाल में **नभस्वता**—वायु द्वारा लाया हुआ अथाह जल वरसा देता है। वर्षाकाल में एक क्षुद्र सा वादल उठता है, परन्तु उसके पीछे वायु द्वारा प्रेरित घनी मेघमाला आकर अनन्त जलराशि प्रपात करती है, वैसे ही मृतप्राय अहंकार विषय चिन्तन से वलवान होकर बृहत् जगज्जाल खड़ा कर देता है ।।३१०।।

नष्टप्राय अहंकार का जीवनदाता विषय चिन्तन है, यह बताते हैं।

निगृह्य शत्रोरहमोऽवकाशः, क्वचिन्न देयो विषयानुचिन्तया ।
स एव सञ्जीवनहेतुरस्य, प्रक्षीणजम्बीरतरोरिवाम्बु ।।३११।।

अर्थ—इस अहंकाररूप शत्रु का निग्रह करके फिर विषय-चिन्तन से इसे उठने का अवसर कभी नहीं देना चाहिये। विषय चिन्तन ही अहंकार का प्राणदाता है, सूखे हुए खट्टे के वृक्ष का जैसे जल जीवनदाता होता है।

व्याख्या—**निगृह्य**—मनो निग्रह करके **शत्रोः अहमः**—सर्वनाशहेतु अहंकार शत्रु को **विषयानुचिन्तया**—विषय चिन्तन से **क्वचित् अवकाशः न देयः**—कभी भी आत्मनिग्रह को शिथिल करके अहंकार को जीने का अवकाश न दे, विषय चिन्तन न करे क्योंकि **सः एव**—प्रमाद से विषय-चिन्तन ही **अस्य**—अहंकार का, अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि का **संजीवन हेतुः**—पुनः जीवन का कारण है, जिस प्रकार कि **प्रक्षीण जम्बीरतरोः इव**—शुष्कप्राय जम्बीरी, खट्टे के वृक्ष को **अम्बु**—जल पुनर्जीवन देता है।

यहाँ श्रीभगवत्पाद ने अहंकार का निग्रह कहा है, नाश नहीं, नाश तो आत्म-साक्षात्कार से ही होता है, विषय-चिन्तन मित्रवत् मन में प्रवेश करता है, और साधक को लक्ष्य भ्रष्ट कर देता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि विषय-चिन्तन बोध

वान को पथभ्रष्ट नहीं कर सकता। बोधवान अपने को असंग आत्मा जानता है, प्रारब्धवश स्वेच्छा से नहीं, ज्ञानवान प्रारब्ध द्वारा निर्धारित विषय चिन्तन करता है, उससे अधिक नहीं ।।३११।।

अर्थसन्धानपरत्व भी अन्य प्रतिवन्ध है।

देहात्मना संस्थित एव कामी, विलक्षणः कामयिता कथं स्यात्।
अतोऽर्थसन्धानपरत्वमेव, भेदप्रसक्त्या भवबन्धहेतुः ।।३१२।।

अर्थ—जो पुरुष देहात्म-बुद्धि से स्थित है वही कामनावाला होता है। ज्ञानवान कैसे सकाम हो सकता है? इसलिये भेदबुद्धि से विषय-चिन्तन करना संसार-वन्धन का कारण है।

व्याख्या—**देहात्मना संस्थितः**—शरीर ही आत्मा है, इस निश्चय में जिसकी स्थिति है, वह **एव कामी**—ही वासनायुक्त होता है, परन्तु जो अपने स्वरूप में स्थित है **विलक्षणः**—अज्ञानी से भिन्न, अपने को आत्मा जानने वाला है, वह सर्वात्मभाव में प्रतिष्ठित पुरुष **कामयिता कथम् स्यात्**—वासना वाला कैसे हो सकता है, 'आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।' इति बृहदारण्यक श्रुतिः ४।४।१२। जो आत्मा को अपना स्वरूप करके जानता है अर्थात् यह आत्मा मैं ही हूँ, ऐसा पुरुष क्या चाहता हुआ किस इच्छा से शरीर को पीड़ित करेगा। **अतः भेदप्रसक्त्या**—इसलिये भेदबुद्धि से, अर्थात् मैं कर्ता भोक्ता जीव हूँ, ईश्वर मेरे से भिन्न मेरा स्वामी है **अर्थसंधानपरत्वम् एव**—भोगोन्मुखता विषय-चिन्तन करना ही **भवबन्धहेतुः**—संसार वन्धन का कारण है। भेद बुद्धि से रहित बोधवान को दैवप्रदत्त जो भोग उपलब्ध होते हैं, उन भोगों के चिन्तन अथवा उपभोग के लिये शरीर से जो क्रियायें होती हैं, वे नूतन वासना उदय नहीं करतीं, भोग से स्वतः क्षीण होती हैं ।।३१२।।

अव विषयचिन्तन, क्रिया, वासना का पारस्परिक सम्वन्ध वताते हैं।

कार्यप्रवर्धनाद् बीजप्रवृद्धिः परिदृश्यते।
कार्यनाशाद्बीजनाशस्तस्मात्कार्यं निरोधयेत् ।।३१३।।

अर्थ—कार्य के वढ़ने से उसके बीज की वृद्धि देखी जाती है और कार्य का नाश हो जाने से वीज भी नष्ट हो जाता है, इसलिये कार्य का निरोध करे।

व्याख्या--कार्यप्रवर्धनात् बीजप्रवृद्धिः परिदृश्यते–विषय चिन्तन कार्य के बढ़ने से, वासनातृप्ति के लिये, भेद बुद्धि से जो क्रियायें होती हैं, उनके बढ़ने से बीज, वासना की वृद्धि देखी जाती है। संसार में देखा जाता है कि बीज से अंकुर, स्कंध, शाखा, पुष्प, पत्र, फल तथा अन्त में सहस्रों नये बीज पैदा होते हैं। परन्तु आरम्भ में यदि जल के अभाव में अथवा कीट द्वारा बीज खाये जाने पर पादप की वृद्धि रुक जाती है, तो नये बीज नहीं बनते **कार्यनाशात् बीजनाशः**–संकल्प नाश से, विषयों की पूर्ति के निमित्त क्रिया के अभाव में, अथवा भेद बुद्धि से क्रिया के नाश होने पर, **बीज** का, वासना का, अज्ञान के प्रथम विकार अहंकार का नाश देखा जाता है **तस्मात् कार्यम्**–इसलिये कार्य, संकल्प, विषय-चिन्तन, शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि विषयों में बड़ा सुख है, इस प्रकार की लालसा को **निरोधयेत्**–रोके, अपने को निरन्तर ब्रह्मचिन्तन में रत रक्खे और विषयों की सुखाकारता की ओर ध्यान न दे, असत् जानकर। विषय सेवन से अहंकार पुष्ट होता है, अहंकार से विषयवासना बढ़ती है, यह दुर्दमनीय कुचक्र चलता रहता है।।३१३।।

वासनावृद्धितः कार्यं कार्यवृद्धया च वासना।
वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते ॥३१४॥

अर्थ—वासना के बढ़ने से बहिर क्रिया बढ़ती है और क्रिया के बढ़ने से वासना बढ़ती है; इस प्रकार मनुष्य का संसार-बन्धन नहीं छूटता।

व्याख्या—वासनावृद्धितः–लोक वासना, देह वासना, शास्त्र वासना के बढ़ने से **कार्यम्**–बहिर् क्रियायें बढ़ती हैं, संकल्प विकल्प बढ़ते हैं। 'मैं लोक में प्रसिद्ध होऊं, इसके निमित्त अमुक कार्य करूं' इस प्रकार उस क्रिया में रत होता है। फिर सोचता है कि अमुक कार्य की सिद्धि के लिये एक अन्य कार्य करना चाहिये, इस प्रकार नई वासना उदय होती है **कार्यवृद्धया च वासना**–नये क्रियाजाल से नई वासना उत्पन्न होती है, और अन्योन्य कारण होने से **पुंसः संसारः न निवर्तते**–मनुष्य के जनिमृतिजरादुःखरूप संसारबन्धनों का अन्त नहीं होता। नगर सेठ जगत सेठ बनने की अभिलाषा करेगा, जगत सेठ कुवेरविजय की कामना करेगा। प्रस्तुत वासनाओं की पूर्ति में अन्य वासनाएं उदय होंगी। भेद बुद्धि का यही फल है।।३१४।।

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद्द्वयं प्रदहेद्यतिः।
वासनावृद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः ॥३१५॥

अर्थ––इसलिये संसार-बन्धन को काटने के लिये यत्नशील साधक इन दोनों को दहन करे। विषयों की अन्तः-चिन्ता और बाह्य-क्रिया–इनसे ही वासना की वृद्धि होती है।

व्याख्या––**संसारबन्ध-विच्छित्त्यै**–संसार बन्धन काटने के लिये, वासना तनुता के लिये **यतिः**–संन्यासी, प्रयत्नशील साधक **तद्द्वयम् प्रदहेत्**–एक विषय-चिन्तन को दूसरे कार्य अर्थात् वासना पूर्ति और भोग के निमित्त की हुई स्थूल क्रियाओं को, इन दोनों को भस्मीभूत करे, क्योंकि **चिन्तया**–मन में विषय चिन्तन से यत्नपूर्वक नियन्त्रित अहंकार भी पुनः जीवित हो उठता है, और 'विक्षेपशतम् करोति' तथा **बहिः क्रियया**–वासना पूर्ति के लिये क्रियात्मक यत्न से **एताभ्याम्**–इन दोनों से अर्थात् अन्तः विषय-चिन्तन तथा शरीर द्वारा बाह्य क्रिया से **वासनावृद्धिः**–वासना की वृद्धि होती है। नई-नई असंख्यात वासनाओं का उदय होता है। संसार को सत्य जाने विना, अपने स्वरूप से च्युत हुए विना न तो विषय चिन्तन बनता है और न विषयों की प्राप्ति की चेष्टा। भला स्वप्न में पाये धन का जागने पर चिन्तन तथा उसके रक्षण के उपाय कौन करेगा? ॥३१५॥

अब करुणाकर श्रीगुरु तीनों के क्षय का उपाय बताते हैं।

ताभ्यां प्रवर्धमाना सा सूते संसृतिमात्मनः।
त्रयाणां च क्षयोपायः सर्वावस्थासु सर्वदा ॥३१६॥
सर्वत्र सर्वतः सर्वं ब्रह्ममात्रावलोकनम्।
सद्भाववासनादार्ढ्यात्तत्त्रयं लयमश्नुते ॥३१७॥

अर्थ––और इन दोनों से पुष्ट होकर वासना संसाररूप बन्धन उत्पन्न करती है और उसके साथ तादात्म्य सा करती है। इन तीनों के क्षय का उपाय सब अवस्थाओं में सदा सब जगह सब ओर सबको ब्रह्ममात्र देखना ही है। इस सद्-वासना के दृढ़ हो जाने पर इन तीनों का नाश हो जाता है।

व्याख्या––**ताभ्याम्**–अन्तः-चिन्तन तथा बहिर् क्रिया से **प्रवर्धमाना**–पुष्ट हुई **सा**–वासना **सूते**–सृजन करती है, विस्तार देती है **संसृतिम्**–जनिमृतिदुःख-रूप संसार को, किसके लिये? **आत्मनः**–आत्मा के लिये अर्थात् अपने स्वरूप के साथ संसार का तादात्म्य सा कर देती है। विना अध्यास, वासना के असंग आत्मा का विरोधी स्वभाव वाले विकारी संसार से क्या सम्बन्ध? वासना ही

संसार का कारण है। अब संसारनिवृत्ति का उपाय बताते हैं। **त्रयाणाम् च क्षयोपायः**—विषय चिन्तन, बहिर् क्रिया तथा वासना इन तीनों के नाश का उपाय है **सर्वावस्थासु**—सब अवस्थाओं में, जाग्रत् स्वप्न में **सर्वदा**—सर्वकाल में, आमोक्ष **सर्वत्र**—सर्व देश में **सर्वतः**—सर्व वस्तु में **सर्व ब्रह्ममात्रावलोकनम्**—जहाँ तक मन बुद्धि वाणी का गमन हो वहाँ तक, खाते-पीते, उठते-बैठते, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें, इस लोक में सूर्य चन्द्रादि परलोकों में, ब्राह्मण गौ हाथी कुत्ते चाण्डाल में, वृक्ष नदी पर्वतादि में—सर्व प्रपंच में ब्रह्म की सत्तास्फूर्तिप्रियता का दर्शन करे। नामरूप का नहीं। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'ब्रह्मैवेदम् विश्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं। केवल ब्रह्म सत् वस्तु है, वही जगत् रूप से भासता है। नामरूप मिथ्या हैं, उनका अधिष्ठान ब्रह्म सत्य है। नामरूप से मोहित न हो। नामरूप माया कल्पित हैं, इसलिये मिथ्या हैं। सर्प में रज्जु देखे, चौर में स्थाणु देखे, रूपे में सीपी देखे। इस प्रकार के अभ्यास का नाम सद्भाववासना है।

सद्भाववासना-दार्ढ्यात्—सद्भाववासना, परमात्मवासना के दृढ़ होने से, 'मैं ब्रह्म हूँ, जगत ब्रह्म है, मेरा आत्मा ही सकल जगत है, ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं' इस प्रकार की वासना के परिपक्व होने पर **तत्त्रयम्**—वे तीनों १—विषय चिन्तन, २—क्रिया तथा ३—अनात्मवासना **लयम् अश्नुते**—नाश को प्राप्त होती हैं, ब्रह्म-रूपता धारण करती हैं, 'विक्षेपशतम्' करने में असमर्थ होते हैं। लोक-देह-शास्त्र ये तीन अनात्मवासनायें बन्धकारी हैं, परन्तु चौथी वासना, जिसे परात्मवासना या सद्भाववासना कहते हैं, अनात्म वासनाओं का नाश करने वाली होती है, बन्ध-विमोचिनी होती है ॥३१६,३१७॥

वासनाक्षय ही मोक्ष, वही जीवन्मुक्ति है।

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥३१८॥

अर्थ—वहिर् क्रिया के नष्ट हो जाने से विषय चिन्तन का नाश होता है और इसके नाश से वासना का क्षय होता है; वासना का निःशेष नाश ही मोक्ष है और यही जीवन्मुक्ति कहलाती है।

व्याख्या—वासना न होगी तो विषय चिन्तन नहीं बनेगा, विषय चिन्तन के विना कार्य नहीं होगा, इसलिये **क्रियानाशे**—वहिर् क्रिया के नाश, अभाव में **चिन्ता**-

नाशः—विषय चिन्तन का स्वतः नाश हो जायगा, क्योंकि विना संकल्प के क्रिया नहीं होती **अस्मात्**—संकल्प के अभाव से **वासनाक्षयः**—वासना का नाश होता है, क्योंकि वासना के विना कोई संकल्प नहीं वनता 'किमिच्छन् कस्य कामाय' इति श्रुतिः, **वासनाप्रक्षयः मोक्षः**—अनात्मवासना का अत्यन्त अभाव ही मोक्ष है, निरंकुशा तृप्ति है, वासना का प्रकर्षेण क्षय इसलिये कहा है कि वासना का किंचित् बीज रहने पर भी वासना उपद्रव कर सकती है। पूर्व में कहा है, 'नभस्वता प्रावृषि वारिदो यथा' 'प्रक्षीणजम्बीरतरोरिवाम्बु' 'यावद्वा यत्किंचिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे। कथमारोग्याय भवेत्।' सा **जीवन्मुक्तिः इष्यते**—अनात्मवासना प्रक्षय का नाम ही जीवन्मुक्ति है। प्राण रहते हुए ही जीवितावस्था में ही आत्मसाक्षात्कार द्वारा असत् अहंकार से मुक्ति ही जीवन्मुक्ति है, जीते जी मुक्त होना ।।३१८।।

परमात्मवासना, उसका उदय और फल।

सद्वासनास्फूर्तिविजृम्भणे सति, ह्यसौ विलीना त्वहमादिवासना।
अतिप्रकृष्टाप्यरुणप्रभायां, विलीयते साधु यथा तमिस्रा ।।३१९।।

अर्थ——सूर्य के सारथी अरुण के उदय होते ही जैसे रात्रि का घना अन्धकार भी सम्यक् प्रकार से विलीन हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म-वासना की स्फूर्ति का विस्तार होने पर यह अहंकारादि वासनाएं लीन हो जाती हैं।

व्याख्या——सद्वासना-स्फूर्ति-विजृम्भणे सति—परमात्मवासना की स्फूर्ति के विस्तार होने पर, श्रवण मनन निदिध्यासन अभ्यास से ज्यों-ज्यों अपने स्वरूप के साक्षात्कार करने की बंधविमोचिनी वासना वढ़ती जायेगी, त्यों-त्यों **असौ हि अहमादिवासना तु**—निश्चय ही पंचकोशों में वह आत्माभिमान, मिथ्या 'अहम्', चेतन प्रतिविम्व, आदि पद से ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, कर्मेन्द्रिय, इनमें आत्मबुद्धि **विलीना**—विलीन होती जायेगी। आत्मसाक्षात्कार की निकटतम पूर्ववर्ती अवस्था को दृष्टान्त से समझाते हैं। **यथा अरुणप्रभायाम्**—जैसे सूर्य उदय से पहिले सूर्य के सारथी अरुण उदय होते हैं, उनके स्वर्णिम प्रकाश में **अति प्रकृष्टा अपि तमिस्रा**—रात्रि का घन अन्धकार भी **साधु विलीयते**—सम्यक् प्रकार से विलीन हो जाता है। अरुणोदय सूर्योदय नहीं होता, परन्तु सूर्योदय की समीपवर्ती अवस्था है। सद्वासनास्फूर्ति ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं है, किन्तु उससे पहली अवस्था है ।।३१९।।

आत्मसाक्षात्कार का उदय और फल वताते हैं।

तमस्तमःकार्यमनर्थजालं, न दृश्यते सत्युदिते दिनेशे।
तथाद्वयानन्दरसानुभूतौ, नैवास्ति बन्धो न च दुःखगन्धः ।।३२०।।

अर्थ—सूर्य के उदय होने पर जैसे अन्धकार और उसमें होनेवाले अनर्थसमूह कहीं दिखलायी नहीं देते, वैसे ही इस अद्वितीय आत्मानन्द के रस का अनुभव होने पर न तो संसार-बन्धन रहता है और न उससे उत्पन्न दुःख की गन्ध ही रहती है।

व्याख्या—**दिनेशे उदिते सति**—अरुण प्रभा के पश्चात सूर्य उदय होने पर **तमः**—रात्रि का अन्धकार तथा **तमः कार्यम् अनर्थजालम्**—अन्धकार की ओट में होनेवाले अनर्थसमूह—चक्षु पीड़ा, चोरी, मार्ग में पैर फिसलने का भय, हिंसक पशुओं के उपद्रवादि **न दृश्यते**—नहीं दिखाई पड़ते। अरुण प्रभा में अन्धकार घुलता सा दिखाई देता है, अर्थात् अन्धकार और प्रभा दोनों दिखाई से देते हैं। सूर्य उदय होने पर अन्धकार दिखाई नहीं देता। **तथा**—उसी प्रकार **अद्वयानन्दरसानुभूतौ**—जीव ब्रह्म की एकता के साक्षात्कार से जिस सच्चिदानन्द रस का अनुभव होता है, उसके उपरान्त **न एव अस्ति बन्धः**—बन्ध, अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि नहीं रहती न **च दुःखगन्धः**—और न ही बंध से उत्पन्न होनेवाले दुःख की गन्ध, अर्थात् ईषत भी दुःख नहीं रहता, भयशोकमोहादि दुःख के कारण बन्ध के अभाव में, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति श्रुतिः, जीव ईश्वर की अनुभव से एकता देखनेवाले को न मोह रहता है न शोक।

श्रवण प्रक्रिया श्लोक २६७ तक समाप्त हो चुकी थी पर शिष्य अभी तक मौन रहा, उसने अपने मोह टूटने का कोई संकेत श्रीगुरु को नहीं दिया। तब श्रीगुरु ने नाना प्रकार से संसार के हेतु बताये हैं, जैसे 'वासनानादिरेषा......अस्य संसारहेतुः' 'मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवम् यत्' 'मनो नश्यति योगिनः वासनानाम् क्षयश्चातः' 'संसारहेतवो द्रष्टाः तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः' 'अतोर्थसन्धानपरत्वमेव भेदप्रसक्त्या भवबन्धहेतुः' 'वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते'। कहीं वासना, कहीं मन, कहीं अहंकार, कहीं भेदबुद्धि से विषयचिन्तन को संसार का हेतु बताया है। इसी प्रकार आगे भी बतायेंगे। स्वरूप प्रमाद बन्धहेतु है। ऐसे ही असत् परिग्रह को संसार हेतु बतायेंगे।

यदि वास्तव में कोई संसारहेतु होता तो एक ही प्रकार से बताते। बन्ध और मोक्ष दोनों ही आत्मा की उपाधियां हैं, बुद्धि की कल्पना हैं, आत्मा में न बन्ध है न मोक्ष। विभिन्न साधकों की विभिन्न रुचियां होती हैं। श्रीभगवत्पाद ने इसी दृष्टि से नाना प्रकार के वचन कहे हैं। जिस प्रकार भी जिस वचन से भी साधक को आत्म साक्षात्कार हो, उसके लिये वही संसार हेतु है और उसी का उपाय है। वस्तुतः

स्वरूप का अज्ञान ही वासना, अहंकार, मन, विषयचिन्तन, प्रमाद असत्ग्रह आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है। ये सब एक ही हैं ।।३२०।।

प्रारब्धप्रतिवन्ध के रहते भी ब्रह्माभ्यास की कर्तव्यता।

दृश्यं प्रतीतं प्रविलापयन्स्वयं, सन्मात्रमानन्दघनं विभावयन्।
समाहितः सन्बहिरन्तरं वा, कालं नयेथाः सति कर्मबन्धे ।।३२१।।

अर्थ—यदि तुम्हारा प्रारब्ध कर्मवन्ध अभी शेष है तो इस भासमान दृश्य को स्वरूप में लय करते हुए तथा बाहर-भीतर से सावधान रहकर अपने सत्तामात्र आनन्दघन स्वरूप का चिन्तन करते हुए काल यापन करो।

व्याख्या—यदि तुझे प्रारब्ध का प्रतिवन्ध है तो भी ब्रह्माभ्यास किये जा, यह उपदेश करते हैं। **कर्मबन्धे सति**—प्रारब्ध कर्म के प्रतिवन्ध होने पर 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' प्रारब्ध कर्म विना भोग के क्षीण नहीं होता। 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसाम् क्षयात्पापस्य कर्मणः' पाप कर्म के क्षय होने पर बोध होता है **प्रतीतम् दृश्यम् प्रविलापयन्**—भासमान नामरूप दृश्य जगत को उसके अधिष्ठान ब्रह्म में लय करते हुए, जगत् को न देखकर केवल उसके सत्यभूत अधिष्ठान ब्रह्म को देखते हुए **स्वयम् सन्मात्रम्**—स्वयंप्रकाश चिन्मात्र, चैतन्यरूप **आनन्दघनम्**—निरतिशय सुखस्वरूप आत्मा का **विभावयन्**—ध्यान करते हुए **बहिः अन्तरम् वा समाहितः सन्**—बहिर् विषयों से विरक्त हुए, शम दम से मनोनिग्रह और इन्द्रिय-निग्रह करते हुए, अन्तर से अहंकार और ममत्व से असंग रहते हुए, अपने लक्ष्य में सावधान एकाग्र चित्त होते हुए **कालम्**—समय को **नयेथाः**—व्यतीत किये जा। उस अवधि तक काल यापन कर जिस अवधि तक पाप कर्मभोग क्षय न हो जायें ।।३२१।।

तू यह न सोच कि कर्मवन्ध क्षय विना बोध न होगा इसलिये मैं ब्रह्माभ्यास क्यों करूं, यदि तू ऐसा प्रमाद करेगा तो उसका फल सुन। श्रीभगवत्पाद आठ श्लोकों में बताते हैं कि प्रमाद ही मृत्यु है।

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः ।।३२२।।

अर्थ—स्वरूप में प्रमाद न करना चाहिये, क्योंकि ब्रह्माजी के पुत्र (भगवान् सनत्सुजातजी) ने 'प्रमाद मृत्यु है'—ऐसा कहा है।

व्याख्या—ब्रह्मनिष्ठायाम्–जीवब्रह्म की एकता के ज्ञाननिश्चय में स्थिति, इसमें **प्रमादः**–स्वरूपच्युति, स्वरूपविस्मरण **कदाचन**–कभी भी **न कर्तव्यः**–नहीं करना चाहिये, क्योंकि **भगवान्**–सर्वज्ञ आजन्मसिद्ध **ब्रह्मणः सुतः**–ब्रह्मा के पुत्र सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र के प्रति कहा है, क्या कहा है ? **प्रमादः मृत्युः**–प्रमाद ही मृत्यु है, अन्यथा व्याघ्र की भांति किसी ने मृत्यु को खाते नहीं देखा है। 'प्रमादं वै मृत्युं अहम् ब्रवीमि' इति। मैं प्रमाद को, स्वरूपविस्मरण को, अनात्म वृत्ति को ही मृत्यु कहता हूँ **इति आह**–ऐसा कहा है ॥३२२॥

अब प्रमाद के अनर्थ बताते हैं।

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ॥३२३॥

अर्थ—मुमुक्षु के लिये अपने स्वरूप के विस्मरण से बढ़कर और कोई अनर्थ नहीं है, क्योंकि इस से मोह होता है और मोह से अहंकार, अहंकार से बन्धन तथा बन्धन से संसारदुःख की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—ज्ञानिनः–मुमुक्षु के लिये **स्वस्वरूपतः प्रमादात्**–अपने आत्मस्वरूप के विस्मरण से बढ़कर **अन्यः**–दूसरी कोई **अनर्थः न**–हानि नहीं है। अब स्वरूप-प्रमाद का फल कहते हैं। **ततः मोहः**–स्वरूप विस्मरण से भ्रान्ति, अज्ञान **ततः अहंधीः**–उससे अनात्म वस्तु में अहंकार **ततः बन्धः**–उससे देहाध्यास, मैं देह हूँ, ऐसी मति का होना **ततः व्यथा**–उससे जननमरणजराव्याधिरूप व्यथा, दुःख ॥३२३॥

प्रमाद से विक्षेप सताते हैं।

विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः।
विक्षेपयति धीदोषै र्योषा जारमिव प्रियम् ॥३२४॥

अर्थ—जिस प्रकार कुलटा स्त्री अपने प्रेमी जार-पुरुष की बुद्धि विक्षिप्त कर देती है उसी प्रकार विद्वान् पुरुष को भी विषयों में प्रवृत्त होता देखकर आत्म-विस्मृति बुद्धि के दोषों को स्वरूप में आरोपण कर उसे विक्षिप्त कर देती है।

व्याख्या—विस्मृतिः–स्वरूपच्युति, अपने को आत्मा न जानकर देह मानना, प्रमाद **विषयाभिमुखम्**–विषयों में, शब्द-स्पर्श-रूपरसादि में आसक्त, बहिर्मुख **विद्वांसम् अपि**–जिसने वेदान्त प्रक्रिया गुरुमुख से श्रवण कर ली हो, महावाक्य के

उपदेश से जिसको ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान हो गया हो, अर्थात् अदृढ़ बोधवान, उसको भी **दृष्ट्वा**—देखकर **धीदोषैः**—बुद्धिवृत्तियों के साथ तादात्म्य करने से, मैं कर्ता-भोक्ता जननमरणधर्मा जीव हूँ, इस प्रकार धी के संसर्गदोषों से, बुद्धि के धर्मों को अपने में कल्पित करने से **विक्षेपयति**—चंचल करती है, 'विक्षेपशतम् करोति', वह विक्षेप क्या है ? 'ततो मोहस्ततोऽहंधीः ततो वन्धस्ततो व्यथा' **योषा प्रियम् जारम् इव**—यथा कोई कुलटा स्त्री अपने प्रिय जार को विक्षिप्त करती है। अन्यासक्त पुरुष को उसकी प्रेयसी उसके स्वधर्म को छुड़ा कर विक्षेप देती है, उसके आश्रमधर्मनिष्ठा को नष्ट करके समाज-निन्द्य चेष्टाओं में लगाती है ।।३२४।।

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति ।
आवृणाति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम् ।।३२५।।

अर्थ——जैसे जल पर से हटाया हुआ शवाल क्षणभर भी जल से अलग नहीं रहता, तुरन्त ही फिर उसको ढक लेता है उसी प्रकार विषयाभिमुख विद्वान् को भी माया फिर घेर लेती है।

व्याख्या——पहले भी पंचकोशों की शैवाल से उपमा दी है। 'तच्छैवालापनये सलिलम् प्रतीयते शुद्धम् ।' **यथा अपकृष्टम् शैवालम्**—जल पर से जैसे एकवार हटाया हुआ शैवाल **क्षणमात्रम् न तिष्ठति, आवृणोति**—क्षणमात्र जल से विलग होकर, शैवाल हटानेवाले के हटने पर, क्षण भर भी जल से विलग नहीं रहता और पुनः जल को ढांप लेता है **तथा**—वैसे ही **माया**—अविद्या, पंचकोश, इनके आत्मा अनात्मा विवेक द्वारा एकवार निराकरण करने पर भी स्वरूप निरावरण नहीं रहता, किस दशा में ? **परांमुखम् प्राज्ञम् वा अपि**—जव साधक विषयाभिमुख होता है, कैसा साधक ? प्राज्ञ—जिसको श्रवण-मनन-निदिध्यासन से स्वरूप का परोक्ष बोध हो गया है, अपरोक्ष नहीं, जिसने पंचकोशों का निराकरण कर लिया है ऐसे विद्वान साधक को भी माया घेर लेती है, अप्राज्ञ का तो कहना ही क्या है। निदिध्यासन अवस्था तक साधक को अदृढ़ बोध होता है। उस काल में यदि वह प्रमाद करेगा, तो माया द्वारा आहत होकर पुनः तिरोहितस्वरूप होगा ।।३२५।।

अव दृष्टान्त देते हैं।

लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्, बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः ।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः, सोपानपङ्क्तौ पतितो यथा तथा ।।३२६।।

अर्थ––यदि चित्त अपने लक्ष्य (ब्रह्म) से हटकर थोड़ा-सा भी वहिर्मुख हो जाता है तो फिर वरावर नीचे ही की ओर गिरता जाता है। जैसे असावधानता-वश सीढ़ियों पर गिरी हुई खेल की गेंद एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर गिरती हुई नीचे चली जाती है।

व्याख्या––चित्तम् यदि ईषत् लक्ष्यच्युतम् चेत्–चित्त यदि थोड़ा भी लक्ष्य, ब्रह्म, उससे च्युत, भ्रष्ट हो जाये **बहिर्मुखम् सन्**–विषयानुगामी होकर के, विषय चिन्तन से **ततः ततः**–तव तव ही **यथा**–जैसे **प्रमादतः**–असावधानी से, इच्छा न रहते हुए भी **प्रच्युत-केलिकन्दुकः**–खेल में छूटी हुई खेलने की गेंद **सोपानपंक्तौ**–जीने की सीढ़ियों पर **पतितः**–गिरी हुई गेंद लुढकती हुई एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर, पुनः तीसरी सीढ़ी पर गिरती चली जाती है **तथा**–वैसे ही स्वरूपभ्रष्ट चित्त **निपतेत्**–अधोगति को प्राप्त होता है, जैसे पूर्व में कहा है, 'ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो वन्धस्ततो व्यथा' ।।३२६।।

विषयेष्वाविशच्चेतः सङ्कल्पयति तद्गुणान्।
सम्यक्सङ्कल्पनात्कामः कामात्पुंसः प्रवर्तनम् ।।३२७।।
ततः स्वरूपविभ्रंशो विभ्रष्टस्तु पतत्यधः।
पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोह ईक्ष्यते।
सङ्कल्पं वर्जयेत्तस्मात्सर्वानर्थस्य कारणम् ।।३२८।।

अर्थ––विषयों में प्रविष्ट चित्त विषयों के गुणों का चिन्तन करता है, भले प्रकार चिन्तन से वासना उदय होती है, वासना की तृप्ति के लिये कर्म में प्रवृत्त होता है। उससे स्वरूप विस्मृति होती है, स्वरूप भ्रष्ट का अधः पतन होता है। पतित का विनाश के अतिरिक्त उत्थान नहीं। इसलिये सर्व अनर्थ के कारण संकल्प को त्याग दे।

व्याख्या––विषयेषु–शब्दस्पर्शरूपरसादि विषयों में सत् बुद्धि से **आविशत्**–प्रवेश करता हुआ **चेतः**–मन **तद् गुणान्**–विषय-भोग से जो आनन्द मिलता है, उन गुणों का **संकल्पयति**–चिन्तन करता है। संकल्प ही पतन का आदि कारण है। स्वरूप से गिराने के लिये पहले संकल्प का सूक्ष्म अंकुर उठता है। **सम्यक् संकल्प-नात्** कामः–विषयों के अच्छी तरह चिन्तन से उन विषयों में प्रीति उपजती है, कामना, विषयों के भोगने की तृष्णा उत्पन्न होती है। **कामात् पुंसः प्रवर्तनम्**–

विषयतृष्णा से विषय-चिन्तन कर्ता पुरुष की विषयों में प्रवृत्ति, प्राप्ति की चेष्टा होती है ।।३२७।। **ततः स्वरूप विभ्रंशः**—इससे स्वरूप की, आत्मा की विस्मृति होती है । पुरुष अपने को आत्मा नहीं जानता, मोहवश अपने को कर्ता भोक्ता मानने लगता है । निष्क्रिय आत्मा में किसी प्रकार भी चेष्टा, क्रिया का होना सम्भव नहीं होता । विषयों के लिये चेष्टा में रत पुरुष स्वरूपभ्रष्ट हो जाता है । **विभ्रष्टः तु अधः पतति**—स्वरूप विस्मृत पुरुष नीचे अर्थात् अनात्म पदार्थों में गिरता है, पंचकोशों को ही अविवेक से आत्मा समझ बैठता है । **पतितस्य नाशम् विना**—स्वरूप से पतित का नाश के अतिरिक्त अन्य गति नहीं होती, स्वरूप विच्युत होना ही महान नाश है **पुनः आरोहः न ईक्ष्यते**—फिर आरोह, स्वरूप लाभ, नहीं होता । नष्टात्मा को उपदेश लाभ नहीं देता, उसका नाश अवश्यंभावी है । 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' आदि गीता के २।६२-६३ श्लोकों में भी यही भाव मिलता है ।

तस्मात्—इसलिये **सर्वानर्थस्य कारणम्**—सब अनर्थ का कारण **संकल्पम् वर्जयेत्**—संकल्प को त्याग दे । सूक्ष्म संकल्प अंकुर से संसार का वृहद् वृक्ष खड़ा हो जाता है, उसमें साधक फंस जाता है और सर्व दुःखनिवारक सर्व सुखदाता मोक्ष-लाभ नहीं होता । श्रीगुरुदेव कहा करते कि ब्रह्मचर्य अवस्था में उनको काश्मीर में एक सिद्ध ने उपदेश दिया था 'प्यारे ! हृदय में संसार अंकुर ही मत जमने देना । संकल्प मित्रवत् प्रिय बनकर आता है, परन्तु शत्रुवत् महान विनाश करके विदा होता है ।' ।।३२८।।

अगले श्लोक में प्रमाद सम्बन्धी विषय का उपसंहार करते हैं ।

अतः प्रमादान्न परोऽस्ति मृत्यु, र्विवेकिनो ब्रह्मविदः समाधौ ।
समाहितः सिद्धिमुपैति सम्यक्, समाहितात्मा भव सावधानः ।।३२९।।

अर्थ—इसलिये विवेकी और परोक्षज्ञानी के लिये समाधि के प्रयास में प्रमाद से बढ़कर और कोई मृत्यु नहीं है । समाहित पुरुष ही पूर्ण आत्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है; इसलिये सावधानतापूर्वक चित्त को स्थिर करो ।

व्याख्या—**अतः**—इसलिये **विवेकिनः**—जिसने आत्मा-अनात्मा का भेद समझ लिया है **ब्रह्मविदः**—जिसने महावाक्य का उपदेश सुन लिया है, और जिसको ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान हो चुका है, अपरोक्ष नहीं, ऐसे साधक के लिये **समाधौ**—आत्म साक्षात्कार के प्रयास में, निर्विकल्प समाधि अवस्था प्राप्त करने में **प्रमादात् परः**—असावधानी करने से बढ़कर, विषय चिन्तन करने से बढ़कर **मृत्युः न अस्ति**—मृत्य नहीं

है। जैसे पूर्व में कहा है 'प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान् ब्रह्मणः सुतः' **सम्यक्**–अच्छे प्रकार से **समाहितः**–इन्द्रिय-मनोनिग्रह द्वारा जिसकी बुद्धि एकाग्र हो गई है ऐसा समाहितात्मा **सिद्धिम्**–ब्रह्मसिद्धि, आत्म-साक्षात्कार **उपैति**–प्राप्त करता है। हे शिष्य ! तेरे लिये यह उपदेश है कि तू भी **सावधानः**–प्रमादरहित, विषय चिन्ता, संकल्प रहित **समाहितात्मा**–निगृहीत अन्तःकरण वाला अर्थात् चित्त से सव संकल्प, वासना, विषय चिन्तादि को निकाल कर केवल आत्मा में ही उसका निवेश करनेवाला **भव**–हो ! तू ऐसा करने में समर्थ है तीव्र मुमुक्षु होने से ॥३२९॥

भेद बुद्धि से भय बताते हैं, दो श्लोकों में।

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवलः।
यत्किञ्चित्पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजुःश्रुतिः ॥३३०॥

अर्थ—जिसने जीवितावस्था में ही कैवल्यपद प्राप्त कर लिया है उसकी शरीर त्यागने पर भी कैवल्यमुक्ति ही होती है, क्योंकि जो थोड़ा सा भी भेद देखता है उसके लिये यजुर्वेद की श्रुति भय बताती है।

व्याख्या—**जीवतः**–प्राण धारण रखते हुए, जीवितावस्था में **यस्य**–जिसको **कैवल्यम्**–कैवल पद प्राप्त हो गया है, आत्मसाक्षात्कार हो गया है, वासनायें प्रक्षीण हो गई है, जीवन्मुक्ति प्राप्त हुई है ऐसा पुरुषधुरन्धर **विदेहे**–शरीर त्यागने पर, अन्तकाल में भी विदेह मुक्ति में भी **सः च केवलः**–वह मोहित नहीं होता और उसे कैवल्य पद प्राप्त रहता है, चाहे वह हंसता हुआ, रोता हुआ, रुग्णावस्था, मूर्च्छा अथवा समाधि में शरीर त्यागे। जीवन्मुक्ति अवस्था में आत्मवेत्ता की शरीर-उपाधि रहती है, विदेहमुक्ति में उपाधि का नाश हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता उपाधि से असंग रहता है। इसलिये चाहे जीवन्मुक्ति हो चाहे विदेहमुक्ति ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही रहता है। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति विमुक्तः सन् विमुच्यते' इति श्रुतिः **यत् किंचित् भेदम् पश्यतः**–जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में उपाधि के कारण थोड़ा भी भेददेखनेवाले के लिये **यजुः श्रुतिः**–यजुर्वेद की श्रुतिः 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरम् कुरुते, अथ तस्य भयं भवति', जो जीव ब्रह्म में थोड़ा भी भेद जानता है, उसको भय होता है। भय दूसरे से होता है, अपने से नहीं **भयम् ब्रूते**–भय कहती है। आगे कहेंगे 'उपाधि-भेदात् स्वयमेव भिद्यते, चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः।' उपाधि के भेद से आत्मा में भेद की प्रतीति होती है, उपाधि हटने से केवल स्वयं ही रह जाता है ॥३३०॥

यदा कदा वापि विपश्चिदेष, ब्रह्मण्यनन्तेऽप्यणुमात्रभेदम्।
पश्यत्यथामुष्य भयं तदैव, यद्वीक्षितं भिन्नतया प्रमादात् ॥३३१॥

अर्थ—यदि कभी यह विद्वान् अनन्त ब्रह्म में अणुमात्र भी भेद-दृष्टि करता है, तत्काल इसको भय की प्राप्ति होती है, क्योंकि स्वरूप के प्रमाद से ही अखण्ड आत्मा में भेद दर्शन होता है।

व्याख्या—पूर्व श्लोक में जिस यजु: श्रुति का संकेत है उसी का अर्थ करते हैं। **यदा कदा वा अपि**—यदा का अर्थ यदि लेना। कभी भी यदि **एषः विपश्चित्**—यह विद्वान्, अदृढ़ बोधवान, शास्त्रज्ञानजन्य बोधवान, अनुभव से नहीं **अनन्ते ब्रह्मणि**—देश-काल-वस्तु परिच्छेद रहित अनन्त ब्रह्म में **अणुमात्रभेदम् अपि**—थोड़ा भी भेद **पश्यति**—देखता है, सर्वाधिष्ठानभूत ब्रह्म से भिन्न नामरूप दृश्य को देखता है। **अथ**—भेददृष्टि के फलस्वरूप **तदैव**—तत्काल ही **अमुष्य**—उस भेददर्शी विद्वान को **भयम्**—भय होता है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतिः दूसरे से भय होता है। **यत्**—क्योंकि **प्रमादात् भिन्नतया वीक्षितम्**—प्रमादवश, स्वरूपभ्रष्ट होने से जगत को उस भेदवादी ने ब्रह्म से भिन्न देखा है। भेददर्शन वेद प्रमाण, युक्ति और अनुभव विरुद्ध है ॥३३१॥

असत् ग्रहण प्रतिवन्ध हेतु, इसके विपरीत आत्मानुसंधि मोक्षदाता सात श्लोकों में

श्रुतिस्मृतिन्यायशतैर्निषिद्धे, दृश्येऽत्र यः स्वात्ममतिं करोति।
उपैति दुःखोपरि दुःखजातं, निषिद्धकर्ता स मलिम्लुचो यथा ॥३३२॥

अर्थ—श्रुति, स्मृति और युक्तियों से सैकड़ों वार निषिद्ध हुए इस दृश्य में जो आत्मबुद्धि करता है वह निषिद्ध कर्म करनेवाले चोर के समान दु:ख पर दु:ख भोगता है।

व्याख्या—**श्रुति-स्मृति-न्यायशतैः निषिद्धे**—वेद, स्मृति, तथा युक्तियों से सैंकड़ों वार निषेध किये जाने पर भी, 'नेति नेति', 'नेह नानास्ति किंचन' इति श्रुतिः। 'अनित्यं असुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्' इति स्मृतिः। स्वप्न दृष्टान्त, रज्जु-सर्प-दृष्टान्त, पंचकोश विवेचन आदि युक्तियों से दृश्यजगत वाध किये जाने पर भी **दृश्ये**—अहंकार से देह तक **अत्र**—इस देहादि अनात्मा में **यः**—जो मूढ **स्वात्ममतिम् करोति**—अपने स्वरूप का अभिमान करता है कि देहादि 'मैं हूँ' **सः निषिद्धकर्ता**—वह शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेवाला पापिष्ठ पुरुष **दुःखोपरि दुःखजातम् उपैति**—एक कष्ट के पश्चात् दूसरे कष्टसमूह को प्रात होता है। **यथा मलिम्लुचः**—जैसे कि मलिन अन्तःकरणवाला, निषिद्धकर्मकर्ता परधन-अपहारी चौर। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा पर अशुचि विकारी नाशवान परतन्त्र देह होने की मिथ्या लांछना लगाने वाला चौर है ॥३२२॥

सत्याभिसन्धानरतो विमुक्तो, महत्त्वमात्मीयमुपैति नित्यम् ।
मिथ्याभिसन्धानरतस्तु नश्येद्, दृष्टं तदेतद्यदचोरचौरयोः ॥३३३॥

अर्थ—जो ब्रह्मरूप सत्य पदार्थ का अभ्यास करता है वही मुक्त होकर अपनी नित्य महिमा को प्राप्त करता है और जो मिथ्या दृश्य पदार्थों के पीछे पड़ा रहता है वह नष्ट हो जाता है; यह वात साहू और चौर के विषय में देखी जाती है ।

व्याख्या—**सत्याभिसन्धानरतः**—सत् तत्त्व, आत्मस्वरूप की खोज में लगा हुआ, श्रवण-मनन-निदिध्यासन से आत्मदर्शन के निरन्तर प्रयास में संलग्न **नित्यम्**—सदा ही, ब्रह्माभ्यास परिपक्व होने के पश्चात् **आत्मीयम् महत्त्वम् उपैति**—आत्मा की महिमा को प्राप्त होता है, निज स्वरूप का साक्षात्कार करता है । इसके महत्त्व को जान लेता है । इससे हृदय की अज्ञानग्रंथियों का भेदन, सव संशयों का छेदन, सव प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है, इसलिये **विमुक्तः**—अहंकारादि देहान्त वन्धनों से छूट जाता है । इसके विपरीत, **मिथ्याभिसन्धानरतः तु**—जो मिथ्याभूत दृश्य प्रपंच का अवलम्वन करता है, असत् पदार्थों के संग्रह रक्षण भोग में तत्पर रहता है, वह **नश्येत्**—नष्ट हो जाता है **यत्**—क्योंकि **दृष्टम्**—देखा जाता है **तदेतत्**—वह यह अर्थात् सत्यकी महिमा और असत्य का विनाश **अचौर-चौरयोः**—साहू और चौर में । काल पाकर सत्यवादी धर्मावलम्बी साहू तो महिमा को प्राप्त होता है, और असत्यवादी निषिद्धकर्मकारी चौर नष्ट हो जाता है ॥३३३॥

यतिरसदनुसन्धिं बन्धुहेतुं विहाय
स्वयमयमहमस्मीत्यात्मदृष्ट्यैव तिष्ठेत् ।
सुखयति ननु निष्ठा ब्रह्मणि स्वानुभूत्या
हरति परमविद्याकार्यदुःखं प्रतीतम् ॥३३४॥

अर्थ—संन्यासी असत् पदार्थों के चिन्तन को छोड़कर 'यह साक्षात् ब्रह्म मैं स्वयं ही हूँ' ऐसी आत्मदृष्टि से स्थिर रहे । अपने अनुभव से उत्पन्न हुई ब्रह्मनिष्ठा में स्थिति अविद्या के कार्यभूत इस प्रतीयमान प्रपंच के दुःख का अत्यन्त हरण करती है और परम सुख देती है ।

व्याख्या—**यतिः**—संन्यासी, मुमुक्षु **असत् अनुसन्धिम्**—मिथ्या वस्तुओं के अवलम्वन, अब्रह्मचिन्तन, द्वैत में आसक्ति जो कि **बन्ध हेतुम्**—वन्धन का कारण है,

उसको **विहाय**–त्याग कर **स्वयम् अयम् अहम् अस्मि इति**–निज में ही यह मैं आत्मा हूँ, सर्व का अधिष्ठान हूँ, इस प्रकार **आत्मदृष्टया एव तिष्ठेत्**–आत्म दृष्टि से, अर्थात् आत्मा में आरोपित देहादि की सत्ता आत्मसत्ता के अतिरिक्त कुछ नहीं है, केवल आत्मा ही है, जैसे रज्जु में प्रतीत सर्प रज्जु ही है, और वह आत्मा मेरा अपना आपा है, इस दृष्टि से, सर्वात्मभाव से अपने स्वरूप में ही स्थिर रहे।

इसके दो फल कहते हैं। **ननु**–क्योंकि **ब्रह्मणि निष्ठा**–ब्रह्म में दृढ़स्थिति, **स्वानुभूत्या**–आत्मा के अनुभव के सहित **सुखयति**–चरम सीमा का आनन्द देती है, और दूसरे **प्रतीतम् अविद्याकार्यदुःखम्**–जो पहले अनुभव होता था उस अज्ञान तथा अज्ञान के कार्य, महादादि देहपर्यन्त के दुःख को **परम्**–अत्यन्त 'परम्' शब्द को 'सुखयति' के साथ भी लगाना चाहिये **हरति**–हरण करती है, 'तरति शोकमात्म-वित्' इति श्रुतिः। आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है ।।३३४।।

बाह्यानुसन्धिः परिवर्धयेत्फलं, दुर्वासनामेव ततस्ततोऽधिकाम्।
ज्ञात्वा विवेकैः परिहृत्य बाह्यं, स्वात्मानुसन्धिं विदधीत नित्यम् ।।३३५।।

अर्थ—बाह्य विषयों का चिन्तन अपने दुर्वासनारूप फल को ही उत्तरोत्तर बढ़ाता है; इसलिये विवेकपूर्वक आत्मस्वरूप को जानकर बाह्य विषयों को छोड़कर नित्य ब्रह्माभ्यास करे।

व्याख्या—**बाह्यानुसन्धिः**–बहिर्मुखता, विषयासक्ति **ततः ततः अधिकाम् दुर्वासनाम् फलम् एव**–पहले की अपेक्षा और अधिक दुर्वासनारूप फल को, ही **परिवर्धयेत्**–विस्तृत करती है। एक वासना दूसरी वासना को जन्म देती है। वासनाभोग से वासना शान्त नहीं होती, अग्नि में छोड़ी घृत आहुति अग्नि को, शमन करने की बजाय, प्रचंड करती है। जैसे पहले कहा है, 'वासनावृद्धितः कार्यम् कार्यवृद्धया च वासना। वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते ।।३१४।।' **ज्ञात्वा विवेकैः**–इस प्रकार सत् और असत् के विवेक से जानकर, क्या जानकर? 'मिथ्या-भिसन्धानरतस्तु नश्येत्' इस हेतु से **बाह्यम् परिहृत्य**–अनात्म वस्तु में आसक्ति त्याग कर, विषयों से परांमुख होकर, प्रमाद त्याग कर **नित्यम्**–सदा ही, आत्म-साक्षात्कार होने तक **स्वात्मानुसन्धिम् विदधीत**–अपने स्वरूप का विचार करे, ब्रह्म चिन्तन करे।३३५।।

बाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता, मनःप्रसादे परमात्मदर्शनम्।
तस्मिन्सुदृष्टे भवबन्धनाशो, बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः ।।३३६।।

अर्थ—बाह्य पदार्थों में वृत्ति का निरोध होने पर मन निर्मल होता है और मन के निर्मल होने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है और उसका सम्यक् साक्षात्कार होनेपर संसार-बन्धन का नाश हो जाता है। इस प्रकार बाह्य वस्तु में वृत्तियों का निरोध ही मुक्ति का मार्ग है।

व्याख्या—**बाह्ये**-अनात्म पदार्थों में रुचि, विषयाभिमुखता के **निरुद्धे**-रुक जाने पर **मनसः प्रसन्नता**-मन की निर्मलता होती है, रागद्वेषधूलि का भार हटने से वृत्ति हलकी होती है **मनः प्रसादे**-मन के शुद्ध होने पर वृत्ति स्वतः अन्तर्मुखी होती है और **परमात्मदर्शनम्**-आत्मसाक्षात्कार होता है, 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।' गीता २।६५, मन के निर्मल होने पर इसके सर्वदुखों का नाश हो जाता है, निर्मल चित्त वाले की बुद्धि प्रतिष्ठित होती है, ब्रह्माकार होती है। **तस्मिन् सुदृष्टे**-उस परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर **भवबन्धनाशः**-संसार वन्धन के जो हेतु हैं, उनका नाश हो जाता है। अहंकार, वासना, देहाध्यास, मन, असत्-ग्रहण, संकल्प, विषयाभिमुखता आदि इन सव का सहसा नाश हो जाता है, एक भी नहीं वचता। **बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः**-मनोवृत्ति का विषयों की ओर धावन, अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि, उसका निरोध, नियंत्रण ही मोक्ष का, वासनाओं की तनुता की पदवी, मार्ग है।।३३६।

कः पण्डितः सन्सदसद्विवेकी, श्रुतिप्रमाणः परमार्थदर्शी।
जानन्हि कुर्यादसतोऽवलम्बं, स्वपातहेतोः शिशुवन्मुमुक्षुः।।३३७।।

अर्थ—परमार्थतत्त्व का ज्ञाता, श्रुतिप्रमाण का माननेवाला, सत्-असत् वस्तु का विवेकी होकर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो कि मोक्ष की कामना वाला होकर जानबझकर वालक के समान अपने पतन के हेतु असत्-पदार्थों का ग्रहण करेगा।

व्याख्या—**परमार्थदर्शी**-परम अर्थ का दर्शन करनेवाला, शास्त्रों के परम तात्पर्य को समझनेवाला, शास्त्रों का परमतात्पर्य जीव-ब्रह्म की अभिन्नता में है, भिन्नता में नहीं **श्रुतिप्रमाणः**-वेद भगवान ही है प्रमाण जिसके लिये, उस प्रमाण के आश्रय से **सदसद्विवेकी**-सत् और असत् में विवेक करनेवाला, आत्मा, अनात्मा इन के भेद को जाननेवाला, 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, इस प्रकार ज्ञानवान, इस ज्ञान के कारण **पंडितः सन्**-विचारवान, शास्त्र ज्ञाता होकर **मुमुक्षुः**-संसार वन्धन से मुक्त होने की इच्छा वाला **स्वपातहेतोः**-अपने पतन के कारण को, स्वरूप विस्मरण के कारण को **हि**-निश्चय रूप से **जानन्**-

जानता हुआ **असतः अवलम्बम्**–अनात्म, असत् का आश्रय **कः**–कौन **कुर्यात्**–करेगा, अर्थात् कोई नहीं करेगा, परमार्थदर्शी, सद्सद्विवेकी पंडित तो कभी नहीं करेगा **शिशुवत्**–अबोध शिशु की भांति, अबोध शिशु नाश के हेतु अग्निसर्पादि को ग्रहण कर लेता है, क्या ज्ञानवान भी ऐसा करेगा ?।।३३७।।

अब मुक्त और बद्ध की पहचान बताते हैं।

देहादिसंसक्तिमतो न मुक्ति, र्मुक्तस्य देहाद्यभिमत्यभावः।
सुप्तस्य नो जागरणं न जाग्रतः, स्वप्नस्तयोर्भिन्नगुणाश्रयत्वात्।।३३८।।

अर्थ—देह आदि में आसक्ति रखनेवाले की मुक्ति नहीं हो सकती। जो मुक्त हो गया है उसका देहादि में अभिमान नहीं हो सकता। सोये हुए पुरुष को जागृति का अनुभव नहीं हो सकता और जाग्रत् पुरुष को स्वप्न का अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि ये दोनों अवस्थाएं भिन्न गुणों के आश्रय रहती हैं।

व्याख्या—**देहादि-संसक्तिमतः**–देह, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण में जो आसक्त है, उसकी **न मुक्तिः**–मुक्ति नहीं है। जो देहादि में बंधा हुआ है, उसकी मुक्ति कैसी, क्योंकि देहादि में सत्यबुद्धि हुए विना उसमें आत्माहंकार नहीं होता, देहादि द्वैतभाव हैं। कैवल्य मोक्ष अद्वैतभाव से सम्भव है। पूर्व में कहा है, 'शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति। ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति।।८६।।', **मुक्तस्य**–देहादिबन्धन से जो मुक्त हो गया है, जिसकी अपने स्वरूप में दृढ निष्ठा हो गई है, उसको **देहादि-अभि-मति-अभावः**–देहादि में अभिमान का अभाव हो जाता है। उनमें से उसकी सत्यत्व-बुद्धि हट जाती है, अपने ही स्वरूप को सत् जानने से।

अब दृष्टान्त देते हैं। **सुप्तस्य**–सोये हुए का **जागरणम् नो**–जागरन् नहीं होता, स्वप्नावस्था में जाग्रत् का अभाव हो जाता है, **जाग्रतः**–जागे हुए का **स्वप्नः न**–स्वप्न नहीं होता, जाग्रदवस्था में स्वप्न का अभाव होता है। **तयोः भिन्नगुणा-श्रयत्वात्**–उन दोनों अवस्थाओं के आश्रय भिन्न-भिन्न गुण हैं। सात्त्विक गुण का कार्य जाग्रत् है, और रजोगुण का कार्य स्वप्न है। जाग्रत् अवस्था की व्यवहार सत्ता होती है, और स्वप्नावस्था की प्रातिभासिक सत्ता होती है। जब मनुष्य अपने स्वरूप में जाग जाता है तो दृश्य प्रपंच में सोता है, जो दृश्य प्रपंच में जागता है वह अपने स्वरूप में सोता है। एक काल में दोनों नहीं होते। यदि कोई कहे 'मेरे

हाथ में दीपक है, और में अन्धेरे को देखता हूँ' तो समझना चाहिये कि क्या तो उसके हाथ में प्रकाशरूप दीपक नहीं है, अथवा वह अन्धेरा नहीं देखता ।।३३८।।

अगले चार श्लोकों में सर्वात्मभाव की बन्धमुक्ति हेतुता बताते हैं ।

अन्तर्बहिः स्वं स्थिरजङ्गमेषु, ज्ञानात्मनाधारतया विलोक्य ।
त्यक्ताखिलोपाधिरखण्डरूपः, पूर्णात्मना यः स्थित एष मुक्तः ।।३३९।।

अर्थ—समस्त स्थावर-जंगम पदार्थों के भीतर और बाहर अपने को बोध रूप से उनका आधारभूत देखकर समस्त उपाधियों को छोड़कर अखण्ड पूर्णता से जो स्वरूप में स्थित रहता है वही मुक्त है ।

व्याख्या—स्थिरजंगमेषु—चराचर में, पर्वतवृक्षादि स्थिर, देवतामनुष्य-पश्वादि जंगम इन सब में, समस्त दृश्य प्रपंच में, **अन्तर्बहिः**—भीतर और बाहर, अस्ति-भाति-प्रिय भीतर, नामरूप बाहर **ज्ञानात्मना आधारतया**—बोधरूप आत्मा को ही सकल विश्व का अधिष्ठान जानकर, उत्पति-स्थिति-लय का कारण आत्मा को ही गुरु से श्रवंग करके **स्वम् विलोक्य**—दृश्यजगत् के अधिष्ठानभूत अपने आत्मा का साक्षात्कार करके, केवल गुरु शास्त्र से जानकर नहीं, अनुभव से अपने आपे को विश्वाधार मानकर **त्यक्ताखिलोपाधिः**—सब उपाधियों में सत्यबुद्धि त्याग कर, स्थूल-सूक्ष्म-कारण ये तीनों शरीर आत्मा की उपाधियां हैं, इनसे सम्बन्ध-रहित हुआ **अखण्डरूपः**—मेरा स्वरूप कहीं भी खंडित नहीं है, देश-काल-वस्तु परिच्छेद रहित होने से **पूर्णात्मना**—पूर्णरूप से, सर्वात्मरूप से, मेरा ही आत्मा यम ब्रह्मा वरुण इन्द्र रुद्र मरुत सूर्य चन्द्र अग्नि कुबेरादि देवता, सप्त लोक, चोदह भुवन, चौरासी लक्ष योनियां बनकर भास रहा है । मेरे ही स्वरूप में अनन्त कोटि सृष्टियां अध्यस्त हैं, मैं ही सब भूतों का आत्मा हूँ, इस प्रकार पूर्णरूप से **यः स्थितः**—जो अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, जिसकी 'ब्रह्मात्मना संस्थितिः' है **एषः मुक्तः**—ऐसा पुरुष-धौरेय, सर्वात्मभावयुक्त ही मुक्त है, भेदवादी नहीं ।।३३९।।

सर्वात्मना बन्धविमुक्तिहेतुः, सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित् ।
दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ, सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया ।।३४०।।

अर्थ—संसार-बन्धन से मुक्त होने में सर्व प्रकार से सर्वात्म-भाव से बढ़कर और कोई कारण नहीं है । निरन्तर आत्मनिष्ठा में स्थित रहने से दृश्य का अग्रहण होने पर इस सर्वात्मभाव की प्राप्ति होती है ।

व्याख्या—**सर्वात्मना**—सब प्रकार से **बन्धविमुक्ति-हेतुः**—देहादि बन्धन से मुक्ति का कारण **सर्वात्मभावात् परः कश्चित् न अस्ति**—सर्वात्मभाव है, इससे उत्कृष्ट कारण अन्य नहीं है। सर्वभूतों को आत्मा में अध्यस्त देखना, आत्मा को सर्वभूतों में अनुस्यूत देखना यही सर्वात्मभाव है। 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ।।' इति कैवल्योपनिषद १०। सर्वभूतों में आत्मा को तथा सर्वभूतों को आत्मा में देखता हुआ परम ब्रह्म को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। **दृश्य-अग्रहे सति**—दृश्य की स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण न करके, आरोपित वस्तु को अधिष्ठान से भिन्न न मानकर, केवल सत्यभूत अधिष्ठान मानने पर **असौ सर्वात्मभावः**—यह सर्वात्मभाव **अस्य**—इस ज्ञानवान को **सदा**—निरन्तर **आत्मनिष्ठया**—आत्म में निष्ठा से 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ इस स्थिति से **उपपद्यते**—प्राप्त होता है ।।३४०।।

दृश्यस्याग्रहणं कथं नु घटते देहात्मना तिष्ठतो
बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनस-स्तत्तत्क्रियां कुर्वतः।
संन्यस्ताखिलधर्म-कर्म-विषयैर्नित्यात्मनिष्ठापर-
स्तत्त्वज्ञैःकरणीयमात्मनि सदानन्देच्छुभिर्यत्नतः ।।३४१।।

अर्थ—जो देहात्मबुद्धि से स्थित है और बाह्य विषयों की मन में आसक्ति रखकर उनके उपभोग के लिये क्रिया में लगे रहते हैं, उनको दृश्य का अग्रहण कैसे हो सकता है? इसलिये नित्यानन्द के इच्छुक तत्त्वज्ञानी को चाहिये कि वह समस्त धर्म, कर्म एवं विषयों को त्यागकर निरन्तर आत्मनिष्ठा में तत्पर हो अपने आत्मा में प्रतीत होनेवाले इस दृश्य-प्रपंच का यत्नपूर्वक बाध करे।

व्याख्या—**देहात्मना तिष्ठतः**—देह में आत्माभिमान रखने वाले का इसलिये **बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनसः**—विषय सुख के अनुभव में अत्यन्त आसक्त है मन जिसका, उसका **तत्-तत्-क्रियाम् कुर्वतः**—विषयाभिमुख होने से विषय भोग के लिये, उस-उस चेष्टा करनेवाले का **दृश्य-अग्रहणम् कथम् नु घटते**—द्वैत की अस्वीकृति कैसे घटित हो, अर्थात् विषयासक्त पुरुष की अद्वैत ब्रह्म में निष्ठा नहीं हो सकती, क्योंकि उसको विषयसुख सत्य प्रतीत होता है। **संन्यस्ताखिल धर्म-कर्म-विषयैः**—अतः त्याग दिये हैं जिन यतियों ने वैदिक कर्म, लौकिक कर्म और शब्दस्पर्शादि पंच विषय उनसे **नित्य-आत्मनिष्ठापरैः**—निरन्तर ही जो अपने स्वरूप में स्थिति को प्रधानता देते हैं, आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्न में जो संलग्न हैं,

उनसे **सदा ग्रानन्द-इच्छुभिः**—नित्यानन्द की इच्छा वालों से **तत्त्वज्ञैः**—गुरु द्वारा शास्त्र का तात्पर्य जान लिया है जिन्होंने, उनसे **ग्रात्मनि**—ग्रद्वितीय ग्रात्मतत्त्व में दृश्य की ग्रस्वीकृति, ग्रात्मा में ग्रनात्मा के ग्रारोपण का ग्रग्रहण **यत्नतः**—यत्नपूर्वक **करणीयम्**—करना चाहिये ।।३४१।।

सर्वात्मभाव सिद्धि के लिये समाधि बताते हैं।

सार्वात्म्यसिद्धये भिक्षोः कृतश्रवणकर्मणः ।
समाधिं विदधात्येषा शान्तो दान्त इति श्रुतिः ।।३४२।।

ग्रर्थ—'शान्तो दान्त' यह श्रुति वेदान्त-श्रवण के ग्रनन्तर संन्यासी के लिये सार्वात्म्यभाव की सिद्धि के लिये समाधि का विधान करती है।

व्याख्या—कृतश्रवणकर्मणः—श्रवण कर लिया है जिसने ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के मुख से वेदान्त प्रक्रिया तथा महावाक्य का उपदेश, ऐसे **भिक्षोः**—भिक्षु, संन्यासी के लिये **सार्वात्म्यसिद्धये**—सर्वात्मभाव की प्राप्ति के लिये, 'सर्वम् खल्विदम् ब्रह्म' यह सब दृश्य जगत् ब्रह्म है, कैवल्य मोक्ष के लिये, **'शान्तो दान्तः' इति एषा श्रुतिः**—'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा ग्रात्मन्येवात्मानं पश्यति' इति श्रुतिः, बृहदारण्यक ४।४।२३, शम, दम, उपरति तितिक्षा इनसे युक्त समाधिरूप होकर ग्रन्तःकरण में ग्रात्मा का साक्षात्कार करे, यह श्रुति **समाधिम् विदधाति**—समाधि का विधान करती है। निर्विकल्प समाधि ग्रवस्था में ही जगत् का ग्रत्यन्ताभाव होता है, ग्रौर एकान्त ग्रात्मतत्त्व का ग्रनुभव होता है ।।३४२।।

निर्विकल्प समाधि में प्रतिष्ठित ही ग्रहंकार वासना के नाश में समर्थ।

ग्रारूढशक्तेरहमो विनाशः कर्तुं न शक्यः सहसापि पण्डितः ।
ये निर्विकल्पाख्यसमाधिनिश्चलास्तानन्तरानन्तभवा हि वासनाः ।।३४३।।

ग्रर्थ—जो निर्विकल्प-समाधि में ग्रविचल-भाव से स्थित हो गये हैं, उनको छोड़कर बलसम्पन्न ग्रहंकार का नाश कोई पंडित भी सहसा नहीं कर सकता, क्योंकि वासना ग्रसंख्यात जन्मों से चली ग्राती हैं।

व्याख्या—ये—जो **निर्विकल्पाख्यसमाधिनिश्चलाः**—निर्विकल्प नाम की समाधि में निश्चल हो गये हैं, ग्रपने स्वरूप से चलायमान नहीं हो सकते **तान् ग्रन्तरा**—उनके विना, उनको छोड़कर **ग्रारूढशक्तेः**—जागी हुई है, बलयौवनसम्पन्न स्वरूपाच्छादक

शक्ति जिसकी; उस **अहमः**—अहंकार का **विनाशः**—विशेष नाश, अभाव **पण्डितः—अपि**—शास्त्र ज्ञाताओं से भी, मूढ़ों की तो वार्ता ही छोड़ दो **सहसा**—यथेच्छा **कर्तुम् न शक्यः**—करना शक्य नहीं ।

हि—क्योंकि **वासनाः अनन्तभवाः**—वासनायें असंख्य जन्मों से चली आती हैं। वासनाओं का प्रवाह निर्विकल्प समाधि होने पर नष्ट हो जाता है। ज्ञानवान समाधि से व्युत्थान काल में अज्ञानियों की भांति व्यवहार करता है, उसमें वासनायें भी प्रतीत होती हैं। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः ज्ञानवानपि।' गीता ३।३३, परन्तु ये वासनायें वन्धनकारी नहीं होतीं। ज्ञानवान की क्रियायें अहंकार और आसक्ति रहित होती हैं। प्रारब्धवश उसको विक्षेप होता है। प्रारब्ध क्षय होते ही वह स्वरूप में मग्न हो जाता है। एक वासनातृप्ति दूसरी वासना का सृजन नहीं करती ।।३४३।।

अहंबुद्धयैव मोहिन्या योजयित्वावृतेर्बलात् ।
विक्षेपशक्तिः पुरुषं विक्षेपयति तद्गुणैः ।।३४४।।

अर्थ—मोहिनी अहंबुद्धि से युक्त आवरण शक्ति के वल से विक्षेपशक्ति उस पुरुष को विक्षेप गुणों से विक्षिप्त कर देती है।

व्याख्या—जब पुरुष अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि करता है, तो उससे स्वरूप का तिरोहन होता है। तमोगुण की आवरण शक्ति के तीन काम हैं, स्वरूपाच्छादन, विक्षेप प्रसार तथा सम्मोहन। **मोहिन्या अहंबुद्धया एव**—सम्मोहनी अहंकार बुद्धि से ही **आवृतेः बलात्**—आवरण, स्वरूप-अप्रकाश के सामर्थ्य से **योजयित्वा पुरुषम्**—पुरुष को पण्डित को भी, जैसे पूर्व में कहा है 'प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोऽप्यत्यन्त-सूक्ष्मार्थदृक् व्यालीढः तमसा न वेत्ति वहुधा सम्बोधितोऽपि स्फुटम्।' पण्डित को भी अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि प्रस्तुत करके **विक्षेपशक्तिः**—रजोगुण की क्रियात्मिका विक्षेप शक्ति **तद्गुणैः**—स्वकीयकार्यों से, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्यादि घोर धर्मों से **विक्षेपयति**—विचलित करती है, नचाती है, शान्ति से नहीं बैठने देती, वहिर्मुख करती है ।।३४४।।

तमोगुण के आवरण भंग हुए विना, रजोगुण की विक्षेपशक्ति पर विजय असाध्य।

विक्षेपशक्तिविजयो विषमो विधातुं निःशेषमावरणशक्तिनिवृत्त्यभावे ।
दृग्दृश्ययोः स्फुटपयोजलवद्विभागे नश्येत्तदावरणमात्मनि च स्वभावात् ।
निःसंशयेन भवति प्रतिबन्धशून्यो विक्षेपणं न हि तदा यदि चेन्मृषार्थे ॥३४५॥

अर्थ—आवरणशक्ति की पूर्ण निवृत्तिके विना विक्षेप शक्तिपर विजय प्राप्त करना असाध्य है । दूध और जल के समान आत्मा और अनात्मा का भेदज्ञान स्पष्ट हो जाने पर आत्मा पर छाया हुआ वह आवरण अपने आप अवश्य ही नष्ट हो जाता है । उसके उपरान्त स्वरूप आवरण रहित हो जाता है । यदि आवरण भंग हो जाये तो फिर मिथ्या वस्तु से विक्षेप नहीं होता ।

व्याख्या—निःशेष-आवरणशक्ति-निवृत्ति-अभावे—माया के तमोगुण की आवरण नामक शक्ति के निवृत्त हुए विना, अत्यन्त दूर हुए विना, आवरण शक्ति के विषय में पहले कहा है; 'एषावृत्तिर्नाम तमोगुणस्य, शक्ति र्यया वस्त्वभासते ऽन्यथा' **विक्षेपशक्ति-विजयः**—रजोगुण की विक्षेप शक्ति पर विजय **विधातुम्**—पाना **विषमः**—असाध्य है, अव आवरण शक्ति के निवारण का उपाय वताते हैं **दृग्दृश्ययोः**—द्रष्टा और दृश्य, आत्मा अनात्मा का **पयोजलवत्**—क्षीर नीरवत् **स्फुटविभागे**—स्पष्ट भेद, पृथक् किये जाने पर **आत्मनि तदा आवरणम् च**—आत्मा पर से अज्ञान का आवरण, विवेक के अनन्तर **स्वभावात्**—विना यत्न किये **निःसंशयेन**—अवश्य ही **नश्येत्**—नष्ट हो जाता है **प्रतिबन्धशून्यः**—उसके उपरान्त अपना स्वरूप आवरण-रहित हो जाता है, और आत्मदर्शन होते हैं । **यदि चेत्**—यदि ऐसा हो अर्थात् आवरण भंग हो जाय **तदा**—तो उसके उपरान्त **मृषा अर्थे**—मिथ्या वस्तु में **विक्षेपणम्—न हि**—विक्षेप नहीं होता, द्वैत में सत्यबुद्धि नहीं रहती, जिसके फलस्वरूप विक्षेप तथा उसका प्रसार वन्धनकारी नहीं होता ।

श्रीभगवत्पाद ने विक्षेप पर विजय कहा है, विक्षेप का नाश नहीं । आवरण टूटने पर भी ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं में विक्षेप देखा जाता है, परन्तु वह विक्षेप संसार का कारण नहीं वन सकता । ब्रह्मवेत्ताओं का जितना प्रारव्ध भोग है, उतने काल तक विक्षेप क्रियाशील होता है, पीछे नहीं । आवरण भंग होने पर भी विक्षेप रहता है, जैसे विदेहराज जनक ने राज्यभार संभाला । विक्षेप और प्राण शक्ति दोनों ही रजोगुण के कार्य होने से, विक्षेप की अत्यन्त निवृत्ति का अर्थ निष्प्राण शव है ॥३४५॥

समाधि में सम्यक् वोध ही मायाकृतमोहवंध का, भ्रान्ति ज्ञान का तथा विक्षेप का नाशक है, चार श्लोकों में ।

सम्यग्विवेकः स्फुटबोधजन्यो, विभज्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्वम् ।
छिनत्ति मायाकृतमोहबन्धं, यस्माद्विमुक्तस्य पुनर्न संसृतिः ॥३४६॥

अर्थ—सम्यक् श्रवण-मनन-निदिध्यासन से उत्पन्न शुद्ध ब्रह्मज्ञान आत्मा अनात्मा का विवेचन करके मायारचित अज्ञानबंध को काटता है जिसके फलस्वरूप मुक्त पुरुष को पुनः संसार प्राप्त नहीं होता ।

व्याख्या—**स्फुटबोधजन्यः**—शास्त्र से तथा गुरुमुख से महावाक्य का अर्थ स्पष्ट श्रवण करके, उससे उत्पन्न हुआ, श्रवण के उपरान्त **सम्यक्विवेकः**—'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' 'अहंब्रह्मास्मि' इस प्रकार शुद्धबोध, आत्मसाक्षात्कार, आत्मज्ञान **दृग्-दृश्य-पदार्थतत्त्वम्**—आत्मा अनात्मा को क्षीरनीरवत् **विभज्य**—पृथक् करके, इनके भेद को स्पष्ट अवगत करा के सम्यक्विवेक, आत्मसाक्षात्कार **मायाकृतमोहबन्धम्**—माया द्वारा कल्पित मोह, स्वरूपतिरोहन उसका बन्ध, अर्थात् अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि, उसको **छिनति**-समूल नष्ट कर देता है, पाशहानि करता है **यस्मात्**—जिस कारण से कि **विमुक्तस्य पुनः न संसृति**—वन्धनमुक्त पुरुष को फिर संसार नहीं लगता 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतिः, वह फिर लोट कर नहीं आता 'क्षीरादुद्धृतमाज्यं यत्क्षिप्तं पयसि तत्पुनः । न तेनैवैकतां याति संसारे ज्ञानवांस्तथा ।। शिव गीता १३।३७, जैसे दही से घृत निकालने के पश्चात् फिर वह घृत दही में डालने से नहीं मिलता उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् ज्ञानवान असत् संसार से अपना तादात्म्य नहीं करता ।।३४६।।

परावरैकत्वविवेकवह्निर्दहत्यविद्यागहनं ह्यशेषम् ।
किं स्यात्पुनः संसरणस्य बीजमद्वैतभावं समुपेयुषोऽस्य ॥३४७॥

अर्थ—ईश्वर और जीव के एकत्वज्ञानरूप अग्नि अविद्यारूप समस्त वन को भस्म कर देता है । अद्वैतभाव की प्राप्ति होने पर उसको पुनः संसार का कारण अर्थात् अज्ञान क्या रह जाता है ?

व्याख्या—**पर-अवर-एकत्त्वविवेकवन्हि**—ईश्वर जीव, इन दोनों की एकता के बोध से सिद्ध अग्नि **अविद्यागहनम्**—अज्ञान रूपी वन को **अशेषम्**—अविद्या के कार्य सहित **हि**—निश्चय ही **दहति**—नष्ट करती है, भस्म करती है । 'ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः'—तत्त्व के, ब्रह्म के साक्षात्कार कर लेने पर संसार कहाँ रहता है ?

अद्वैतभावम्—ईश्वर और जीव के निर्भेद एकत्व का **समुपेयुषः**—निरन्तर साक्षात्कार करनेवाले **अस्य**—इस महात्मा के लिये **पुनः संसरणस्य बीजम्**—फिर संसार का बीज, अर्थात् अज्ञान **किं स्यात्**—क्या रहता है, अर्थात् नहीं रहता ।।३४७।।

अब आत्मसाक्षात्कार के तीन फल बताते हैं ।

आवरणस्य निवृत्तिर्भवति च सम्यक्पदार्थदर्शनतः ।
मिथ्याज्ञानविनाशस्तद्वद्विक्षेपजनितदुःखनिवृत्तिः ।।३४८।।

अर्थ——आत्मवस्तु का साक्षात्कार हो जाने से आवरण से छुटकारा मिलता है, मिथ्याज्ञान का नाश और वैसे ही विक्षेपजनित दुःख की निवृत्ति हो जाती है ।

व्याख्या——अब आत्मा साक्षात्कार के तीन फल बताते हैं । **सम्यक्**-प्रत्यक्ष **पदार्थ-दर्शनतः**—आत्मदर्शन से, जीव ब्रह्म की एकता के अनुभव से, आत्मसाक्षात्कार से **आवरणस्य निवृत्तिः भवति**—एकफल, तमोगुण की शक्ति आवरण से स्वरूप का छुटकारा होता है **च मिथ्याज्ञानविनाशः**—दूसरा फल, संसार में सत्यबुद्धि का नाश और **तद्वत्**—इसी प्रकार **विक्षेपजनितदुःख निवृत्तिः**—तीसरा फल, संसार में सत्यबुद्धि के कारण, मिथ्या ज्ञान में आस्था के कारण जो विक्षेप, उससे उत्पन्न दुःख, उससे छुटकारा—कामादि षट्रिपुओं के क्लेश से छुटकारा ।।३४८।।

अब दृष्टान्त देकर समझाते हैं ।

एतत्त्रितयं दृष्टं सम्यग्रज्जुस्वरूपविज्ञानात् ।
तस्माद्वस्तु सतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ।।३४९।।

अर्थ——रज्जु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होते ही ये तीनों एक साथ निवृत्त होते देखे जाते हैं । रज्जु का अज्ञान, अज्ञानजन्य सर्पभ्रान्ति और उस सर्प-प्रतीति से होनेवाले भय, कम्प आदि । उसी प्रकार आत्मस्वरूप का ज्ञान होनेपर आत्माका अज्ञान, अज्ञानजन्य प्रपंच की प्रतीति और उससे होनेवाले दुःख की एक साथ ही निवृत्ति हो जाती है, इसलिये संसार-बन्धन से छूटने के लिये विद्वान् को अनुभव सहित आत्मपदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

व्याख्या——**सम्यक् रज्जुस्वरूपविज्ञानात्**—प्रकाश होने पर रज्जु के स्वरूप के सम्यक् ज्ञान से **एतत् त्रितयम् दृष्टम्**—यह तिगड़ी निवृत्त होती देखी जाती है, रज्जु—आवरण भंग, सर्पभ्रान्तिनाश, तथा रज्जुसर्पविक्षेपजनित भयकम्पधावनादि

दुःख की निवृत्ति। **तस्मात्**—इसलिये **विदुषा**—विद्वान् द्वारा **बन्धमुक्तये**—बन्ध के हेतु आवरण और विक्षेप, उन दोनों से छुटकारा पाने के लिये **सतत्त्वम्**—अनुभव सहित **वस्तु**—आत्मस्वरूप **ज्ञातव्यम्**—जानना चाहिये। पूर्व में कहा है 'एताभ्यामेव शक्तिभ्याम् बन्धः पुंसः समागतः'॥३४९॥

बुद्धिवृत्ति और उसका कार्य मिथ्या है, परन्तु इनका साक्षी आनन्दघन परमात्मा सत्य है, तीन श्लोकों में।

अयोऽग्नियोगादिव सत्समन्वयान्मात्रादिरूपेण विजृम्भते धीः।
तत्कार्यमेतत्त्रितयं यतो मृषा दृष्टं भ्रमस्वप्नमनोरथेषु ॥३५०॥

अर्थ—अग्नि के संयोग से जैसे लोहे में दाहकत्व मिथ्या है, उसी प्रकार आत्मा के संयोग से बुद्धि चेतनीभूत होकर माता मिति मेय त्रिपुटी रूप से अनेक आकार होती है। यह त्रिपुटी उस बुद्धि का ही कार्य है, इसलिये मिथ्या है; क्योंकि भ्रम स्वप्न और मनोरथ के समय इसकी प्रतीति का मिथ्यात्व स्पष्ट देखा जाता है।

व्याख्या—**अग्नियोगात् अयः इव**—अग्नि के सम्पर्क से जैसे लोहे में दाहकत्व प्रतीति होती है, पर वास्तव में दाहकत्व अग्नि की शक्ति है, लोहे की नहीं, लोहे का दहन-सामर्थ्य मिथ्या है; वैसे ही **सत्समन्वयात्**—परमात्मा के प्रतिफलन सम्बन्ध से, परमात्मा की शक्ति से चेतनीभूत होकर **धीः**—बुद्धिवृत्ति **मात्रादि रूपेण**—माता, मिति मेय, त्रिपुटी रूप से **विजृम्भते**—ज्ञाता-चिदाभास, ज्ञेय-दृश्यरूप तथा ज्ञाता ज्ञेय के संयोग से ज्ञेय का ज्ञान, इस प्रकार अनेकाकार होती है। आत्मा में जीव भ्रान्ति मिथ्या है, 'तद्वद्ब्रह्मणि जीवत्वम् भ्रान्त्या पश्यति न स्वतः' इति श्रुतिः। योगशिखोपनिषद ॥१३॥ब्रह्म में जीवभाव भ्रान्ति से देखता है। **तत्कार्यमेतत्**—बुद्धिवृत्ति का कार्य यह **त्रितयम्**—त्रिपुटी रूप, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयरूप दृश्य **मृषा**—मिथ्या है, त्रिपुटी का कारण बुद्धि और बुद्धि का कार्य त्रिपुटी मिथ्या हैं। **यतः**—क्योंकि **भ्रम-स्वप्न-मनोरथेषु दृष्टम्**—भ्रान्ति-अवस्था में वास्तविक दृश्य नहीं भासता, कुछ का कुछ भासता है, स्वप्नावस्था में जाग्रत् जगत का अभाव सबके अनुभवसिद्ध है, ऐसे ही मनोरथों की रंगीन कल्पनाओं में प्रत्यक्ष जगत का भान नहीं होता। दुष्यन्त के ध्यान में शकुन्तला को योगिराज दुर्वासा की उपस्थिति का भान नहीं हुआ। त्रिपुटी के ही अभाव होने से ये मृषा हैं, सत्य का अभाव नहीं होता ॥३५०॥

ततो विकाराः प्रकृतेरहमुखा देहावसाना विषयांश्च सर्वे ।
क्षणेऽन्यथाभावितया ह्यमीषामसत्त्वमात्मा तु कदापि नान्यथा ॥३५१॥

अर्थ––इसलिये प्रकृति के विकार अहंकार से लेकर देहतक तथा सब विषय क्षण-क्षण में बदलनेवाले होने से असत्य हैं । आत्मा तो कभी नहीं बदलता ।

व्याख्या––**ततः**–बुद्धि और बुद्धि का कार्य त्रिपुटी, इनके मिथ्या होने से **प्रकृतेः**–अविद्या के **विकाराः**–विकार, परिणाम **अहंमुखाः देहावसानाः**–अहंकार से लेकर स्थूलदेहपर्यन्त, तथा **सर्वे विषयाः च**–शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध पंच विषय 'च' से इन विषयों को ग्रहण करनेवाली ज्ञानेन्द्रियां समझनी चाहियें **क्षणे**–क्षण में **अन्यथाभावितया**–जैसे पहले थे वैसे न रहने से, परिवर्तननील होने से **हि**–निश्चय ही **अमीषाम्**–प्रकृति के विकारों का **असत्त्वम्**–मिथ्यात्व है । **आत्मा तु**–आत्मा तो **कदापि**–कभी भी **अन्यथा न**–अपने स्वरूप को नहीं त्यागता, न पैदा होता है, न बढ़ता है न घटता है, न परिणाम को प्राप्त होता और न नष्ट होता है, क्योंकि आत्मा नित्यरूप, एकरस, निर्विकार निष्क्रिय है, 'अजो नित्यः' इति श्रुतिः ।।३५१।।

अब इस श्लोक के चतुर्थ चरण को खोलते हैं ।

नित्याद्वयाखण्डचिदेकरूपो, बुद्ध्यादिसाक्षी सदसद्विलक्षणः ।
अहंपदप्रत्ययलक्षितार्थः, प्रत्यक्सदानन्दघनः परात्मा ॥३५२॥

अर्थ––(वह परमात्मा कैसा है?) 'अहं' पद की प्रतीति से लक्षित होता है । नित्य अद्वितीय अखण्ड, चैन्यस्वरूप, बुद्धि आदि का साक्षी, सत्-असत् से भिन्न प्रत्यक् आत्मा, सदा आनन्दमूर्त्ति परमात्मा है ।

व्याख्या––प्रकृति के विकारों से भिन्न वह आत्मा कैसा है? **नित्य**–त्रिकाल अबाध्य **अद्वय**–द्वैतरहित, एकसत्ता वाला, **अखण्ड**–निरवयव निष्कल, त्रिविधपरिच्छेद रहित **चिदेकरूपः**–चित्, बोध, वही है एकरूप शरीर जिसका चिदेकरूप **बुद्ध्यादि साक्षी**–बुद्धि यहाँ उपलक्षण रूप से है, अन्तःकरण, आदि पद से ज्ञानकर्मेन्द्रियां प्राण ग्रहण करने चाहियें, उन सबका साक्षी, दृष्टा **सत्-असत्-विलक्षणः**–अविद्या तथा उसके कार्य से भिन्न **अहंपदप्रत्यय-लक्षितार्थः**–'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य में कहे हुए 'अहम्' शब्द का आश्रय, जिसके स्वरूप का ज्ञान शब्द की लक्षणावृत्ति से होता है **प्रत्यक्**–सर्वान्तर आत्मा **सदानन्दघनः**–

नित्यानन्दमूर्ति, ऐसा **परात्मा**–परमात्मा है। 'परमः कः आत्मा?' इस प्रश्न का यह उत्तर है ।।३५२।।

अब उपसंहार करते हैं। आत्मा-अनात्मा विवेक से असत् से निवृत्ति।

इत्थं विपश्चित्सदसद्विभज्य, निश्चित्य तत्त्वं निजबोधदृष्ट्या ।
ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डबोधं, तेभ्यो विमुक्तःस्वयमेव शाम्यति ।।३५३।।

अर्थ—इस प्रकार विद्वान् सत् और असत् का विभाग करके अपनी विवेक-दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का निश्चय करके और अखण्डबोध-स्वरूप आत्मा का दर्शन कर असत् पदार्थों से मुक्त होकर स्वयं ही तूष्णीपद को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**इत्थम्**–इस प्रकार मनन करके, यहाँ मनन प्रकरण पूरा होता है. और इसके उपरान्त ध्यान समाधि का विषय आरम्भ करेंगे **विपश्चित्**-विद्वान्, 'श्रुतिप्रमाणः परमार्थदर्शी मुमुक्षुः' **सत्-असत् विभज्य**–आत्मा और अनात्मा का विभाजन करके, उनका भेद समझकर, आत्मा को अविनाशी, तथा 'नित्याद्वया-खण्डचिदेकरूपः बुद्ध्यादि साक्षी' से आरम्भ होने वाले श्लोक में संक्षेप से जो आत्मा का स्वरूप वताया है,वैसा जानकर, तथा अनात्मक वस्तुओं को असत् मानकर जैसा कि ' ततो विकाराः प्रकृतेः अहंमुखाः' आदि वाले श्लोक में संक्षेप से निरूपण किया है **निज बोधदृष्ट्या**–आत्मा अनात्मा के विभाजन से जो विवेक हुआ, उस विवेक दृष्टि से **तत्त्वम् निश्चित्य**–आत्मा के स्वरूप का श्रुति,युक्ति से निश्चय करके, तत्पश्चात् **स्वमात्मानम्**–अपने को आत्मा **अखण्डबोधम्**–नित्यज्ञानरूप आत्मा **ज्ञात्वा**–अनुभव से जानकर, साक्षात्कार करके **तेभ्यः**–उनसे, अनात्म वस्तुओं से, ' ततो विकाराः प्रकृतेरहंमुखा देहावसाना विषयाश्च सर्वे' इन असत् वस्तुओं से **विमुक्तः**–विशेषरूप से छूटा हुआ, इनमें आत्मबुद्धिरहित हुआ **स्वयमेव शाम्यति**–स्वतः ी, विना प्रयत्न के आवरण और विक्षेप रहित होकर तूष्णीपद, मौनता को प्राप्त होता है ।।३५३।।

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूडामणिः' पर पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा 'सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' का मनन नाम तीसरा प्रकरण समाप्त।

४—समाधि प्रकरण—

समाधि वेदान्त का क्रियात्मक अंग है। परमात्मा के तीव्र ध्यानवल से मनोमल दहन करके वृत्ति को सूक्ष्म बनाया जाता है। शुद्ध स्थिर वृत्ति सूक्ष्म होने पर अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति हो जाती है, और ब्रह्म को विषय करती है। निर्विकल्प समाधि में ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। पहले सविकल्प समाधि लगती है। सविकल्प समाधि को निदिध्यासन भी कहते हैं। निदिध्यासन की परिपक्वावस्था का नाम निर्विकल्प समाधि है। यहाँ वेदान्त प्रक्रिया का उपसंहार है। इस प्रकरण में भी अध्यात्मोपनिषद के मंत्र हैं।

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा।
समाधिनाविकल्पेन यदाद्वैतात्मदर्शनम् ॥३५४॥

अर्थ—जब निर्विकल्प समाधि में अद्वैत आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, तब हृदय की अज्ञानग्रंथि का निःशेष नाश होता है।

व्याख्या—**यदा**-जब **अविकल्पेन समाधिना**—निर्विकल्प समाधि से **अद्वैतात्मदर्शनम्**—निर्भेद परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है **तदा**-तब, उससे पहले नहीं **अज्ञानहृदयग्रन्थेः**—हृदय में जो अज्ञान की ग्रंथि है, उसका **निःशेषविलयः**—पूर्णरूप से नाश होता है। चैतन्य आत्मा का जडबुद्धि के साथ जो तादात्म्य सा है, वही अज्ञान ग्रंथि है, यद्यपि यह चिज्जड़ग्रंथि मिथ्या और कल्पित है, तो भी विना ब्रह्मसाक्षात्कार के नहीं टूटती।

समाधि दो प्रकार की होती है, एक सविकल्प, दूसरी निर्विकल्प। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय रूप जो त्रिपुटी है उसके सहित अन्तःकरण की वृत्ति की स्थिति सविकल्प समाधि कहलाती है। सविकल्प समाधि में त्रिपुटी का भान रहता है, पर उसका ब्रह्मरूप

से ही भान होता है। सविकल्प समाधि का अभ्यास होने पर उसके फलरूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। निर्विकल्प समाधि में भी त्रिपुटी, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय रहती तो है, पर उसका भान नहीं होता, वृत्ति का विस्मरण होता है।

सुषुप्ति और निर्विकल्प समाधि का भी भेद समझना चाहिये। सुषुप्ति में अन्तःकरण की ब्रह्माकारवृत्ति नहीं बनती, और अन्तःकरण का अपनी वृत्ति सहित अभाव हो जाता है, और वह अज्ञान में लीन हो जाता है। निर्विकल्प समाधि में अन्तःकरण का ब्रह्माकार वृत्ति सहित अभाव नहीं होता, अप्रतीति होती है। अन्तःकरण का अभाव होने पर तो साधक निद्रालु की तरह गिर पड़ेगा ।।३५४।।

निर्विकल्प समाधि से ही चिज्जड़ग्रंथि टूटती है, और सर्वविकल्पों का नाश होता है।

त्वमहमिदमितीयं कल्पना बुद्धिदोषात्, प्रभवति परमात्मन्यद्वये निर्विशेषे।
प्रविलसति समाधावस्य सर्वो विकल्पो, विलयनमुपगच्छेद्वस्तुतत्त्वावधृत्या ।।३५५।।

अर्थ—अद्वितीय और निर्विशेष परमात्मा में बुद्धि के दोष से 'तू, मैं, यह'—भेदकल्पना होती है। निर्विकल्प समाधि के खिलने पर आत्मतत्त्व के यथार्थ अवधारण होने पर विद्वान् का सर्वविकल्प निवृत्ति को प्राप्त होता है।

व्याख्या—असंग परमात्मा में द्वैत कहाँ से आया, यह शंका करके कहते हैं **बुद्धिदोषात्**—बुद्धि के साथ आत्मा के तादात्म्यदोष से, माया की आवरण शक्ति से मोहित सा हुआ आत्मा अपने को जीव समझता है, और विक्षेप शक्ति के प्रभाव से **त्वम्-अहम्-इदम् इति इयम् कल्पना प्रभवति**—'तू', 'मैं'—'यह जगत्' इस प्रकार यह भेदकल्पना उत्पन्न होती है, कहाँ? **अद्वये निर्विशेषे परात्मनि**—अद्वैत, सर्व विशेषताओं से रहित, निर्धर्मक, सर्वलक्षणातीत परमात्मा में। यदि आत्मा मोहवश बुद्धि के धर्मों को अपने में आरोपण सा न करे, तो असंग परमात्मा में द्वैत कैसे हो सकता है, यह सब माया की कुशलता है, 'अघटितघटनापटीयसी माया', जो घटना किसी प्रकार भी नहीं हो सकती, उसके घटाने में माया कुशलहस्ता है। यह द्वैत निवृत्त कैसे हो, इस पर कहते हैं, **अस्य**—विद्वान का **समाधौ प्रविलसति**—निर्विकल्प समाधि खिलने पर **वस्तुतत्त्वावधृत्या**—आत्मा के स्वरूप के यथार्थ अवधारण से ब्रह्माकारवृत्ति उदय होने से **सर्वः विकल्पः**—समस्त भेदकल्पना, सर्व विकार, समस्त द्वैत **विलयनम्**—निवृत्ति को **उपगच्छेत्**—प्राप्त होता है ।।३५५।।

सर्वात्मभाव की प्राप्ति निर्विकल्प समाधि में होती है।

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधि
कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम् ।
तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान्
ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः ।।३५६।।

अर्थ—चित्तशमन, इन्द्रियनिग्रह, विषयों से उपरति और तितिक्षा से युक्त होकर संन्यासी समाधि का निरन्तर अभ्यास करता हुआ अपने सर्वात्मभाव का अनुभव करता है। उसके द्वारा अविद्या-रूप अन्धकार से उत्पन्न हुए समस्त विकल्पों का भलीभांति ध्वंस करके निष्क्रिय और निर्विकल्प होकर आनन्दपूर्वक ब्रह्माकार-वृत्ति से रहता है।

व्याख्या—अब समाधि के साधन और उसका फल बताते हैं। **शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः**—निग्रहीत मन, निरुद्ध बाह्येन्द्रिय, परम उपरति तथा तितिक्षा, सुख दुःख सहिष्णुता आदि षट् सम्पत्ति से युक्त **समाधिम्**—निर्विकल्प समाधि को, निर्विशेष ब्रह्म में **नित्यम् कुर्वन्**—निरन्तर चित्त स्थापन करते हुए **यतिः**—संन्यासी **स्वस्य**—निज स्वरूप का **सर्वात्मभावम्**—केवलीभाव, मेरा ही आत्मा समस्त विश्व का आत्मा है, समस्त विश्व मुझ आत्मा में ही अध्यस्त है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है **कलयति**—अनुभव करता है। शमदमादि साधनों से युक्त संन्यासी समाधि अवस्था प्राप्त करता है, समाधि का एक फल है सर्वात्मभाव की सिद्धि। दूसरा फल बताते हैं **तेन**—उस निर्विकल्प समाधि से **अविद्यातिमिरजनितान्**—अविद्या ही है अन्धकार, उससे उत्पन्न हुए **विकल्पान्**—नामरूप भेदों को, कल्पनाओं को **साधु दग्ध्वा**—सम्यक् प्रकार से भस्मीभूत करके, और इस प्रकार **निष्क्रियः**—क्रिया रहित, सर्वकर्तव्यरहित **निर्विकल्पः**—अद्वैत, सर्वकल्पनाशून्य **ब्रह्माकृत्या**—ब्रह्मरूप से, ब्रह्माकारवृत्ति से **सुखम् वसति**—आनन्दविभोर रहता है। अध्यात्मोपनिषद में ऐसा कहा है। 'अनादाविह संसारे संचिता कर्मकोटयः। अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ।।३७।। धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः। वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्रशः ।।३८।। अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलीयते। समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ।।३९।। वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षाव-भासिते, करामलकवद्बोधम् अपरोक्षं प्रसूयते ।।४०।। इस अनादि संसार में करोड़ों संचित कर्म, निर्विकल्प समाधि से नष्ट हो जाते हैं, शुद्ध धर्म बढ़ता है। योगवेत्ताओं में श्रेष्ठ निर्विकल्प समाधि को धर्ममेघ कहते हैं, यह धर्मामृत की

सहस्रों धारायें वरसाता है। यह समाधि बासनाजाल का नाश करती है। पुण्यपाप कर्मसंचय के नष्ट होने पर प्रतिवन्धरहित महावाक्य परोक्ष रूप से प्रतीत होने वाले अपने स्वरूप का हाथ में रक्खे हुए आंवले की तरह प्रत्यक्ष साक्षात्कार करा देता है ।।३५६।।

निर्विकल्प समाधि से ही भवपाशवन्धों से मुक्ति ।

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं, श्रोत्रादि चेतः स्वमहं चिदात्मनि ।
त एव मुक्ता भवपाशबन्धै र्नान्ये तु पारोक्ष्यकथाभिधायिनः ।।३५७।।

अर्थ—जो विद्वान् श्रोत्रादि वाह्य इन्द्रियवर्ग तथा चित्त और अहंकार आन्तरिक करण इन वस्तुओं को प्रकाशरूप आत्मा में लीन करके समाधि में स्थित होते हैं वे ही संसार-वन्धन से मुक्त हैं। जो केवल परोक्ष ब्रह्मज्ञान की वातें करते हैं वे कभी मुक्त नहीं हो सकते ।

व्याख्या—**ये**—जो विद्वान् **श्रोत्रादि बाह्यम्**—कान, आदि पद से अन्य ज्ञानेन्द्रियां कर्मेन्द्रियां तथा गगनपवनादि पंचभूत ग्रहण करने चाहियें, ये सव बाह्य हैं, इनको और अन्तर में **चेतः**—मन **स्वम्**—स्वकीय **अहम्**—अहंकार को, अनात्मबुद्धि को **चित्-आत्मनि**—बोधरूप मुख्यात्मा में, स्वस्वरूप में; ज्ञानकर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण चतुष्टय, तथा वाह्य जगत सब ब्रह्ममय है, आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मरूप ही हैं; **प्रविलाप्य**—डूबो कर, मग्न करके, इन सबको ब्रह्मरूप से अवलोकन करके, आत्मा से भिन्न न जानकर **समाहिताः**—निर्विकल्प समाधि में स्थिर हैं, ब्रह्माकार वृत्ति से स्थित है मन जिनका **ते एव**—वे ही पुरुषधौरेय **भवपाशबन्धैः**—पाश की तरह संसार वन्धनों से, भ्रमों से **मुक्ताः**—छुटकारा पाते हैं **न तु अन्ये**—दूसरे नहीं, निर्विकल्प समाधिस्थों को छोड़कर संसारानुरागी पुरुष नहीं, **पारोक्ष्यकथाभिधायिनः**—परोक्ष की कथा कहनेवाले, श्रवण से जिनको ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान हुआ हो, ब्रह्माकार वृत्ति में जो आरूढ़ नहीं हैं, ऐसे ब्रह्मवार्ता में कुशल पुरुष मुक्त नहीं होते ।।३५७।।

भेदज्ञान का कारण उपाधि है, उपाधि का लय निर्विकल्प समाधि से होता है।

उपाधियोगात्—पाठ-भेद

उपाधिभेदात्स्वयमेव भिद्यते चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः ।
तस्मादुपाधेर्विलयाय विद्वान्वसेत्सदाकल्पसमाधिनिष्ठया ।।३५८।।

अर्थ—उपाधि के भेद से ही आत्मा में नानात्व सा होता है। और उपाधि का लय हो जानेपर वह शुद्ध परमात्मा स्वयं ही रह जाता है। इसलिये

उपाधि का लय करने के लिये विचारवान पुरुष सदा निर्विकल्प-समाधि में स्थित होकर रहे।

व्याख्या—उपाधिभेदात् स्वयमेव भिद्यते—उपाधि के मिथ्या संयोग से परमात्मा ही उन-उन उपाधियों के धर्म अपने में आरोपण करके नाना नाम आकार वाला हो जाता है, जीव की उपाधि अविद्या अथवा पंचकोश, ईश्वर की उपाधि माया, इन उपाधियों की भिन्नता के कारण वही परमात्मा जीव और ईश्वर में विभक्त सा हो जाता है, वास्तव में नहीं **च**—और **उपाधि-अपोहे**—उपाधि के वाध करने से **स्वय-मेव केवलः**—जीव और ईश्वर रूप धारण करने वाला परमात्मा उपाधि निषेध से शुद्ध अद्वितीय ब्रह्म स्वयं रहता है, इसलिये नानात्व का कारण उपाधि है।

तस्मात्-अतः **विद्वान्**—विचारशील मुमुक्षु **उपाधेः विलयाय**—उपाधि को विलीन करने के लिये, ब्रह्म से अभिन्न जानने के लिये **सदा**—निरन्तर **अकल्पसमाधिनिष्ठया वसेत्**—निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर रहे। निर्विकल्प समाधि धर्ममेघ है, सहस्रों अमृत धारायें वरसाता है, जिसके फलस्वरूप आवरण विक्षेप सब नष्ट हो जाते हैं ॥३५८॥

तीव्र ध्यान से जैसे कीट को भ्रमरत्व प्राप्ति होती है, उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि में परमात्मभाव की प्राप्ति होती है, दो श्लोकों में।

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥३५९॥

अर्थ—एकाग्रचित्त से निरन्तर ब्रह्म में ध्यानस्थ रहने से मनुष्य ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, जैसे भ्रमर का भय से ध्यान करते-करते अन्य जाति का कीड़ा भ्रमर-स्वरूप हो जाता है।

व्याख्या—हि—क्योंकि **एकनिष्ठया**—एक निष्ठा से, अन्य अविषयक वृत्ति से, संशयादिरहित **सति**—ब्रह्म में **सक्तः**—समाहित, ध्यानस्थ हुआ **नरः**—नरपुंगव **सद्-भावम्**—ब्रह्मभाव को **याति**—प्राप्त होता है। यहाँ दृष्टान्त देते हैं। भ्रमर किसी अन्य जाति के कीड़े को अपनी कुटी में लाकर उसको डंक मारता है और घूं घूं करके उसके चारों ओर उड़ता है, वह **कीटकः**—भ्रमरभिन्न जाति का छोटा कीड़ा **भ्रमरम् ध्यायन्**—भयभीत हुआ एक टक भ्रमर का ध्यान करता हुआ, ध्यान की महिमा से

भ्रमरत्वाय कल्पते—भ्रमरत्व को प्राप्त होता है, अपना स्वरूप त्याग कर भ्रमररूप हो जाता है ॥३५९॥

इसी भाव को करुणामय श्रीगुरु फिर विशद करते हैं।

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको, ध्यायन्यथालिं ह्यलिभावमृच्छति।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं, ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया ॥३६०॥

अर्थ—जिस प्रकार अन्य समस्त भावनाओं को त्याग कर केवल भ्रमर का ही ध्यान करते-करते कीड़ा भ्रमररूप हो जाता है उसी प्रकार विद्वान एकनिष्ठ होकर परमात्मतत्त्व का चिन्तन करते-करते परमात्मभाव को ही प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—**क्रियान्तर-आसक्तिम् अपास्य**—अन्य क्रियाओं में आसक्ति त्याग कर, विक्षेपरहित वृत्ति से, एकाग्र चित्त से **कीटकः**—भ्रमरभिन्न कीट **यथा**—जैसे **अलिम्**—भौंरे को **ध्यायन्**—ध्याता हुआ, भय से भ्रमर का ही एकनिष्ठ ध्यान करता हुआ **हि अलिभावम् ऋच्छति**—निश्चय ही भ्रमरस्वरूपको प्राप्तहोता है, **तथा एव**—उसी प्रकार **योगी**—विद्वान **तत्**—परमात्मा को, ब्रह्माभिन्न अपने स्वरूप को **एकनिष्ठया**—संशयविपरीतभावना रहित एकाग्रचित्त से **ध्यात्वा**—ध्यान करता हुआ **परमात्म-तत्त्वम्**—परमात्मा स्वरूप के साथ अपने स्वरूप की एकता को **समायाति**—प्राप्त होता है। इन दो श्लोकों में ध्यान का प्रखर प्रभाव दिखाया गया है ॥३६०॥

आत्मसाक्षात्कार के लिये समाधि की क्यों आवश्यकता है।

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं, न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति।
समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या, ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ॥३६१॥

अर्थ—परमात्म-तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, वह स्थूल वृत्ति से प्राप्त होने योग्य नहीं। इसलिये अति शुद्ध बुद्धिवाले सत्पुरुषों को उसे समाधिद्वारा अति सूक्ष्मवृत्ति से जानना चाहिये।

व्याख्या—**अतीव सूक्ष्मम्**—अत्यन्त निर्गुण होने से सूक्ष्म, मन वाणी का अविषय **परमात्मतत्त्वम्**—परमात्मा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, सर्वान्तिर तथा सर्वाधिष्ठान होने से, अतएव **स्थूलदृष्ट्या**—द्वैत का विषय करनेवाली स्थूलवृत्ति से, रागद्वेषभाराक्रान्त वृत्ति से, विषयाभिमुख विक्षिप्त वृत्ति से **प्रतिपत्तुम्**—प्राप्त होने में, ग्रहण करने में **न अर्हति**—समर्थ नहीं, योग्य नहीं, इसलिये **अतिशुद्धबुद्धिभिः**

आर्यैः—अतिशुद्धबुद्धि, निर्मल अन्तःकरण वालों से, श्रेष्ठ पुरुषों से, कर्मकाण्ड और उपासना से जिनके पाप नष्ट हो गये है और बुद्धि शुद्ध और स्थिर हो गई है, ऐसे आर्य, मुमुक्षु पुरुषों से **समाधिना**—निर्विकल्प समाधि से **अत्यन्त-सूक्ष्मवृत्या**—कर्म काण्ड से शुद्ध, उपासना से स्थिर, तथा श्रवण मनन से सूक्ष्म, निदिध्यासन से अति सूक्ष्म हुई अखण्डाकार ब्रह्माकारवृत्ति से **ज्ञातव्यम्**—साक्षात्कार, विषय किया जाता है। 'दृश्यते त्वग्र्‌या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रुतिः ।।३६१।।

ध्यान से मनोमलदहन।

यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं, त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं, ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम् ॥३६२॥

अर्थ——जैसे अग्नि में पुटपाकविधि से शोधा हुआ सोना खोट को त्यागकर अपनी स्वाभाविक कान्ति को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार मन ध्यानबल से सत्त्व-रज-तमरूप मल को त्याग कर आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है।

व्याख्या——**यथा सुवर्णम्**—जैसे सोना **पुटपाकशोधितम्**—अग्नि में डालकर द्रव्य विशेषों के पुट से शोधित हुआ **मलम् त्यक्त्वा**—खोट को, अस्वर्ण भाग को त्याग कर **स्वात्मगुणम्**—स्वकीय गुण को, शुद्ध स्वरूप को, निर्मलता, स्वाभाविक कान्ति को **समृच्छति**—प्राप्त होता है **तथा**—वैसे ही **ध्यानेन**—निदिध्यासन से, तैलधारावत् ब्रह्माभ्यास से **मनः**—अन्तकरण **सत्त्वरजःतमोमलम्**—सत्व से रजोगुण का नाश करके, रज से तमोगुण का नाश करके और शुद्ध सत्त्वगुण से मलिन सत्वगुण का नाश करके, ये तीनों गुण ही वृत्ति के विक्षेप अथवा स्थूलता हैं, त्रिगुण मल को **सन्त्यज्य**—त्याग कर, शुद्ध चिन्मात्र **तत्त्वम्**—निर्विकल्प समाधि में आत्मतत्त्व को **समेति**—प्राप्त होता है। 'स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' गीता १४।२६।, वह इन गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्म होने में समर्थ होता है। कोटि सूर्यों के समान तेज सम्पन्न परमात्मा के सान्निध्य में गया मन उसके महाप्रकाश से, अग्नि में डाले हुए लोहे के समान, प्रकाशित हो उठता है, और उस प्रकाश में उसके मल दग्ध हो जाते हैं ।।३६२।।

शुद्ध हुआ मन ही निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करता है।

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं, पक्वं मनो ब्रह्मणि लीयते यदा ।
तदा समाधिः स विकल्पवर्जितः, स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः॥३६३॥

अर्थ—इस प्रकार जब रात-दिन के निरन्तर अभ्यास से शुद्ध होकर मन ब्रह्म में लीन हो जाता है तब अनायास ही अद्वितीय ब्रह्मानन्दरस का अनुभव करानेवाली वह निर्विकल्प-समाधि सिद्ध हो जाती है।

व्याख्या—**इत्थम्**—इस प्रकार **यदा**—जब **निरन्तर-अभ्यासवशात्**—सविकल्प समाधि के दीर्घकाल के अभ्यास से **तत् पक्वम् मनः**—वह पका हुआ मन, सत्त्व-रज-तममलरहित, विशुद्धसत्त्वगुणप्रधान मन **ब्रह्मणि**—ब्रह्म के प्रकाश में **लीयते**—लय हो जाता है, ब्रह्माकार हो जाता है **तदा**—उसके उपरान्त **स्वतः**—विना प्रयत्न के **अद्वयानन्द-रसानुभावकः**—निरुपम विलक्षण ब्रह्मानन्द के रस का अनुभव उत्पादन करनेवाला **विकल्पवर्जितः**—अहमादि सकल वासनाक्षयहेतु **सः समाधिः**—वह निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। इस समाधि में वृत्ति का विस्मरण हो जाता है ॥३६३॥

निर्विकल्प समाधि से समस्तवासनाक्षय तथा अखिलकर्मनाश सिद्ध होता है।

समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥३६४॥

अर्थ—इस निर्विकल्प-समाधि से समस्त वासना-ग्रन्थियों का नाश हो जाता है तथा सम्पूर्ण कर्मों का भी नाश हो जाता है और फिर वाहर-भीतर सर्वत्र विना प्रयत्न के ही सब काल में स्वरूप की स्फूर्ति होने लगती है।

व्याख्या—अब निर्विकल्प समाधि के तीन फल बताते हैं। **अनेन समाधिना**—इस निर्विकल्प समाधि से, प्रत्यक्ष आत्मदर्शन से, क्या होता है? एक तो **समस्तवासना-ग्रंथेः विनाशः**—समस्त शुभ अशुभ वासनाओं की गाँठ टूट जाती है, नष्ट हो जाती है, देह-लोक-शास्त्र वासना ये तीन अशुभ वासनायें हैं, और परमात्मवासना, यह चौथी शुभ वासना है, इन सब वासनाओं का अत्यन्त नाश हो जाता है, दूसरे **अखिल-कर्मनाशः**—समस्त कर्म, प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं, वर्तमान शरीर आरम्भक कर्म प्रारब्ध, भाविशरीरारम्भक कर्म संचित, वर्तमान शरीर से किये जानेवाले कर्म क्रियमाण कहे जाते हैं, इन सबका नाश होता है, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' गीता ४।३३, ज्ञान में सकल कर्म समाप्त हो जाते हैं।

और तीसरे **अन्तर्**—भीतर पंचकोशों में **बहिः**—इहलोक परलोकों में **सर्वतः एव**—ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-वायें, चारों ओर सर्वदेश में **सर्वदा**—सर्वकाल में,

भूत-वर्तमान-भविष्यत् में, अथवा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में **स्वरूपविस्फूर्तिः**—स्वरूप की स्फुरणा, आत्मा का विलास, आनन्द की वाढ़ **अयत्नतः**—विना यत्न किये ही **स्यात्**—होती है, आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। 'भिद्यते हृदयग्रंथि शिछद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।' **मुण्डक** २।२।८, इस श्रुतिः का उपर्युक्त श्लोक अर्थ है ।।३६४।।

अब श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि का उत्तरोत्तर महत्व वताते हैं।

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ।।३६५।।

अर्थ—वेदान्त प्रक्रिया के श्रवण की अपेक्षा उसका मनन करना सौगुना फलवाला है और मनन से भी लाखगुना अधिक फलवाला निदिध्यासन है। निदिध्यासन से भी अनन्तगुना फल निर्विकल्प-समाधि का है।

व्याख्या—ज्ञानसाधनों का आपेक्षिक मूल्यांकन करते हैं। **श्रुतेः**—वेदान्त प्रक्रिया के श्रवण की अपेक्षा से **मननम्**—मनन **शतगुणम्**—सौगुना फलवाला **विद्यात्**—होता है, **मननात्**—श्रवण किये हुए के मनन की अपेक्षा से **अपि**—भी **निदिध्यासम्**—निदिध्यासन, सविकल्प समाधि **लक्षगुणम्**—लाखगुना अधिक फल वाला होता है, **निर्विकल्पकम् अनन्तम्**—और निर्विकल्प समाधि का फल अनन्त होता है, उसका अनुमान ही नहीं हो सकता, क्योंकि निर्विकल्प समाधि से परमार्थ की प्राप्ति होती है, और उस लाभ से वढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है। 'मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते' सैकड़ों कोटि जन्मों में किये हुए पुण्यों के विना मोक्ष सिद्ध नहीं होता। मानव पुरुषार्थ की चरम सीमा निर्विकल्प समाधि है ।।३६५।।

निर्विकल्प समाधि में ही ब्रह्मतत्त्व का प्रत्यक्ष ज्ञान-लाभ होता है।

निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं, ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।
नान्यथा चलतया मनोगतेः, प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।३६६।।

अर्थ—निर्विकल्प समाधि से अचल ब्रह्मतत्त्व का निश्चय ही स्पष्ट अनुभव होता है; और किसी प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि चलायमान मनोवृत्ति में अन्योन्य प्रतीतियों का मेल रहता है।

व्याख्या—निर्विकल्प समाधि क्यों आवश्यक है? **निर्विकल्पसमाधिना ध्रुवम् ब्रह्मतत्त्वम्**—निर्विकल्प समाधि से अचल, सर्वव्यापी ब्रह्म का स्वरूप **स्फुटम्**—प्रत्यक्ष, करतलगतामलकवत् **अवगम्यते**—अनुभव में आता है, **अन्यथा न**—अन्य प्रकार से अनुभव में नहीं आता। उसका कारण वताते हैं। **चलतया मनोगतेः**—चलायामान मन की गति से **प्रत्ययान्तरविश्रितम् भवेत्**—,द्वैतविषयों का सांकर्य हो जाता है, दूसरी अनुभूतियों का मिश्रण हो जाता है। जैसे पूर्व में कहा है 'अतीव सूक्ष्मम् परमात्मतत्त्वम् न स्थूलदृष्टया प्रतिपत्तुमर्हति।' इसलिये आत्मसाक्षात्कार के लिये एकाग्र अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति चाहिये, जो कि निर्विकल्प समाधि में ही वन सकती है, अन्यथा नहीं ॥३६६॥

साधक के लिये निर्विकल्प समाधि कर्तव्यता है।

अन्य - हमेशा - पाठभेद

अतः समाधत्स्व यतेन्द्रियः सदा, निरन्तरं शान्तमनाः प्रतीचि।
विध्वंसय ध्वान्तमनाद्यविद्यया, कृतं सदेकत्वविलोकनेन ॥३६७॥

अर्थ—इसलिये सदा जितेन्द्रिय होकर शान्त मन से निरन्तर प्रत्यगात्मा में चित्त स्थिर करो। जीव ब्रह्म की एकता के सदा दर्शन से अनादि अविद्या से उत्पन्न अज्ञानान्धकार का निःशेष नाश करो।

व्याख्या—**अतः**—इसलिये ब्रह्म का स्फुट अवगमन करने के लिये **सदा यतेन्द्रियः**—सदा निगृहीत इन्द्रियवाला होकर **शान्तमनाः**—विक्षेपरहित मनवाला होकर, मनोनिग्रह करके विषय-चिन्तन को अवकाश न देकर **निरन्तरम्**—दीर्घकाल तक **प्रतीचि**—ब्रह्म में **समाधत्स्व**—मन को स्थापन करो। दूसरे **सदा**—प्रमाद रहित होकर **एकत्वविलोकनेन**—जीव ब्रह्म की एकता के दर्शन करने से, आत्मसाक्षात्कार से **अनादि-अविद्यया**—अनादि अज्ञान से, सकलसंसार कारणभूता अविद्या से **कृतम्**—कल्पित किये हुए **ध्वान्तम्**—अन्धकार को, स्वरूप तिरोहन को **विध्वंसय**—निःशेष नाश करो। यहाँ शिष्य को दो उपदेश दिये हैं। आत्मसाक्षात्कार के लिये समाधि कर, समाधि से अविद्या का नाश कर ॥३६७॥

समाधि की कर्तव्यता वताकर अव उसके उपाय वताते हैं।

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥३६८॥

अर्थ—वाणी को रोकना,भोग सामग्री का असंग्रह, लौकिक भविष्य का अचिंतन कामनाओं का त्याग करना और नित्य एकान्त में रहना—ये सब योग के प्रथम प्रवेश द्वार हैं।

व्याख्या—**योगस्य**—समाधि योग का 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्' १।२-३, पातंजलयोगदर्शन। चित्तवृत्तियों का निरोध योग है, तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है, अर्थात् निर्विकल्प समाधि लग जाती है, समाधियोग का **प्रथमम् द्वारम्**—प्रथम प्रवेशमार्ग, कारण **वाङ् निरोधः**—मौन, बोलने से वृत्तियों का फैलाव होता है, **अपरिग्रहः**—शरीर रक्षामात्र साधनों को छोड़कर, भोगसामग्री का असंग्रह, **निराशा च**—वीततृष्ण, भविष्य का अचिंतन, वैराग्य, राग से विक्षेप होता है, **निरीहा च**—स्वेच्छा से कर्मों में अप्रवृत्ति, कामनारहितता **नित्यम् एकान्तशीलता**—सदा एकान्त पुण्यदेश सेवन। समाधि योग के ये पांच कारण है,'योगी युंजीत सततमात्मानम् रहसि स्थितः। एकाकी यतचित्तात्मा निराशी-रपरिग्रहः' गीता ६।१०, ध्यान करनेवाला योगी एकान्त स्थान में अकेला स्थिर होकर अपने-अपने अन्तःकरण को ध्यान में स्थिर करे। उस योगी का मन और देह निग्रहीत रहें तथा वह तृष्णारहित एवं संग्रहरहित हो ।।३६८।।

चित्तनिरोध से निर्विकल्प समाधि।

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः
संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना।
तेनानन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी सदा योगिन-
स्तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नान्मुनेः ।।३६९।।

अर्थ—एकान्त में रहना इन्द्रिय-दमन का कारण है, इन्द्रिय-दमन अन्तःकरण के शमन का कारण है और चित्त-निरोध से वासना का नाश होता है तथा वासना के नष्ट हो जाने से योगी को ब्रह्मानन्दरसका अनुभव होता है, और अचला ब्रह्माकार वृत्ति बनती है। इसलिये मुनि को सदा प्रयत्नपूर्वक चित्त का निरोध करना चाहिये

व्याख्या—**एकान्तस्थितिः**—एकान्त देश में निवास **इन्द्रयोपरमणे**—बहिर् इन्द्रियों के नियंत्रण में **हेतुः**—कारण है, जनसमुदाय के अभाव में इन्द्रियों की चेष्टायें क्षीण हो जाती हैं, अतएव **दमः**—बाह्येन्द्रिय दमन **चेतसः संरोधे**—अन्तःकरण के निरोध का **करणम्**—साधन है, 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।'

गीता २।६०।, इन्द्रियां मन का प्रमथन करके मन के निग्रह को तोड़ देती हैं। इसलिये मनोनिग्रह के लिये इन्द्रियनिग्रह होना चाहिये। **शमेन**–अन्तःकरण के निग्रह से, वृत्तियों का विषयाभिमुख वहिर्गमन रोकने से **अहंवासना विलयम् यायात्**–अहंकार और उसके हेतु से वासना विलयता को, नाश को प्राप्त होती है।

तेन–वासना विलय से **योगिनः**–योगी को **सदा आनन्दरसानुभूतिः**–सदा निरतिशय सुख के रस का अनुभव तथा **अचला**-निश्चल, पुनः पतनभयरहित **ब्राह्मी**–ब्रह्माकार वृत्ति वनी रहेगी। जैसे पूर्व में कहा है, 'वासनाप्रक्षयो मोक्षः, सा जीवन्मुक्तिरिष्यते' **तस्मात्**–इसलिये **मुनेः**–मुनि का, मौनभाव, मोक्षपद प्राप्त करने की इच्छावाले का **प्रत्यत्नात्**–प्रयत्नपूर्वक **चित्तनिरोधः एव सततम् कार्यः**–सतत चित्त-निरोध ही कर्तव्य है ।।३६९।।

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ, बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे, विलाप्य शान्तिं परमां भजस्व ।।३७०।।

अर्थ—वाणी को मन में लय करो, मन को बुद्धि में और बुद्धि को बुद्धि के साक्षी में, तथा वुद्धि-साक्षी को निरुपाधिक पूर्णब्रह्म में लय करके परमशान्ति का अनुभव करो।

व्याख्या—अव समाधि की विधि वताते हैं। **वाचम्**–वाणी को **नियच्छ आत्मनि**–मन में लय करो, निरोध करो, अर्थता वाणी का व्यापार छोड़कर मन रूप से अवस्थान करो **तम् नियच्छ बुद्धौ**–संकल्प विकल्परूप मन को केवल निश्चयात्मिका बुद्धि में लीन करो, अर्थात् अपने को कर्ता-भोक्ता समझो, **धियम् यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि**–पुनः वुद्धि को बुद्धि के साक्षी में लय करो,अर्थात् मैं बुद्धि के कर्तृत्व भोक्तृत्व का साक्षी मात्र हूँ, बुद्धि के व्यापार मुझमें नहीं हैं, मैं बुद्धि उपाधि से ढका हुआ उसका प्रकाशक,साक्षी चैतन्यात्मा हूँ **तम् चापि निर्विकल्पे पूर्णात्मनि विलाप्य**–वुद्धि साक्षी को भी निरुपहित पूर्णात्मा में, केवल बोधमात्र में 'तत्' पद के लक्ष्यार्थ निर्गुण ब्रह्म में लय करो, ब्रह्म का साक्षी भाव भी साक्ष्य की अपेक्षा से ही है. शुद्ध ब्रह्म में साक्षित्व नहीं है, 'तत्त्वम्' पदार्थ शोधन से उपाधि का भी निराकरण कर जीव ईश्वर के बीच जो चिन्मात्र ऐक्य रहे, उसमें बुद्धि साक्षी को लय करो **परमाम् शान्तिम् भजस्व**–इस प्रकार परम पुरुषार्थ, शान्तिरूप मोक्ष का अनुभव करो। यह श्लोक कठश्रुति १।३।१३, का अर्थ है। 'यच्छेद्वांमनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान

आत्मनि ।। ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।'१।३।१३, इन्द्रियां विषयों से सूक्ष्म, मन इन्द्रियों से सूक्ष्म, बुद्धि मन से सूक्ष्म, साक्षी बुद्धि से, और शुद्ध ब्रह्म साक्षी से भी सूक्ष्म होता है। शुद्धब्रह्म साक्षी में, साक्षी बुद्धि में, बुद्धि मन में, मन विषयों में अनुगत है ।।३७०।।

जैसी वृत्ति वैसा भाव ।

देह-प्राणेन्द्रिय-मनो-बुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः ।
यैर्यैर्वृत्तेः समायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ।।३७१।।

अर्थ—देह, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियों में से जिस-जिसके साथ योगी की चित्तवृत्ति का तादात्म्य होता है उसी-उसी भाव की उसको प्राप्ति होती है।

व्याख्या— देह-प्राण-इन्द्रिय-मनो-बुद्धिचादिभिः—देह, प्राण, ज्ञानकर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि पद से कारण शरीर **यैः यैः उपाधिभिः**—जिन-जिन उपाधियों से **योगिनः**—योगी की **वृत्तेः**—वृत्ति का **समायोगः**—तादात्म्य होता है **अस्य**—उस योगी का **तत्-तत् भावः**—वही-वही भाव हो जाता है, स्थूल शरीर के साथ तादात्म्य होने से योगी अपने को स्थूल शरीर समझता है, मन से मन,कारण शरीर से कारण शरीर समझता है। 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' इति योगदर्शन १।४, दूसरे समय में (स्वरूप से विच्युत होने पर) द्रष्टा का चित्तवृत्ति के सदृश स्वरूप होता है ।।३७१।।

वृत्तिरहित चित्त से सुख मिलता है।

तन्निवृत्त्या मुनेः सम्यक्सर्वोपरमणं सुखम् ।
संदृश्यते सदानन्दरसानुभवविप्लवः ।।३७२।।

अर्थ—जब उस मुनि का चित्त इन सब उपाधियों से निवृत्त हो जाता है तो उसके लिये सब उपाधियों से असंगता के कारण निरतिशय सुख और सच्चिदानन्द रसानुभव की बाढ़ देखी जाती है।

व्याख्या—तन्निवृत्त्या—देह प्राणेन्द्रियादि उपाधियों के निवृत्त होने से, उन उपाधियों में अहंबुद्धि हटने से **मुनेः**—मुनि को **सर्वोपरमणम्**—सब दुःखरूप अनात्म वस्तु के असंग से, अप्रतीति से, उपराम से **सम्यक्**—निःसीम **सुखम्**—सुख होता है, आगे भी कहेंगे 'निवृत्तिः परमा तृप्तिः।' वासनारहितता ही परम सुख है, यह

सुख कैसा है ? **सदानन्दरसानुभवविप्लवः संदृश्यते**—नित्यानन्दरस के अनुभव की वाढ़ देखी जाती है । 'रसो वै सः' इति श्रुतिः । ब्रह्म रस है । उपाधियों के भार से सुख में जो मलिनता है, उसके दूर होने पर निरतिशय आनन्द की स्फूर्ति होती है ।।३७२।।

समाधि के साधनों में वैराग्य का प्रमुख स्थान है, इसलिये पांच श्लोकों में इसका निरूपण करते हैं । वैराग्य का कारण विवेक होने से, वैराग्य कहने मात्र से विवेक भी समझना चाहिये ।

अन्तस्त्यागो बहिस्त्यागो विरक्तस्यैव युज्यते ।
त्यजत्यन्तर्बहिःसङ्गं विरक्तस्तु मुमुक्षया ।।३७३।।

अर्थ—विरक्त पुरुष को ही आन्तरिक और वाह्य वैराग्य उपयुक्त है । वह मोक्ष की इच्छा से आन्तरिक और वाह्य आसक्ति त्याग देता है ।

व्याख्या—**विरक्तस्य एव**—विरक्त पुरुष को ही **अन्तः त्यागः**—भीतर से अहंकारादि का त्याग **बहिः त्यागः**—वाहर विषयों का त्याग **युज्यते**—उत्पन्न होता है, शोभता है, संभव होता है । **मुमुक्षया**—ब्रह्म होने की इच्छा से, कैवल्य मोक्ष की इच्छा से **विरक्तः तु**—वैराग्ययुक्त पुरुष ही **अन्तः बहिः संगम् त्यजति**—भीतर वाहर के संग, आसक्ति, अहंता ममता को त्याग देता है ।।३७३।।

बहिस्तु विषयैः सङ्गं तथान्तरहमादिभिः ।
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठितः ।।३७४।।

अर्थ—विषयों के साथ वाह्य संग और अहंकारादि के साथ आन्तरिक संग—इन दोनों का संग ब्रह्म में निष्ठा चाहनेवाला विरक्त पुरुष ही त्याग सकता है ।

व्याख्या—**बहिःतु विषयैः**—वाहर से, शब्दस्पर्शादि विषयों से, सुतदारगृहादि, इनसे **संगता**—आसक्ति, लगाव **तथा अन्तः**—वैसे ही भीतर से **अहमादिभिः**—अहंकार आदि पद से अन्तःकरण की अन्य वृत्तियां, इनमें आसक्ति **ब्रह्मणि निष्ठितः**—ब्रह्म में निष्ठा चाहनेवाला मुमुक्षु **विरक्तः**—ब्रह्म लोक से मृत्युलोक तक के भोगों में घृणादृष्टि रखने वाला **एव**—ही **त्यक्तुम् शक्नोति**—त्यागने में समर्थ है ।।'त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः' इति तेजोविन्दूपनिषद, प्रपंच का त्याग महापुरुषों द्वारा वंदनीय है, क्योंकि यह तुरन्त मोक्ष देनेवाला है ।।३७४।।

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्, पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं, ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति ।।३७५।।

अर्थ—हे विद्वन् ! वैराग्य और विवेक इन दोनों को मोक्षकामी पुरुष के लिये पक्षी के दोनों पंखों के समान पंख समझो । इन दोनों के विना केवल एक से कोई भी मुक्तिरूपी महल की अटारी पर नहीं चढ़ सकता ।

व्याख्या—**विचक्षण** ! **त्वम्**–हे विद्वान तू **पुरुषस्य**–मोक्ष की इच्छावान के लिये **वैराग्यबोधौ**–वैराग्य और विवेक को, आत्मा अनात्मा विवेचन को **पक्षिवत् पक्षौ**–पक्षी के दो पंखो की तरह **विजानीहि**–जान, जैसे पक्षी विना दो परों के नहीं उड़ सकता, ऐसे ही मुमुक्षु विवेक और वैराग्य के विना मोक्षपद नहीं प्राप्त कर सकता । **ताभ्याम् विना**–मुमुक्षु, वैराग्य विवेक के विना और पक्षी दो पंखों के विना **विमुक्तिसौधाग्रतल-अधिरोहणम्**–मोक्षरूपी महल, उसका सर्वोच्च भाग, उसपर चढ़ना **न अन्यतरेण सिध्यति**–अकेले वैराग्य से अथवा विवेक से नहीं सिद्ध होता, एक पंख से पक्षी नहीं उड़ सकता ।।३७५।।

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः, समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्ति, र्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ।।३७६।।

अर्थ—अत्यन्त वैराग्यवान् को ही निर्विकल्प समाधि-लाभ होता है, समाधिस्थ पुरुष को ही अभ्रान्त बोध होता है तथा सुदृढ़ बोधवान् का ही संसार-बन्धन छूटता है और जो संसार-बन्धन से छूट गया है, उसी को नित्यानन्द का अनुभव होता है ।

व्याख्या—**अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः**–अनात्मवस्तु में अत्यन्त विरक्ति, ऐसी दृढ़ विरक्ति कि पुनः भोगों में मन न जाये,ऐसे तीव्र वैराग्यवान की ही निर्विकल्प समाधि लगती है **समाहितस्य एव दृढप्रबोधः**–समाधिस्थ को ही संशयरहित शुद्ध बोध होता है । समाधि अवस्था में जीव ब्रह्म की एकता का साक्षात् अनुभव करने से शास्त्र गुरु द्वारा श्रवण-जन्य बोध की दृढ़ता हो जाती है, पुनः भ्रान्त होने का भय नहीं रहता **प्रबुद्धतत्त्वस्य**–जो अपने स्वरूप में जाग गया है, दृढ बोधवाला, उसकी **हि**–निश्चयपूर्वक **बन्धमुक्तिः**–वन्ध से, अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि, उससे मुक्ति होती है, इस प्रकार जो **मुक्त-आत्मनः**–जो पुरुष मुक्त हो गया है, जिसके वन्ध टूट चुके है, चिज्जड ग्रंथि जिसकी भेदन हो चुकी है, जिसका वहिरन्तः संग नष्ट हो चुका है, जिसकी वृत्ति सत्त्व-रज-तम गुण धर्मों से रहित हो गई है, जिसको ब्रह्मा-

कार वृत्ति प्राप्त हो गई है, उसको **नित्यसुख-अनुभूतिः**—नित्य सुख, आत्मदर्शन की अनुभूति होती है, परमानन्द भोगता है, दुःख की गन्ध भी नहीं रहती ।।३७६।।

वैराग्य से समाधि, समाधि से दृढ़बोध, दृढ़बोध से बन्धमुक्ति, और मुक्ति से नित्यानन्द—इस प्रकार कारण-कार्य की शृंखला दिखाई है ।

वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मन-
स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितं स्वाराज्य-साम्राज्यधुक् ।
एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं
सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे ।।३७७।।

अर्थ—जितेन्द्रिय पुरुष के लिये वैराग्य से बढ़कर सुखदायक मैं अन्य कुछ नहीं देखता और वह वैराग्य यदि कहीं शुद्ध आत्म-बोध के सहित हो तब तो अनन्त आत्म-साम्राज्य के सुख का देनेवाला होता है। यह मुक्तिरूपा चिर-युवती का निरन्तर खुला हुआ द्वार है। इसलिये हे शिष्य ! तुम अपने कल्याण के लिये सब ओर से इच्छारहित होकर सदा सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही अपनी बुद्धि स्थापित करो, अर्थात् निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करो ।

व्याख्या—**वश्यात्मनः**—जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **वैराग्यात् परम्**—वैराग्य से श्रेष्ठ **सुखस्य जनकम्**—सुख देनेवाला **न पश्यामि**—मैं नहीं देखता हूँ, हे शिय ! मैं अपने अनुभव से कहता हूं कि जो भोगों में अदीन है वही सुखी है **तत्-चेत्**—यदि वश्यात्मा का वह वैराग्य **शुद्धतरात्मबोधसहितम्**—पंचकोशविवेकजन्य आत्मबोध, आत्मसाक्षात्कार के साथ हो, तो **स्वाराज्य-साम्राज्यधुक्**—स्व का राज्य, आत्मराज्य, उसका साम्राज्य, वैभव उसको भोगनेवाला, दोहन करनेवाला होता है, आत्मा अनन्त होने से उसके राज्य का विस्तार भी अनन्त, और उसका वैभव भी अनन्त, निःसीम, स्वतंत्र, सामर्थ्ययुक्त सुख का देनेवाला है ।

यस्मात्—चूंकि **एतत्**—अत्यन्त वैराग्य **द्वारम्**—कारण, प्रवेश मार्ग है, 'अत्यन्त-वैराग्यवतः समाधिः,' **अजस्रमुक्तियुवतेः**—मोक्षरूपी चिर-युवती तक पहुंचने का, **अस्मात्**—इस हेतु से **त्वम् सर्वत्र**—तू विषयों में **परम् अस्पृहया**—अत्यन्त वैराग्य से **सत्-आत्मनि**—सत्‌रूप ब्रह्म में **सदा**—निरन्तर **श्रेयसे**—श्रेष्ठ पद प्राप्ति के लिये, मोक्ष के लिये **प्रज्ञाम्**—शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जिस ब्रह्म के स्वरूप को जाना, उस स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये ब्रह्माकारवृत्ति से निर्विकल्प

समाधि कुरु—करो। 'न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः। यादृशं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशालिनः।। यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षय-सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।' जो सुख वीतराग एकान्तसेवी मुनि को है, वह सुख न चक्रवर्ती राजा को और न इन्द्र को है, जो लौकिक भोग सुख है, तथा जो पारलौकिक महान दिव्य सुख है, वे दोनों तृष्णारहित पुरुष के सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं।।३७७।।

इस श्लोक से आरम्भ करके 'ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः' आदि वाले श्लोक के अन्त तक ११ श्लोकों में शिष्य को जगाने के लिये श्रीगुरु तीव्र गति से शासनपूर्ण तीक्ष्ण उपदेश करते हैं।

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्योः सृति-
स्त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिं मुञ्चातिदूरात्क्रियाः।
देहादावसति त्यजात्मधिषणां प्रज्ञां कुरुष्वात्मनि
त्वं द्रष्टास्यमलोऽसि निर्द्वयपरं ब्रह्मासि यद्वस्तुतः।।३७८।।

अर्थ—विष के समान विषयों की इच्छा को छोड़ दो, क्योंकि विषयों में वासना ही मृत्यु का मार्ग है तथा जाति, कुल और आश्रम आदि का अभिमान छोड़कर दूर से ही कर्मों में आसक्ति त्याग दो। देह आदि असत् पदार्थों में आत्मबुद्धि को छोड़ो क्योंकि तुम तो वास्तव में इन सबके द्रष्टा और मल तथा द्वैत से रहित हो, इसलिये मन की वृत्ति को ब्रह्म में स्थापित करो।

व्याख्या—विष-उपमेषु-विषयेषु आशाम् छिन्धि—विषतुल्य शब्दादि विषयों में आसक्ति को, इच्छा को छिन्न करो, **एषा एव मृत्योः सृतिः**—उसका कारण बताते हैं, आशा, वासना, स्वरूपच्युति का, स्वरूप विस्मरण का कारण है, और स्वरूप च्युति, प्रमाद ही मृत्यु है, ऐसा ब्रह्मा के पुत्र ने कहा है, 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इसलिये आशा ही मृत्यु की सृति, मार्ग है **जातिकुलाश्रमेषु**—वर्ण, वंश, ब्रह्मचर्यादि आश्रम इनमें, जो कि स्थूल शरीर के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं, इसलिये इनमें **अभिमतिम्**—आत्माभिमान को **त्यक्त्वा**—त्याग करो **क्रियाः अतिदूरात् मुंच**—वर्णाश्रम-धर्म के पालन के लिये जो क्रियायें, कर्म किये जाते हैं, उनमें आसक्ति और अहंकार को दूर से ही छोड़ दो। सब कर्म माया के गुणों द्वारा सम्पादित हैं, उनमें कर्तृत्व भोक्तृत्व भाव त्याग दो, **देहादौ**—देह से लेकर अहंकार तक पंचकोशों में **असति**—

जो कि असत् हैं, अनात्म होने के कारण, उनमें **आत्मधिषणाम्**–आत्मबुद्धि, उसके धर्मों में आत्माभिमान **त्यज**–त्याग दो ।

यत्–क्योंकि **त्वम् द्रष्टा असि**–तू विषयों का, जातिकुलाश्रमादि स्थूलशरीर के धर्मों का, समस्त कर्मों का, पंचकोशों का साक्षीमात्र है **अमलः असि**–चूंकि साक्षी में साक्ष्य के धर्म प्रवेश नहीं करते, इसलिये इन अनात्म वस्तुओं के विकारों से रहित तू मलरहित है, दोषरहित है, और **वस्तुतः**–और सच पूछे तो तू **निर्द्वयपरम् ब्रह्म असि**–परमार्थ दृष्टि से मन वाणी का अविषय, अद्वैत, परम, निर्गुण शुद्ध ब्रह्म है, अतः **आत्मनि**–ब्रह्म में अपने स्वरूप में **प्रज्ञाम् कुरुष्व**–मन को स्थापन कर, ब्रह्माकारवृत्ति कर, 'अहम् ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा निश्चय कर, निर्विकल्प समाधि में स्थिर हो जा ।।३७८।।

निर्विकल्प समाधि की विधि वताते हैं ।

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियं
स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम् ।
ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्यानिशं
ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः ।।३७९।।

अर्थ—शरीर की स्थिति की ओर ध्यान न दे कर उसको निश्चल करो, वाह्य इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में स्थिर करो, चित्त को अपने लक्ष्य ब्रह्म में दृढ़ता से स्थिर करके जीव और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार करके निरन्तर अखण्डवृत्ति से अहर्निश आत्मा में ही आनन्दपूर्वक ब्रह्मानन्दरस का पान करो । अनात्म फलरहित भ्रान्तियों से क्या प्रयोजन है ?

व्याख्या—**देहस्थितिम् च उपेक्ष्य निश्चलतनुः**–देहस्थिति की उपेक्षा, तिरस्कार करके, क्यों ? 'प्रारब्धम् पुष्यति वपुः' प्रारब्धकर्म शरीर की रक्षा करता है, 'प्रारब्ध समर्पिततनुः', शरीर को प्रारब्ध के आश्रय छोड़कर, आसन पर स्थिर-शरीर बैठकर 'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः । संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।' गीता ६।१३ शरीर, ग्रीवा, और शिर को सीधा समान रेखा में स्थिर करके स्वयं स्थिर होकर नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ अन्य दिशाओं को न देखता हुआ, इस प्रकार बैठकर, इन्द्रियों का क्या करे ? **बाह्येन्द्रियम् स्वस्थाने विनिवेश्य**–ज्ञानकर्मेन्द्रियग्राम को अपने-अपने गोलकों में स्थापित करके, विषयों से निर्व्यापार

करके **लक्ष्ये ब्रह्मणि**—लक्ष्य ब्रह्म में, शब्द की लक्षणा वृत्ति से जो जाना जा सके, उस ब्रह्म में, उस लक्ष्य का स्वरूप क्या है, वह आगे श्लोक ३८१ में बतावेंगे, **मानसम्**—मन को, कैसे मन को ? पक्व मन, सत्व, रज, तमगुणरूपी मल से रहित शुद्ध मन को **दृढ़तरम् संस्थाप्य**—निश्चलता से स्थापित करके, विषय चिन्तन में चलायमान न होने देकर **ब्रह्मात्मैक्यम् उपेत्य**—जीव ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार करके **अनिशम्—च**—निरन्तर **अखण्डवृत्त्या तन्मयतया**—अखण्डब्रह्माकार वृत्ति से, ब्रह्म में जीवभाव को डुबो कर, अद्वैतभाव से **आत्मनि**—आत्मा में ही, विषयों में नहीं **ब्रह्मानन्दरसम्**—आत्मानन्दरस का **मुदा**—हर्षपूर्वक **पिब**—पान करो, अनुभव करो **अन्यैः**—अनात्म **शून्यैः**—साररहित **भ्रमैः**—भ्रान्तियों से **किम्**—क्या प्रयोजन है ? अर्थात् द्वैत प्रपंच से कुछ प्रयोजन नहीं ।।३७९।।

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मल दुःखकारणम् ।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ।।३८०।।

अर्थ—दुःख के कारण और मलिन अनात्म-चिन्तन को छोड़कर आनन्दस्वरूप आत्मा का चिन्तन करो, जो मुक्ति का कारण है ।

व्याख्या—**कश्मलम्**—अशुचि, मलिन **दुःखकारण**—दुःख का कारण जो **अनात्म-चिन्तनम्**—विषय चिन्तन है, प्रपंच चिन्तन में बुद्धि की बहिर्मुखता है, उसको **त्यक्त्वा**—छोड़कर **यत्**—जो **मुक्तिकारणम्**—बन्धन भंजन करने का कारण **आनन्दरूपम् आत्मा-नम्**—आनन्दस्वरूप आत्मा है उसका **चिन्तय**—चिन्तन कर, 'ब्रह्म तत्त्वमसि भाव-यात्मनि ।' ऐसा ध्यान कर ।।३८०।।

जिस ब्रह्म को लक्ष्य कहा है, वह कैसा है ।

एष स्वयज्योतिरशषसाक्षी विज्ञानकोशे विलसत्यजस्रम् ।
लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षणमखण्डवृत्त्यात्मतयानुभावय ।।३८१।।

अर्थ—यह स्वयंप्रकाश सबका साक्षी विज्ञानमय कोश में निरन्तर प्रकाशमान है, अनित्य पदार्थों से पृथक् है । इस परमात्मा को अपना लक्ष्य बनाकर इसी का अखण्ड-वृत्ति से, निजरूप से अनुभव करो ।

व्याख्या—**एषः**—यह त्रिकाल अबाध्य आत्मा **स्वयंज्योतिः**—स्वयंप्रकाश है, अन्य के प्रकाश की इसको अपेक्षा नहीं, और कैसा है ? **अशेषसाक्षी**—सर्व का साक्षी

है, इसका साक्षी कोई नहीं, ऐसे ब्रह्म को कहाँ खोजे, यह शंका करके कहते हैं, **विज्ञानकोशे अजस्रम् विलसति**–विज्ञानकोश में यह निरन्तर स्फुरित होता है, पहले भी कहा है, 'विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः, प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः' परमात्मा के अत्यन्त समीप होने से यह विज्ञानमयकोश अति प्रकाशमान है। भूतों के मिलित सत्त्वांश से बना विज्ञानमय कोश अति स्वच्छ है और परमात्मा को प्रतिबिम्बित करता है, इसलिये लक्ष्य का ध्यानस्थल बुद्धि गुफा है, वहीं इसको खोजे।

आनन्दमय कोश तो विज्ञानमय कोश का भी आत्मा है, अधिक सूक्ष्म है, वहाँ क्यों न खोजे? इसलिये कि आनन्दमय कोश में बुद्धिवृत्ति अज्ञान में लय हो जाती है, और बीज रूप से अवस्थान करती है, खोजे कौन? **असत्-विलक्षणम्**–जड़ देह बुद्ध्यादि से भिन्न **एनम् लक्ष्यम् विधाय**–इस परमात्मा को लक्ष्य बनाकर, इसमें मन को स्थापित करके **अखण्डवृत्त्या**–अविच्छिन्न वृत्ति से **आत्मतया**–निजस्वरूप से **अनुभावय**–साक्षात् करो, इस परमात्मा को निज रूप से जानो, अनुभव करो। ।।३८१।।

'अखण्डवृत्या अनिशं ब्रह्मानन्दरसं पिब' तथा 'अखण्डवृत्या आत्मतया अनुभावय' इन सन्दर्भों में अखण्डवृत्ति का उल्लेख है, अब अखण्डवृत्ति को स्पष्ट करते हैं।

एतमच्छिन्नया वृत्त्या प्रत्ययान्तरशून्यया।
उल्लेखयन्विजानीयात्स्वस्वरूपतया स्फुटम् ।।३८२।।

अर्थ––अन्य प्रतीतियों से रहित अखण्ड-वृत्ति से लक्ष्य ब्रह्म का विषय करते हुए योगी इसी को अपना स्वरूप जानकर स्पष्ट साक्षात्कार करे।

व्याख्या––**प्रत्यय-अन्तर-शून्यया**–अन्य, अनात्मक प्रतीतियों से शून्य, तथा **अच्छिन्नया**–बिना टूटफूट के तैलधारावत् प्रवाहाकार, अनल्प **वृत्त्या**–अन्तःकरण की वृत्ति से **एतम्**–इस लक्ष्य ब्रह्म को **उल्लेखयन्**–विषय करते हुए, साक्षात्कार करते हुए **स्वस्वरूपतया**–अपने स्वरूप से, निजरूप से, अपने आपे से, यह ब्रह्म मैं ही हूँ, इस प्रकार **स्फुटम् विजानीयात्**–निश्चयपूर्वक स्पष्ट जाने, वह ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा प्रत्यक्ष जाने, ऐसा क्यों कहा? क्योंकि 'अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वम्' वह परमात्मा खण्डितवृत्ति का विषय नहीं बन सकता। जब वृत्ति में अन्य विषयों की प्रतीति मिश्रित रहती है, तब वृत्ति अखण्ड नहीं होती और ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकती, इसलिये पूर्ण वृत्ति से ही पूर्ण ब्रह्म का अनुभव हो सकता है ।।३८२।।

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु सन्त्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत् ॥३८३॥

अर्थ––इस परमात्मा में ही आत्मभाव को दृढ़ करता हुआ और अहंकारादि में आत्मबुद्धि छोड़ता हुआ समाधि के उपरान्त अनात्मपदार्थों में घट-पट आदि वस्तुओं के समान उदासीन हो जाय ।

व्याख्या––अतएव **अत्र**–ब्रह्म में, लक्ष्य में **आत्मत्वम् दृढीकुर्वन्**–अपने आपे को दृढ़ता से स्थापन करके, यह ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसे संशयरहित निश्चय से **अहमादिषु सन्त्यजन्**–अहंकार से देहतक समस्त अनात्मपदार्थों में आत्मबुद्धि को त्यागते हुए **तेषु**–समाधि से उत्थान के पश्चात्, उन प्रतीत होनेवाले अनात्म विषयों में **घटपटादिवत् उदासीनतया तिष्ठेत्**–ऐसा उदासीन भाव रक्खे जैसा कि बोध से पूर्व आदमी घट पट आदि जड़ पदार्थों में उदासीन भाव रखता है। यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में १८ वां मन्त्र है ॥३८३॥

विशुद्धमन्तःकरणं स्वरूपे, निवेश्य साक्षिण्यवबोधमात्रे ।
शनैः शनैर्निश्चलतामुपानयन् पूर्णं स्वमेवानुविलोकयेत्ततः ॥३८४॥

अर्थ––सबके साक्षी और ज्ञानस्वरूप आत्मा में अपने शुद्ध अन्तःकरण को लगाकर धीरे-धीरे निश्चलता प्राप्त करे। उसके उपरान्त सर्वत्र अपने को पूर्ण देखे ।

व्याख्या––**विशुद्धम् अन्तःकरणम्**–'तपो यज्ञदानादिभिः शुद्धबुद्धिः' तप, यज्ञ, दान आदि से शुद्ध अन्तःकरण को, निष्काम शास्त्रविहित कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। **अवबोधमात्रे**–ज्ञानमात्र **साक्षिणि स्वरूपे**–साक्षी, अपने स्वरूप में **निवेश्य**–स्थापित करके **शनैः शनैः**–निरन्तर अभ्यास से धीरे-धीरे **निश्चलताम्**–चञ्चलता रहित अवस्था को **उपानयन्**–प्राप्त करते हुए अर्थात् पहले अपने को समस्त विश्व का साक्षी जाने **ततः**–उसके उपरान्त **स्वम् एव**–स्वयं ही **पूर्णम् अनुविलोकयेत्**–साक्षी और साक्ष्य के भाव को छोड़कर अपने को पूर्ण देखे, साक्षी भी साक्ष्य की अपेक्षा से ही है। चिदाभास भी चित्‌रूप ही है, ऐसा जानकर अपने आप पूर्ण निर्भेद ब्रह्म हो जाये ॥३८४॥

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादिभिः, स्वाज्ञानक्लृप्तैरखिलैरुपाधिभिः ।
विमुक्तमात्मानमखण्डरूपं, पूर्णं महाकाशमिवावलोकयेत् ॥३८५॥

अर्थ—अपने अज्ञान से कल्पित देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और अहंकार आदि समस्त उपाधियों से रहित अखण्ड आत्मा को महाकाश की भांति अनन्त देखे ।

व्याख्या—देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादिभिः—देह, ज्ञानकर्मेन्द्रिय, प्राण, मन, अहंकार, आदि पद से चित्त और बुद्धि, इनसे जो कि **स्व-अज्ञानक्लृप्तैः**—अपने स्वरूप के अज्ञान से कल्पित किये हुए हैं, इन **अखिलैः उपाधिभिः**—तीनों शरीर, पंचकोश, समस्त उपाधियों से **विमुक्तम् आत्मानम्**—छुटकारा पाये हुए असंग आत्मा को **अखण्डरूपम्**—देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरहित **पूर्णम्**—अनन्त **महाकाशम् इव**—महाकाश की भांति, घट के नाश होने पर, घट आकाश की उपाधि है, घटाकाश ही महाकाश हो जाता है । **अवलोकयेत्**—देखे, साक्षात्कार करे जिसका संग असंग हो, जो स्वरूप में प्रवेश न करे, उसे उपाधि कहते हैं, जैसे कुण्डली पुरुष, दण्डी संन्यासी । यहाँ कुण्डल, दण्ड उपाधिमात्र हैं, क्योंकि ये पुरुष और संन्यासी के स्वरूप में प्रवेश नहीं करते । नीले घोड़ में नीलता घोड़े के स्वरूप में प्रविष्ट है, इसलिये नीलता उपाधि नहीं है, घोड़े का विशेषण है । इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर आत्मा की उपाधिमात्र हैं, उनके साथ आत्मा का असंग संग है, उपाधि के नष्ट होने पर आत्मा का कुछ नहीं बनता विगड़ता ॥३८५॥

घट-कलश-कुसूल-सूचिमुख्यैः गगनमुपाधिशतैर्विमुक्तमेकम् ।
भवति न विविधं तथैव शुद्धं, परमहमादिविमुक्तमेकमेव ॥३८६॥

अर्थ—जिस प्रकार घट, कलश, कुसूल (अन्नागार), सूई आदि सैकड़ों उपाधियों से घिरा हुआ आकाश, एक ही रहता है; नाना उपाधियों के कारण वह नाना नहीं हो जाता, उसी प्रकार अहंकारादि उपाधियों से रहित हुआ एक ही शुद्ध परमात्मा है ।

व्याख्या—घट-कलश-कुसूल-सूचिमुख्यैः उपाधिशतैः—घड़ा, कलश, अन्नागार, सूई, मुख्य पद से कूप, वापी आदि समझने चाहिये, इस प्रकार की **उपाधिशतैः**—सैंकड़ों उपाधियों से घिरा हुआ आकाश, जैसे घटाकाश, कलशाकाश, अन्नागाराकाश, अल्पछिद्रा सूई-आकाश, कूप आकाश, इन सब में विभक्त सा हुआ आकाश, इन

उपाधियों से **विमुक्तम् गगनम्**—उपाधि नाश से मुक्त आकाश **एकम्**—एक ही रहता है **विविधम् न भवति**—नाना नहीं होता.जैसे घट की दीवारें टूटने से घट के भीतर का आकाश, घट उपाधि से मुक्त हुआ महाकाश हो जाता है, वह पहले भी महाकाश ही था। उपाधि के असंग संग से विभर्जित सा हुआ नाना आकार प्रतीत होता है, उपाधि भंग होने पर भी महाकाश पूर्ववत् अखण्डित ही रहता है। **तथा एव**—उसी प्रकार **अहमादि विमुक्तम्**—अहंकार से लेकर स्थूल देह तक जो आत्मा की उपाधियां हैं, उनसे छूटा हुआ, उपाधि के वाध होने से अथवा उपाधि के असत्यत्व की दृढ़-निष्ठा से **शुद्धम्**—सर्वोपाधिविनिर्मुक्त **परम्**—ब्रह्म **एकम् एव**—एक ही है, 'एकमेवाद्वितीयम्', नाना नहीं है. 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियां ॥३८६॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः ।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम् ॥३८७॥

अर्थ——ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त समस्त उपाधियां मिथ्या हैं इसलिये ब्रह्म से अभिन्न स्थित निजस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करे।

व्याख्या——यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में १९ वां मन्त्र है। अहम् से देह पर्यन्त ही उपाधियां सीमित नहीं है, वल्कि **ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्ताः**—ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त, समष्टिलिंग शरीर का अभिमानी, चौदह भुवनों के पति ब्रह्मा जी से लेकर क्षुद्र तृण तक सवके सव नाम आकारवाले पदार्थ **मृषामात्राः उपाधायः**—मिथ्या उपाधियां हैं, प्रतीत होती हैं, परन्तु सत्ताहीन हैं। **ततः**—इसलिये उपाधियों को आत्मा से अभिन्न देखते हुए **एकात्मना स्थितम्**—ब्रह्म से अभिन्न स्थित हुआ **स्वम्**—निजरूप **आत्मानम्**—आत्मा को **पूर्णम्**—पूर्ण, सर्वग्रासी, देश-काल-वस्तु-परिच्छेद-रहित **पश्येत्**—साक्षात्कार करे ॥३८७॥

अव तक आत्मा अनात्मा का भेद वताया, अव श्रीगुरु, शिष्य की वुद्धिमन्दता नष्ट हुई समझ कर, इस भेदपक्ष को त्याग कर निर्भेद ब्रह्म का निरूपण करते हैं। अनात्मा आत्मा ही है, अन्य कुछ नहीं है, केवल आत्मतत्त्व है, यही आत्मा की पूर्णता है। मायामदिरा के नशे में मूढ जन आत्मा तथा अनात्मा का भेद किया करते हैं।

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं यद्विवेके, तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम् ।
भ्रान्तेर्नाशे भ्रान्तिदृष्टाहितत्त्वं, रज्जुस्तद्वद्विश्वमात्मस्वरूपम् ॥३८८॥

अर्थ––जिस ब्रह्म में भ्रम से जो कल्पित है, विवेक होने पर वह कल्पित वस्तु अधिष्ठानमात्र रहती है। उससे पृथक् उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। जिस प्रकार रज्जु में भ्रान्तिवश प्रतीत होनेवाला सर्प भ्रान्ति के नष्ट होने पर रज्जुरूप ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही अज्ञान के नष्ट होने पर विश्व आत्मस्वरूप ही रहता है।

व्याख्या––**यत्र भ्रान्त्या**–जिस ब्रह्म में अज्ञान वश **यत्कल्पितम्**–जो 'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः' कल्पित किया गया है **विवेके**–बोध होने पर, निर्विकल्प समाधि में साक्षात्कार होने पर **तत् तन्मात्रम्**–वह कल्पित वस्तु, अधिष्ठानमात्र, ब्रह्ममात्र रहता है **तस्मात्**–अपने अधिष्ठान से **विभिन्नम् नैव**–भिन्न नहीं होता, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त उपाधियां आत्मा ही हैं, आत्मा से व्यतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, पूर्व में कहा है, 'आरोपितस्य अस्ति किमर्थवत्ता, अधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण'।

अब दृष्टान्त देते हैं **भ्रान्तेः नाशे भ्रान्तिदृष्ट-अहितत्त्वम्**–भ्रान्ति, अन्धकार के नाश होने पर, अन्धकार के कारण जो रस्सी सर्पस्वरूप दिखाई देती थी, वह **रज्जुः**–रस्सी दिखाई देती है, क्योंकि उसका आवरक अन्धकार भंग हो चुका है, **तद्वत्**–उसी प्रकार **विश्वम् आत्मस्वरूपम्**–अज्ञान के कारण जो जगत भेद दिखाई पड़ता है, वह, आवरण भंग होने पर, आत्मस्वरूप ही है, आत्मा से भिन्न नहीं है। ॥३८८॥

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥३८९॥

अर्थ––आत्मा ही स्वयं ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इन्द्र, स्वयं शिव, और स्वयं ही यह सारा विश्व है, आत्मा से भिन्न और कुछ भी नहीं है।

व्याख्या––यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में २० वां मन्त्र है। श्लोक ३८४-५, ३८७ में आत्मा के लिये पूर्ण शब्द का प्रयोग किया है, उसी को अब विशद करते हैं। एक ही चैतन्यात्मा उपाधि भेद से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र शिव आदि नामों से व्यवहृत होता है, जैसे एक ही रस्सी ईषत् अन्धकार में सर्प, रेखा, दण्ड आदि नाना नामवाली होकर भासती है। **स्वयम् ब्रह्मा**–आत्मा ही सृष्टिसर्जनकर्ता उपाधि विशेष ब्रह्मा है, **स्वयम् विष्णुः**–आत्मा ही सृष्टिरक्षक नाम की विशेष उपाधि विष्णु है, **स्वयम् इन्द्रः**–आत्मा ही देवराज इन्द्र नाम की उपाधि है, **स्वयम् शिवः**–आत्मा ही शिव

नामक उपाधि है, **स्वयम् इदम् विश्वम् सर्वम्**—आत्मा ही यह नामरूप सर्वजगत है। **स्वस्मात् अन्यत् किंचन न**—आत्मा से व्यतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उपाधि कुछ नहीं है, केवल आत्मा ही है, दर्पण में नगराभास कुछ नहीं है, केवल दर्पण है। 'ब्रह्मेदम् सर्वम्' इति श्रुतिः। यह सब जगत् आत्मा है', इदं सर्वं यदयमात्मा' इति श्रुतिः, यह जो आत्मा है यही सब जगत् है। इस श्लोक में ब्रह्म की वस्तु-परिच्छेदरहित पूर्णता बताई है ॥३८९॥

अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयं च, स्वयं पुरस्तात्स्वयमेव पश्चात्।
स्वयं ह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां, तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ॥३९०॥

अर्थ—आप ही ब्रह्म भीतर है, आप ही बाहर है, आप ही आगे है, आप ही पीछे है, आप ही दायें है, आप ही बायें है और आप ही ऊपर है, आप ही नीचे है।

व्याख्या—यह श्लोक मुण्डकोपनिषद के २।२।२१ मन्त्र का अर्थ है। 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण॥ अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥' **अन्तः स्वयम् बहिः च अपि स्वयम्**—यह ब्रह्म स्वयं ही भीतर, सर्वान्तर है, ब्रह्म ही बहिर्, दृश्य प्रपंच है **पुरस्तात् स्वयम् पश्चात् स्वयम्**—आगे भी ब्रह्म, पीछे भी ब्रह्म है **हि अवाच्याम् स्वयम् उदीच्याम् अपि स्वयम्**—निश्चय ही ब्रह्म दायें है और बायें भी है **तथा**—इसके अतिरिक्त **उपरिष्टात् अधस्तात् अपि स्वयम्**—ऊपर भी ब्रह्म, नीचे भी ब्रह्म ही है। इस श्लोक में ब्रह्म की देश परिच्छेदरहित पूर्णता बताई है ॥३९०॥

तरङ्गफेनभ्रमबुद्बुदादि सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा।
चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत् सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम् ॥३९१॥

अर्थ—जैसे तरङ्ग, फेन, भंवर और बुद्बुद आदि स्वरूप से सब जल ही हैं, वैसे ही देह से लेकर अहंकारपर्यन्त यह सारा विश्व भी निर्गुण निर्विकार चैतन्य आत्मा ही है।

व्याख्या—यथा—जैसे **तरंग-फेन-भ्रम-बुद्बुदादि सर्वम्**—लहर, झाग, भंवर, बुलबुला, आदि पद से हिम मेघ वाष्प ग्रहण करना, ये नाना नामाकार वाले सब **स्वरूपेण जलम्**—स्वरूप से जलमात्र हैं, तरंग में जल से भिन्न किसी ने, ब्रह्मा जी ने

भी क्या देखा है ? **तथा**–वैसे ही **देहादि अहमन्तम्**–देह से आदि लेकर अहंकार के अन्त तक **एतत् सर्वम्**–दशेन्द्रिय तथा मन द्वारा ग्राह्य यह समस्त दृश्यवर्ग **विशुद्धम्**–निर्गुण **एकरसम्**–निर्विकार **चित् एव**–चिन्मात्र ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं है. जल से अलग किसी ने आज तक तरङ्ग को नहीं देखा है ॥३६१॥

सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयोः
सतोऽन्यन्नास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवतः।
पृथक् किं मृत्स्नायाः कलशघटकुम्भाद्यवगतं
वदत्येष भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया ॥३६२॥

अर्थ—मन और वाणी में ग्राह्य यह सारा जगत् सत्स्वरूप ही है। प्रकृति की सीमा पर प्रतिष्ठित ब्रह्म से पृथक् और कुछ भी नहीं है। क्या किसी ने घट कलश कुम्भादि को मृत्तिका से भिन्न जाना है ? यह मूढ मायामयी मदिरा से भ्रान्त होकर ही 'मैं, तू'–ऐसी भेद वाणी बोलता है।

व्याख्या—**वाङ्मनसयोः अवगतम्**–वाणी और मन से जो जाना जा सके। वाक् उपलक्षण से कहा गया है, वाक् से कर्मेन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां ग्रहण करना। दश इन्द्रियों और मन इन ग्यारह से जो ग्रहण किया जाये ऐसा **इदम् सर्वम् जगत्**–यह समस्त नामरूप विश्व **सत् एव**–ब्रह्म ही है, सर्व का अधिष्ठानभूत त्रिकाल अबाध्य ब्रह्म ही है, 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' इति श्रुतिः, मुण्डकोपनिषद २।१।११, यह वाणी का और मन का विषय नहीं है। **प्रकृतिपरसीम्नि**–प्रकृति, माया, उसकी जो चरम् सीमा, अर्थात् प्रकृति का जहाँ शेष होता है, उस सीमा पर। जबतक वृत्ति मायिक पदार्थों को ग्रहण करेगी, तबतक ब्रह्म को विषय नहीं कर सकती। जब वृत्ति प्रकृति सीमा से पार अर्थात् विषयान्तररहित अखण्डाकार होती है तब साक्षात्कार होता है। **स्थितवतः**–प्रतिष्ठित **सतः**–सत, ब्रह्म से **अन्यत्**–ब्रह्म से भिन्न **नैव अस्ति**–नहीं है। **अवगतम् किम्**–क्या जाना है किसी ने **कलशघटकुम्भादि**–कलश, घड़ा, कुम्भ नामवाले, आदि पद से अन्य मृत्तिका पात्रों को **मृत्स्नायाःपृथक्**–मिट्टी से भिन्न ? पूर्व में भी कहा है 'केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते', जैसे मिट्टी से भिन्न घट की सत्ता नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता नहीं है, केवल ब्रह्म है।

एषः–यह मूढ **मायामदिरया**–मायारूपी मदिरा के नशे से **भ्रान्तः**–स्वरूपच्युत, माया के आवरण से ढका हुआ 'त्वम्'–तू 'अहम्'–मैं **इति**–इस प्रकार **वदति**–'तू',

'मैं' भेद वाणी कहता है । 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' इति श्रुतिः । हे भगवन्, हे देव तुम ही मैं हूँ और मैं ही तुम हो ।।३९२।।

अब भ्रान्तिनाश के लिये श्रुतिप्रमाण देते हैं ।

क्रियासमभिहारेण यत्र नान्यदिति श्रुतिः ।
ब्रवीति द्वैतराहित्यं मिथ्याध्यासनिवृत्तये ।।३९३।।

अर्थ—'जहाँ और कुछ नहीं देखता' ऐसी अद्वैतपरक श्रुति मिथ्या अध्यास की निवृत्ति के लिये क्रिया के वारंवार प्रयोग से द्वैत का अभाव वतलाती है ।

व्याख्या—**'यत्र नान्यत्' इति श्रुतिः**—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ।' इति श्रुतिः, छान्दोग्योपनिषद ७।२४।१, जहाँ कोई अन्य नहीं देखता, अन्य नहीं सुनता और अन्य नहीं जानता वह भूमा आत्मा है, यह श्रुति **द्वैतराहित्यम्**—द्वैत की रहितता, शून्यता, अपने से भिन्न की वाधता **ब्रवीति**—कहती है, **क्रियासमभिहारेण**—'पश्यति, शृणोति, विजानाति' इन क्रियाओं के वार-म्वार प्रयोग से वार-वार द्वैत का अभाव वताती है, किसलिये? **मिथ्याध्यासनिवृत्तये**—मिथ्या भेद भ्रम की निवृत्ति के लिये, मिथ्याभूत प्रपंचग्रहण के वाध के लिये ।।३९३।।

यहाँ श्रुति में जो 'भूमा' शव्द आया है, उसी का निरूपण आगे करते हैं ।

आकाशवन्निर्मल-निर्विकल्प-निःसीम-निष्पन्दन-निर्विकारम् ।
अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमद्वयं स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम् ।।३९४।।

अर्थ—आकाश के समान निर्मल, निर्विकल्प, निःसीम, निश्चल, निर्विकार, वाहर-भीतर सव ओर से भेदशून्य, अनन्य अद्वितीय स्वयं तेरा स्वरूप परब्रह्म क्या स्थूलबुद्धि का विषय हो सकता है ?

व्याख्या—ब्रह्म की उपमा आकाश से दी जाती है, वैसे तो 'न तत्समः' इति श्रुतिः, उसके समान कोई नहीं है, यदि थोड़ा वहुत है तो आकाश से उपमा, उपदेश के लिये, दी जाती है ।

आकाशवत्—आकाश के सदृश ब्रह्म **निर्मल-निर्विकल्प-निःसीम निष्पंदन-निर्विकारम्**-निर्मल-मल रहित, आकाश धूलि में धूसरित नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म भी माया से स्पर्श नहीं किया जा सकता, निर्विकल्प—द्वैतरहित, आकाश में आकाश

ही है, अन्य कुछ नहीं, निर्मल होने से उसमें अन्य विकल्प का मिश्रण नहीं है, वसे ही ब्रह्म विकल्प रहित, उपाधिभेद रहित है। आगे कहेंगे, 'द्वैतं नो सहते श्रुतिः' निःसीम—आकाश की कोई सीमा नहीं है, जहाँ तक देखो आकाश ही आकाश है, वैसे ही ब्रह्म भी देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहित अनन्त है, निष्पन्दन—आकाश में स्पन्दन, क्रिया नहीं है। वायु स्पन्दन से आकाश में स्पन्दन नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म भी निष्क्रिय है, उपाधि की चेष्टाओं से ब्रह्म क्रियाशील नहीं होता, निर्विकारम्—आकाश विकाररहित है, वैसे ही ब्रह्म भी षड्-भावविकारशून्य है, **अन्तर्-बहिः-शून्यम्**—आकाश भीतर और वाहर के भेद से शून्य है, आकाश में आकाश है, अन्य का मिश्रण नहीं, वैसे ही ब्रह्म भी अपरिच्छिन्न है, विजातीय-सजातीय-स्वगत भेदशून्य अखण्ड है। **अनन्यम्**—अन्य से रहित, अतएव **अद्वयम्**—अद्वितीय, 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः। ब्रह्म एक ही अद्वितीय है।

स्वयम्—इस प्रकार तेरा अपना आपा ही **परम् ब्रह्म**—सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म है, तेरे स्वरूप से भिन्न नहीं, अद्वितीय ब्रह्म में भेद वार्ता नहीं वनती। **किम् अस्ति बोध्यम्**—यह उपदेश जो तुझे दिया है, उस से ज्ञेय ज्ञात हो जाता है। उसके उपरान्त जानने के लिये क्या रहता है? सर्वात्मक परमात्मा को जानने के पश्चात् जानने के लिये कुछ शेष नहीं रहता, अथवा क्या ऐसा ब्रह्म स्थूलबुद्धि से बोध्य हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता ।।३९५।।

अव विषय का उपसंहार करते हैं।

वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयं
ब्रह्मैतज्जगदापराणु सकलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतेः।
ब्रह्मैवाहमिति प्रबुद्धमतयः सन्त्यक्तबाह्याः स्फुटं
ब्रह्माभूय वसन्ति सन्ततचिदानन्दात्मनैव ध्रुवम् ।।३९५।।

अर्थ—इस विषय में और अधिक क्या कहना है? जीव स्वयं ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह सकल जगत् सूक्ष्य से सूक्ष्म परमाणु तक है। ब्रह्म अद्वितीय है इसमें वेद प्रमाण है। जिनको यह वोध हुआ है कि मैं ब्रह्म ही हूँ, वे वाह्य विषयों को सर्वथा त्याग कर ब्रह्मभाव से सदा ज्ञान और आनन्द में मग्न रहते हैं। यह ध्रुव सत्य है।

व्याख्या—अत्र बहुधा वक्तव्यम् किमु विद्यते—हे शिष्य! जो उपदेश चाहिये था सो मैंने तुझे किया, और अधिक क्या कहा जाये? उसका अव सारांश सुनो

जीवः स्वम् ब्रह्म एव–देहाभिमानी जीव स्वरूप से निर्गुण ब्रह्म ही है **सकलम् जगत् आपराणु ब्रह्म अद्वितीयम्**–समस्त जगत सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु तक अद्वितीय ब्रह्म ही है, **श्रुतेः**–श्रुति के प्रमाण के अनुसार, 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ब्रह्मैवेदम् विश्वम्' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियां, इनके प्रमाण से **ब्रह्म एव अहम् इति**–मैं ब्रह्म ही हूं, इस प्रकार **प्रबुद्धमतयः**–जिनकी बुद्धि जाग चुकी है, जिन्होंने श्रवण-मनन-निदिध्यासन समाधि से अपने स्वरूप को जान लिया है, साक्षात्कार कर लिया है, ।

सन्त्यक्तबाह्याः–जिन्होंने अहमादि देहपर्यन्त, तथा उनसे उपभोग्य विषयों को स्वरूप से वाह्य जान कर त्याग दिया, वे स्वरूप में जाग्रत धुरन्धर महात्मा लोग **स्फुटम्**–प्रत्यक्ष, साक्षात् **ब्रह्मीभूय**–ब्रह्म होकर, 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', इति श्रुतिः, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है। **सन्तत**–निरन्तर **चिदानन्दात्मना एव**–ज्ञान और आनन्द में डूबे हुए, ज्ञान और आनन्द ही जिनका स्वरूप है, ऐसे वे ब्रह्मरूप होकर **वसन्ति**–रहते हैं। वे आत्मक्रीड़ा–आत्मरति, अपने स्वरूप में खेलते है, रमण करते हैं, स्वरूप में ही मग्न रहते हैं, उनका कोई कर्तव्य नहीं रहता, वे कृतकृत्य हैं। **एतत् ध्रुवम्**–जो ज्ञान मैंने तुझे दिया है, यह सत्य और निश्चल है ।।३९५।।

वेदान्त प्रक्रिया यहाँ समाप्त हो जाती है, अब कहने को कुछ शेष नहीं रहा। पर अभी तक शिष्य अपने स्वरूप में नहीं जागा है। इसलिये कारुणिक श्रीगुरु फिर उपदेश आरम्भ करते हैं। इससे आगे के उपदेश में सिद्धान्तों का ही विशेष निरूपण है। क्रमवद्ध प्रक्रिया के प्रसंगों में से ही विषय को उठाकर लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए उपदेश करते हैं। अव श्रुति के मन्त्रों की भी भरमार आयेगी।

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूडामणिः' पर पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा 'सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' का समाधि नाम चौथा प्रकरण समाप्त।

५—विविध प्रकरण—

इसमें ब्रह्मविद्या सम्बन्धी आवश्यक फुटकल विषय दिये हैं। जीवन्मुक्त के लक्षण और प्रारब्ध विचार इसी प्रकरण में हैं। अध्यात्मोपनिषद के काफी मन्त्रों का इस प्रकरण में भी समावेश है।

जहि मलमयकोशेऽहंधियोत्थापिताशां
प्रसभमनिलकल्पे लिङ्गदेहेऽपि पश्चात्।
निगमगदितकीर्तिं नित्यमानन्दमूर्तिं
स्वयमिति परिचीय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ ॥३९६॥

अर्थ—इस मलमय कोश में अहंबुद्धि से हुई वासना को छोड़ो और इसके पश्चात् वायुरूप लिङ्गदेह में तथा कारण शरीर में भी उसका दृढ़तापूर्वक त्याग करो, तथा जिसकी कीर्ति को वेद बखान करते हैं, उस नित्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म को ही अपना स्वरूप पहचान कर ब्रह्मरूप से ही स्थिर हो जाओ।

व्याख्या—अहंधियोत्थापिताशाम्—अहंकार बुद्धि से उत्पन्न वासना, आसक्ति उसको **मलमयकोशे**—मलमूत्र पूर्ण स्थूल शरीर में त्याग दे, उस शरीर के पोषण रक्षण की आशा को त्याग दे **पश्चात्**—स्थूल शरीर से अहम्बुद्धि, आत्माभिमान हटाकर फिर **अनिलकल्पे**—वायु सदृश चंचल **लिग देहे, अपि**—पुर्यष्टक, सूक्ष्म शरीर में, भी से कारण शरीर लेना अर्थात् कारण शरीर में भी **प्रसभम् जहि**—आत्माभिमान को बलपूर्वक दृढ़ निश्चय से हटा ले, स्थूल देह में अन्नमय कोश, और सूक्ष्म शरीर में प्राण-मन-विज्ञानमय तीन कोश हैं, तथा कारण शरीर में आनन्दमय कोश है, ये तीनों शरीर जड़, पर-प्रकाश्य और विकारी होने से 'अहंपदप्रत्ययालम्वन' आत्मा नहीं हो सकते।

इसलिये जिस आत्मा की **निगमगदितकीर्तिम्**—वेदों ने कीर्ति गाई है, माया-विशिष्ट ईश्वर रूप में जिस आत्मा को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और स्वतन्त्र कहा है,

मायोपहित होने से जिस आत्मा को साक्षी कहा है, मायारहित होने से जिस आत्मा को निर्गुण, निरुपाधिक, मन वाणी का अविषय कहा है, उसको और कैसा है वह **नित्यमानन्दमूर्तिम्**–जो नित्य है, और आनन्दघन है, उसको **स्वयम्**–निज स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, वह मैं ही हूँ **इति**–इस प्रकार **परिचीय**–पहचान करके, साक्षात् अनुभव करके **ब्रह्मरूपेण तिष्ठ**–ब्रह्मरूप से स्थिर हो जाओ मुक्त हो जाओ, क्योंकि 'ब्रह्मात्मना संस्थितिः मुक्तिः' ।।३६६।।

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः ।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ।।३६७।।

अर्थ––मनुष्य जबतक इस मुरदे के सदृश देह में आसक्त रहता है तबतक वह अपवित्र रहता है, दूसरों से क्लेश भोगता है । और जन्म, मरण तथा व्याधियों का घर बना रहता है । किन्तु जब वह अपने कल्याणस्वरूप, अचल और शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तो उन समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है । श्रुति भगवती ने भी ऐसा ही कहा है ।

व्याख्या––मनुजः–मनुष्य **यावत्**–जितने काल तक **शवाकारम्**–शव, मुर्दे के आकारवाला स्थूल शरीर, जड़ पर प्रकाश्य होने से मृततुल्य, उसको **भजति**–सत्य बुद्धि से सेवन करता है, स्थूल शरीर में अभिमान करता है **तावत् अशुचिः**–उतने कालतक अपवित्र रहता है, मलमूत्र पूर्ण शरीर का भजन करने वाला स्वयम् भी स्थूल शरीर के अपवित्रतादि गुण ग्रहण कर लेता है इसलिये अशुचि, और क्या दोष हैं ? **परेभ्यः**–शत्रुओं से, व्याघ्र सर्प चौर आदि से, बाहर के शत्रुओं से **क्लेशः–स्यात्**–कष्ट पाता है, व्याघ्र सर्पादि इस शरीर की हानि कर सकते हैं, चौरादि इस का धन अपहरण कर सकते हैं, इनके भय से कष्ट पाता है, न केवल बहिरंग शत्रुओं से भय है बल्कि शरीरधारी को शरीर से भी क्लेश हैं क्योंकि यह शरीर **जन्म मरण व्याधिनिलयः**–निज में भी जन्म, मृत्यु, बीमारी इनका घर है, जन्म में कष्ट, मृत्यु में कष्ट, बीमारी में कष्ट । ये तीन फल–अशुचिता, बहिरंग तथा अन्तरंग भय–शरीर में आत्माभिमानी को मिलते हैं ।

इसके विपरीत **यदा**–जब **शुद्धम्**–पवित्र **अचलम्**–अविकारी **शिवाकारम्**–मंगलमूर्ति, कल्याणरूप **आत्मानम्**–आत्मा को **कलयति**–जानता है, अनुभव करता है, साक्षात्कार करता है, किस प्रकार 'निगमगदितकीर्ति नित्यामानन्दमूर्ति स्वयमिति परिचीय' **तदा हि**–तव निश्चय ही **तेभ्यः मुक्तः**–उनसे, अशुचिता, शत्रुओं से क्लेश, जननमरणव्याधि से क्लेश, इनसे मुक्त हो जाता है।

श्रुतिः अपि तत्-आह–वेद भगवान भी ऐसा ही कहते हैं, 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशै र्जन्ममृत्युप्रहाणिः' श्वेताश्वरोपनिषद १।११, देव (आत्मा) को जान कर सव वन्ध नष्ट हो जाते हैं। क्लेशों, वन्धों के क्षीण होने पर जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है। 'अध्यातमयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।' कठश्रुतिः, १।२।१२, अध्यात्मयोग से आत्मा का साक्षात्कार करके वश्यात्मा हर्ष शोक छोड़ देता है। 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापि यान्ति ॥' इति श्रुतिः, जो ब्रह्म को अपना स्वरूप करके जानते हैं वे अमरपद को प्राप्त होते हैं, और दूसरे आत्मस्वरूप के अज्ञानी दुःख प्राप्त करते हैं। 'तरति शोकमात्मवित्।' छान्दोग्योपनिषद ७।१।३, इत्यादि श्रुतियां, आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है ॥३९७॥

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥३९८॥

अर्थ—अपने आत्मा में आरोपित समस्त कल्पित वस्तुओं का निरास कर देने पर स्वयं अद्वितीय, अक्रिय और पूर्ण परब्रह्म ही रहता है।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में २१ वां मन्त्र है। **स्वात्मनि-आरोपित-अशेष-आभासवस्तु-निरासतः**–अपने आत्मा में अज्ञान से **आरोपित आभासवस्तु**, अनात्मधर्म वाले दृश्य प्रपंच, इनके अशेष, मूलसहित, **अज्ञानसहित**, कोई वाकी न वच कर निराकरण से, असत् होने के कारण स्वरूप से वाध होने पर **स्वयम् एव**–शिवाकाररूप अपना स्वरूप, आत्मा ही रहता है। जीव ईश्वर की विरुद्धधर्म उपाधियों के निराकरण से शुद्ध चिन्मात्र आत्मा ही रहता है, कैसा है वह? **पूर्णम्**–अनन्त, देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहित, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद शून्य **अद्वयम्**–एकतत्त्व **अक्रियम्**–निष्क्रिय **परम् ब्रह्म**–सर्वोत्कृष्ट निरुपाधिक, निर्गुण ब्रह्म रहता है ॥३९८॥

इतने उपदेश से भी शिष्य स्वरूप में में नहीं जागा। सर्वज्ञ गुरु ने जान लिया कि आत्मा अनात्मा के विवेचन से इसको जो पहले भेद ज्ञान कराया था, उस भेद ज्ञान का निश्चय अभी नष्ट नहीं हुआ है, इसलिये भेदज्ञान भंजन करने के लिये श्रुति प्रमाण से उपदेश करते हैं।

समाहितायां सति चित्तवृत्तौ, परात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे।
न दृश्यते कश्चिदयं विकल्पः, प्रजल्पमात्रः परिशिष्यते ततः ॥३९९॥

अर्थ—निर्विकल्प परमात्मा परब्रह्म में चित्तवृत्ति के स्थिर हो जाने पर (समाधि लगने पर) यह दृश्य विकल्प रंचमात्र भी दिखायी नही देता। समाधि से उत्थान के उपरान्त यह केवल वाणी का विषय मात्र ही रहता है।

व्याख्या—**सति**—त्रिकाल-अबाध्य **परात्मनि निर्विकल्पे ब्रह्मणि**—अद्वैत परमात्मा, ब्रह्म में **समाहितायाम् चित्तवृत्तौ**—बुद्धि वृत्ति के लय होने पर, अखण्डाकार ब्रह्माकारवृत्ति प्राप्त होने पर, निर्विकल्प समाधि में पहुंचने पर **कश्चित् अयम् विकल्पः**—कोई भी यह विकल्प, विश्व जो समाधि से पूर्व की अवस्था में प्रतीत होता है **न दृश्यते**—समाधिस्थ होने पर दिखाई नहीं पड़ता, इसका अत्यन्ताभाव हो जाता है। **ततः**—समाधि से उत्थान के उपरान्त **प्रजल्पमात्रः परिशिष्यते**—यह विश्व नाममात्र रहता है, इस विश्व की व्यवहारिक सत्ता नष्ट हो जाती है, और स्वप्न में आलोकित दृश्य की न्याईं विश्व की केवल प्रातिभासिक सत्ता अवशेष रहती है, सारांश यह कि निर्विकल्प समाधि में आत्मसाक्षात्कार होने के उपरान्त, दृश्य जगत का वन्धकारी स्वभाव नष्ट हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार से पूर्व संसार का जो भयावह स्वरूप दिखाई पड़ता है, आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त वह जगत् अपना ही स्वरूप ब्रह्ममय भासता है ॥३९९॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४००॥

अर्थ—उस एक वस्तु ब्रह्म में संसार का यह विकल्प अज्ञान से कल्पित है। भला निर्विकार, निराकार और निर्विशेष ब्रह्म में भेद कहाँ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में २२ वां मन्त्र है। **एकवस्तुनि**—निर्विकल्प अद्वितीय ब्रह्म में **विश्वम् इति अयम् विकल्पः**—विश्व, जगत नाम से

प्रसिद्ध यह विकल्प, द्वैतभाव **असत्-कल्पः**—अज्ञान से कल्पित है, वस्तुतः नहीं है। भला जिस ब्रह्म को वेदों ने, युक्तिपूर्वक विचारकों ने और उन सब से ऊपर महात्माओं ने समाधि अवस्था में साक्षात् निर्विकार, निराकार, निर्विशेष बताया है, सिद्ध किया है, साक्षात् देखा है, ऐसे **निर्विकारे**-षड्भाव विकारों से, जन्ममृत्युवृद्धिक्षयादि विकारों से रहित, उसमें **निराकारे**-सब आकारों से रहित, निरवयव, अखण्ड, अनन्त, देशकाल-वस्तुपरिच्छेद रहित, उसमें **निर्विशेषे**—सब विशेषताओं से रहित, **विजातीय-सजातीय-स्वगत भेदशून्य**—दो जातियों का जैसे वृक्ष पाषाण का भेद विजातीय भेद; एक जाति में जैसे वट और अश्वत्थ का भेद सजातीय भेद; एक वस्तु में अपने अंगों का भेद जैसे एक वृक्ष के पत्र पुष्प बीज आदि में भेद स्वगत भेद कहलाता है। सब धर्मों से रहित उसमें **भिदा कुतः**—अनात्मा आत्मा का भेद कहाँ ? अर्थात् भेद नहीं है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति बृहदारण्यकोपनिषद १।४।२, दूसरे से भय होता है, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति कठश्रुतिः २।१।१० वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता है जो यहाँ, ब्रह्म में भेद देखता है ।।४००।।

द्रष्टृदर्शनदृश्यादि-भावशून्यैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ।।४०१।।

अर्थ—द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदि भावों से शून्य अद्वितीय निर्विकार, निराकार और निर्विशेष ब्रह्म में भला भेद कहाँ ?

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में २३ वें मन्त्र का अर्धभाग है। **द्रष्टृ-दर्शन-दृश्यादि भावशून्ये**—प्रमाता, प्रमिति, प्रमेय, आदि पद से प्रमाण ग्रहण करना चाहिये, ये जो भाव हैं उनसे शून्य, त्रिपुटीरहित उस **एकवस्तुनि**—अद्वितीय **निर्विकारे**—विकार रहित **निराकारे**—आकार, अवयवरहित **निर्विशेषे**—निर्गुण ब्रह्म में **भिदा कुतः**—भेद कहाँ है ? अर्थात् भेद नहीं हो सकता। 'उपाधिभेदात्स्वमेव भिद्यते, चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः।' उपाधि भेद से ही ब्रह्म भेदवाला भासता है, उपाधि बाध होने पर वह केवल एकतत्त्व रहता है ।।४०१।।

कल्पार्णवइवात्यन्त-परिपूर्णैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ।।४०२।।

अर्थ—प्रलयकाल के समुद्र के समान अत्यन्त परिपूर्ण अद्वितीय, निर्विकार, निराकार और निर्विशेष ब्रह्म में भला भेद कहाँ ?

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में २३ वें मन्त्र का उत्तरार्ध है। **कल्पार्णवे**–प्रलयकाल में चारों समुद्र अपनी मर्यादा त्याग कर समस्त भूभाग को डुबो कर, आपस में मिलकर एक हो जाते हैं, उस प्रलयसागर के **इव**–सदृश जो **अत्यन्त परिपूर्णैकवस्तुनि**–चारों ओर से अत्यन्त भरा हुआ है, जिसमें भूखण्ड अवशेष नहीं है, चारों ओर अथाह जल है, ऐसे सागर की भांति अद्वितीय **निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः**–परिणामशून्य रूपशून्य निर्धर्मक ब्रह्म में भेद कहाँ ? ।।४०२।।

तेजसीव तमो यत्र प्रलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ।।४०३।।

अर्थ—प्रकाश में जैसे अन्धकार लीन हो जाता है वैसे ही जिसमें भ्रम का कारण अज्ञान लीन होता है उस अद्वितीय और निर्विशेष परमतत्त्व ब्रह्म में भेद कहाँ ?

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में २४ वां मंत्र है। **भ्रान्तिकारणम्**–मोह का कारण, अप्रकाश का कारण **तमः**–अन्धकार, अज्ञान **तेजसि इव**–अन्धकार जिस प्रकार प्रकाश में लय हो जाता है, उसी प्रकार **यत्र**–जिस परमात्मा में अज्ञान **प्रलीनम्**–लय हो जाता है, ऐसे **अद्वितीये**–एकतत्त्व **परे**–सर्वोत्कृष्ट, मायातीत, प्रकृति की सीमा से परे **निर्विशेषे**–सर्व लिंगों से रहित ब्रह्म में **भिदा कुतः**–भेद कहाँ ? भेद करने वाला अज्ञान होता है, अज्ञान के नाश होने पर भेद कौन करेगा ? ।।४०३।।

एकात्मके परे तत्त्वे भेदवार्ता कथं भवेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ।।४०४।।

अर्थ—एकात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमतत्त्व में भला भेद की बात ही क्या हो सकती है ? केवल सुखस्वरूपाकार सुषुप्ति में किसने नानात्व देखा है ?

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में २५ वां मन्त्र है। **एकात्मके परे तत्त्वे**–अद्वितीय, सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म में **भेदवार्ता**–भेद की बात, नानात्व की वार्ता **कथम् भवेत्**–किस प्रकार होए, क्योंकि ब्रह्म तत्त्व निर्विकार, निराकार निर्विशेष

है, इसमें भेद तो दूर रहा, भेद की वार्तालाप भी सम्भव नहीं। यदि भेद सत्य होता तो सुषुप्ति अवस्थामें भी दिखाई पड़ता, परन्तु यह सर्व का अनुभव है कि **सुषुप्तौ**–सुषुप्ति अवस्था में जहाँ मन लीन हो जाता है **सुखमात्रायाम्**–अज्ञानाच्छादित सुख-मात्र में **भेदः**–भेद, नानात्व। **केन अवलोकितः**–किससे देखा गया है? अर्थात् ईश्वर से भी नहीं देखा गया। सुषुप्ति में मन, अन्तः करण अपने कारण अज्ञान में विलीन हो जाता है, और 'संज्ञादिभेदकलना' जो मन का स्वभाव है, नहीं होता क्योंकि, 'मनः प्रसूते विषयानशेषान् स्थूलात्मना सूक्ष्मातमतया च भोक्तुः' मन, विलीन होने से, नामरूप सृष्टि रचने में असमर्थ होता है, फिर भेद कैसे हो? 'मैं सुख से सोया, कुछ खवर नहीं रही' यह अनुभव सुषुप्ति से जागने के उपरान्त सव मनुष्यों का होता है,। यदि सुषुप्ति में ही नामरूप सृष्टि भेद नहीं है, तो समधि में, ज्ञानावस्था में भेद कहाँ से रहेगा, क्योंकि वहाँ तो अज्ञान की गन्ध भी नहीं रहती ॥४०४॥

न ह्यस्ति विश्वं परतत्त्वबोधात्, सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे।
कालत्रये नाप्यहिरीक्षितो गुणे, न ह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम् ॥४०५॥

अर्थ––ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर सत्स्वरूप निर्विकल्प परब्रह्म में विश्व निश्चय ही नहीं रहता, तीनों काल में भी कभी किसी ने रज्जु में सर्प और मृगतृष्णा में जल को बूंद नहीं देखी।

व्याख्या––**सत्-आत्मनि निर्विकल्पे ब्रह्मणि**–सत् रूप विकल्परहित, एक तत्त्व ब्रह्म में **परतत्त्वबोधात्**–सर्वोकृष्ट, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार होने से **विश्वम् न हि अस्ति**–निश्चय ही संसार नहीं है। संसार तो पहले भी नहीं था, परन्तु अज्ञान के कारण भासता था, आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त यह निश्चय दृढ़ हो जाता है कि परमार्थ में संसार नहीं है. अज्ञान से आत्मा में आरोपित है।

अव दृष्टान्त देकर समझाते हैं। **कालत्रये अपि**–तीन काल में भी भूत, वर्त्तमान, भविष्यत में कभी भी, किसी से भी, किसी देश में भी यह जोड़ लेना चाहिये **गुणे**–रज्जु में **अहिः**–सर्प, तथा **मृगतृष्णिकायाम् अम्बुबिन्दुः**–मरुमरीचिका में जल की बूंद भी **न हि ईक्षितः**–नहीं देखी गई है ॥४०५॥

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।
इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते ॥४०६॥

अर्थ—श्रुति साक्षात् कहती है कि यह विश्व मायामात्र है, वास्तव में तो अद्वैत ही है, और ऐसा ही सुषुप्ति में भी अनुभव किया जाता है।

व्याख्या—**इदम् द्वैतम्**—यह विश्व **मायामात्रम्**—माया कल्पित है, वस्तुतः स्वरूप से भिन्न नहीं है, अज्ञान का कार्य होने से इसकी सत्ता नहीं है, **परमार्थतः**—वास्तव में, यथार्थ में **अद्वैतम्**—सत्यभूत निर्भेद ब्रह्म ही है **इति श्रुतिः साक्षात् ब्रूते**—इस प्रकार वेद भगवान साक्षात् कहते हैं। वेद प्रमाण दिये जाते हैं:—'मनसै-**वेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन**। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव **पश्यति**' कठ० २।१।११ मन से जगत है, ब्रह्म में जगत नहीं है, जो ब्रह्म में भेद देखता है, वह वार-वार जन्मता मरता है। 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥' मुण्डक २।२।११ ब्रह्म ही अमृत है, वही आगे पीछे, दायें वायें, नीचे ऊपर फैला हुआ है, यह विश्व परम ब्रह्म ही है। 'ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि **विविधानि च**। कर्माण्यपि समग्राणि विभर्तीति श्रुतिर्जगौ॥' योगशिखोपनिषद ॥६॥ ब्रह्म ही सर्वनाम, रूप, कर्म धारण करता है ऐसा श्रुति ने गाया है। यदि वास्तव में द्वैत जगत सत्य होता तो **सुषुप्तौ अनुभूयते**—सुषुप्ति में भी इसका अनुभव होता। पर सुषुप्ति में किसीको भी भेद अनुभव नहीं होता। श्रुति प्रमाण और अनुभव से द्वैत सिद्ध नहीं होता ॥४०६॥

अनन्यत्वमधिष्ठानादारोप्यस्य निरीक्षितम्।
पण्डितै रज्जुसर्पादौ विकल्पो भ्रान्तिजीवनः ॥४०७॥

अर्थ—रज्जु-सर्प आदि में बुद्धिमान् पुरुषों ने अध्यस्त वस्तु का अधिष्ठान-से अभेद देखा है। विकल्प की आयु भ्रान्ति काल तक है।

व्याख्या—**आरोप्यस्य**—आरोपित वस्तु का **अधिष्ठानात्**—अपने आधार, अधिष्ठान से **अनन्यत्वम्**—अभिन्नत्व **निरीक्षितम्**—अच्छे प्रकार से देखा गया है **पण्डितैः**—सूक्ष्मदर्शी पण्डितों से, मूढों की तो वात ही छोड़ दो। अव दृष्टान्त देते हैं। **रज्जुसर्पादौ**—रज्जु में जो सर्प भासता है, वह सर्प रज्जु से भिन्न नहीं अर्थात् रज्जु और सर्प एक ही हैं, आदि पद से शुक्ति रजत का दृष्टान्त ग्रहण करना चाहिये, रजत सीपी से अभिन्न है। सीपी में भासने वाला रजत सीपी ही है। **विकल्पः**—अधिष्ठान में आरोपित वस्तु **भ्रान्तिजीवनः**—भ्रान्तिकाल तक सत्तावान है, भ्रान्ति नष्ट होने पर आरोपित वस्तु अधिष्ठान ही होता है। जवतक

अन्धकार है तभी तक रस्सी में आरोपित सर्प जीवित रहता है, प्रकाश होने पर सर्प का खण्ड भी नहीं रहता, केवल अधिष्ठानमात्र रज्जु ही रहता है ॥४०७॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥४०८॥

अर्थ—इस विकल्प का कारण मन है । मन के अभाव में यह नहीं रहता । इसलिये मन को सम्यक् चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थिर करो ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में २६ वां मन्त्र है । **चित्तमूलः**—मन ही कारण है जिसका ऐसा **अयम्**—यह **विकल्पः**—द्वैतरूप प्रपंच है । जैसे पूर्व में कहा है, 'तस्मानमनः कारणमस्य जन्तो र्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने' । **चित्त-अभावे**—मन के अभाव में **न कश्चन**—द्वैतरूप विकल्प नहीं है । **अतः चित्तम्**—इसलिये मन को, अन्तःकरण वृत्ति को **प्रत्यग्रूपे**—कूटस्थ चैतन्य, जो तुम्हारा स्वरूप है, उस **परात्मनि**—परमात्मा में **समाधेहि**—स्थापित करदे, ब्रह्माकार वृत्ति से निर्विकल्प समाधि में परमात्मा का साक्षात्कार करे । जब चित्त ही नहीं रहेगा, तो विकल्प कहाँ से रहेगा ॥४०८॥

अब छः श्लोकों में यह बताते हैं कि पूर्ण ब्रह्म का, जहाँ समस्त भेदों का एकी-करण होता है, दर्शन केवल निर्विकल्प समाधि में ही हो सकता है । हे शिष्य ! तू भी इसमें समर्थ है, यत्न करके अपना जीवन सफल कर ।

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् ।
निरवधिगगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥४०९॥

अर्थ—मन वाणी का अविषय नित्यबोधस्वरूप, केवलानन्दरूप, उपमारहित, कालातीत, नित्यमुक्त, निश्चेष्ट, निःसीम, आकाश के समान, निरवयव, निर्विकल्प पूर्ण ब्रह्म का विवेकी साधक समाधि-अवस्था में अपने अन्तःकरण में साक्षात् अनुभव करता है ।

व्याख्या—**किम् अपि**—मन वाणी का अविषय, मन जिसका चिन्तन नहीं कर सकता और वाणी जिसको व्यक्त नहीं कर सकती, ऐसा कोई प्रसिद्ध तत्त्व **सतत-बोधम्**—अखण्डज्ञानस्वरूप **केवलानन्दरूपम्**—दुःख अमिश्रित सुखरूप **निरुपमम्**—उपमारहित, अद्वैत **अतिवेलम्**—त्रिकालातीत **नित्यमुक्तम्**—सर्वदा वन्धरहित **निरीहम्**—निष्काम, आप्तकाम, वासनारहित **निरवधिगगनाभम्**—निःसीम आकाश के सदृश, असंग, निर्मल **निष्कलम्**—निरवयव **निर्विकल्पम्**—सर्वविकल्परहित, एकतत्त्व **पूर्णम् ब्रह्म**—अनन्त अखण्ड ब्रह्म को **विद्वान्**—विवेकवान साधक **समाधौ**—निर्विकल्प समाधि में **हृदि**—अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति से अन्तकरण में **कलयति**—साक्षात् अनुभव करता है, विषय करता है ।।४०९।।

प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावं
समरसमसमानं भानसम्बन्धदूरम् ।
निगमवचनसिद्धं नित्यमस्मत्प्रसिद्धं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ।।४१०।।

अर्थ—माया और उसके कार्य से रहित, कल्पना से अतीत, समरस, उपमारहित, दृश्य प्रपंच से असंवंधित वेद-वाक्यों से सिद्ध, नित्य, अस्मत् (मैं) रूप से प्रसिद्ध पूर्ण ब्रह्म का विवेकी साधक समाधि-अवस्था में अपने अन्तःकरण में अनुभव करता है

व्याख्या—**प्रकृति-विकृतिशून्यम्**—अव्यक्त माया और उसके कार्य विकारों से, वियदादि से रहित **भावनातीतभावम्**—मन वाणी का अविषय, कल्पनातीत, सद्रूप, सत्तावान **समरसम्**—एकरस, निर्विकार **असमानम्**—निरुपम **भानसम्बन्ध-दूरम्**—दृश्यप्रपंच से असंवंधित, असंस्पृष्ट **निगमवचनसिद्धम्**—वेदान्त प्रमाण के विना, केवल तर्क से, सिद्ध न होने वाला, वेद प्रमाण से पुष्ट **नित्यम्**—त्रिकाल अवाध्य **अस्मत्प्रसिद्धम्**—'अहम्' प्रत्यय से प्रसिद्ध **पूर्णम् ब्रह्म विद्वान् समाधौ हृदि कलयति**—पूर्ववत् ।।४१०।।

अजरममरमस्ताभासवस्तुस्वरूपं
स्तिमितसलिलराशि-प्रख्यमाख्याविहीनम् ।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ।।४११।।

अर्थ––अजर, अमर, द्वैतशून्य, निश्चल जल-राशि के समान, नाम से रहित, गुणों के विकार से शून्य, नित्य शान्तस्वरूप और अद्वितीय पूर्ण ब्रह्म का विद्वान् समाधि-अवस्था में हृदय में साक्षात् अनुभव करता है ।

व्याख्या––**अजरम्**–जरारहित **अमरम्**–मृत्युरहित **अस्त-आभासवस्तु स्वरूपम्**–अस्त, नष्ट हो गया है द्वैतवस्तु जिसके स्वरूप में वह, निर्भेद **स्तिमित-सलिल-राशि-प्रख्यम्**–शान्त सागर के सदृश, निस्तरंगजलराशिवत् **आख्याविहीनम्**–नामरहित **शमितगुणविकारम्**–शान्त हो गये हैं, सत्त्व-रज-तमगुण के विकार जिसमें, निर्विकार, निर्गुण **शाश्वतम्**–अनादिसिद्ध **शान्तम्**–अचल, वासनारहित, अपरिणामी **एकम्**–अद्वितीय **पूर्णम् ब्रह्म**–पूर्ण ब्रह्म को **विद्वान् समाधौ हृदि कलयति**–पूर्ववत् ॥४११॥

समाहितान्तःकरणः स्वरूपे, विलोकयात्मानमखण्डवैभवम् ।
विच्छिन्धि बन्धं भवगन्धगन्धितं, यत्नेन पुंस्त्वं सफलीकुरुष्व ॥४१२॥

अर्थ––अपने स्वरूप में मन को स्थिर करके अखण्ड ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा का साक्षात्कार करो, संसार-वासना युक्त अज्ञान को यत्नपूर्वक काट डाल और मनुष्य-जन्म को सफल कर ।

व्याख्या––**स्वरूपे**–निजरूप परमात्मा में **समाहित-अन्तःकरणः**–मन की वृत्ति को स्थापित करके **अखण्डवैभवम् आत्मानम्**–अनन्त वैभव से युक्त आत्मा को, समस्त जगत् के एकमात्र अधिष्ठान का **विलोकय**–दर्शन कर, साक्षात्कार कर निर्वि-कल्प समाधि में **भवगन्धगन्धितम्**–संसार वासना से युक्त **बन्धम्**–अज्ञान को **विच्छिन्धि**–नष्ट कर **यत्नेन**–निज के पुरुषार्थ से, जैसे पूर्व में कहा है 'तस्मात् सर्व-प्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये, स्वैरेव यत्नः कर्तव्यः' । **पुंस्त्वम्**–पुण्य से प्राप्त हुए पुरुषत्व को, 'जन्तूनाम् नरजन्मदुर्लभम्' **सफलीकुरुष्व**–मोक्ष लाभ से फलवान कर, पुरुषत्व को सफल बना 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ।' १५।२० गीता । हे अर्जुन आत्मा का साक्षात्कार करके बोधवान और कृतकृत्य हो जाता है ॥४१२॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
भावयात्मानमात्मस्थं न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥४१३॥

अर्थ—समस्त उपाधियों से रहित अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा का अपने अन्तःकरण में ध्यान कर, इससे तू फिर संसारमार्ग में नहीं पड़ेगा ।

व्याख्या—सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम्–स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर रूपी उपाधियों से असंबद्ध, मुक्त **सच्चिदानन्दम्**–नित्य बोधसुखरूप **अद्वयम्**–एकतत्त्व **आत्मानम्**–निजरूप आत्मा को **आत्मस्थम्**–अन्तःकरण में, जहाँ आत्मा का प्रकाश पड़ता है, जो आत्मा के प्रतिविम्ब को ग्रहण करता है, उस स्थान में **भावय**–अपने स्वरूप का ध्यान कर । अब इसका फल कहते हैं । **भूयः**–आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त **अध्वने**–संसार मार्ग में **न कल्पसे**–पड़ने में समर्थ नहीं होता, 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतिः, वह फिर नहीं लौटता, 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।' गीता ८।१६। हे अर्जुन मुझ आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके फिर जन्म नहीं होता ।।४१३।।

शिष्य की देह में अभीतक आसक्ति जान कर दयासिन्धु गुरु देहमोह भंग करने के लिये पांच श्लोक कहते हैं ।

छायेव पुंसः परिदृश्यमानमाभासरूपेण फलानुभूत्या ।
शरीरमाराच्छववन्निरस्तं पुनर्न सन्धत्त इदं महात्मा ।।४१४।।

अर्थ—पुरुष की छाया के समान केवल आभासरूप से प्रतीत होनेवाले इस शरीर का, जिसका अनुभव प्रारब्ध कर्म भोग से होता है शव के समान एक बार बाध कर देने पर ब्रह्मवेत्ता महात्मा इसे फिर स्वीकार नही करता ।

व्याख्या—महात्मा–ब्रह्मवेत्ता, जिसने ब्रह्मभाव का प्राप्त कर लिया है **आभासरूपेण**–दर्पण में नगराभास की भांति आत्मा में अध्यस्त रूप से, प्रातिभासिक सत्ता से. ऐसा भी क्यों ? **फलानुभूत्या**–बोध होने के पश्चात् ज्ञानवान की दृष्टि में प्रारब्ध कर्म दग्ध हो जाता है. फिर शरीर जो कि प्रारब्ध निर्मित है, क्यों दिखाई पड़े ? इसलिये कि प्रारब्ध कर्मक्षय के विना शरीर नहीं गिरता । भोग से ही प्रारब्धकर्म क्षय होता है, उस प्रारब्ध कर्म के फल के अनुभव से शरीर की प्रतीति होती है परन्तु उसमें आत्मबुद्धि नहीं रहती । यदि बोध होते ही शरीर नाश हो जाये तो ब्रह्मविद्या के आचार्यों का अभाव हो जायेगा ।

पुंसः छाया इव–पुरुष की छाया की भांति अर्थात् [illegible] **परिदृश्यमानम्**–प्रारब्ध कर्म निःशेष क्षय तक प्रतीत होने वाले **शरीरम्**–देह को **आरात्**–समीपता

से, विवेक बल से **शववत्–मुर्दे** को तरह, जड़, अन्धकार-रूप जानकर **निरस्तम्–** त्यागे हुए, असत्, अनात्म जानकर त्यागे हुए **इदम्**–इस शरीर को, जिसको मूढजन आत्मा जानकर पोषण करते हैं **पुनः न संधत्ते**–आत्मदर्शन के उपरान्त आत्मरूप से इसको स्वीकार नहीं करते इसका ध्यान नहीं करते ।।४१४।।

सततविमलबोधानन्दरूपं समेत्य, त्यज जडमलरूपोपाधिमेतं सुदूरे ।
अथ पुनरपि नैष स्मर्यतां वान्तवस्तु, स्मरणविषयभूतं कल्पते कुत्सनाय।।४१५।।

अर्थ—निरन्तर और निर्मलचिदानन्दमय स्वरूप को प्राप्त करके इस मलरूप जड शरीर को दूर ही से त्याग दो और फिर कभी इसकी याद भी मत करो, क्योंकि वमन की हुई वस्तु याद करने पर घृणा उत्पन्न करती है।

व्याख्या—**सतत**–निरन्तर **विमलबोध-आनन्दरूपम्**–निर्मलज्ञान, सुखरूप अपने स्वरूप आत्मा को **समेत्य**–जानकर, प्राप्त होकर **जड़-मलरूपोपाधिम् एतम्**– अचेतन, अपवित्र उपाधि रूप इस शरीर को **सुदूरे त्यज**–दूर से ही अनात्म जानकर त्याग दे, 'त्यजताम् मलभाण्डवत्' शरीर में आत्माभिमान हटा ले, **अथ**–आत्मबोध के उपरान्त **पुनः एषः**–फिर यह देह, 'छायेव परिदृश्यमानम्' **न स्मर्यताम्**–नहीं स्मरण करनी चाहिये, पुनः इसमें आत्मबुद्धि मत कर **वान्तवस्तु**–वमन की हुई वस्तु का **स्मरणविषयभूतम्**–जड़, अशुचि, शवाकार, असत् समझ कर जिस शरीर को त्याग दिया है उस शरीर का स्मरण **कुत्सनाय कल्पते**–घृणात्मक होता है। अपनी वमन वस्तु से घृणा होती है, दूसरे की से निन्दा होती है ।।४१५।। अत्र सप्तमी भूमिका के ज्ञानवान की शरीर सम्वन्धी भावना दो श्लोकों में वर्णन करते हैं।

समूलमेतत्परिदह्य वह्नौ सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
ततः स्वयं नित्यविशुद्धबोधानन्दात्मना तिष्ठति विद्वरिष्ठः ।।४१६।।

अर्थ—ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ज्ञानवान इस देह को इसके मूल-कारण अविद्या के सहित निर्विकल्प सत्स्वरूप ब्रह्माग्नि में भस्म करके फिर स्वयं नित्य विशुद्ध बोधानन्द-स्वरूप से स्थित रहता है।

व्याख्या—**निर्विकल्पे**–एकत्तत्व, अद्वैत **सदात्मनि ब्रह्मणि वन्हौ**–सत्रूप, अपने स्वरूप ब्रह्मरूपी अग्नि में **एतत् समूलम् परिदह्य**–इस शरीर को मूलसहित,

अविद्या सहित भले प्रकार ज्ञानाग्नि में भस्म करके **ततः**—उसके उपरान्त **विद्वरिष्ठः**—ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ, सप्तमी भूमि का ज्ञानवान **स्वयम् नित्यविशुद्धबोधानन्दात्मना**—अपने आप अखण्ड निर्गुण ज्ञानानन्द रूप से **तिष्ठति**—अपने स्वरूप में स्थिर रहता है. अर्थात् निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करके फिर जागता नहीं, शरीर ही गिर जाता है वह जागता क्यों नहीं ? क्योंकि उसने शरीरवासना का मूल सहित परि-दहन कर दिया है, अब शरीरवासना के पुनरुत्थान का अवसर नहीं। इस समय विश्व में सप्तमी भूमिका का कोई ज्ञानवान नहीं है। भगवान राम के काल में ज्ञानमूर्ति वशिष्ठ जी ने सप्तमी भूमिका का एक ज्ञानवान वताया था। सप्तमी भूमि का बोधवान् साधारणतः २१ दिन जीवित रहता है ।।४१६।।

प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं प्रयातु वा तिष्ठतु गोरिव स्रक् ।
न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्तानन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः ।।४१७।।

अर्थ——गौ के गले में पड़ी हुई माला के सदृश प्रारब्ध के धागों से बना शरीर रहे अथवा जाय, ब्रह्म में लीन तत्त्ववेत्ता फिर इसकी ओर नहीं देखता।

व्याख्या——प्रारब्धसूत्रग्रथितम्—प्रारब्धकर्मधागों से गुँथा, निर्मित शरीर. **गोः स्रक् इव**—गौ के गले में पड़ी हुई माला की भांति, गौ के शृंगार के लिये गोपालक रंगीन कपड़े के फूलों की माला उसके गले में डालते हैं। इस माला में कोड़ी और क्षुद्र घण्टिकायें भी होती हैं, उस माला की तरह **प्रयातु**—नष्ट हो जाये, पतन हो जाये **वा**—या **तिष्ठतु**—ठहरे, गौ को उससे प्रयोजन नहीं। उसी प्रकार **आनन्दात्मनि ब्रह्मणि**—,आनन्दरूप अपने स्वरूप ब्रह्म में **लीनवृत्तिः**—डूब गई है वृत्ति जिसकी, ऐसी निर्विकल्प समाधि में प्रविष्ट सप्तमी भूमि का **तत्ववेत्ता**—आत्मतत्त्वज्ञ **पुनः न तत् पश्यति**—फिर उस शरीर को नहीं देखता अर्थात् समाधि से नहीं जागता, जैसे आगे कहेंगे, 'कस्तां परानन्दरसानुभूतिमुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान्'। उस परमानन्द के अनुभव को छोड़ कौन तत्त्ववेत्ता शून्य विषयों में रमण करेगा ।।४१७।।

ज्ञानवान् का शरीर से अप्रयोजन कहते है।

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः ।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति तत्त्ववित् ।।४१८।।

अर्थ—अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्मा को ही अपना स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभव करके किस इच्छा अथवा किस कारण से तत्त्ववेत्ता इस शरीर का पोषण करे ?

व्याख्या—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति अध्यात्मोपनिषद में २७ वें मन्त्र का पूर्वार्ध है। **अखण्डानन्दम् आत्मानम्**—अनन्त परिपूर्ण आनन्दरूप आत्मा को **स्व-स्वरूपतः विज्ञाय**—अपना स्वरूप जानकर, साक्षात् दर्शन करके **तत्त्ववित्**—ब्रह्म-वेत्ता **किम् इच्छन्**—क्या इच्छा करता हुआ, **कस्य वा हेतोः**—अथवा किस कारण से किस फल प्राप्ति के लिये **देहम् पुष्णाति**—देह का पोषण करे, देह में सत्यबुद्धि रक्खे 'आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर-मनुसंज्वरेत्।' इति श्रुतिः बृहदा० ४।४।१२, जो आत्मा को अपना स्वरूप करके जानता है, वह क्या चाहता हुआ, किस कामना से शरीर को तपायेगा ॥४१८॥

अब श्लोक ४१९ से ४२५ तक छः श्लोकों में ब्रह्मविद्या के साधनों के तथा ब्रह्मविद्या के विविध फल बताते हैं।

> **संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः।**
> **बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥४१९॥**

अर्थ—आत्मज्ञान में सम्यक् सिद्धि प्राप्त किये हुए जीवन्मुक्त योगी को यही फल है कि सर्वकाल में आत्मा के नित्यानन्दरस का समाधि में तथा समाधि से जागने पर भी निरन्तर आस्वादन किया करता है।

व्याख्या—**संसिद्धस्य**—साधनचतुष्टय सम्पन्न होकर गुरुशरण में जाकर, उनसे ब्रह्म विद्या श्रवण करके, फिर मनन निदिध्यासन करके अन्त में आत्मसाक्षात्कार करके सिद्ध हुए, सर्वकर्तव्यरहित हुए **जीवन्मुक्तस्य**—शरीर धारण करते हुए ही मुक्त, निर्वासित **योगनः**—ज्ञानवान को **एतत् तु फलम्**—यह फलसिद्धि होती है, क्या ? **सदा**—सर्वकाल में **बहिः**—समाधि से उत्थान होने पर, **अन्तः**—समाधि अवस्था में **आत्मनि**—बुद्धिवृत्ति में **आनन्दरस-आस्वादनम्**—आनन्द रस चखता है। समाधि से व्युत्थानमन हुआ जगत को ब्रह्मरूप देखता है, समाधि काल में स्वरूपानन्द में मग्न रहता है। समाधि के उपरान्त भी, आवरण भंग होने के कारण, उसकी ब्रह्माकार वृत्ति बनी रहती है, और वह जीवन्मुक्ति का सुखभोग करता है। उसको माया की प्रतिकूलता नहीं भासती, माया की सब चेष्टायें उसको सुख देती हैं, क्योंकि वह माया का रहस्य समझ चुका है ॥४१९॥

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम् ।
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥४२०॥

अर्थ—वैराग्य का फल बोध है और बोध का फल उपरति है तथा उपरति का फल यही है कि आत्मानन्द के अनुभव से चित्त शान्त हो जाय।

व्याख्या—वैराग्यस्य फलम् बोधः—वैराग्य का फल बोध है, ज्ञान है, वैराग्य का फल शम दमादि षट् सम्पत्ति, उसका फल मुमुक्षुता—ऐसा साधन चतुष्टयसम्पन्न साधक श्रवण-मनन-निदिध्यासन से आत्मसाक्षात्कार करता है। ज्ञान का असाधारण साधन होने से, यहाँ उपलक्षण रूप से वैराग्य कह दिया है। 'अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः'। अत्यन्त विरक्त को समाधि प्राप्त होती है। विरक्त को संसार भोगों में वासना नहीं रहती, और वासनाप्रक्षय ही मोक्ष है, और वही जीवंन्मुक्ति है, 'वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते।' **बोधस्य फलम् उपरतिः**—सम्यक् ज्ञान का फल उपरति है, 'वाह्यानालम्वनम् वृत्तेः एषा उपरतिः उत्तमा' वाह्य विषयों का वृत्ति द्वारा अग्रहण, उत्तम उपरति कहाती है। बोध के कारण विषयों में उसकी सत्यबुद्धि नष्ट हो चुकी है, इसलिये उनको ग्रहण करने में बोधवान की रुचि नहीं रहती, प्रारब्ध जितने भोग को उपस्थित करता है, उतने भोग को आसक्तिरहित स्वीकार करके फिर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

स्वानन्दानुभवात् शान्तिः—स्वस्वरूप की आनन्दरूपता के अनुभव से शान्ति, आवरण-विक्षेपरहितता, संकल्प वासनादि के कोलाहल से शून्यता, निष्क्रियता **एषा एव उपरतेः फलम्**—यह शान्ति उपरति का फल है, विषयों के ग्रहण अथवा अग्रहण से सम्वन्धरहित को शान्ति मिलती है, परम तृप्ति का ही नाम उपरति है, और उपरत पुरुष ही शान्ति प्राप्त करता है ॥४२०॥

यद्युत्तरोत्तराभावः पूर्वपूर्वं तु निष्फलम् ।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः ॥४२१॥

अर्थ—यदि पिछले-पिछले फलों का अभाव है तो पहले वाले साधन निष्फल हैं, वासना से निवृत्ति, परमातृप्ति, साक्षात् अनुपम आनन्द। (अगले श्लोक से सम्वन्ध जोड़ो)

व्याख्या—यदि फल का अभाव है तो कारण दूषित समझना चाहिये। **यदि उत्तर-उत्तर-अभावः**—यदि उत्तर फल का अभाव है तो **पूर्व-पूर्वम् तु निष्फलम्**

पूर्व का कारण दूषित है। यदि बोध नहीं है तो समझना कि इसका कारण वैराग्य अधूरा है। बोध के अभाव का अर्थ है कि साधक को द्वैत में आसक्ति है जिसके परिणामस्वरूप उसको अद्वैत में एकनिष्ठा नहीं। द्वैत में आस्था वैराग्य की कमी है। अत्यन्त वैराग्य का अवश्यंभावी फल बोध है। यदि उपरति नहीं है तो उसके विपरीत साधक की विषयों में रुचि और ग्रहण करने की इच्छा वर्तमान है, यदि वासना है तो बोध कहाँ। यदि शान्ति नहीं तो विक्षेप है, अतः उपरति पूर्ण नहीं है, और ज्ञान साधनों को अर्थात् वैराग्य, बोध, उपरति को दृढ़ करना चाहिये।

अब ब्रह्मविद्या के चार फल बताते हैं। तीन फल इस श्लोक में और एक फल अगले श्लोक की प्रथम पंक्ति में दिये हैं। **निवृत्तिः**—चिज्जड़ग्रंथि से मुक्त होना, असत्-ग्राह से मुक्त होना, वासनाओं से रहित होना, निश्चिन्तता यह पहला फल **परमा तृप्तिः**—परम निरुंकशा तृप्ति, कर्तव्य कर लिया गया है, प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया गया है, और शेष कार्य कुछ नहीं रहता, यही परमा तृप्ति है, वासनारहित मन ही परमतृप्त है, यह दूसरा फल। उसके उपरान्त **स्वतः**—विना यत्न के **अनुपमः आनन्दः**—अतुलनीय असदृश सुख है, यह तीसरा फल है ।।४२१।।

दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यायाः प्रस्तुतं फलम् ।
यत्कृतं भ्रान्तिवेलायां नाना कर्म जुगुप्सितम् ।
पश्चान्नरो विवेकेन तत्कथं कर्तुमर्हति ।।४२२।।

अर्थ—और प्रारब्धवश प्राप्त हुए दुःखों से विचलित न होना ही आत्मज्ञान का (चौथा) फल है। भ्रान्ति के समय पुरुष ने जो नाना प्रकार के निन्दनीय कर्म किये हैं उन्हीं को ज्ञान हो जाने के उपरान्त वह कैसे कर सकता है ?

व्याख्या—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का पूर्व श्लोक की उत्तर पंक्ति से सम्बन्ध है। **दृष्टदुःखेषु अनुद्वेगः**—प्रारब्ध द्वारा उपस्थित दुःखों से बोधवान को उद्वेग, क्लेश नहीं होता, उनसे विचलित नहीं होता, इसके विपरीत अज्ञानी उनसे विचलित होता है। हा धिक्, मैं कैसा अभागा हूँ, इत्यादि भावों से अज्ञानी तपायमान होता है, यह चारफलसमुदाय, निवृत्ति, परमातृप्ति, अनुपम आनन्द, दृष्टदुःखों में अनुद्वेग **विद्यायाः**—ब्रह्मविद्या का **प्रस्तुतम्**—प्रत्यक्ष **फलम्**—फलचतुष्टय है। अब लौकिक दृष्टि से कहते हैं। **भ्रान्तिवेलायाम्**—अज्ञानकाल में यत्—जो नाना **जुगुप्सितम् कर्म कृतम्**—बहुप्रकार के निन्दनीय कर्म किये हैं **विवेकेन पश्चात्**—उन कर्मों की निन्दनीयता विदित होने पर **नरः**—आदमी **तत्**—निन्दित कर्म **कथम्**—

कैसे **कर्तुम् अर्हसि**—कर सकता है? यह तो साधारण मनुष्य की बात है। बोधवान पुरुष निष्क्रिय होने से उसकी कर्म में प्रवृत्ति नहीं बनती। कर्म में प्रवृत्ति रागद्वेष से होती है, बोधवान के राग द्वेष अपने मूलकारण अविद्या सहित नष्ट हो जाते हैं, अतएव उसको निवृत्ति, परमतृप्ति, आनन्द, तथा दुःखों में अनुद्वेग स्वतः प्राप्त हो जाते हैं ॥४२२॥

विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः, प्रवृत्तिरज्ञानफलं तदीक्षितम् ।
तज्ज्ञाज्ञयोर्यन्मृगतृष्णिकादौ, नो चेद्विदो दृष्टफलं किमस्मात् ॥४२३॥

अर्थ—ब्रह्मविद्या का फल अविद्या की निवृत्ति है और अविद्या का **असत्** में प्रवृत्त होना देखा गया है। ये दोनों फल ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों के लिये **मृगतृष्णा** आदि के दृष्टान्त में देखे जाते हैं। नहीं तो ज्ञानवान के लिये **विद्या का प्रत्यक्ष** फल ही क्या होता?

व्याख्या—इस श्लोक में निवृत्ति को स्पष्ट करते हैं। **असतः निवृत्तिः**—असत्, अविद्या की निवृत्ति, नाश **विद्याफलम् स्यात्**—ब्रह्मविद्या का फल है, ज्ञान से अज्ञान नाश होना है। **प्रवृत्तिः**—कर्मों में प्रवृत्ति **अज्ञानफलम्**—अज्ञान का फल है, अहंता आसक्ति युक्त कर्म अज्ञान के कारण बनते हैं। **तत्-ज्ञ-अज्ञयोः**—उन विद्या और अविद्या वालों को **मृगतृष्णिकादौ ईक्षितम्**—मरुमरीचिका आदि में निवृत्त और प्रवृत्त देखा जाता है। तप्त मरुभूमि में सूर्य की किरणें रेत के सम्पर्क में आकर जलवत् भासती हैं। मृगतृष्णिका नदी ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को समान भासती है, ज्ञानवान उसको देखकर हंसता है, और उससे जल प्राप्ति में प्रवृत्त नहीं होता। इसके विपरीत अज्ञानी उसमें जल प्राप्त करने की इच्छा से प्रवृत्त होता है। आदि पद से शुक्ति रजत का दृष्टान्त लेना। अज्ञानी सीपी को चान्दी समझ कर उसे लेने के लिये धावता है, ज्ञानी उस क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता। **नो चेत्**—यदि इतना भी अन्तर न हो तो **विदः**—ज्ञानवान को **अस्मात्**—असत् की निवृत्ति से **दृष्टफलम् किम्**—प्रत्यक्ष फल क्या होता, अतः ब्रह्म-विद्या का फल असन्निवृत्ति और अविद्या का फल असत्प्रवृत्ति, यही दृष्टफल हैं तृप्ति, आनन्दातिरेक और अनुद्वेग स्वसंवेद्य होने से दूसरों के लिये आनुमानिक हैं, प्रत्यक्ष नहीं ॥४२३॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्विनाशो यद्यशेषतः ।
अनिच्छोर्विषयः किन्तु प्रवृत्तेः कारणं स्वतः ॥४२४॥

अर्थ—यदि अज्ञानरूप हृदय की ग्रन्थिका सर्वथा नाश हो जाता है तो उस इच्छारहित पुरुष के लिये विषय किस प्रकार स्वतः ही प्रवृत्ति का कारण हो सकता है ?

व्याख्या—**यदि अशेषतः**—यदि सकारण, कुछ शेष न रहकर, समूल **अज्ञान-हृदयग्रन्थेः**—अज्ञान के कारण हृदय में चिज्जड़ ग्रंथि का **विनाशः**—सम्यक् नाश हो जाता है, आत्मा का अनात्मवस्तुओं के साथ तादात्म्य के कारण जो ग्रन्थि पड़ गई है, यदि वह पूर्ण रूप से टूट जाये, तो असत् की निवृत्ति होने पर, **किम्-नु**—कैसे हो सकता है **अनिच्छोः**—परमतृप्त के लिये **विषयः**—शब्दादि पंच विषय **स्वतः**—अपने आप, दूसरे से प्रस्तुत किये विना। **प्रवृत्तेः कारणम्**—परमतृप्त पुरुष के लिये विषय स्वतः किस प्रकार प्रवृत्ति का कारण वन सकता है ? प्रवृत्ति का कारण अज्ञान नष्ट होने पर, विषय बोधवान को कैसे आकर्षित कर सकता है ? विना प्रयोजन के तो मन्द भी प्रवृत्त नहीं होता। इस श्लोक में पांचवीं भूमिका के ज्ञानवान की स्थिति वताई है। पांचवीं भूमिका का ज्ञानवान प्रारब्धकर्म बल से नियुक्त किये जाने पर अनिच्छा से भोगों में प्रवृत्त होता है, उससे अधिक नहीं ।।४२४।।

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः
अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमोऽवधिः।
लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा ।।४२५।।

अर्थ—भोग्य वस्तुओं में वासना का उदय न होना यही वैराग्य की चरम अवधि है, अहंकार का सर्वथा उदय न होना ही बोध की चरम सीमा है और लीन हुई वृत्तियों का पुनः उत्थान न होना—यह उपरति की पराकाष्ठा है।

व्याख्या—इस श्लोक की प्रथम दो पंक्ति अध्यात्मोपनिषद में ४१ वां मन्त्र और तीसरी पंक्ति ४२ वें मन्त्र का पूर्वार्ध है। **भोग्ये**—भोग के उपस्थित होने पर **वासना-अनुदयः**—ग्रहण करने की वासना का उदय न होना। बोधवान के मन का स्वरूप नाश होने के कारण वहिर्मुखता के अभाव में वासना उदय नहीं होती **वैराग्यस्य तदावधिः**—वैराग्य की चरम अवधि है। 'न मोक्षो नभसः पृष्ठे, न पाताले न भूतले। सर्वाशासंक्षये चेतःक्षयो मोक्ष इतीष्यते ।।' अन्नपूर्णोपनिषद २।२३, मोक्ष न आकाश में है, न पाताल में और न ही भूतल पर है। सव वासनाओं के क्षय होने पर, मन का क्षय ही मोक्ष है। **अहम् भाव-उदय-अभावः**—

अहंकार का अत्यन्त अनुदय ही **बोधस्य परमः अवधिः**–ज्ञान की पराकाष्ठा है, **लीनवृत्तेः**–निर्विकल्प समाधि में डूबी हुई वृत्ति का पुनः **अनुत्पत्ति**-उत्थान न होना **सा तु**–यही ही **उपरतेः**–उपरति की, द्वैत प्रपंच के अत्यन्ताभाव की **मर्यादा**–चरम सीमा है। ये सब लक्षण सप्तमी भूमिका के महात्मा में ही उपलब्ध हो सकते हैं। परन्तु इस भूमिका का ज्ञानवान समाधि से नहीं जागता उसका शरीर ही पात हो जाता है। वसुधा के ऐसे आभूषण हैं कहाँ ?॥४२५॥

अब अगले बीस श्लोकों में जीवन्मुक्त महात्मा के लक्षण बताते हैं। इनके बताने का प्रयोजन यह है कि साधक इनको जानकर अपने में घटाने का प्रयत्न करे। वराहोपनिषद के चतुर्थ अध्याय में, तेजोविन्दूपनिषद के चतुर्थ अध्याय में महोपनिषद के दूसरे व छठे अध्याय में, गीता के दूसरे, बारहवें तथा चोदहवें अध्यायों के अन्त में भी जीवन्मुक्त के लक्षण दिये गये हैं॥

ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्तबाह्यार्थधी-
रन्यावेदित-भोग्य-भोगकलनो निद्रालुवद्बालवत्।
स्वप्नालोकित-लोकवज्जगदिदं पश्यन्क्वचिल्लब्धधी-
रास्ते कश्चिदनन्तपुण्यफलभुग्धन्यः स मान्यो भुवि॥४२६॥

अर्थ—निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति से स्थित रहने के कारण जिसकी बुद्धिवृत्ति वाह्य विषयों से छुटकारा पा चुकी है और जो निद्रालु अथवा बालक के समान दूसरों के निवेदन किये हुए ही भोग्य पदार्थों का सेवन करता है तथा कभी विषयों में बुद्धि जानेपर जो इस संसार को स्वप्न-प्रपञ्च के समान देखता है, वह अनन्त पुण्यों के फल का भोगनेवाला कोई ज्ञानी महापुरुष इस पृथ्वीतल में धन्य है और सकल-पूज्य है।

व्याख्या—**सदा**–निरन्तर **ब्रह्माकारतया स्थिततया**–ब्रह्मकार वृत्ति में वर्त-मान रहने से **निर्मुक्तबाह्यार्थधीः**–छूट गई है, सम्बन्धरहित हो गई है बाह्य अर्थ अनात्मपदार्थों में जिसकी बुद्धि, जिसकी वृत्ति असत् पदार्थों के ग्रहण में असमर्थ हो गई है, अन्तर्मुख-वृत्ति वाला, ऐसा **अन्यावेदितभोग्य-भोगकलनः**–दूसरों के निवेदन करने पर शरीरस्थिति रक्षा निमित्त अन्न पानादि भोग्यवस्तु ग्रहण करने वाला दूसरे भक्तों से समाधि से जगाया जाने पर प्रस्तुत अन्नादि का भोग करने वाला

निद्रालुवत्—आनन्द की खुमारी से अर्धसुप्त अर्धजाग्रित, निद्रालु सा **बालवत्**—अथवा बालक की तरह, क्रीडारत बालक माता के बारम्बार आवाहन किये जाने पर परेच्छा से भोजन करते है, उसी तरह स्वरूपानन्द में विभोर महात्मा। भगवत्पाद आगे कहेंगे, 'क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बाल: क्रीड़ति वस्तुनि। तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ।।५३८।। जैसे बालक खिलोने मिलने पर भूख प्यास शरीर पीड़ा को भूल कर खेल में लगा रहता है, वैसे ही अहंकार और ममता से शून्य ब्रह्मवेत्ता आत्मा में सुखपूर्वक रमण करता है। **क्वचित् लब्धधीः**—कदापि उसको बुद्धि प्राप्त होने पर अर्थात् जब कभी समाधि से जागता है तो जगत को किस प्रकार देखता है, बताते हैं। **स्वप्नालोकित-लोकवत्**—स्वप्न में देखी हुई सृष्टि की तरह, मिथ्यारूप से **इदम् जगत् पश्यन्**—इस जगत को देखनेवाला **कश्चित्**—कोई विरला प्रौढ़ ज्ञानवान **अनन्तपुण्यफलभुक्**—शतकोटि जन्मों में किये पुण्यों के फलरूप मोक्ष का आनन्द भोगता हुआ **आस्ते**—रहता है।

स: धन्य:—वह धन्य है। 'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्तावनि:, यज्ञानां च सहस्रमिष्टमखिला देवाश्च संतर्पिता:। संसाराच्च समुद्धृता: स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ, यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मन: प्राप्नुयात् ।।' उसने सब तीर्थों में स्नान कर लिया, सर्वमही का दान कर दिया, सहस्रों यज्ञ कर लिये, देवता तृप्त कर दिये, पितरों का उद्धार कर दिया, वह तीन लोकों में पूज्यवान है, जिसने एक क्षण भर के लिये भी निर्विकल्प समाधि में मन स्थिर कर लिया। **भुवि मान्यः**—संसार में सकलपूज्य है, 'अन्तर्मुखतया तिष्ठन् वहिर्वृत्तिपरोऽपि सन्। परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुखि लक्ष्यते ।। गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽन्त: प्रबोधवान्। सुषुप्तमन एवास्ते पंचमीं भूमिकाम् गत: ।।' अन्तर्मुखी वृत्ति में स्थिर कभी कभी वहिर्मुख भी होता है, क्लान्त सा सदा निद्रालु सा दिखाई देता है। नष्टद्वैताभास मुदितमन अपने स्वरूप में जागृत, द्वैत की ओर से गाढसुषुप्त मन, यह स्थिति पांचवीं भूमिका के ज्ञानवान की है ।।४२६।।

स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते।
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः ।।४२७।।

अर्थ—वही यति स्थितप्रज्ञ है जो आनन्द का उपभोग करता है, जिसकी वृत्ति ब्रह्म में लीन है अतएव विकाररहित और क्रियारहित है।

व्याख्या—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति अध्यात्मोपनिषद में ४२ वें मन्त्र का उत्तरार्ध है। **अयम् यतिः**—यह संन्यासी **स्थितप्रज्ञः**—स्वरूप में वर्तमान है। प्रज्ञा

बुद्धि जिसकी वह स्थितप्रज्ञ । प्रज्ञा को अगले श्लोक में बोलेंगे. **यः सदा**—जो निरन्तर **आनन्दम् अश्नुते**—आनन्द का उपभोग करता है. अपने स्वरूप में अवस्थित है **ब्रह्मणि एव विलीनात्मा**—अपने स्वरूप ब्रह्म, परमात्मा में ही डूब गई है अन्तःकरण की वृत्ति जिसकी वह विलीनात्मा, अतएव ब्रह्माकारवृत्तिधारी **निर्विकारः**—सर्व विकाररहित, **विनिष्क्रियः**—सर्वक्रियारहित, ऐसा ज्ञानवान स्थितप्रज्ञ है ।।४२७।।

अब प्रज्ञा बताते हैं । गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम १८ श्लोकों में स्थित-**प्रज्ञ के** लक्षण दिये हैं ।

ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ।
सुस्थिता सा भवेद्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥४२८॥

अर्थ—ईश्वर और जीव के शोधित अर्थों में एकता को ग्रहण करनेवाली विकल्परहित चिन्मात्रवृत्ति को प्रज्ञा कहते हैं, जिसकी यह चिन्मात्र-वृत्ति स्वरूप में स्थिर हो जाती है, वही जीवन्मुक्त कहा जाता है ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ४४ वां मन्त्र है । अब प्रज्ञा वृत्ति की परिभाषा करते हैं । तत्-त्वम् पदों के लक्ष्यार्थ, उपाधिनिर्मुक्त ईश्वर और जीव । **शोधिततयोः**—उनके अर्थ शोधित किये जाने पर **ब्रह्मात्मनोः**—लक्षितार्थ परमात्मा और प्रत्यगात्मा की **एकभाव-अवगाहिनी**—एकता के भाव को विषय करने वाली **निर्विकल्पा च**—द्वैत विकल्पों के ग्रहण से रहित, अन्य द्वैत विकल्पों की प्रतीति से अमिश्रित, अखण्डाकार **चिन्मात्रा**—केवल शुद्धबोध, चैतन्यमात्र वृत्ति, अखण्डाकार ब्रह्मविषयणी बोध-रूपा अन्तःकरण की वृत्ति । श्रवण-मनन निदिध्यासन से शुद्ध-स्थिर-सूक्ष्म हुए मन का परिणामरूप वृत्ति, जिज्ञासा परिसमाप्तिकरी वृत्ति **प्रज्ञा इति कथ्यते**—ऐसी वृत्ति को प्रज्ञा कहते हैं । **यस्य**—जिसकी **सा**—प्रज्ञावृत्ति **सुस्थिता**—अपने स्वरूप में दृढ़ता से स्थिर है, निश्चल है **सः—जीवन्मुक्तः उच्यते** वह जीवन्मुक्त कहाता है, प्राण धारण किये हुए भी वह सर्वबन्धन से मुक्त है, स्थितप्रज्ञ है।।४२८।।

जीवन्मुक्त के अन्य लक्षण भी बताते हैं ।

यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः ।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४२९॥

अर्थ——जिसकी प्रज्ञा स्वरूप में स्थिर है, जो आत्मानन्द का निरन्तर अनुभव करता है और प्रपञ्च को भूला-सा रहता है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ।

व्याख्या——यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा–जिसकी प्रज्ञा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है, पुनरुक्ति पर विचार नहीं करना चाहिये, यहाँ प्रयोजन साधक को समझाना है, क्योंकि विषय दुर्गम है **यस्य आनन्दः निरन्तरः**–जिसको अटूट आनन्द उपलब्ध है, समाधि अवस्था में भी आनन्द, व्युत्थानमन में भी आनन्द **प्रपंचः विस्मृतप्रायः**– जो दृश्य जगत को प्रायः भूल चुका है, पूरा नहीं प्रारब्ध से प्रस्तुत भोगों को ग्रहण करने के लिये कुछ काल के लिये वहिर्मुख होता है, वाकी काल में अन्तर्मुखी वृत्ति का अवलम्वन किये रहता है । द्वैत की संभाल उससे नहीं होती **सः जीवन्मुक्तः इष्यते**–वह जीवन्मुक्त कहाता है ।।४२९।।

लीनधीरपि जागर्ति यो जाग्रद्धर्मवर्जितः ।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ।।४३०।।

अर्थ——वृत्ति के लीन रहते हुए भी जो स्वरूप में जागता है; किन्तु जाग्रदवस्था के धर्मों से रहित है, तथा जिसका बोध वासनारहित है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ।

व्याख्या——यः–जो **लीनधीः अपि**–जिसकी बुद्धिवृत्ति स्वरूप में लीन हो गई है वह, लीनधी होते हुए भी **जागर्ति**–अपने स्वरूप में जागता है, परन्तु उसका जागना **जाग्रद्धर्मवर्जितः**–जाग्रदवस्था के धर्मों से रहित है, अर्थात् उस जागने में संसार का नानात्व नहीं रहता, एकतत्त्व ब्रह्म का अनुभव होता है । अथवा लीनधी का जब समाधि से उत्थान होता है, तब अहंकार के अभाव से, अज्ञाननाश के कारण, जाग्रदवस्था की व्यवहारसत्ता नष्ट हो जाती है, और उसको जगत प्रातिभासिक सत्ता वाला भासता है, स्वप्नालोकितलोकवत् । **यस्य बोधः**–जिसका बोध, ज्ञान **निर्वासनः**–वासनारहित है, संकल्पशून्य, रागद्वेषरहित **सः जीवन्मुक्तः इष्यते**—वह जीवन्मुक्त कहलाता है । अथवा समाधि के उपरान्त वृत्ति के उत्थान होने पर उसको जो जगत् का बोध, प्रतीति होती है, उस प्रतीति में वासना नहीं रहती, क्योंकि 'वासनाप्रक्षयो मोक्षः, सा जीवन्मुक्तिः इष्यते ।' वासना का असत्त्व स्वीकार होने पर ज्ञानवान असत् की क्या वासना करेगा ? खड्ग लेकर कौन आकाश को काटना चाहेगा ।।४३०।।

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३१॥

अर्थ—जिसकी संसार प्रतीति शान्त हो गयी है जो शरीरधारी होकर भी निरवयव है जो ब्रह्माकारवृत्ति युक्त होने पर भी चित्तरहित है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ।

व्याख्या—यह श्लोक महोपनिषद में २।६१ मन्त्र है । **यः शान्तसंसारकलनः**—शान्त हो गई है, नष्ट हो गई है संसार की कलना, ब्रह्मभिन्न प्रतीति, अनुभूति जिसकी वह **कलावान् अपि**—नाना अंग उपाँग सहित शरीरधारी होने पर भी **निष्कलः**—कलारहित है, जो स्वरूप से अपने को निरवयव अखण्ड आत्मा जानता है वह निष्कल **सचित्तः अपि**—चित्तवृत्ति होते हुए भी, ब्रह्माकार वृत्ति भी एक चित्तवृत्ति ही है, **निश्चित्तः**—भेद-ज्ञान नष्ट होने से, द्वैत के मिथ्यात्व का निश्चय होने से जिसका चित्त नामरूप जगत को ग्रहण करने में असमर्थ है वह निश्चित्त, जिसके चित्त का स्वरूप नष्ट हो गया है वह निश्चित्त । 'चित्तमूलो विकल्पो ऽयं चित्ताभावे न कश्चन' । अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति के प्राप्त होने पर चित्त का स्वरूप नाश हो जाता है । **सः जीवन्मुक्तः इष्यते**—ऐसा वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ॥४३१॥

वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिञ्छायावदनुवर्तिनि ।
अहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३२॥

अर्थ—छाया के समान पीछे रहनेवाले शरीर में निवास करते हुए भी इसमें अहन्ता ममता का अभाव जीवन्मुक्त का लक्षण है ।

व्याख्या—**छायावत् अनुवर्तिनि**—छाया की भांति पीछे आनेवाले **अस्मिन् देहे अपि**—इस देह में भी, परिच्छिन्न देह में भी, आभासरूप देह में **वर्तमाने**—निवास करते हुए, रहते हुए **अहंता-ममता-अभावः**—इस देह में आत्माभिमान, तथा इसकी उपयोगी वस्तुओं में ममत्व का अभाव **जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्**—जीवन्मुक्त का लक्षण है । जीवन्मुक्त को देह में अभिमान नहीं रहता, मैं ब्राह्मण हूँ, गृहस्थ हूँ, स्थूल हूँ, कृश हूँ, खाता हूँ, देखता हूँ, इत्यादि भावना उसको नहीं रहती, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार होने के कारण देहाभिमान मूलक अज्ञान नष्ट हो चुका है । देहादि के धर्म उसको अपने धर्म नहीं भासते । इसलिये देह सम्बन्धी वस्तु सुतदारागृहधनादि में भी उसका

सम्बन्ध नहीं होता । शरीर की छाया से मुख्य शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं होता । छाया अग्नि पर पड़ने से शरीर नहीं जलता, ऐसे ही आत्मा की देह से असंगता है । जब तक प्रारब्ध कर्म क्षय नहीं होता है, तबतक देहपात नहीं होता । परन्तु बोध होने पर ज्ञानवान की शरीर से असंगता हो जाती है इसी को अकिंचन कहते हैं ।।४३२।।

अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।४३३।।

अर्थ—भूतकाल का अस्मरण भविष्य की अचिन्ता का और वर्तमान में प्राप्त हुए भोगों में उदासीनता—यह जीवन्मुक्त का लक्षण है ।

व्याख्या—**अतीत-अननुसन्धानम्**—भूतकाल का अस्मरण **भविष्यत्-अविचारणम्**—भविष्य की अचिन्ता **प्राप्ते अपि**—वर्तमान में **औदासीन्यम्**—उदासीनता, तटस्थता, ये तीनों **जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्**—जीवन्मुक्त के लक्षण हैं । काल का सत्व नष्ट होने से, भूत-वर्तमान-भविष्यत् जो काल के विभाग कल्पित किये गये हैं, वे भी सत्ताहीन होते हैं । स्मृति का नाम भूतकाल, प्रस्तुत भोग का नाम वर्तमान, आशा का नाम भविष्य है । ज्ञानवान, उलटी की हुई वस्तु की भांति, त्यक्त विषयों का, भूतकाल का स्मरण नहीं करता । वर्तमान में अन्यावेदित भोगों को उदासीनता से, असत्य बुद्धि से ग्रहण करता है । आशारहित, विरक्त होने से उसको भविष्य की चिन्ता नहीं होती, क्योंकि ज्ञानवान की दृष्टि में काल सत्ता-शून्य हो चुका है और शरीर की रक्षा प्रारब्धाधीन होती है ।।४३३।।

गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन्स्वभावेन विलक्षणे ।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।४३४।।

अर्थ—आत्मा से विलक्षण इस गुण-दोषमय संसार में सर्वत्र समदर्शी होना जीवन्मुक्त का लक्षण है ।

व्याख्या—**स्वभावेन**—आत्मा से **विलक्षणे**—भिन्न भासमान **अस्मिन्**—इस जगत् में **गुणदोषविशिष्टे**—गुण दोष युक्त जगत में, **सर्वत्र**—सब देश, काल, वस्तु में, विभिन्न गुणदोषयुक्त, मित्र, शत्रु, उदासीन, सुहृद, ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता चांडाल आदि

से परिपूर्ण विचित्र जगत में **समदर्शित्वम्**—समदर्शन. विभिन्न संघातों में नामरूप को न देखकर उनके अधिष्ठान निर्दोष ब्रह्म के दर्शन करना समदर्शन है। **जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्**—जीवन्मुक्त का लक्षण है। समस्त संसार अविद्यक होने से 'न निषेधति दोषधिया गुणबुद्ध्या वा न किंचिदादत्ते', न दोषदृष्टि से निषेध करता है, न गुणबुद्धि से ग्रहण करता है। संसार में गुणदोष देखने से उसमें सत्यत्व बुद्धि उत्पन्न होती है। चित्रलिखित लघु और बृहत् सेना युद्ध करने में अक्षम होने से समान हैं। उनमें क्या कोई गुण दोष देखे।

जैसे आगे भी कहेंगे, 'न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते, न सज्जते नापि विरज्यते च।' आनन्दरस से तृप्त जीवन्मुक्त अरुचिकर दोषयुक्त विषय प्राप्त होने पर खेद नहीं करता। गुणयुक्त अनुकूल विषय प्राप्त होने पर मोद नहीं मनाता. न उनमें आसक्त होता है और न विरक्त होता है। 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि. शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥' गीता ५।१८।७ 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।' गीता ५।१९।, विद्वान ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल में पण्डितजन समभाव से देखते हैं, क्योंकि वे इन विविध जन्तुओं में इनके अधिष्ठान नामरूपरहित ब्रह्म देखते हैं। ब्रह्म अत्यन्त निर्दोष है, इसलिये वे ब्रह्म में स्थिर रहते हैं। उनमें से देहादिक संघात को आत्मारूप से देखने का अभिमान जाता रहा है। समदर्शनगुण जीवन्मुक्त का लक्षण है॥४३४॥

इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयात्मनि।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्॥४३५॥

अर्थ—प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु की प्राप्ति में समता के कारण दोनों ही अवस्थाओं में चित्त में किसी प्रकार का विकार न होना जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण है।

व्याख्या—**इष्ट**—प्रिय विषय **अनिष्ट-अर्थ-संप्राप्तौ**—अप्रिय विषय के प्राप्त होने पर न जीवन्मुक्त को हर्ष होता है और न उद्वेग, **समदर्शितया**—समदर्शी होने से, प्रिय और अप्रिय में जीवन्मुक्त को ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है, इसलिये **आत्मनि**—उसके अन्तःकरण में **उभयत्र**—दोनों पक्षों से, इष्ट प्राप्ति से हर्ष, तथा अनिष्ट प्राप्ति से उद्वेग के कारण **अविकारित्वम्**—विकार रहितता, यही **जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्**—जीवन्मुक्त का लक्षण है। 'ब्रह्मोपनिषदं तत्त्वम् भावयन्यो ऽन्तरात्मना। नोद्वेगी न च हृष्टात्मा संसारे नावसीदति॥' योगवाशिष्ठ। ब्रह्म को अपना स्वरूप जाननेवाला उद्वेग और हर्ष आदि मानसिक विकारों से संसार में नष्ट नहीं होता॥४३५॥

ब्रह्मानन्द-रसास्वादासक्तचित्ततया यतेः।
अन्तर्बहिरविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३६॥

अर्थ—ब्रह्मानन्दरसास्वाद में लगी वृत्ति का वाह्य और आन्तरिक वस्तुओं में अनासक्ति जीवन्मुक्त यतिका लक्षण है।

व्याख्या—**ब्रह्मानन्द-रसास्वाद-आसक्त-चित्ततया**—ब्रह्मानन्द के रस के आस्वादन में लगे हुए चित्त से, ब्रह्मविषयिणी अखण्डब्रह्माकार वृत्ति से **यतेः**—संन्यासी को **अन्तर्**—भीतर में, अहमादि देहपर्यन्त में राग **बहिर्**—वहिर विषयों में, सुतादारगृहधनादि में ममत्व, इनमें **अविज्ञानम्**—अनासक्ति, भेदरहितता ज्ञान-शून्यता **जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्**—जीवन्मुक्त का लक्षण है। तत्त्ववेत्ता की भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है। एकतत्त्व ब्रह्म को अवगाहन करनेवाली अन्तःकरण की ब्रह्माकार—वृत्ति भीतर वाहर के भेद देखने में असमर्थ हो जाती है ॥४३६॥

देहेन्द्रियादौ कर्तव्ये ममाहंभाववर्जितः।
औदासीन्येन यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥४३७॥

अर्थ—देह तथा इन्द्रिय आदि के सम्वन्ध से कर्तव्य में जो ममता और अहंकार से रहित होकर असंगता पूर्वक रहता है वह पुरुष जीवन्मुक्त के लक्षण से युक्त है।

व्याख्या—**देह-इन्द्रिय-आदौ**—स्थूल शरीर, इन्द्रिय, आदि पद से प्राण ग्रहण करना, इनमें **कर्तव्ये**-कर्म में मेरा यह कर्तव्य है ब्राह्मण होने के नाते मुझे विद्योपार्जन करना चाहिये. क्षत्रिय होने से वलोपार्जन, वैश्य होने से धनोपार्जन आदि मेरा कर्तव्य है। इन्द्रियों की पुष्टि के लिये मैं अमुक कर्म करूं; नेत्र की ज्योति स्थिर करने के लिये नेत्र में अंजन डालूं, कर्ण पटुता के लिये उसमें तेल डालूं, वाणी की शुद्धि के लिये व्याकरण अभ्यास करूँ, प्राण रक्षा के लिये प्राणायाम करूँ, गायत्री जप करूं, इत्यादि कर्तव्य, इनमें **मम-अहम्-भाववर्जितः**—ममत्व और अहंकार के भाव से रहित हुआ **यः**—जो **औदासीन्येन**—असंगता से **तिष्ठेत्**—रहता है. **सः जीवन्मुक्तलक्षणः**—वह जीवन्मुक्त लक्षण सम्पन्न है। अहंकार का निःशेष नाश ही मोक्ष है। शरीर प्रारब्ध के आधीन रहता है. वही उसकी स्थिति. रक्षा और नाश करता है ॥४३७॥

विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभावः श्रुतेर्बलात् ।
भवबन्धविनिर्मुक्तः स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥४३८॥

अर्थ—जिसने-श्रुति प्रमाण बल से अपने आत्मा का ब्रह्मत्व जान लिया, जिसके फलस्वरूप संसार-बन्धन से रहित है वह पुरुष जीवन्मुक्त के लक्षणवाला है ।

व्याख्या—**यस्य**—जिसको **श्रुतेः बलात्**—'तत्त्वमसि' आदि वेद के महावाक्य की महिमा से **आत्मनः**—अपने स्वरूप का **ब्रह्मभावः**—ब्रह्मत्व **विज्ञातः**—ज्ञात हो गया है, ब्रह्म मैं ही हूँ, इस भांति जिसने अनुभव कर लिया है और इसके फलस्वरूप **भव-बन्धविनिर्मुक्तः**—मिथ्या देहाध्यास से मुक्त, सकलविधभ्रान्तिशून्य, अज्ञान नाश के कारण जो मुक्त हो गया है **सः जीवन्मुक्तलक्षणः**—वह जीवन्मुक्त लक्षण सम्पन्न है ॥४३८॥

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके ।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३९॥

अर्थ—जिसका देह और इन्द्रिय में अहंभाव तथा इनसे भिन्न वस्तुओं में इदं (यह) भाव किसी काल में नहीं होता वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है ।

व्याख्या—**देह-इन्द्रियेषु**—देह और ज्ञानकर्मेन्द्रियों में **अहंभावः**—आत्मत्व का अभिमान **इदम्भावः**—'यह है' ऐसी भावना किसमें ? **तत्-अन्यके**—देहेन्द्रिय से भिन्न दूसरे में, घटादि में 'यह' भाव, यह मुझसे भिन्न घट है, ऐसे 'अहम्' और 'इदम्' ये दो भाव **यस्य**—जिसको **क्वापि नो भवतः**—तीन काल में भी नहीं होते **सः जीवन्मुक्तः इष्यते**—वह जीवन्मुक्त कहलाता है । ज्ञानवान् द्वैत रहित होता है ॥४३९॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः ।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४०॥

अर्थ—जो अपनी [illegible] बुद्धि वृत्ति से आत्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जगत् में कोई भेद नहीं जानता वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ४६ वां मन्त्र है । **यः प्रज्ञया**—जो तत्त्वम्पदार्थ शोधन से जीव ब्रह्म की एकता विषय करनेवाली अखण्ड ब्रह्माकार

बुद्धिवृत्ति में **कदापि**–कभी भी किसी काल में भी **प्रत्यग्ब्रह्मणोः**–जीव का लक्षितार्थ कूटस्थ चैतन्य अन्तरात्मा, और ईश्वर का लक्षितार्थ ब्रह्म, इन दोनों में, **ब्रह्मसर्गयोः**–ब्रह्म और सर्ग, जगत् में **भेदम् न विजानाति**–भिन्नता जो नहीं जानता है। **सः जीवन्मुक्तः इष्यते**–वह जीवन्मुक्त कहलाता है। 'भेदजनके अज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते। आत्मनि ब्रह्मणो भेदं असन्तम् कः करिष्यति ॥' भेद उत्पादक अविद्या नष्ट होने पर आत्मा और ब्रह्म में असत् भेद कौन करेगा। यदि करता है तो उसको बोध नहीं है। 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्।' यह श्रुति जगत और ब्रह्म की एकता बताती है। जिसको भेद भासे उसे देहाध्यास दूर करने का यत्न करना चाहिये, पूर्व में कहा है, 'प्रतीति र्जीव जगतोः स्वप्नवद् भाति यावता। तावन्निरन्तरं विद्वन् स्वाध्यासापनयं कुरु ॥४४०॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४१॥

अर्थ––साधु पुरुषों द्वारा इस शरीर के सत्कार किये जानेपर और दुष्टजनों से पीड़ित किये जाने पर भी जिसके चित्त में समानभाव रहता है वह मनुष्य जीवन्मुक्त कहा जाता है।

व्याख्या––यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ४७ वां मन्त्र है। **साधुभिः**–सज्जनों से, भक्तजनों से **अस्मिन् पूज्यमाने**–इस शरीर की पूजा किये जाने पर, और इसके विपरीत **दुर्जनैः**–दुष्टों द्वारा **पीड्यमाने अपि**–पीड़ित, ताड़ित किये जाने पर भी **यस्य**–जिसकी बुद्धिवृत्ति में **समभावः**–समदर्शित्व **भवेत्**–बना रहे, जिसके मुख की कान्ति में उल्लास अथवा मलिनता न उत्पन्न हो **सः जीवन्मुक्तः इष्यते**–वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

पूजा तो सभी को प्रिय है, परन्तु दूसरों से ताड़नादि तिरस्कार सबको प्रिय नहीं, परन्तु मुमुक्षु के लिये निरादर अमृत के तुल्य बताया है। इस से उसके तप की वृद्धि होती है, 'असम्मानात्तपो वृद्धिः सम्मानात्तु तपक्षयः। अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति ॥' स्मृतिः, 'मानापमानयोस्तुल्यः तुल्योमित्रारिपक्षयोः।' गीता १४।२५, जीवन्मुक्त महात्मा मान अपमान, मित्र शत्रु में समभाव रहता है, क्यों? उसकी दृष्टि में दोनों पक्ष ही असत् हैं, उनका अधिष्ठान एकतत्त्व ब्रह्म सत्य है। यह स्मरण रखना चाहिये, और हम अपने अनुभव से भी कहते हैं, कि ब्रह्मवेत्ताओं

की पूजा सेवा से भक्तों की सद्भावनायें पूर्ण होती हैं, और उन से द्वेष रखने वाले को क्या तो सद्बुद्धि उत्पन्न हो जायेगी, अन्यथा सर्वनाश अवश्यम्भावी है ।।४४१।।

यत्र प्रविष्टा विषयाः परेरिता नदीप्रवाहा इव वारिराशौ ।
लिनन्ति सन्मात्रतया न विक्रियामुत्पादयन्त्येष यतिर्विमुक्तः ।।४४२।।

अर्थ—समुद्र में मिल जाने पर जैसे नदी का प्रवाह समुद्ररूप हो जाता है, और समुद्र में विकार नहीं आता, वैसे ही दूसरों के द्वारा प्रस्तुत किये विषय आनन्दस्वरूप प्रतीत होने से जिसके चित्त में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं करते वह यति जीवन्मुक्त है ।

व्याख्या—**पर-ईरिताः**—दूसरों, भक्तों अथवा दुष्टों द्वारा प्रस्तुत किये हुए **विषयाः**—भोगपूजा अन्नपानवस्त्रादि, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार होने के कारण जीवन्मुक्त निरीह होता है, अपनी कोई इच्छा नहीं रहती, अथवा दुष्टों द्वारा शब्दात्मिका कुवचन निन्दादि **नदीप्रवाहाः इव वारिराशौ**—सागर में नदी प्रवाहों, जलों की भांति **यत्र प्रविष्टाः**—जिसमें प्रविष्ट होकर लिनन्ति—लीन हो जाते हैं, अपना स्वरूप खोकर सागररूप हो जाते हैं, विषयरूप खोकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं । क्यों ? **सन्मात्रतया**—ब्रह्मवेत्ता 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अखण्डब्रह्माकारवृत्ति से रहने के कारण असंग होता है, असंग होने से **विक्रियाम्**—विकारों को, शरीरादि में अहम् वासना को न **उत्पादयन्ति**—विषय सेवन जीवन्मुक्त महात्मा में वासना उत्पन्न नहीं कर सकते । अनेक नदियां समुद्र में जल ले जाती हैं, पर समुद्र में विकार नहीं आता । वह अपनी मर्यादा में ही रहता है, घटता बढ़ता नहीं । ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता को जो भोग उपलब्ध होते हैं, उनको वह ब्रह्मरूप से ही ग्रहण करता है । अद्वैतनिष्ठ होने से भोक्ता और भोग वह स्वयं ही होता है, भोक्ता और भोग्य की दो स्वतन्त्र सत्ता वह स्वीकार नहीं करता, इसलिये उसमें विकार अर्थात् नूतन वासना उदय नहीं होती । **एषः यतिः**—ऐसे लक्षणयुक्त संन्यासी **विमुक्तः**—जीवन्मुक्त होता है । जीवन्मुक्त यति की उसके प्रारब्ध अनुसार भोग में प्रवृत्ति होती है, इससे अधिक नहीं । प्रारब्ध क्षय होने पर ज्ञानवान का शरीर गिर जाता है ।।४४२।।

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः ।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ।।४४३।।

अर्थ——ब्रह्मतत्त्व के जान लेनेपर संसार की प्रतीति पूर्ववत् नहीं होती और यदि फिर भी संसार की प्रतीति वनी रहे तो समझना चाहिये कि उसे ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान ही नहीं हुआ, वह वहिर्मुख है।

व्याख्या——यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ४८ वां मन्त्र है। **विज्ञातब्रह्म तत्त्वस्य**–अनुभव कर लिया है जिसने ब्रह्मतत्त्व का, जिसको निर्विकल्प समाधि में आत्मदर्शन हो गया है। उसकी **संसृतिः**–संसार प्रतीति **यथापूर्वम्**–बोध होने से पूर्व जैसी जननमरणजराव्याधिरूप संसार की सत्य प्रतीति होती थी वैसी बोध के उपरान्त **न**–नहीं होती, उसकी असत् प्रतीति होती हैं, अथवा वह ब्रह्म रूप से होती है। **अस्ति चेत्**–यदि संसार में सत्यबुद्धि है तो **न सः विज्ञातब्रह्मभावः**–उसने अद्वैत ब्रह्म को अपना स्वरूप नहीं जाना है, ऐसा समझना, **बहिर्मुखः**–अभी उसकी वृत्ति वहिर विषयों को सत्यबुद्धि से ग्रहण करती है, पंचकोशों में आत्माभिमान करती है, इसलिये वहिर्मुख है, अन्तर्मुख नहीं ॥४४३॥

प्राचीनवासनावेगादसौ संसरतीति चेत्।
न सदेकत्वविज्ञानान्मन्दीभवति वासना ॥४४४॥

अर्थ——यदि कहो कि अनादि वासना वेग से ब्रह्मवेत्ता की संसार में प्रवृत्ति रह सकती है तो, ऐसी वात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के एकत्व अनुभव से इसकी वासना क्षीण हो जाती है।

व्याख्या——यदि कोई कहे कि **असौ**–यह ब्रह्मवेत्ता **प्राचीनवासना वेगात्**–अनादिवासना के वेग से **संसरति इति**–बन्ध को प्राप्त होता है, इसका मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि एक वासना दूसरी वासना को जन्म देती है और इस प्रकार वासना परम्परा अनन्त है, **चेत्**–ऐसा हो तो क्या दोष है? **न**–यह पक्ष ठीक नहीं, तत्रहेतु **सदेकत्वविज्ञानात् वासना मन्दी भवति**–यद्यपि वासना अनादि है, पर उसका अन्त है, सद्रूप ब्रह्म की जीव के साथ एकता का अनुभव होने पर, आत्मदर्शन होने पर संसार वासना क्षीण हो जाती है। वासना की तनुता ही मोक्ष है। 'मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत्' येन श्री भगवत्पाद ने पूर्व में कहा है ॥४४४॥

अब यहाँ दृष्टान्त देते हैं।

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः ॥४४५॥

अर्थ—जिस प्रकार अत्यन्त कामी पुरुष की भी कामवृत्ति माता के सम्मुख होने पर कुण्ठित हो जाती है, उसी प्रकार पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर मननशील की वासना नष्ट हो जाती है।

व्याख्या—**अत्यन्तकामुकस्य अपि**—अति कामी पुरुष की भी **वृत्तिः**—कामवासना **मातरि**—माता के, निज जननी के सामने होने पर **कुण्ठति**—नष्ट हो जाती है, **तथैव**—वैसे ही **पूर्णानन्दे ब्रह्मणि ज्ञाते**—सर्वांगीण सुखरूप ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर **मनीषिणः**—मननशील की असत् वासना नष्ट हो जाती है ।।४४५।।

यहाँ तक जीवन्मुक्त के लक्षण वताये हैं। पर अभी तक शिष्य ने प्रत्यक्ष बोध के कोई लक्षण प्रगट नहीं किये, इसलिये करुणानिधि गुरु शिष्य के प्रारब्ध प्रतिवन्ध निवारण के हेतु १९ श्लोकों में प्रारब्ध विषय पर उपदेश करते हैं।

निदिध्यासनशीलस्य बाह्यप्रत्यय ईक्ष्यते।
ब्रवीति श्रुतिरेतस्य प्रारब्धं फलदर्शनात् ।।४४६।।

अर्थ—निदिध्यासनशील पुरुष को सुख दुःखादि के अनुभव से वाह्य देहादिक की प्रतीति देखी जाती है, श्रुति उसी का प्रारब्ध कहती है।

व्याख्या—**निदिध्यासनशीलस्य**—श्रवण-मनन के उपरान्त विपरीतभावना निवृत्ति के लिये निदिध्यासन में रत मुमुक्षु के लिये **फलदर्शनात्**—सुख दुःखादि फल अनुभव से **बाह्यप्रत्ययः**—वाह्य देहादिक की प्रतीति **ईक्ष्यते**—देखी जाती है। **एतस्य**—निदिध्यासनशील के लिये ही **प्रारब्धम्**—प्रारब्ध कर्म **श्रुतिः ब्रवीति**—श्रुति भगवती कहती है, ज्ञानी के लिये नहीं। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति' छा० ६।१४।२ उसके लिये (मोक्ष होने में) उतना ही विलम्ब है जब तक कि वह देहवन्धन में मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्म को प्राप्त) हो जाता है।

अज्ञानी की प्रारब्ध होती ही है, अर्थात् ज्ञान की प्रथम तीन भूमिकाओं तक भी प्रारब्ध रहती है, निदिध्यासन को ज्ञान की तीसरी भूमिका कहते हैं। प्रारब्ध इन्ही भूमि तक बाधा देता है। पूर्व जन्मों में जो कर्म किये हैं, उनको प्रारब्ध कर्म कहते हैं। ये ही प्रारब्ध कर्म वर्तमान शरीर के प्रारम्भक हैं। जिन कर्मो ने अभी फल देना प्रारम्भ नहीं किया है, उनको संचित कर्म कहते हैं। ये ही अगले जन्म के शरीर के प्रारब्ध कर्म होंगे। जो कर्म अव से आगे किये जायेंगे उनको आगामी कर्म कहते हैं,

इससे प्रारब्ध क्षय होता है, ज्ञान होने पर, आत्मसाक्षात्कार होने पर प्रारब्ध नहीं रहता, ज्ञानाग्नि से सर्व कर्म भस्म हो जाते हैं। जहाँ तक बोधवान का सम्बन्ध है, उसकी दृष्टि में न शरीर है, न प्रारब्ध, परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में बोधवान का शरीर होता है। प्रारब्ध कर्म क्षीण हुए विना शरीरपात नहीं होता। इसलिये मूढ़ों को समझाने के लिये श्रुति भगवती प्रारब्ध वताती है ॥४४६॥

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते ।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ॥४४७॥

अर्थ—जबतक सुख-दुःख आदि का अनुभव है तबतक प्रारब्ध कहा जाता है, क्योंकि फल का भोग क्रियापूर्वक होता है। क्रियारहित बोधवान को कभी भी क्रिया का फल नहीं होता।

व्याख्या—**यावत्**—जब तक **सुखादि-अनुभवः**—सुख, आदि पद से दुःख, इनका अनुभव होता है, हर्षामर्ष का उद्वेग सताता है **तावत्**—उतने कालपर्यन्त **प्रारब्धम् इष्यते**—प्रारब्धकर्म कहा जाता है। इसका कारण वताते हैं। **फल-उदयः क्रिया-पूर्वः**—पहले क्रिया होती है, पीछे उसका फल मिलता है, फल उदय से पहले क्रिया का होना आवश्यक है। परन्तु बोधवान तो निष्क्रिय होता है, जब उसका कर्म से सम्बन्ध ही नहीं है, तो फल कहाँ से होगा, प्रारब्ध कहाँ से वनेगा। मान लिया कि अब तो कर्म नहीं वनते, पर पूर्व जन्मों में तो कर्म किये हैं, इसलिये ज्ञानवान का प्रारब्ध वनेगा, सो भी नहीं क्योंकि ब्रह्मवेत्ता 'अजो नित्यः' अजन्मा है और नित्य है। **निष्क्रियः न हि कुत्रचित्**—क्रियारहित को क्रिया का फल कहीं भी नहीं देखा जाता ॥४४७॥

अब संचित कर्म के वारे में कहते हैं। ज्ञानवान संचित कर्म से भी असंग है।

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटि-शतार्जितम् ।
सञ्चितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥४४८॥

अर्थ—'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार साक्षात् अनुभव से सैकड़ों करोड़ों कल्पों के संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं, जागने पर स्वप्नावस्था में किये हुए कर्मों के समान।

व्याख्या—**अहम् ब्रह्म इति विज्ञानात्**—मैं निष्क्रिय, विकाररहित, अजन्मा ब्रह्म हूँ, इस प्रकार **विज्ञानात्**—साक्षात् अनुभव से **कल्पकोटि-शतार्जितम् संचितम्**—

सैंकड़ों करोड़ों कल्पों में इकट्ठे हुए संचितकर्मसमुदाय **विलयम् याति**—नष्ट हो जाता है। दृष्टान्त देकर बताते हैं : **प्रबोधात् स्वप्नकर्मवत्**—निद्रा से उत्थान के पश्चात् जैसे स्वप्नावस्था में किये हुए कर्मसमूह नष्ट हो जाते हैं उनकी भांति। अज्ञान नाश होने पर, अज्ञान काल में किये हुए समस्त कर्म अपने कारण अज्ञान के सहित आत्मबोध के उदय होने पर नष्ट हो जाते हैं ॥४४८॥

'प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत्' को स्पष्ट करते हैं।

यत्कृतं स्वप्नवेलायां पुण्यं वा पापमुल्बणम्।
सुप्तोत्थितस्य किं तत्स्यात्स्वर्गाय नरकाय वा ॥४४९॥

अर्थ—स्वप्नावस्था में जो बड़े-से-बड़ा पुण्य अथवा पाप किया गया हो क्या जागने पर वह स्वर्ग अथवा नरक की प्राप्ति का कारण हो सकता है ?

व्याख्या—**यत् उल्बणम्**—जो बड़ा **पुण्यम्**—पुण्यकर्म **पापम् वा**—या बड़ा पाप कर्म **स्वप्नवेलायाम्**—स्वप्नावस्था में **कृतम्**—किया गया है, तत्—वह पुण्य वा पाप कर्म **सुप्तोत्थितस्य**—स्वप्न से जागे हुए के लिये **किम्**—क्या **स्वर्गाय वा नरकाय**—स्वर्ग या नरक का दाता हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि वे सब असत् कर्म थे। ॥४४९॥

ज्ञानवान आगामी कर्मों से भी असंग है।

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा।
न श्लिष्यते यतिः किञ्चित्कदाचिद्भाविकर्मभिः ॥४५०॥

अर्थ—अपने आत्मा को असङ्ग और अकर्ता जान लेने पर संन्यासी किसी आगामी कर्म से कभी थोड़ा सा भी लिप्त नहीं होता, जैसे निःसीम असंग आकाश वायु आदि से लिपायमान नहीं होता।

व्याख्या—**स्वम्**—अपने आत्मा को, निजरूप को **असंगम्**—संगरहित, कर्मों से असंस्पृष्ट **उदासीनम्**—अकर्ता **परिज्ञाय**—अनुभव से अच्छी तरह जान कर **यतिः**—संन्यासी **किंचित्**—थोड़ा भी, **कदाचित्**—त्रिकाल में भी **भाविकर्मभिः**—बोधोत्तर-कालीन कर्मों से **न श्लिष्यते**—लिपायमान नहीं होता, 'न मे कर्माणि लिम्पन्ति।' गीता हे अर्जुन ! मुझ आत्मा को प्रारब्ध, संचित, आगामी कर्म लिपायमान नहीं करते

यथा नभः—जैसे निःसीम असंग नभ को वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी स्पर्श नहीं कर सकते। वायु आकाश को उड़ा नहीं सकता, न अग्नि जला सकता है ।।४५०।।

अब नभ के दृष्टान्त को विशद करते हैं।

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते।
तथात्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते ।।४५१।।

अर्थ——जैसे महाकाश का जो कि घट से परिच्छिन्न हुआ घटाकाश कहलाता है, घड़े में रक्खी हुई मदिरा की गन्ध से कोई सम्वन्ध नहीं होता उसी प्रकार उपाधि के सम्वन्ध से आत्मा उपाधि के धर्मों से लिप्त नहीं होता।

व्याख्या——**नभः**—महा आकाश **घटयोगेन**—घट की दीवारों के बीच में परिच्छिन्न सा होने से घटाकाश **सुरागन्धेन**—घट के भीतर रक्खी मदिरा की गन्ध से **न लिप्यते**—लिपायमान नहीं होता। **तथा**—उसी प्रकार **आत्मा उपाधियोगेन**—असंग आत्मा उपाधि के संग से, स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप त्रिशरीरों की उपाधि के सम्वन्ध से **तत् धर्मैः**—उन उपाधि के धर्मों से, जाग्रतस्वप्नसुषुप्ति से, असत् कार्यो से **न एव लिप्यते**—कभी लिपायमान नहीं होता, उपाधि के धर्म आत्मा में प्रवेश नहीं करते, क्योंकि आत्मा एकतत्त्व, असंग और षड्भाव विकाररहित है। 'एव' शब्द से त्रिकाल में भी लिपायमान नहीं होता, ऐसा समझना चाहिये ।।४५१।।

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ।।४५२।।
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ।।४५३।।

अर्थ——लक्ष्य की ओर छोड़े हुए वाण के समान ज्ञान के उदय से पूर्व आरम्भ हुआ कर्म अपना फल दिये विना ज्ञान से नष्ट नहीं होता, जैसे व्याघ्र समझकर गौकी ओर छोड़ा हुआ वाण पीछे उसको गौ जान लेनेपर भी बीच में नहीं रुकता, और पूर्ण वेग से अपने निश्चित लक्ष्य को वेंध ही देता है।

व्याख्या——ये दोनों श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ५३, ५४ वें मन्त्र हैं। **ज्ञान-उदयात् पुरा**—आत्मसाक्षात्कार होने से पहले **आरब्धम् कर्म**—फलदान करने में

प्रवृत्त कर्म **स्वफलम् अदत्त्वा**—अपने सुखदु:खरूपी फल को विना दिये **ज्ञानात् न नश्यति**—ज्ञान से, अपने को अकर्ता जानने से, नष्ट नहीं होता। इसमें दृष्टान्त देते हैं। **लक्ष्यम् उद्दिश्य**—लक्ष्य को निश्चित करके **उत्सृष्टबाणवत्**—छोड़े हुए वाण के सदृश, लक्ष्य भेदन किये विना वाण का वेग नष्ट नहीं होता। इस दृष्टान्त को अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।।४५२।।

यह दुष्ट व्याघ्र है, इसको मारना चाहिये, इस प्रकार **व्याघ्र बुद्ध्या**—व्याघ्र समझ कर **विनिर्मुक्तः बाणः**—छोड़ा हुआ वाण, **पश्चात् तु**—वाण छोड़ने के अनन्तर **गोमतौ**—यह तो गौ है, व्याघ्र नहीं, ऐसी बुद्धि उपजने पर भी **न तिष्ठति**—छोड़ा हुआ वाण नहीं रुकता है, **वेगेन**—तीव्र गति से **निर्भरम्**—निश्चित **लक्ष्यम्**—जिसको पहले व्याघ्र जाना था,पर वास्तव में जो गौ थी उसको **छिनत्ति एव**—भेदन करता ही है। तथैवज्ञान उदय होने पर भी प्रारब्धकर्म विना फल दिये क्षय नहीं होता।।४५३।।

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्सञ्चितागामिनाम्।
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिता-
स्तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव ते निर्गुणम् ।।४५४।।

अर्थ—ज्ञानवान का प्रारब्ध-कर्म अवश्य ही वलवान् होता है। उसका क्षय भोगने से ही हो सकता है। उसके अतिरिक्त पूर्वसञ्चित और आगामी कर्मों का तो तत्त्वज्ञानरूप अग्नि से क्षय हो जाता है; किन्तु जो ब्रह्म और आत्मा की एकता को जानकर सदा उसी भाव में स्थित रहते हैं, उनके लिये तीनों प्रकार के ही कर्म कहीं नहीं हैं, वे साक्षात् निर्गुण ब्रह्म ही हैं।

व्याख्या—इस दृष्टि से यह निष्कर्ष निकलता है कि **विदाम् खलु**—ब्रह्मवेत्ताओं का, ज्ञानियों का, यह वात प्रसिद्ध है, **प्रारब्धम्**—प्रारब्ध कर्म **बलवत्तरम्**—आगामी कर्म और संचित कर्मों की अपेक्षा अधिक वलवान है, चौथी ,पांचवीं और छठी ज्ञान-भूमिका अर्थात् सत्त्वापत्ति, असंसक्ति—पदार्थभावना के ज्ञानियों का भी प्रारब्ध कर्म बलवान होता है, **तस्य क्षयः भोगेन**—चौथी, पांचवीं और छठी भूमिका के ज्ञानियों के प्रारब्ध का भी क्षय भोग से होता है, ज्ञान से नहीं। **सम्यक् ज्ञानहुताशनेन**—भले प्रकार आत्मसाक्षात्कार रूप ज्ञानाग्नि से **प्राक्संचित-आगामिनाम्**—ज्ञान उदय से पूर्व जो संचित कर्म हैं ज्ञान उदय के उपरान्त जो कर्म होंगे **विलयः**—उनका ज्ञानाग्नि

में दहन हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का विना फल दिये नाश नहीं होता। परन्तु तुर्यगा नाम की जो ज्ञान की सप्तमी भूमि है, उस भूमि के **ये**–जो ज्ञानवान **ब्रह्मात्मैक्यम् अवेक्ष्य**–ब्रह्म और जीव की एकता को साक्षात् अनुभव करके ब्रह्मरूप होकर **तन्मयतया**–उसी निज ब्रह्म स्वरूप में **सर्वदा संस्थिताः**–प्रतिष्ठित हैं, जिनकी वृत्ति का समाधि से पुनरुत्थान नहीं होता **तेषाम् क्वचिदपि**–उनके लिये किसी काल में भी **तत्त्रयम् न हि**–वे तीनों ही नहीं हैं, प्रारब्ध, संचित तथा आगामी तीनों कर्म नहीं है, अर्थात् उनका प्रारब्ध कर्म भी नहीं है, क्योंकि **ते निर्गुणम् ब्रह्म एव**–वे निर्गुण, निरुपाधिक, प्रत्यक्ष ब्रह्म की मूर्ति ही हैं। इसके अनुसार चौथी से छठी भूमिका तक के ज्ञानियों के संचित और आगामी कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होता। सातवीं भूमिका के ज्ञानी का प्रारब्ध भी नष्ट हो जाता है। इसका अभिप्राय समझना चाहिये।

वोध होने के उपरान्त प्रारब्ध कर्म भी नहीं रहता, चाहे बोधवान किसी भी भूमिका का क्यों न हो, कारण, प्रारब्ध मानने से दो सत्ता हो जायेंगी, एक इसका अपना स्वरूप ब्रह्म और दूसरा प्रारब्ध। वेदान्त सिद्धान्त द्वैत के ग्रहण नहीं करता। प्रारब्ध स्वीकृति से ज्ञानवान के मोक्ष का भी अप्रसंग हो जाता है। आगे भी कहेंगे। ज्ञानवान की दृष्टि में प्रारब्ध नहीं है, न उसकी शरीर में सत्यबुद्धि है, परन्तु मूढों को ज्ञानवान भी संसारी जनों की भांति शरीरधारी दिखाई पड़ता है, उनकी दृष्टि से ज्ञानवान का प्रारब्ध है। इस दृष्टि कोण से सप्तमी भूमिका के ज्ञानी के शरीर में भी प्राण स्पन्दन प्रारब्ध का सूचक होना चाहिये। ज्ञानवान का प्रारब्ध कर्म ज्ञानवान की दृष्टि में नहीं रहता, मूढों में दृष्टि में रहता है ॥४५४॥

उपाधि-तादात्म्यविहीनकेवल-ब्रह्मात्मनैवात्मनि तिष्ठतो मुनेः।
प्रारब्ध-सद्भावकथा न युक्ता, स्वप्नार्थसम्बन्ध-कथेव जाग्रतः ॥४५५॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता उपाधि के सम्बन्ध रहित केवल ब्रह्मात्मभाव से ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है उसके प्रारब्ध-कर्मों की सत्यता की वात स्वप्न में देखे हुए पदार्थों से जगे हुए पुरुष का सम्बन्ध वताने के समान अनुचित है।

व्याख्या—**उपाधि तादात्म्य विहीन**–उपाधि, पंचकोश, इनमें आत्माभिमान से रहित, **केवलब्रह्मात्मना एव आत्मनि तिष्ठतः मुनेः**–अद्वैत ब्रह्मरूप से ही स्वरूप में वैठे हुए ब्रह्मवेत्ता के, सप्तमी भूमिका के ज्ञानी के **प्रारब्धसद्भावकथा**–प्रारब्ध

कर्म के सत्यत्व की कथा **न युक्ता**–उचित नहीं, क्यों उचित नहीं ? पूर्व जन्मों में किये हुए कर्म प्रारब्ध कहलाते हैं, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है, ब्रह्म अकर्ता है, इसलिये ब्रह्मवेत्ता से कर्म सम्भव नहीं, ब्रह्म अजन्मा है, इसलिये ब्रह्मवेत्ता का पूर्व जन्म सम्भव नहीं। जब जन्म ही नहीं, तो कर्म कहां से होगा।

जाग्रतः स्वप्नार्थसम्बन्धकथा–निद्रा से प्रबुद्ध हुए पुरुष का, स्वप्नवेला में किये पुण्य पाप कर्मों के साथ सम्बन्धवार्ता की भांति। जागने पर अविद्या दोषयुक्त निद्रावृत्ति भी नष्ट हो जाती है, और साथ ही स्वप्न सृष्टि भी अपनी शाखोपशाखा सहित। जैसे जागने पर पुरुष स्वप्नार्थ मिथ्या मानता है, वैसे ही अपने स्वरूप में जागे हुए ब्रह्मवेत्ता के लिये प्रारब्ध वार्ता मिथ्या होती है ।।४५५।।

न हि प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे, देहोपयोगिन्यपि च प्रपञ्चे।
करोत्यहन्तां ममतामिदन्तां, किन्तु स्वयं तिष्ठति जागरेण ।।४५६।।

अर्थ—जागा हुआ पुरुष स्वप्न के प्रातिभासिक देह तथा उस देह के उपयोगी स्वप्न-प्रपञ्च में कभी अहन्ता, ममता और इदंता (मैंपन. मेरापन और यहपन) नहीं करता। वह तो केवल जाग्रत् के देह, देहोपयोगी प्रपंच में अहन्ता, ममता इदंता करता है।

व्याख्या—**प्रबुद्धः**–स्वप्न से जागा हुआ पुरुष **प्रतिभासदेहे**–स्वप्न शरीर में **देहोपयोगिनि अपि च**–तथा स्वप्नदेह के उपयोगी **प्रपंचे**–प्रपंच में, सुतदारगृहादि में चकार से नदी पर्वत सागरादि में **अहंताम्**–स्वप्नशरीर में अहंकार **ममताम्**–तथा स्वप्न शरीर के उपयोगी वस्तु सुतदारगृहादि में ममता, नदीपर्वतसागरादि में '**इदंताम्**–यह मुझसे भिन्न है, आत्मभिन्नता **न हि करोति**–नहीं करता है, किन्तु **स्वयम् जागरेण तिष्ठति**–परन्तु उनमें अहन्ता, ममता, इदंता त्याग कर स्वयं जाग्रत् अवस्था में रहता है, जाग्रत्कालीन शरीरादि में अहन्ता ममता इदंता करता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि अपने स्वरूप में जागा हुआ पुरुष, स्वरूप में अध्यस्त देह तथा देह सम्बन्धी वस्तुओं में मैंपन, मेरापन, तथा यहपन नहीं करता। वह स्वयं ब्रह्म हुआ स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है ।।४५६।।

न तस्य मिथ्यार्थ-समर्थनेच्छा, न सङ्ग्रहस्तज्जगतोऽपि दृष्टः।
तत्रानुवृत्ति-र्यदि चेन्मृषार्थे, न निद्रया मुक्त इतीष्यते ध्रुवम् ।।४५७।।

अर्थ—उसकी न तो स्वप्न की मिथ्या वस्तुओं को सत्यरूप से स्वीकार करने की इच्छा होती है और न स्वप्न पदार्थों को संग्रह करने की इच्छा देखी जाती है। यदि उसकी मिथ्या पदार्थों में आसक्ति रहे, तो यह निश्चय है कि वास्तव में उसकी नींद टूटी ही नहीं है।

व्याख्या—**तस्य**—उस स्वप्न से प्रबुद्ध पुरुष की **मिथ्या-अर्थ-समर्थन-इच्छा**—स्वप्न में जो मिथ्या पदार्थ देखे हैं, उनके समर्थन, सत्यरूप से स्वीकार करने की इच्छा नहीं देखी जाती है और साथ ही **तत् जगतः**—उस स्वप्न सृष्टि के मिथ्या पदार्थों का **संग्रहः अपि न दृष्टः**—संग्रह करने में भी इच्छा नहीं देखी जाती है। जिसने स्वप्न में अपने को पशु रूप देखा है, वह जाग कर घास नहीं खाता, जिसे स्वप्न में धन प्राप्त हुआ है, वह जाग कर उस धन के संग्रह रक्षा के लिये कोषागार नहीं वनवाता। **तत्र मृषार्थे**—स्वप्नकाल में जो मिथ्यापदार्थ देखा है, उसमें **यदि अनुवृत्तिः**—यदि आसक्ति, सत्यबुद्धि **चेत्**—हो तो **निद्रया न मुक्तः**—वह पुरुष निद्रा से जागा नहीं है, अभी स्वप्नावस्था में ही है **इति ध्रुवम् इष्यते**—यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है ।।४५७।।

तद्वत्परे ब्रह्मणि वर्तमानः, सदात्मना तिष्ठति नान्यदीक्षते।
स्मृतिर्यथा स्वप्नविलोकितार्थे, तथा विदः प्राशनमोचनादौ ।।४५८।।

अर्थ—इसी प्रकार सदा ब्रह्मभाव में रहनेवाला पुरुष ब्रह्मरूप से ही स्थित रहता है, ब्रह्मभिन्न वह कुछ नहीं देखता। संसार के पदार्थों की स्मृति स्वप्न में देखे हुए पदार्थों की प्रतीति के समान होती है। वैसे ही विद्वान् की भोजन मलमूत्रोत्सर्गादि क्रियाओं में सत्य बुद्धि नहीं होती।

व्याख्या—**तद्वत्**—स्वप्न से जागे हुए पुरुष की भांति **परे ब्रह्मणि वर्तमानः**—पर ब्रह्म में स्थापित है मन जिसका ऐसा ब्रह्मवेत्ता **सदात्मना तिष्ठति**—स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, **अन्यत् न ईक्षते**—आत्मभिन्न कुछ नहीं देखता, 'यत्र नान्यत्पश्यति' इति छान्दोग्योपनिषद ७।२४।१, जव ब्रह्मवेत्ता की वृत्ति का समाधि से उत्थान होता है तव उसको दृश्य प्रतीति कैसे होती है? सो वताते हैं।

यथा—जिस प्रकार **स्वप्नविलोकितार्थे स्मृतिः**—स्वप्न से जागे हुए पुरुष के लिये स्वप्न में देखे हुए पदार्थों की प्रतीति स्मृतिमात्र रहती है, और उनमें सत्यबुद्धि नहीं रहती, **तथा**—उसी प्रकार **विदः**—ब्रह्मवेत्ता की **प्राशनमोचनादौ**—जाग्रत्कालीन

भोजन मलोत्सर्ग, आदि पद से मान-अपमान, मित्र-अरि ग्रहण करना, इन क्रियाओं, प्रपंचों की प्रतीति स्मृति मात्र रहती है, अर्थात् उनकी व्यवहारिक सत्ता नष्ट हो जाती है, और प्रातिभासिक सत्ता रह जाती है । मूढ को जैसी स्वप्न सृष्टि, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता को जाग्रत् कालीन सृष्टि ।।४५८।।

कर्मणा निर्मितो देहः प्रारब्धं तस्य कल्प्यताम् ।
नानादेरात्मनो युक्तं नैवात्मा कर्मनिर्मितः ।।४५६।।

अर्थ—देह प्रारब्धकर्म से वना हुआ है, अतः प्रारब्ध भी उसी देह का समझना चाहिये, अनादि आत्मा का प्रारब्ध मानना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा प्रारब्धकर्म से नहीं वना है ।

व्याख्या—यदि प्रारब्ध मानना ही है तो शरीर का प्रारब्ध मानो, क्यों? **देहः**—स्थूल देह **कर्मणा**—प्रारब्ध कर्म से **निर्मितः**—वना है **प्रारब्धम्**—प्रारब्धकर्म **तस्य**—शरीर का ही **कल्प्यताम्**—मानो **न अनादेः आत्मनः युक्तम्**—अनादि, उत्पत्ति रहित आत्मा का प्रारब्ध मानना युक्तिसंगत नहीं, जो अजन्मा है उसका प्रारब्ध कैसा ? **आत्मा-कर्मनिर्मितः नैव**—आत्मा, शरीर के असदृश, प्रारब्ध कर्म से नहीं ही वना है ।।४५६।।

अजो नित्य शाश्वत इति ब्रूते श्रुतिरमोघवाक् ।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ।।४६०।।

अर्थ—'आत्मा, अजन्मा, नित्य और शाश्वत है' ऐसी अव्यर्थ वाणी श्रुति कहती है, फिर उस आत्मस्वरूप से ही सदा स्थित रहनेवाले बोधवान के प्रारब्धकर्म की कल्पना कैसे हो सकती है ?

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ५५ वां मन्त्र है। **अजो नित्यः शाश्वतः इति**—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' इति कठश्रुतिः। यह आत्मा अजन्मा, त्रिकाल-अवाध्य, अनादि और अनूतन है। शरीर के मरने पर यह नहीं मरता। यह **अमोघवाक्**—अव्यर्थ वाणी **श्रुतिः ब्रूते**—श्रुति भगवती कहती है। **तदात्मना**—उस आत्मा के साथ अपने स्वरूप का तादात्म्य करके, आत्मारूप से **तिष्ठतः अस्य**—स्थिर रहने वाले ज्ञानवान के लिये **कुतः प्रारब्ध-कल्पना**—प्रारब्ध कर्म तो दूर रहा प्रारब्ध कर्म की कल्पना भी कैसे हो सकती है ।।४६०।।

प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः ।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥४६१॥

अर्थ—प्रारब्ध तबतक सिद्ध होता है जबतक देह में आत्मबुद्धि रहती है और देहात्मभाव शास्त्र में इष्ट नहीं है, इसलिये प्रारब्ध को छोड़ देना चाहिये ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ५६ वां मन्त्र है । **प्रारब्धम् तदा सिध्यति**–प्रारब्ध कर्म तब सिद्ध होता है **यदा देहात्मना स्थितिः**–जब देह को आत्मा मान कर स्थिति हो, आत्मा को अज नित्य न मानकर जब जननमरणशील शरीर मान जाता है,तब प्रारब्ध कर्म सिद्ध होता है । **देहात्मभावः नैव इष्टः**–देह में आत्म-बुद्धि, देह के धर्मों को आत्मा में देखना इष्ट नहीं, श्रुति, युक्ति, अनुभव सम्मत नहीं । **अतः**–आत्मा अजन्मा है, और बोधवान आत्मरूप से रहता है, इसलिये **प्रारब्धम् त्यज्यताम्**–प्रारब्ध में सत्य बुद्धि त्याग दे, ज्ञानवान, चाहे चौथी, पांचवीं या छठी भूमिका का हो या सातवीं का हो, उस की दृष्टि में प्रारब्ध कर्म नहीं रहता ।।४६१।।

शरीरस्यापि प्रारब्धकल्पना भ्रान्तिरेव हि ।
अध्यस्तस्य कुतः सत्त्वमसत्त्वस्य कुतो जनिः ।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ॥४६२॥

अर्थ—शरीर के भी प्रारब्ध कर्म की कल्पना भ्रम ही है, अध्यस्त वस्तु की सत्ता ही कहाँ होती है ? जिसकी सत्ता ही न हो, उसका जन्म भी कहाँ से हो ? और जिसका जन्म ही न हो, उसका नाश भी कैसे हो ? सत्ताशून्य शरीर का प्रारब्ध कर्म कैसे हो सकता है ?

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ५७, ५८ वें मन्त्र हैं । विचार करने से **शरीरस्यापि**–शरीर के लिये भी **प्रारब्धकल्पना**–प्रारब्ध कर्म की कल्पना **भ्रान्तिः एव हि**–भ्रान्तिमात्र ही है, इसका कारण कहते हैं । **अध्यस्तस्य कुतः सत्त्वम्**–अध्यस्त वस्तु की, आरोपित वस्तु की, अधिष्ठान के अतिरिक्त कहाँ सत्ता है, रज्जु में आरोपित सर्प की सत्ता नहीं । 'नासतो विद्यते भावः ।' गीता २।१६, असत् वस्तु की सत्ता नहीं होती । **असत्त्वस्य कुतः जनिः**–जिसकी सत्ता ही नहीं उसकी उत्पत्ति कहाँ ? बंध्यापुत्र की उत्पत्ति किसने देखी है ? **अजातस्य कुतः नाशः**–जिसकी उत्पत्ति ही नहीं, उसका नाश कहाँ ? **असतः प्रारब्धम् कुतः**–असत् वस्तु,

शरीर का प्रारब्ध कर्म कहाँ ? जिसका जन्म नहीं, उसका कर्म नहीं। जिसका कर्म नहीं, उसका प्रारब्ध नहीं ॥४६२॥

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान्।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ॥४६३॥
न तु देहादि-सत्यत्व-बोधनाय विपश्चिताम्।
यतः श्रुतेरभिप्रायः परमार्थैक-गोचरः ॥४६४॥

अर्थ—यदि ज्ञान से अज्ञान के कार्य का मूल अज्ञान सहित नाश हो जाता है तो ज्ञानी का यह स्थूल देह कैसे रहता है, इस प्रकार शंका करनेवाले मूर्खों को समझाने के लिये श्रुति लौकिक दृष्टि से प्रारब्ध को उसका कारण वतला देती है। वह ज्ञानियों को देहादि का सत्यत्व समझाने के लिए ऐसा नहीं कहती; क्योंकि श्रुति का अभिप्राय ब्रह्म की एकमात्र सत्ता वतलाने में है।

व्याख्या—ये दोनों श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ५९, ६० वें मन्त्र हैं। **यदि ज्ञानेन अज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयः**—यदि आत्मसाक्षात्कार से अज्ञान का कार्य अपने मूल अज्ञान सहित नष्ट हो जाता है, तो **अयम् देहः**—यह शरीर, जो कि अज्ञान का कार्य है **कथम् तिष्ठति**—कैसे ठहरता है ? अर्थात् ज्ञान होते ही शरीर क्यों नहीं गिर जाता, ज्ञानवान जीवित कैसे रह सकता है ? **इति शंकावतो जड़ान् समाधातुम्**—इस प्रकार शंका करने वाले स्थूलबुद्धि मूढों को समझाने के लिये **बाह्य दृष्ट्या**—लौकिक दृष्टि से **प्रारब्धम् वदति श्रुतिः**—श्रुति भगवती प्रारब्ध कहती है। प्रारब्ध को शरीर स्थिति का कारण वतला देती है। जैसे कुलालचक्र एकवार घुमाने के पश्चात् फिर कुछ काल तक विना हाथ की शक्ति के प्रयोग किये, अपने पूर्व वेग के वल से चलता रहता है, उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म वेग से ज्ञानवान का शरीर ठहरता है, बोध के पश्चात् भी। इस प्रकार जड़ों को समझाने के लिये श्रुति कहती है। ज्ञानवान की दृष्टि में प्रारब्ध नहीं है, वह असंग रूप हुआ अपने स्वरूप में स्थिर रहता है। यदि ज्ञान होते ही स्थूल शरीर गिर जाये तो ज्ञानाचार्यों का अभाव हो जायेगा, और ज्ञानसम्प्रदाय को हानि होगी ॥४६३॥

विपश्चिताम्–ज्ञानियों के देहादिसत्यत्वबोधनाय–देह, आदि पद से सुतदा।९- गृह ग्रहण करना, इनकी सत्यता के बोध के लिये **न तु**–श्रुति भगवती प्रारब्ध नहीं कहती। इसका कारण बताते हैं। **यतः**–क्योंकि **श्रुतेः अभिप्रायः**–श्रुति का प्रयोजन **परमार्थ-एक-गोचरः**–परमार्थ, ब्रह्म की एक सत्ता अवगत कराना है, दो सत्ता नहीं। यदि ज्ञानवान का प्रारब्ध स्वीकार किया जाये तो एक ब्रह्म की सत्ता और दूसरी प्रारब्ध की सत्ता, दो सत्ता हो जायेंगी। यह पक्ष मान्य नहीं। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति श्रुति; मुण्डक २।२।८, ब्रह्म साक्षात्कार होने पर कर्म–प्रारब्ध, संचित आगामी क्षीण हो जाते हैं। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।' गीता ४।३३।, सब प्रकार का अखिल कर्म (प्रारब्ध संचित, आगामी), हे पार्थ, ज्ञान में समाप्त हो जाता है। भगवान ने यहाँ 'अखिलम्' और 'सर्वम्' दो शब्दों का प्रयोग किया है। दोनों शब्दों का अर्थ 'सब' है। इससे प्रगट होता है कि निश्चय ही ज्ञानोदय के उपरान्त किसी प्रकार का कर्म नहीं रहता। अज्ञानियों की दृष्टि में ज्ञानवान का शरीर रहता है, ज्ञानियों की दृष्टि में असत् शरीर ज्ञानाग्नि में भस्म हो चुकता है ॥४६४॥

श्रीगुरु ने प्रारब्धभ्रान्ति निवारण के लिये शिष्य को उपदेश दिया। पर अभी शिष्य स्वरूप में जागा नहीं है। अभी उसकी भेदबुद्धि पूर्णरूप से नष्ट नहीं हुई। भेदबुद्धि नष्ट करने का श्रीगुरु पहले भी उपक्रम कर चुके हैं 'असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि। निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः।' इस श्लोक से आदि लेकर ५ श्लोकों में श्रीगुरु ने निर्भेद ब्रह्म का उपदेश दिया है। अब पुनः उसी विषय का सात श्लोकों में निरूपण करते हैं। परमात्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने से पुनरुक्ति वेदान्त में दोष नहीं गिनी जाती।

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६५॥

अर्थ––सर्वत्र परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रमेय और अविकारी एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें थोड़ा भी नानापन नहीं है।

व्याख्या––इस श्लोक का पूर्व और उत्तरार्ध भाग अध्यात्मोपनिषद में क्रमशः ६० वें मन्त्र की पूर्व तथा ६३ वें मन्त्र की तीसरी पंक्ति है। **परिपूर्णम्**–देश काल वस्तु परिच्छेदरहित, चहुँओर से पूर्ण **अन-आदि-अन्तम्**–जनन मरण

रहित **अप्रमेयम्**–प्रमाण से बाहर की वस्तु, अतोल **अविक्रियम्**–अपरिणामी, षड्भाव विकाररहित **एकम्**–स्वगतभेदशून्य **एव**–सजातीयभेदरहित **अद्वयम्**–विजातीयभेद रहित **ब्रह्म**–ब्रह्म है, **न इह नाना अस्ति किंचन**–इस अद्वितीय ब्रह्म में नानापन का भेद नहीं है किंचन भी, थोड़ा सा भी, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति श्रुतिः, 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः ।।४६५।।

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६६।।

अर्थ—सत्स्वरूप चित्स्वरूप नित्य आनन्दस्वरूप अक्रिय एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें कोई थोड़ा भी नानापन नहीं है ।

व्याख्या—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति अध्यात्मोपनिषद में ६१ वें मंत्र का पूर्व भाग है, **सद्घनम्**–घन, मूर्ति, सत्-शरीर, सत्-स्वरूप **चिद्घनम्**–बोधमूर्ति, चैतन्य स्वरूप **नित्यम्**–त्रिकाल अबाध्य, **आनन्दघनम्**–आनन्द मूर्ति, अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप **अक्रियम्**–निष्क्रिय **एकम् एव अद्वयम् ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन**–पूर्ववत् । ।।४६६।।

प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६७।।

अर्थ—अन्तरात्मा, एकरस, पूर्ण, अनन्त और सर्वव्यापक एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें थोड़ा भी नानापन नहीं है ।

व्याख्या—इस श्लोक की प्रथम पंक्ति अध्यात्मोपनिषद में ६१ वें मन्त्र की दूसरी पंक्ति है । **प्रत्यक्**–सर्वान्तरात्मा **एकरसम्**–अविकारी **पूर्णम्**–देश काल वस्तु परिच्छेदरहित **अनन्तम्**–निःसीम **सर्वतोमुखम्**–सर्वव्यापी, सर्वाधिष्ठान, 'त्वम् जातो भवसि विश्वतोमुखः' इति श्रुतिः । **एकमेवाद्वयमिति०**–पूर्ववत् ।।४६७।।

अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६८।।

अर्थ––जो न त्याज्य है, न ग्राह्य है और न किसी में स्थित होने योग्य है तथा जिसका कोई अन्य आधार भी नहीं है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें थोड़ा भी नानापन नहीं है।

व्याख्या––यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६२ वें मन्त्र का पूर्वार्ध है। **अहेयम्**–जो न त्याज्य है, सर्वव्यापी तथा अपना आत्मा, स्वरूप होने से **अनुपादेयम्**–जो न इन्द्रियों से ग्राह्य है, अनन्त होने से इन्द्रियों का विषय न होने से **अनाधेयम्**–सर्वाधिष्ठान होने से जो किसी में रक्खा न जा सके, जिसको कोई धारण न कर सके वह अनाधेय **अनाश्रयम्**–सर्व का स्वयम् आश्रय होने से जिसका स्व से भिन्न अन्य आश्रय न हो वह अनाश्रय **एकमेवाद्वयम्ब्रह्मेति०**–पूर्ववत् ।।४६८।।

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४६९।।

अर्थ––निर्गुण, निरवयव सूक्ष्म, निर्विकल्प और निर्मल एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें नानापन थोड़ा भी नहीं है।

व्याख्या––यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६२ वें मन्त्र का उत्तरार्ध है। **निर्गुणम्**–गुणातीत, मायातीत, निरुपाधिक **निष्कलम्**–सर्वकलारहित, निरवयव, अमूर्ति **सूक्ष्मम्**–मन इन्द्रियों से अगम्य, ब्रह्माकार वृत्ति का विषय **निर्विकल्पम्**–सर्व विकल्पों से रहित, निष्प्रपंच **निरंजनम्**–मलरहित, माया और माया के कार्य से रहित **एकमेवाद्वयमिति०**–पूर्ववत् ।।४६९।।

अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनो-वाचामगोचरम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।।४७०।।

अर्थ––जिसका स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सके क्योंकि वह मन और वाणी का विषय नहीं है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें नानापन थोड़ा भी नहीं है।

व्याख्या––यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६३ वें मंत्र की प्रथम पंक्ति है। **अनिरूप्यस्वरूपम्**–जिसके स्वरूप का निरूपण न किया जा सके, आकार रहित, वाणी का अविषय होने से **यत् मनोवाचामगोचरम्**–क्योंकि मन, जो मनन करता

है, और वाणी जो मनन किये हुए को व्यक्त करती है, उन दोनों का वह विषय नहीं है। वह अनुभव वेद्य है। **एकमेवाद्वयमिति०**—पूर्ववत् ॥४७०॥

सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४७१॥

अर्थ—नित्य होने से वैभवपूर्ण, स्वतः सिद्ध, शुद्ध, बोधस्वरूप और उपमारहित ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही है, उसमें नानापन कुछ भी नहीं है।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६३ वें मंत्र का उत्तरार्ध है। **सत् समृद्धम्**—अबाध्य तत्त्व होने से वैभवशाली है, **स्वतः सिद्धम्**—सब प्रमाणों का प्रकाशक होने से जो स्वयं अन्य प्रमाणों से सिद्ध न हो सके इसलिये स्वतः निज की सत्ता-स्फूर्ति से सिद्ध, **शुद्धम्**—एक तत्त्व, केवल, अन्य से अमिश्रित, मायादोष से अस्पृष्ट **बुद्धम्**—बोधरूप, ज्ञानस्वरूप **अनीदृशम्**—जिसके सदृश अन्य कोई न हो, निरुपम अप्रतिम **एकमेवाद्वयमिति**—पूर्ववत् ॥४७१॥

आरम्भ में (श्लोक ४५) श्रीगुरु ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुझे वह मार्ग बताऊंगा, जिसको जान कर संन्यासी, मुमुक्षु पार हुए हैं। 'येनैव याता यतयोऽस्य पारम् तमेव मार्गम् तव निर्दिशामि' उस मार्ग सम्बन्धी उपदेश अब समाप्त करते हैं।

निरस्तरागा निरपास्तभोगाः, शान्ताः सुदान्ता यतयो महान्तः ।
विज्ञाय तत्त्वं परमेतदन्ते, प्राप्ताः परां निर्वृतिमात्मयोगात् ॥४७२॥

अर्थ—विषयों में रागद्वेष रहित, त्यक्त भोग तथा जिनका चित्त शान्त एवं इन्द्रियां संयत हैं वे महात्मा संन्यासीजन अध्यात्मयोग के द्वारा इस परम तत्त्व का साक्षात्कार करके अन्त में परम मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

व्याख्या—**निरस्तरागाः**—विषयों में रागद्वेषरहित, विषयेच्छारहित, अतएव **निरपास्तभोगाः**—त्यक्तभोगा, जिन्होंने भोगों में सत्यत्व बुद्धि त्याग दी है वे, तो वे किस प्रकार भोग करते हैं? 'अन्यावेदिभोग्यभोगकलनः निद्रालुवत् बालवत्', **शान्ताः**—शम गुण से निग्रहीतमानस **सुदान्ताः**—दम गुण से निग्रहीतबाह्येन्द्रिय, अन्तर्मुख वृत्तिवाले, **महान्तः यतयः**—परम पुरुषार्थ में रत परमार्थ अनुसन्धान में प्रयत्नशील संन्यासी। **आत्मयोगात्**—चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में

लगा देना आत्मयोग है, उससे **एतत् परम् तत्त्वम्**–इस परम तत्त्व को, जिसको 'परिपूर्णमनाद्यन्तम्' आदि सात श्लोकों में कहा है **विज्ञाय**–साक्षात्कार करके, अपना स्वरूप जानकर **अन्ते पराम् निर्वृतिम् प्राप्ताः**–अन्त में, साक्षात्कार के उपरान्त अथवा शरीर त्याग के उपरान्त, निरतिशयानन्दरूपा जीवनमुक्ति को अथवा विदेहमुक्ति को प्राप्त होते हैं। जब वे प्राप्त होते हैं, तो आप क्यों नहीं मोक्ष को प्राप्त हो सकते ? यहाँ से श्री गुरु प्रेरणा करते हैं, और साथ ही शक्तिपात भी करते हैं ।।४७२।।

भवानपीदं परतत्त्वमात्मनः, स्वरूपमानन्दघनं निचाय्य ।
विधूय मोहं स्वमनःप्रकल्पितं, मुक्तः कृतार्थो भवतु प्रबुद्धः ॥४७३॥

अर्थ––आप भी आत्मा के इस परम तत्त्व का जो कि आपका अपना आनन्द-घनस्वरूप है, साक्षात्कार करके स्वरूप में जाग कर अपने मनःकल्पित मोह को नष्ट करके मुक्त हुए कृतकृत्य हो जाओ ।

व्याख्या––भवान् अपि–आप भी, अभी तक श्रीगुरु शिष्य को 'त्वम्' कहकर सम्बोधित करते रहे थे, परन्तु जब शिष्य वेदान्त प्रक्रिया और सिद्धान्त सुन चुका है, उसकी मनोभूमि का ज्ञान-स्तर ऊंचा हो गया है अतः वह आदर पात्र हो गया है, निर्विकल्प समाधि की समीप अवस्था में पहुंच गया है, इसलिये श्रीगुरु ने अब शिष्य को 'भवान्' कहकर सम्बोधित किया है। भवान् आदरसूचक शब्द है। **इदम् परतत्त्वम्**–इस परम ब्रह्म को **आत्मनः स्वरूपम्**–जो कि आपका ही अपना स्वरूप है, और **आनन्दघनम्**–आनन्द की मूर्ति है, उसका **निचाय्य**–साक्षात्कार करके **प्रबुद्धः**–अपने स्वरूप में जागा हुआ, अविद्यानिद्रा रहित होकर **स्वमनः कल्पितम्**–अपने मन से ही रचे हुए **मोहम्**–अनात्म वस्तु में आत्मभ्रान्ति, अज्ञान को **विधूय**–नष्ट करके **मुक्तः**–अनात्म बन्ध से मुक्त होकर **कृतार्थः**–कृतकृत्य **भवतु**–हो जायें। यह आशीर्वादरूप श्री गुरु की प्रेरणा है ।।४७३।।

समाधिना साधु विनिश्चलात्मना, पश्यात्मतत्त्वं स्फुट-बोधचक्षुषा ।
निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चेच्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्प्यते ॥४७४॥

अर्थ––समाधि के द्वारा भले प्रकार निश्चल हुए मन से और ज्ञान-नेत्र से इस आत्मतत्त्व का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करो, क्योंकि यदि सुना हुआ पदार्थ भले प्रकार

देख लिया जाता है तो संशयरहित दृढ़ता हो जाती है और फिर किसी अन्यथा भाव उदय होने की सम्भावना नहीं रहती ।

व्याख्या—अब यह बताते हैं कि आत्मसाक्षात्कार क्यों आवश्यक है? **समाधिना**–निर्विकल्प समाधि से **विनिश्चलात्मना**–अपने मन को आत्मा में दृढ़ता से स्थापित करने से, उसको स्वरूप में निश्चल जमाने से **स्फुटबोधचक्षुषा**–स्पष्ट बोध ही है नेत्र, उससे, ज्ञाननेत्र से, प्रज्ञा से, ब्रह्माकार वृत्ति से **आत्मतत्त्वम्**–अपने स्वरूप का **साधु पश्य**–प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर, आत्मदर्शन कर **चेत्**–क्योंकि **श्रुतः पदार्थः**–सुना हुआ पदार्थ **सम्यक् वेक्षितः**–यदि भले प्रकार देख लिया जाये तो वह सुना हुआ विषय **निःसंशयम्**–संशयरहित, असंदिग्धरूप से स्पष्ट हो जाता है **पुनः न विकल्पते**–फिर उसमें किंचित् मात्र भी अन्यथा भाव नहीं होता । हे शिष्य अभी तक मेरे उपदेश से तुझे ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान हुआ है, अपरोक्ष नहीं । परोक्ष ज्ञान में सन्देह की संभावना रहती है, इसलिये अब अपरोक्षदर्शन के लिये यत्न कर ।।४७४।।

ज्ञानोपलब्धि में प्रमाण बताते हैं ।

स्वस्याविद्याबन्ध-सम्बन्धमोक्षात्, सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ ।
शास्त्रं युक्ति-र्देशिकोक्तिः प्रमाणं, चान्तःसिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम् ।।४७५।।

अर्थ—अपने अज्ञानरूप बन्ध छूट जाने से जो सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति होती है, उसमें शास्त्र, युक्ति, गुरुवाक्य प्रमाण है और अन्तःकरण से सिद्ध होनेवाला अपना अनुभव सर्वोपरि प्रमाण है ।

व्याख्या—**स्वस्य**–अपने आत्मा के **अविद्याबंध-संबंधमोक्षात्**–अविद्या से, अहंकारादि देहान्त जो बन्ध हैं, उनके तादात्म्य से, अध्यास से मुक्त होने से **सत्य-ज्ञान-आनन्दरूप-आत्मलब्धौ**–सच्चिदानन्दरूप अपने स्वरूप की प्राप्ति में **शास्त्रम्**–श्रुति **युक्तिः**–अपनी युक्ति, विचार **देशिकोक्तिः**–श्रीगुरुवचन **प्रमाणम्**–प्रमाण है, इन तीनों को एक श्रेणी में लेने से एकवचन, क्योंकि इन तीनों का सामर्थ्य परोक्ष ज्ञान उत्पादन तक सीमित है **च अन्तःसिद्धा**–चकार से प्रमाण की मुख्यता सिद्ध होती है, श्रुति-युक्ति-गुरुवचन के प्रभावरूप अन्तःकरण की एकाग्रता से सिद्ध होनेवाली ब्रह्माकार वृत्ति **स्वानुभूतिः**–जिसका फल निर्विकल्प समाधि में आत्म साक्षात्कार है **प्रमाणम्**–यह आत्मानुभव सर्वोपरि प्रमाण है ।।४७५।।

ब्रह्मज्ञान स्वसंवेद्य है ।

वन्धो मोक्षश्च तृप्तिश्च चिन्तारोग्य-क्षुधादयः ।
स्वेनैव वेद्या यज्ज्ञानं परेषामानुमानिकम् ।।४७६।।

अर्थ—ज्ञान. अज्ञान. तृप्ति. अन्तर्व्यथा, आरोग्य और भूख आदि तो अपने आप ही जाने जाते हैं, दूसरों को उनका जो ज्ञान होता है वह अनुमानमात्र है ।

व्याख्या—**बन्धः**–अज्ञान **मोक्षः**–ब्रह्म ज्ञान **च तृप्तिः**–और सन्तुष्टि **चिन्ता**-अन्तर्व्यथा **आरोग्य**–स्वस्थता **क्षुधादयः**–भूख, आदि पद से प्यास **स्वेन एव**–अपने से ही **वेद्याः**–जाने जाते हैं, अनुभवगम्य हैं **परेषाम्**–दूसरों का अपने संबंध में **यत्**–जो बंधमोक्षादि ज्ञान है वह **आनुमानिकम्**–अनुमानमात्र है । तो क्या पूर्व में कहे हुए जीवन्मुक्त के लक्षण व्यर्थ हैं ? व्यर्थ नहीं है, आनुमानिक हैं ।।४७६।।

यदि मोक्ष अपने से ही अनुभव किया जा सके, तो गुरु, शास्त्र, ईश्वरकृपा का मोक्षसाधन में क्या होगा. इस शंका को दृष्टि में रखकर आगे कहते हैं ।

तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा ।
प्रज्ञयैव तरेद्विद्वानीश्वरानुगृहीतया ।।४७७।।

अर्थ—जैसे गुरुजन वैसे ही श्रुति ब्रह्म का तटस्थरूप से ही केवल परोक्ष बोध कराते हैं । ईश्वरानुगृहीत ब्रह्माकारवृत्ति से विचारशील साधक इस संसार-सागर को पार करे ।

व्याख्या—**गुरवः**–आचार्यजन **यथा श्रुतयः**–और वैसे ही उपनिषदें **तटस्थिताः**–तटस्थ होकर, परोक्ष ज्ञान जनक हैं **बोधयन्ति**–मार्ग का संकेत करते हैं, जैसे तट पर खड़े लोग नाविक को राह दिखाते हैं, नौका नहीं चलाते **ईश्वरानुगृहीतया**–ईश्वर की कृपा से **प्रज्ञया एव**–अति सूक्ष्म वृत्ति, अखंड ब्रह्माकारवृत्ति, 'ब्रह्मात्मनोः शोधितयोः एकभावावगाहिनी' चिन्मात्रा वृत्ति से **विद्वान्**–विचारशील साधक **तरेत्**–भवसागर को तरे अर्थात् आत्मदर्शन करे । इस श्लोक में चार कृपाओं का वर्णन है । मोक्ष लाभ के लिये चार कृपायें कही गई हैं । (१) गुरुकृपा, (२) शास्त्रकृपा, (३) ईश्वरकृपा तथा (४) आत्म-कृपा । इनमें प्रथम तीन कृपायें वहिरंग हैं, चौथी आत्मकृपा अन्तरंग है । निदिध्यासन की परिपक्वास्था का नाम निर्विकल्प समाधि है । प्रज्ञा अथवा ब्रह्माकारवृत्ति प्राप्त होने पर निर्विकल्प समाधि लगती है । इसी समाधि में आत्मसाक्षात्कार होता है । इसी

को आत्मकृपा कहते हैं। जब तक अन्तर्यामी आत्मदेव कृपा नहीं करेंगे तब तक अन्य कृपायें अर्थात् गुरु शास्त्र ईश्वरकृपा काम नहीं करती हैं। इसमें उपनिषद का प्रमाण देते हैं। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।' इति श्रुतिः, मुण्डकोपनिषद ३।२।३, आत्मसाक्षात्कार का लाभ व्याख्यान से, तर्क से तथा बहुत शास्त्र पठन श्रवण से नहीं होता। जिस साधक को आत्मदेव स्वयं वरण (स्वीकार) करते हैं उसी को आत्मसाक्षात्कार होता है। जिसपर आत्मदेव कृपा करते हैं उसको स्वयं ही वरण करते हैं। गुरु शास्त्र ईश्वरकृपा से ब्रह्म का परोक्षज्ञान होता है, अर्थात् ब्रह्म है। पर वह ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा साक्षात् ज्ञान तो साधक के अपने अनुभव से ही होगा। अन्य के अनुभव से साधक को अनुभव नहीं होता। अब यह प्रश्न है कि प्रथम तीन कृपाओं में कौन सी आदि कृपा है, अथवा कौन सी कृपा बलवान है। इसका कोई निर्णयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। जिस पर आज ईश्वर कृपा प्रधान प्रतीत होती हो, संभव है शास्त्रकृपा उस पर पूर्व जन्मों में हो चुकी हो। यह निश्चित है कि आत्मकृपा अन्तिम जन्म में होती है। साधारणतः आदि कृपा ईश्वर की होती है।' यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्। तावन्नसद्गुरुं कश्चित्सच्छास्त्रमपि नो लभेत्।।' जब तक परमेश्वर की प्रत्यक्ष कृपा नहीं होती है तब तक किसी को भी सद्गुरु (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु) नहीं मिलता, यहाँ तक कि सत्-शास्त्र (ब्रह्मविद्या विषयक धर्मशास्त्र) भी उपलब्ध नहीं होते। श्रीभगवत्पाद ने भी इस ग्रंथ के आरम्भ में कहा है कि 'महापुरुषसंश्रयः' (सद्गुरु) की प्राप्ति 'देवानुग्रहहेतुकम्' ईश्वर की कृपा से होती है। ईश्वर कृपा से सद्गुरु सच्छास्त्र की प्राप्ति होती है। इन तीनों की कृपा से साधक मोक्ष के लिये स्वयं प्रयत्न करता है, और स्वप्रयत्न, श्रवण-मनन -निदिध्यासन की महिमा से ब्रह्माकारवृत्ति की प्राप्ति होती है, और साधक को ब्रह्म साक्षात्कार होता है। यही कैवल्य मोक्ष है। स्वप्रयत्न से लेकर ब्रह्माकार वृत्ति की प्राप्ति तक आत्मकृपा कहलाती है।

श्रीगुरुदेव कहा करते कि उनके शिष्य स्वामी सच्चिदानन्दाश्रम (मायाकुंड ऋषिकेशवाले) प्रबल शास्त्र कृपा से, स्वामी कृष्णबोधाश्रम (किवलानेवाले, अब ब्रह्मीभूत) प्रबल ईश्वरकृपा से, तथा पं० गिरवरदत्त (सकेंड़ेवाले) प्रबल गुरुकृपा से भवसागर पार हो चुके हैं। उन पर अन्य कृपाओं का पक्ष तुलनात्मक गौण रहा है।

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
संसिद्धः ससुखं तिष्ठेन्निर्विकल्पात्मनात्मनि ।।४७८।।

अर्थ—अपने अनुभव से अपने अखण्ड आत्मा का स्वयं साक्षात्कार करके सिद्ध हुआ साधक निर्द्वन्द्व हुआ आनन्दपूर्वक सदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहे ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६४ वां मंत्र है। **स्वानुभूत्या**—अपने ही अनुभव से, अन्य के अनुभव से नहीं, अपना अनुभव ही सर्वोपरि प्रमाण है । **स्वम् अखण्डितम् आत्मानम्**—अपने अखण्ड स्वरूप आत्मा को, निजरूप को **स्वयम् ज्ञात्वा**—अपने पुरुषार्थ से साक्षात् करके **संसिद्धः**—कृतकृत्य हुआ **निर्विकल्पात्मना**—संशय रहित हुआ, ब्रह्माकार वृत्ति से **आत्मनि**—अपने स्वरूप में **ससुखम्**—सुगमता पूर्वक, आनन्दविभोर हुआ **तिष्ठेत्**—स्थिर हो जाये ।।४७८।।

अब अगले श्लोक में वज्राघात की भांति शिष्य के अज्ञान पर श्री गुरु अन्तिम वाक्प्रहार करते हैं, जिसके फलस्वरूप शिष्य का अज्ञान सहसा नष्ट हो जाता है । वह क्षीण तो पहले ही हो चुका था, अब जो भेदबुद्धि की गंध अवशेष थी, वह भी नष्ट हो जाती है । शिष्य की समाधि लग जाती है । वाणी का ओज, प्रवाह, निर्णय-रूपता और शब्दों की मितव्ययता, तथा प्रभावोत्पादकता से प्रकट होता है मानो कि श्रीगुरु ने ऊर्ध्ववाहु होकर यह निर्णयात्मक उपदेश शिष्य को दिया हो ।

वेदान्तसिद्धान्त-निरुक्तिरेषा, ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च ।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो, ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ।।४७९।।
अद्वितीयं - पाठभेद - ८

अर्थ—वेदान्त शास्त्र की यह घोषणा है कि जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है और उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखण्डरूप से स्थित रहना ही मोक्ष है । इस घोषणा की पुष्टि में श्रुतियां प्रमाण हैं ।

व्याख्या—**वेदान्तसिद्धान्त-निरुक्तिः**—उपनिषदों से सिद्ध जो अन्त, निर्णय वह वेदान्तसिद्धान्त उसकी निरुक्ति, संकुचित शब्दों में घोषणा **एषा**—यह है **जीवः एव ब्रह्म**—जीव ही ब्रह्म है **सकलम् जगत् च**—और समस्त दृश्यरूप जगत् भी ब्रह्म है, **ब्रह्म-अद्वितीये**—इस अद्वैत ब्रह्म में **अखण्डरूप स्थितिः एव**—अखण्ड, अटूट रूप से स्थिति, निष्ठा, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूप में ब्रह्माकार वृत्ति से निवास ही

मोक्षः–निरतिशय सुखरूपा, अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूपा मुक्ति है। **श्रुतयः प्रमाणम्**–इस निरुक्ति की पुष्टि के लिये, वहुत ही श्रुतियां प्रमाण हैं। 'तत्त्वमसि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि ।।४७६।।

अब शास्त्रकार कहते हैं कि अन्त में शिष्य की निर्विकल्प समाधि लग गई।

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूडामणिः' पर पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा 'सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' का विविध नाम पांचवां प्रकरण समाप्त।

६—स्वनुभव प्रकरण—

श्रीगुरु के उपदेश से शिष्य की निर्विकल्प समाधि लग जाती है। इस प्रकरण में शिष्य समाधिगत अपना आत्मानुभव वताता है। इसमें अध्यात्मोपनिषद और कुण्डिकोपनिषद के भी मंत्र हैं।

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणात्, परमवगम्य सतत्त्वमात्मयुक्त्या।
प्रशमितकरणः समाहितात्मा, क्वचिदचलाकृतिरात्मनिष्ठितोऽभूत्॥४८०॥

अर्थ—इस प्रकार गुरु के उपदेश से श्रुति-प्रमाण और अपनी युक्तियों द्वारा परमात्मतत्त्व का दर्शन करके इन्द्रियों और अन्तःकरण के शान्त हो जाने से वह शिष्य कुछ काल के लिये निश्चल वृत्ति से आत्मस्वरूप में स्थित हो गया।

व्याख्या—**इति**—अव ग्रंथकार कहते हैं कि पहले जो विस्तार से कहा है, और इससे पूर्व के श्लोक में जो संक्षेप से कहा गया है, इस प्रकार **गुरुवचनात्**—श्रीगुरु के उपदेश से **श्रुतिप्रमाणात्**—जो गुरुवचन कि श्रुति सम्मत है, उससे 'शास्त्रम् युक्तिः देशिकोक्तिः प्रमाणं, चान्तः सिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम्' **आत्मयुक्त्या**—अपनी युक्ति से, अर्थात् मनन से **परम् सतत्त्वम् अवगम्य**—परम ब्रह्म का साक्षात्कार करके **प्रशमितकरणः**—व्यापार रहित हो गई हैं ज्ञानकर्मेन्द्रियां जिसकी, वह प्रशमितकरण **समाहितात्मा**—सम्यक् निगृहीत अन्तःकरण, स्थापित हो गया है ब्रह्म में अन्तःकरण जिसका वह समाहित-आत्मा, निरुद्ध चित्तवृत्ति, ब्रह्माकार वृत्ति **क्वचित्**—कुछ काल के लिये **अचलाकृतिः**—निश्चल, पर्वतवत् अप्रकम्य होकर **आत्मनिष्ठितः अभूत्**—अपने स्वरूप में स्थिर हो गया, निर्विकल्प समाधि में चढ़ गया, शिष्य को ज्ञान की चतुर्थ भूमिका प्राप्त हो गई। प्रशमितकरण, समाहितात्मा अचलाकृति इन शब्दों से समाधि के निकटतम पूर्वावस्था का वर्णन किया है॥४८०॥

श्लोक दो में 'आत्मानात्म विवेचनं स्वनुभवः' कहा है। इससे पूर्वके श्लोक तक

आत्मानात्म विवेचन समाप्त हो जाता है. इस श्लोक में शिष्य को बोध हो जाता है और इससे आगे 'स्वनुभव' आरम्भ होता है ।

कञ्चित्कालं समाधाय परे ब्रह्मणि मानसम् ।
व्युत्थाय परमानन्दादिदं वचनमब्रवीत् ॥४८१॥

अर्थ—कुछ देरतक परब्रह्म में वृत्ति को समाहितकर फिर उस परमानन्दमयी स्थिति से उठकर यह वह वचन बोला ।

व्याख्या—सैंकड़ों करोड़ों जन्मों के जो पुण्य अर्जित थे, उनके फलस्वरूप शिष्य को आत्मसाक्षात्कार हो गया, निर्विकल्प समाधि में अपने स्वरूप की पूर्णता का स्वनुभव हो गया । शास्त्रकार कहते हैं । **किंचित् कालम्**—कुछ काल, साधारणत: एक क्षण से लेकर एक महूर्त (४८ मिनिट) तक **परे ब्रह्मणि**—निर्गुण ब्रह्म में **मानसम् समाधाय**—मन को स्थापित करके, निर्विकल्प समाधि में स्थिर रह कर **परमानन्दात् व्युत्थाय**—परमानन्द रूप अपने स्वरूप में. निर्विकल्प समाधि से उठकर **इदम् वचनम् अब्रवीत्**—यह वचन बोला । ज्ञान की चतुर्थी भूमिका प्राप्त तत्त्ववेत्ता शिष्य अब अपना अनुभव कहता है । जो साधक अब तक मुमुक्षु था, वह सिद्ध मुक्त हो गया है ।।४८१।।

जैसे कोई नये स्थान में गहरी नींद में सो जाये, और सहसा जागे तो सोचता है, मैं कहाँ हूँ ? यह कौन स्थान है ? ऐसे ही यह शिष्य समाधि से उत्थित होकर, अपने को समझने का यत्न करता है । अपने अनुभव का वर्णन करता है । दो श्लोकों में ब्रह्म को मन वाणी का अविषय बताता है ।

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्ति, र्ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या ।
इदं न जानेऽप्यनिदं न जाने, किं वा कियद्वा सुखमस्त्यपारम् ॥४८२॥

अर्थ—ब्रह्म और जीव की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर मेरी देहात्मबुद्धि नष्ट हो गयी, प्रवृत्ति गलित हो गयी । अब मुझे न इदं का ज्ञान है और न अनिदं का और न मैं यही जानता हू कि वह आनन्द कैसा और कितना है अपार होने से ।

व्याख्या—**ब्रह्म-आत्मनोः एकतया अधिगत्या**—ब्रह्म और जीव की एकता के प्रत्यक्ष अनुभव से **बुद्धिः विनष्टा**—मेरी देहात्मबुद्धि नष्ट हो गई है, मेरी बुद्धि ब्रह्म

प्रकाश में लीन हो गई, बुद्धि की निजी सत्ता नष्ट हो गई, बुद्धि वृत्ति ब्रह्माकार हो गई, जैसे नमकपिण्ड समुद्र में जाने से समुद्र रूप हो जाता है, उसी प्रकार **प्रवृत्तिः गलिता**–रजोगुण का कार्य विषयों में सत्य बुद्धि से प्रवृत्ति भी गल गई, नष्ट हो गई, 'प्रवृत्तिः अज्ञानफलम्'। **इदम् न जाने**–भेदज्ञान नष्ट हो गया, इस जगत् को अब में ब्रह्म से भिन्न नहीं जानता **अन्-इदम् अपि न जाने**–जो 'यह ब्रह्म नहीं है', उसको भी नहीं जानता, ब्रह्म से भिन्न किसी को नहीं जानता, अथवा जगत् से विलक्षण ब्रह्म को मैं साक्षीरूप से नहीं जानता, क्योंकि ब्रह्म सर्वसाक्षी है, उसका साक्षी कोई नहीं, ब्रह्म को जानने के लिये ब्रह्म ही वनाना पड़ता है। **किम् वा कियत् वा अपारम् सुखम् अस्ति**–निर्विकल्प समाधि के सुख का क्या स्वरूप है या कितनी मात्रा, गम्भीरता है, मैं नहीं जानता, क्योंकि यह सुख अपार है, सीमारहित है, माप-तोल से परे है, देश-काल, वस्तु, परिच्छेदरहित अनन्त सुख है ।।४८२।।

> **वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते**
> **स्वानन्दामृतपूरपूरित-परब्रह्माम्बुधे-र्वैभवम् ।**
> **अम्भोराशि-विशीर्ण-वार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो**
> **यस्यांशांशलवे विलीनमधुनानन्दात्मना निर्वृतम् ।।४८३।।**

अर्थ—उस आत्मानन्दरूप अमृतप्रवाह से परिपूर्ण परब्रह्मसमुद्र का वैभव वाणी से नहीं कहा जा सकता और मन से मनन नहीं किया जा सकता। समुद्र में पड़कर गले हुए वर्षा के साथ ओलों के भाव के सदृश मेरा मन जिस आनन्दामृत-समुद्र के एक अंश के भी अंश में लीन हुआ अब चंचलता त्यागरकर अति आनन्दरूप से स्थित हो गया है।

व्याख्या—स्व-आनन्द-अमृतपूरपूरित-परब्रह्माम्बुधेः–आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव का सुख, वही है अमृत का प्रवाह, उससे पूर्ण परब्रह्म सागर के वैभव, ऐश्वर्य को **वाचा वक्तुम् अशक्यमेव**–वाणी से नहीं कहा जा सकता, वाणी कहने में असमर्थ है, **मनसा मन्तुम् न वा शक्यते**–और न ही मन से मनन, ग्रहण किया जा सकता है। परिच्छिन्न मन में अपार सुख कैसे समाये ? **यस्य अंशांशलवे**–जिस ब्रह्मानन्द के अंश के अंश के भाग में **अम्भोराशिविशीर्ण-वार्षिकशिलाभावम्**–अथाह समुद्र में पड़े हुए वर्षा के साथ ओले की समानता के भाव को **भजन् मे मनः**–भजता हुआ मेरा मन विलीन हो गया। अथाह जलराशि में पड़ा हुआ ओला जैसे गलकर निजी श्वेतता, कठोरता खोकर समुद्ररूप हो जाता है, वैसे ही मेरा संकल्प विकल्प रूप

मन, ब्रह्म में डूबकर, निज की सत्ता खोकर, ब्रह्मरूप वन गया, इसलिये उस ब्रह्म का वर्णन, 'वाचावक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते।' प्रत्यक्ष प्रमाण के साधनों के अभाव में **अधुना**–अब, समाधि से उठने के उपरान्त **आनन्दात्मना निर्वृतम्**–आनन्द रूप से स्थिर होने के कारण मन का संकल्प-विकल्पात्मक स्वरूप नष्ट हो गया है। मन निर्व्यापार हो गया है ॥४८३॥

समाधि काल में संसार के अत्यन्ताभाव का अनुभव करके, समाधि से उत्थान के पश्चात् उसके मिथ्यात्व का अनुभव करके, शिष्य महान आश्चर्य प्रगट करता है।

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥४८४॥

अर्थ—यह संसार कहाँ चला गया? इसे कौन ले गया? यह कहाँ लीन हो गया? अहो! बड़ा आश्चर्य है जिस संसार को मैं अभी देख रहा था, समाधिकाल में कहीं दिखायी नहीं दिया।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६५ वां मंत्र है। जिस जगत को समाधि से पहले देखा था वह जगत **क्व गतम्**–समाधि काल में कहाँ चला गया? **केन वा नीतम्**–अथवा किस से उसका अहपरण हुआ? **कुत्र लीनम्**–कहाँ लय हुआ **अधुना एव मया दृष्टम्**–समाधि से पहले अभी ही मेरे से देखा गया था, **नास्ति**–क्या यह जगत पहले भी नहीं है? अथवा समाधिकाल में जगत् नहीं है? **किम् महदद्भुतम्**–कितना महान आश्चर्य है। अथवा **किम् महदद्भुतम् नास्ति**–क्या यह महान आश्चर्य नहीं है? 'अधुनैव मया दृष्टम्' से प्रगट होता है कि शिष्य की पहली वार समाधि एक मूहूर्त के लगभग लगी है ॥४८४॥

मुझे ब्रह्म में भेद नहीं मिला, इसको दो श्लोकों में तत्त्ववेत्ता शिष्य बताता है।

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम्।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे ॥४८५॥

अर्थ—इस अखण्ड आनन्दामृतपूर्ण ब्रह्म-समुद्र में कौन वस्तु त्याज्य है? कौन ग्राह्य है? कौन अनात्म है? और कौन विलक्षण है? (यह भेद ब्रह्म में मुझे नहीं मिला)

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६६ वां मंत्र है। **किम् हेयम्**—क्या त्यागने योग्य है? **किम् उपादेयम्**—क्या ग्रहण करने योग्य है? **किम् अन्यत्**—क्या अनात्मा है? **किम् विलक्षणम्**—क्या विलक्षण है? **अखण्ड-आनन्दपीयूष-पूर्णे**—निरन्तर एकरस आनन्दरूपी अमृत से पूर्ण **ब्रह्म-महार्णवे** ब्रह्म महासागर में। शिष्य की कुछ समझ में नहीं आता। उपदेश काल में गुरु ने अहंकार वासना संकल्पादि हेय, त्याज्य, विवेक वैराग्यादि उपादेय, ग्राह्य, देहादि बंध अन्यत्, अनात्म, तथा इनसे विलक्षण आत्मा बताया था, परन्तु तुर्यावस्था में पहुँचकर शिष्य देखता है कि वहाँ एक तत्त्व है, उसमें त्याज्य, ग्राह्य, अनात्मा आदि का भेद नहीं है ॥४८५॥

अगले श्लोक में बताता है कि आत्मा स्वयं साक्षी है, उसका साक्षी कोई नहीं।

न किञ्चिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम्।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ॥४८६॥

अर्थ—मुझे समाधि में न कुछ दिखायी दिया, न सुनायी दिया और न मैंने कुछ जाना ही। समाधि अवस्था विलक्षण है। मैं ही अपने नित्यानन्दस्वरूप आत्मा से हूँ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६७ वां मंत्र है। **अत्र**—समाधि अवस्था में **किंचित् न अहम् पश्यामि**—मैं ब्रह्म से अन्यत् कुछ नहीं देखता **न शृणोमि**—नहीं सुनता, **न वेद्मि**—नहीं जानता, क्योंकि मेरी इन्द्रियां और अन्तःकरण की वृत्ति गलतान हो चुकी थी। **विलक्षणः**—यह समाधि अवस्था तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से विलक्षण है। समाधि अवस्था में **स्वात्मना एव सदानन्दरूपेण अस्मि**—मैं ही निरन्तर आनन्दरूप से हूँ, अन्य कुछ नहीं है, जिसको कि मैं देखता, सुनता, जानता। आत्मा का साक्षीरूप भी साक्ष्य के अपेक्षा से ही है, समाधि काल में जहाँ 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' ब्रह्म का दर्शन होता है, वहाँ साक्षी, साक्ष्य भाव भी नहीं रहते ॥४८६॥

शिष्य ने समाधि से उठते ही श्रीगुरु को प्रणाम नहीं किया। कारण, समाधि में शिष्य की 'बुद्धि विनष्टा, गलिताप्रवृत्तिः' इसलिये, समाधि से उठकर शिष्य को जाग्रत् में स्वस्थ होने के लिये कुछ काल लगा है। ,संसार से दुःखी, 'दुर्वारसंसार दवाग्नितप्तम्' शिष्य सहसा अभयपद पाकर परमानन्द में डूब गया। जागने

पर, ब्रह्मानन्द की खुमारी का वेग कम होने पर उसे सन्मुख उपस्थित श्रीगुरु दिखाई दिये, और उसने तीन श्लोकों में उनकी स्तुति की। वांछित अर्थ के लिये निवेदन प्रार्थना कहलाता है। पूर्व में कहे हुए 'स्वामिन्नमस्ते नतलोकवन्धो' इत्यादि पांच श्लोक प्रार्थना के हैं। वांछितार्थ की उपलब्धि के उपरान्त जो कृतज्ञता प्रगट की जाती है, उसे स्तुति कहते हैं।

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने, विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे, भूम्ने सदापारदयाम्बुधाम्ने ॥४८७॥

अर्थ—उन असंग, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ, नित्य-अद्वितीय-आनन्दरसस्वरूप, भूमा और नित्य-अपार-दयासागर महात्मा गुरुदेव को नमस्कार है, नमस्कार है।

व्याख्या—नमः में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग है। **महात्मने**—महात्मा, क्योंकि आपने मेरे संसार दुःख का निवारण किया है, 'अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-श्रमापनोदप्रवणम् महात्मानाम्।' **विमुक्तसंगाय**—यद्यपि आप करुणासिन्धु हैं, पर हैं असंग, **सदुत्तमाय**—ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ, **नित्याद्वय-आनन्द-रसस्वरूपिणे**—अखंड ब्रह्मानन्दमूर्ति **भूम्ने**—भूमा, ब्रह्म को ही भूमा कहते हैं, **सदा-अपारदयाम्बु-धाम्ने**—सदा निरवधिक करुणाजलनिधि **ते गुरवे**—आप श्रीगुरु के लिये **नमः नमः**—प्रणाम है, प्रणाम है ॥४८७॥

यत्कटाक्ष-शशिसान्द्रचन्द्रिका-पातधूत-भवतापज-श्रमः।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ॥४८८॥

अर्थ—जिनकी कृपाकटाक्षरूप चन्द्रमा की घनी चान्दनी से भवतापजन्य श्रम दूर हो गया है जिसका ऐसे मैंने क्षण भर में अनन्त वैभव और आनन्द युक्त अक्षय आत्मपद प्राप्त किया है।

व्याख्या—**यत्**—जिन श्रीगुरु के **कटाक्ष-शशिसान्द्र-चन्द्रिका-पातधूत-भव-तापज-श्रमः**—कृपा कटाक्ष ही है चन्द्रमा की घनी चान्दनी, उससे अमृत गिरने से नष्ट हो गया है संसार त्रिताप से उत्पन्न श्रम, क्लान्ति जिसकी ऐसा **अहम्**—मैं, आपका भवपीड़ित शिष्य **प्राप्तवान्**—प्राप्त कर गया हूँ, क्या? **अक्षयम्**—अव्यय, **अखण्ड वैभवानन्दम् आत्मपदम्**—अनन्त वैभव और आनन्दयुक्त आत्मपद, परम पद,

कल्याणपद, अभयपद, मोक्ष **क्षणात्**–क्षण भर में, अविलम्व। शिष्य ने आरम्भ में प्रार्थना की थी कि अपनी कृपाकटाक्ष से मेरा उद्धार करो। "मामुद्धर आत्मीय-कटाक्षदृष्टया ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्टया"। यहाँ उस कृपाकटाक्ष का प्रत्यक्ष फल प्राप्त कर लिया है, अक्षय आत्मपद ।।४८८।।

आत्मपद पाकर शिष्य अपने को कृतकृत्य समझता है।

> धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात्।
> नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं तदनुग्रहात् ।।४८९।।

अर्थ—श्रीगुरुकृपा से मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ, संसार वन्धन से रहित हूँ, तथा नित्यानन्दस्वरूप और अनन्त हूँ।

व्याख्या—**धन्यः अहम्**–मैं धन्य हूँ, मैं अहोभाग्य हूँ **कृतकृत्यः अहम्**–जो कुछ मुझे करना था, सो कर चुका, अव मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं **विमुक्तः अहम् भव-ग्रहात्**–संसार वन्धन से, संसाररूपी मकर से विशेष मुक्त हूँ, अतएव अव **नित्यानन्द-स्वरूपः अहम्**–मैं केवलानन्दमूर्ति हूँ **पूर्णः अहम्**–मैं अपरिच्छिन्न अनन्त हूँ, परन्तु यह सव कुछ सम्भव हो सका है **तदनुग्रहात्**–श्रीगुरु की कृपा से। इस प्रकार शिष्य ने अपनी कृतज्ञता प्रगट की है ।।४८९।।

अव पांच श्लोकों में विधिमुख और निषेधमुख से अपने स्वरूप, ब्रह्म की निर्गुणता बताता है। निर्गुण ब्रह्म के उपासकों के लिये यह अच्छा सामग्री समूह है। इन श्लोकों में प्रायः वही शब्दावलि है जो श्रीगुरु द्वारा अपने उपदेश में प्रयुक्त हुई है, इस लिये ये श्लोक सरल हैं।

> असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमभङ्गुरः।
> प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहमतान्तोऽहं चिरन्तनः ।।४९०।।

अर्थ—मैं असंग हूँ, निरवयव हूँ, अलिङ्ग हूँ और अक्षय हूँ तथा अत्यन्त शान्त, अनन्त, पुरातन और अश्रान्त हूँ।।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६८ वां मंत्र है। **असंगः अहम्**–मैं निर्लिप्त हूँ, **अनंगः अहम्**–अनन्त होने से मैं निरवयव हूँ, **अलिंगः अहम्**–निरुपाधिक होने से मैं सर्वचिन्हरहित, निर्गुण हूँ, **अभंगुरः**–अविनाशी, अपरिणामी

प्रशान्तः अहम्—मैं वासनारहित परम शान्त हूँ **अनन्तः अहम्**—मैं देश, काल, वस्तु, परिच्छेदरहित पूर्ण हूँ, **अतान्तः अहम्**—मैं आश्रान्त हूँ, **चिरन्तनः**—पुराण हूँ, अनूतन हूँ अनादि होने से ।।४६०।।

अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमक्रियः ।
शुद्धबोध-स्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ।।४६१।।

अर्थ—मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, अविकारी, अक्रिय हूँ, शुद्ध-बोधस्वरूप हूँ और नित्य कल्याणस्वरूप हूँ ।

व्याख्या—यह श्लोक अध्यात्मोपनिषद में ६६ वां मंत्र है । **अकर्ता अहम्**—मैं निष्क्रिय, कर्तव्यरहित हूँ, **अभोक्ता अहम्**—मैं भोगों से सम्बन्ध रहित हूँ, **अविकारः अहम्**—मैं षड्भाव विकाररहित हूँ, **अक्रियः**—सर्व कर्म से रहित, **शुद्धबोधस्वरूपः अहम्**—मैं निर्मलज्ञान मूर्त्ति हूँ । **केवलः अहम्**—मैं एकतत्त्व, विजातीय-सजातीय-स्वगत भेदशून्य हूँ **सदाशिवः**—मैं सदा मंगलमूर्ति, कल्याण-रूप हूँ ।।४६१।।

द्रष्टुः श्रोतु-र्वक्तुः कर्तु-र्भोक्तुर्विभिन्न एवाहम् ।
नित्य-निरन्तर-निष्क्रिय-निःसीमासङ्ग-पूर्णबोधात्मा ।।४६२।।

अर्थ—द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, कर्ता, भोक्ता—मैं इन सभीसे भिन्न हूँ, मैं सद्रूप, सर्व परिच्छेदशून्य, निष्क्रिय, निःसीम, असंग और पूर्णबोधस्वरूप हूँ ।

व्याख्या—**द्रष्टुः**—मैं गौणद्रष्टा चैतन्यप्रतिविम्ब अन्तःकरण से, **श्रोतुः**—श्रोता से, **वक्तुः**—वक्ता से, **कर्तुः**—कर्ता से, **भोक्तुः**—भोक्ता से **विभिन्नः एव अहम्**—मैं, मुख्यात्मा भिन्न, विलक्षण हूँ, देखना, सुनना बोलना, करना, भोगना, ये मेरे धर्म नहीं है, इन्द्रियों और अन्तःकरण के धर्म हैं । मैं तो **नित्य**—सदा, **निरन्तर**—बिना अन्तर, परिच्छेद के, **निष्क्रिय**—सर्व क्रिया से रहित, **निःसीम**—सीमा-रहित, अनन्त, **असंग**—साक्षी **पूर्ण बोधात्मा**—सर्वत्र ज्ञानमूर्त्ति हूँ ।।४६२।।

नाहमिदं नाहमदोऽप्युभयोरवभासकं परं शुद्धम् ।
बाह्याभ्यन्तरशून्यं पूर्णं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ।।४६३।।

अर्थ—मैं न यह जगत् हूँ, न वह ईश्वर हूँ, बल्कि इन दोनों का प्रकाशक, निरवयव, पूर्ण, अद्वितीय और शुद्ध परब्रह्म ही मैं हूँ।

व्याख्या—**अहम् इदम् न**—मैं यह नहीं हूँ, समीपवर्ती के लिये 'इदम्' आता है, मैं यह निकट दृश्य जगत नहीं हूँ, **अहम् अदः अपि न**—मैं वह भी नहीं हूँ, अप्रत्यक्ष के लिये 'अदः' आता है, मैं वह ईश्वर भी नहीं हूँ, तो क्या हूँ? **उभयोः अवभासकम्**—मैं, जगत्, ईश्वर दोनों का प्रकाशक हूँ, **परम् शुद्धम्**—सर्वोत्कृष्ट पवित्र, माया और माया के कार्य से असंवद्ध द्वैतहीन, केवल **बाह्य-अभ्यन्तर-शून्यम्**—मैं वाहर भीतर दोनों से शून्य निरवयव होने से, एकरस, सर्वोपाधि विनिर्मुक्त **पूर्णम्**—अनन्त, **अद्वितीयम् एव**—द्वैत रहित, एक तत्त्व, वही **ब्रह्म अहम्**—ब्रह्म मैं हूँ ॥४६३॥

निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इतिकल्पनादूरम्।
नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ॥४६४॥

अर्थ—जो उपमारहित, उत्पत्तिरहित तत्त्व, 'तू, मैं, यह, वह', आदि भेद से अत्यन्त दूर है, वह नित्यानन्दैकरसस्वरूप, सत्य और अद्वितीय ब्रह्म मैं ही हूँ।

व्याख्या—**अहम् निरुपमम्**—मैं उपमारहित हूँ, **अनादितत्त्वम्**—आदिरहित ब्रह्म हूँ, **त्वम्-अहम्-इदम्-अदः इति कल्पनादूरम्**—'तू' 'मैं' 'यह जगत्', 'वह ईश्वर' इन कल्पित भेदों से दूर हूँ, मैं धनीभूत भेद रहित एक तत्त्व हूँ। **नित्यानन्द-एकरसम्**—सदा आनन्दरूप, निर्विकारी **सत्यम्**—त्रिकाल अवाध्य, नित्य **अद्वितीयम् एव ब्रह्म अहम्**—पूर्ववत् ॥४६४॥

अपना निर्गुण स्वरूप वता कर अपने को ईश्वररूप वताता है।

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं, पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी, निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥४६५॥

अर्थ—मैं नारायण हूँ, नरकासुर का विघातक हूँ, त्रिपुरदैत्यों का नाश करनेवाला हूँ, परम पुरुष हूँ और ईश्वर हूँ तथा मैं अखण्डबोधस्वरूप हूँ, सवका साक्षी हूँ मेरा कोई शासक नहीं हूँ तथा मैं अहंता और ममता से रहित हूँ।

व्याख्या—यह श्लोक कुण्डिकोपनिषद् में १७ वां मन्त्र है। मैं निर्गुण ब्रह्म ही जब माया विशेषण के साथ तादात्म्य सा करता हूँ तो माया विशिष्ट ईश्वर कहलाता हूँ, विशेषण भेद से ईश्वरों के नामों में भी भेद हैं **अहम् नारायणः**—ब्रह्मविद्या का आचार्य नारायण, भगवान विष्णु मैं हूँ, **अहम् नरकान्तकः**—नरकासुर दैत्य का संहार करनेवाला नरकान्तक नाम वाला शिव मैं ही हूँ, **अहम् पुरान्तकः**—त्रिपुर दैत्यों का वध करनेवाला त्रिपुरारि नाम वाला शिव भी मैं ही हूँ **पुरुषः ईशः अहम्**—उपनिषदों में वर्णित सहस्रशीर्ष पुरुष मैं ही हूँ, 'ईश्वराणाम् परमं महेश्वरम्'—ईश्वरों का परम महा ईश्वर मैं ही हूँ, मैं ही अपनी शक्तियों से सर्व का ईशन, नियमन करता हूँ, **अहम् अशेषसाक्षी**—मायोपहित होने से मैं सर्व का साक्षी हूँ, मेरा साक्षी कोई नहीं **अखण्डबोधः**—निरुपाधिक होने से मन वाणी का अविषय मैं ही शुद्धज्ञान हूँ **अहम् निरीश्वरः**—मेरा कोई ईश्वर, शास्ता नहीं है, अद्वय होने से **निरहम्**—देहाध्यास न होने से मैं अभिमान रहित हूँ, **च निर्ममः**—और देहोपयोगी सुतदारगृहादि में ममता न होने से मैं निर्मम हूँ ॥४६५॥

अविद्याविशिष्ट जीवों में भी मैं ही हूँ।

सर्वेषु भूतेष्वहमेव संस्थितो, ज्ञानात्मनान्तर्बहिराश्रयः सन्।
भोक्ता च भोग्यं स्वयमेव सर्वं, यद्यत्पृथग्दृष्टमिदन्तया पुरा ॥४९६॥

अर्थ—समस्त प्राणियों का बाहर और भीतर से अधिष्ठान होकर बोधरूप से मैं ही स्थित हूँ। पहले जो जीव तथा भोगसाधन इदं रूप से भिन्न देखे गये थे वे सब कुछ स्वयं मैं ही हूँ।

व्याख्या—**सर्वेषु भूतेषु**—सब प्राणधारियों में **अन्तः बहिः**—भीतर और बाहर, अहंकार ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय प्राण भीतर, इन के विषय बाहर, इनका **आश्रयः सन्**—अधिष्ठान होकर, ये सब मुझ में आरोपित हैं रज्जु में सर्प की न्याईं **ज्ञानात्मना**—ज्ञान रूप से, प्रकाश रूप से **अहम् एव संस्थितः**—मैं, आत्मा ही विराजमान हूँ। मेरी सत्ता से स्फूर्तिमान होकर अन्तःकरण, पंचकोश मेरी उपाधि मात्र हैं, इसलिए **भोक्ता**—भोग करनेवाला, **च भोग्यम्**—और भोगसामग्री **सर्वम् स्वयम् एव**—सब मैं ही हूँ। भोक्ता और भोग्य मुझ में ही अध्यस्त हैं, समाधि अवस्था में मैं ने इन की निर्भेद एकता देखली है **यत् यत्**—जो भोक्ता जीव, अविद्याविशिष्ट चैतन्य और उसके भोग के साधन **पुरा**—आत्मसाक्षात्कार होने से पहले **इदन्तया पृथक्**—'इदम्' रूप से मुझ से भिन्न **दृष्टम्**—दिखाई पड़ते थे ॥४९६॥

सृष्टियों का उदय और लय भी मेरे स्वरूप में ही है।

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ।।४९७।।

अर्थ––मेरे अखण्डस्वरूप आनन्द-समुद्र में विश्वरूपी नाना तरङ्गें मायारूपी वायु के वेग से उठती और नष्ट होती रहती हैं ।

व्याख्या––यह श्लोक कुण्डिकोपनिषद् में २४ वां मन्त्र है । **मयि अखण्ड-सुखाम्भोधौ**–मेरे स्वरूप, अखण्ड सुखरूप सागर में **बहुधा**–अनेक **विश्ववीचयः**–विश्व ही हैं तरंगें, मेरे स्वरूप सागर में विश्व तरंगों की न्याईं **उत्पद्यन्ते**–पैदा होते हैं, और पैदा होकर **विलीयन्ते**–लय होते हैं, तत्रकारण **मायामारुतविभ्रमात्**–माया रूपी पवन के वेग से, जैसे सागर में वायु अपने वेग से तरंगे उठाता है, और लय करता है, वैसे ही माया मेरे स्वरूप में असंख्यात सृष्टियां रचती है और विगाड़ती है । इस मंत्र में स्वरूप का अति उदार चित्रण है ।

स्थूलादिभाव मुझ में कल्पित हैं, वास्तविक नहीं ।

स्थूलादिभावा मयि कल्पिता भ्रमादारोपितानुस्फुरणेन लोकैः ।
काले यथा कल्पकवत्सरायनर्त्वादयो निष्कलनिर्विकल्पे ।।४९८।।

अर्थ––विभाग रहित और भेद रहित काल में जैसे कोई कल्प, वर्ष, अयन (उत्तरायण-दक्षिणायन) और ऋतु आदि का विभाग नहीं है उसी प्रकार मूढ़ लोगों ने भ्रमवश आरोपितवस्तु के स्फुरणमात्र से ही मुझ में स्थूल-सूक्ष्म आदि उपाधियों की कल्पना कर ली है ।

व्याख्या––निष्कल–निर्विकल्पे–भागरहित, भेदरहित, कलाकाष्ठादि परि-णाम रहित, **काले**–समय में **यथा**–जैसे **कल्पक-वत्सर-अयन-ऋतु-आदयः**–कल्प, वर्ष, छः महीने का अयन, दो महीने की ऋतु, आदि पद से दिन, प्रहरादि समझने चाहिये, कल्पित भेद कर लिये हैं, **तथा**–वैसे ही, **लोकैः**–मूढ़ों द्वारा **आरोपितानुस्फुरणेन**–आरोपित वस्तु के स्फुरण मात्र से, चेष्टा से **स्थूलादिभावाः**–स्फूल, आदि पद से सूक्ष्म, कारण शरीर ग्रहण करना, ये उपाधियां **भ्रमात्**–अज्ञान-वश **मयि**––मुझ उपाधिरहित आत्मा में **कल्पिताः**–कल्पित कर ली गई हैं, अन्तःकरण इन्द्रिय प्राणादि की चेष्टायें मुझ आत्मा में कल्पित कर ली गई हैं, उन की क्रियाओं से आत्मा क्रियावान होता है, ऐसा समझ लिया है ।।४९८।।

दृष्टान्त से दिखाते हैं कि आरोपित वस्तु के गुणदोष से अधिष्ठान दूषित नहीं होता है ।

आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्, कदापि मूढैर्मतिदोष-दूषितैः ।
नार्द्रीकरोत्यूषर-भूमिभागं, मरीचिका-वारिमहाप्रवाहः ॥४९९॥

अर्थ—बुद्धि-दोष से दूषित अज्ञानियों द्वारा आरोपित की हुई वस्तु अपने आश्रय को दूषित नहीं कर सकती, जैसे मृगतृष्णा का महान् जल-प्रवाह अपने आश्रय ऊषर भूमि-खण्ड को गीला नहीं कर सकता ।

व्याख्या—**मतिदोषदूषितैः मूढैः**—स्थूलता, अशुद्धता, चञ्चलता इन दोषों से युक्त बुद्धिवाले मूढ़ों से **आरोपितम्**—अधिष्ठान में आरोपित वस्तु **कदापि**—कभी भी किसी काल में भी **आश्रयदूषकम् न भवेत्**—अधिष्ठान को दूषित करनेवाली नहीं हो सकती, अपने दोष अधिष्ठान में नहीं ला सकती । अब दृष्टान्त दिया जाता है, **मरीचिका-वारिमहाप्रवाहः**—मरु भूमि में सूर्य की किरणें तप्त भूमि के संपर्क से जल की भांति भासती हैं, उस मरु-मरीचिका के जल का महान प्रवाह भी **ऊषर-भूमिभागम्**—अपने आश्रयभूत उस मरुभूमि के भाग को **न आर्द्री करोति**—गीला नहीं कर सकता, क्योंकि अधिष्ठान असंग है, और मृगतृष्णिका नदी मिथ्या है ॥४९९॥

मैं सर्वाधिष्ठान आत्मा कैसा हूँ ।

आकाशवल्लेप-विदूरगोऽहमादित्यवद्भास्य-विलक्षणोऽहम् ।
आहार्यवन्नित्य-विनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ॥५००॥

अर्थ—मैं आकाश के समान निर्लेप हूँ, सूर्य के समान उस से प्रकाश्य वस्तुओं से विलक्षण हूँ, पर्वत के समान नित्य निश्चल हूँ और समुद्र के समान अपार हूँ ।

व्याख्या—यह श्लोक कुण्डिकोपनिषद् में १६ वां मंत्र है । मेरे स्वरूप की चार उपमायें सुनो । **आकाशवत् लेपविदूरगः अहम्**—मैं आकाश की भांति असंग हूँ, आकाश धूलि से लिपायमान नहीं होता, वैसे ही आत्मा माया से लिपायमान नहीं होता **आदित्यवत् भास्यविलक्षणः अहम्**—सूर्य से जो पदार्थ प्रकाशित होते हैं, सूर्य, जो कि प्रकाशरूप है, उन प्रकाशित पदार्थों से विलक्षण है, उसी प्रकार मैं भी साक्ष्य पदार्थों से विलक्षण हूँ, **आहार्यवत् नित्य-विनिश्चलः अहम्**—पर्वत की न्याई मैं नित्य अचल हूँ, मेघादि के वेग से अकम्पित हूँ । रजो गुण के घोर धर्मों से आत्मा असंस्पृष्ट रहता है । **अम्भोधिवत् पारविवर्जितः अहम्**—सागर

की भांति सीमारहित हूँ। स्वरूप का कितना उदार चित्रण खेंचा है। मेरा त्रि-देह से संबंध नहीं ।।५००।।

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ।।५०१।।

अर्थ—जैसे मेघ से आकाश का कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही मेरा भी शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये शरीर की अवस्थाएं जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति मुझ में कैसे हो सकती हैं ?

व्याख्या—**मे**—मुझ असंग अविकारी आत्मा का **देहेन**—देह से, स्थूल—सूक्ष्म—कारण देह से **मेघेन इव विहायसः**—जैसे असंग आकाश का वादल के साथ **संबंधः न**—संबंध नहीं है, **अतः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः**—वैसे ही आत्मा का, निर्लिप्त भाव होने से, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति **तद्धर्माः**—जो कि क्रमशः स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर की अवस्थाएं हैं, धर्म है वे **मे कुतः**—मुझ निर्लिप्त आत्मा के धर्म कहां, कैसे हो सकते हैं ।।५०१।।

त्रि-देहरूप उपाधि का ही मरना-जीना, गमनागमन होता है, मेरा नहीं।

उपाधिरायाति स एव गच्छति, स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते।
स एव जीर्यन्म्रियते सदाहं, कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थितः ।।५०२।।

अर्थ—शरीराभिमानी ही आता है, वही जाता है तथा वही कर्मों को करता और उनके फल भोगता है तथा वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर वही मरता है। मैं तो कुल-पर्वत के समान नित्य निश्चल-भाव से ही रहता हूँ।

व्याख्या—यदि तेरा शरीर से संबंध नहीं है, तो मरता जीता कौन है ? इस पर कहते हैं। **उपाधिः आयाति**—अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य, शरीराभिमानी जीव जन्म लेता है, **सः एव गच्छति**—वह ही परलोक गमन करता है, **सः कर्माणि करोति**—वह ही शुभ अशुभ कर्म करता है, **भुंक्ते**—किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है, **सः एव जीर्यन् म्रियते**—वह ही वृद्ध हो कर मरता है, **अहम् सदा**—इस के विपरीत मैं आत्मा सदा **कुलाद्रिवत्**—कुलाचल पर्वत की न्याईं **निश्चलः एव संस्थितः**—निश्चल, हिम-वृष्टिपात आदि मेघों के उपद्रव से अकम्पित रहता हूँ,

अविकारी, अपने स्वरूप में ही रहता हूँ। 'न जायते म्रियते' इति श्रुतिः। मैं षड्विकाररहित हूँ ॥५०२॥

शरीर से असंवद्ध और रागद्वेषरहित होने से मुझ में प्रवृत्ति निवृत्ति भी नहीं है।

न मे प्रवृत्ति र्न च मे निवृत्तिः, सदैकरूपस्य निरंशकस्य।
एकात्मको यो निविडो निरन्तरो, व्योमेव पूर्णः स कथं नु चेष्टते ॥५०३॥

अर्थ—मुझ सदा एकरस और निरवयव आत्मा की न किसी विषय में प्रवृत्ति है और न किसी से निवृत्ति। भला जो आत्मा निरन्तर एकरूप घनीभूत और आकाश के समान अनन्त है वह किस प्रकार चेष्टा कर सकता है।

व्याख्या—**निरंशकस्य**—निरवयव आत्मा की अतएव **सदा एकरूपस्य**—सदा एकरूपवाले निर्विकारी **न मे प्रवृतिः**—मुझ आत्मा की असत् पदार्थों में प्रवृत्ति नहीं, **न च मे निवृत्तिः**—जब प्रवृत्ति ही नहीं है, तो निवृत्ति भी नहीं नित्ययुक्त होने से, राग-द्वेष से कर्म में प्रवृत्ति हुआ करती है, मुझ में रागद्वेष नहीं, इसलिए मैं प्रवृत्ति-निवृत्ति से संबंधरहित हूँ। **यः एकात्मकः**—जो अद्वितीय आत्मा **निविड़ः**—सान्द्र, घनीभूत, **निरन्तरः**—अवकाशरहित, त्रिपरिच्छेदशून्य **व्योम इव पूर्णः**—आकाश की भांति सीमारहित अनन्त है, **सः कथम् नु चेष्टते**—वह आप्तकाम आत्मा किस प्रकार चेष्टा कर सकता है, वह कर्म में 'किमिच्छन् कस्य वा हेतोः' प्रवृत्त होगा। 'अनिच्छो विषयः किन्नु प्रवृत्तेः कारणम् स्वतः, विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः प्रवृत्तिः अज्ञानफलम्।' जो आत्मा एक और अनन्त है वह, दूसरे के अभाव में, किस प्रकार चेष्टा कर सकता है। आप्तकाम होने से, प्रयोजन के अभाव में, वह कैसे चेष्टा करेगा। ॥५०३॥

मुझे पुण्य पाप भी स्पर्श नहीं करते।

पुण्यानि पापानि निरिन्द्रियस्य, निश्चेतसो निर्विकृते-र्निराकृतेः।
कुतो ममाखण्ड-सुखानुभूते, र्ब्रूते ह्यनन्वागतमित्यपि श्रुतिः ॥५०४॥

अर्थ—वाणी कर्मेन्द्रिय रहित, चित्त, विकार और आकृति से रहित मुझ अखण्ड आनन्द उपभोक्ता को पाप या पुण्य कैसे हो सकते हैं? और 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन' यह श्रुति ऐसा ही बतलाती है।

व्याख्या---पुण्य पाप तीन प्रकार के होते हैं, शारीरिक, वाचिक, और मानसिक, शास्त्र विहित कर्म पुण्य, शास्त्र निषिद्ध कर्म पाप। पवित्र नदियों में स्नान, देवार्चन, ब्रह्मभोजादि शरीर के पुण्य हैं, महामन्त्र जप, भगवन्नाम कीर्तनादि वाचिक पुण्य है, ईश्वरध्यान स्वहित परहित चिन्तन मानसिक पुण्य हैं। अगम्यागमन, परनिन्दा, निषिद्धध्यानादि पर-अहितचिन्तनादि क्रमशः शरीर-वाणी-मन के पाप हैं। **निरिन्द्रियस्य**---इन्द्रिय रहित, **निश्चेतसः**--स्वरूप में लीन होने से मनरहित **निराकृतेः**--शरीर रहित, शरीर से असंवद्ध **निर्विकृतेः**--निर्विकारी **अखण्डसुखानुभूतेः**--नित्यानन्द अनुभव करनेवाले **मम**--मुझ आत्मा को, **पुण्यानि पापानि कुतः**--पुण्य पाप कहाँ, निरिन्द्रियस्य का अर्थ वाणी, कर्मेन्द्रियरहित लेना चाहिये। **हि**--क्यों कि, अब श्रुति प्रमाण देते हैं। **अनन्वागतम् पुण्येन अनन्वागतम् पापेन** तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' **इति श्रुतिः** बृह० ४।३।२२ **अपि ब्रूते**--भी कहती है। सुषुप्त अवस्था में वह पुण्य से असम्वद्ध, पाप से असम्बद्ध, तथा हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार किये होता है। जाग्रत् अथवा स्वप्नावस्था में किये हुए पुण्य पाप सुषुप्ति अवस्था में पीछा नहीं करते, अर्थात् नहीं रहते। सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान रहता है, तो भी पुण्यपाप नहीं रहते। तब बोध होने के उपरान्त जब कि अज्ञान का भी नाश होता जाता है, पुण्य पाप कैसे रह सकते हैं? मुझ आत्मस्वरूप का पुण्य पाप से कुछ सम्वन्ध नहीं है ।।५०४।।

अब दो श्लोकों में दृष्टान्त देकर शिष्य कहता है।

छायया स्पृष्टमुष्णं वा शीतं वा सुष्ठु दुष्ठु वा।
न स्पृशत्येव यत्किञ्चित्पुरुषं तद्विलक्षणम् ।।५०५।।

अर्थ---उष्ण-शीत, अच्छी-बुरी वस्तु छाया से छू जाने पर भी पुरुष को तनिक भी स्पर्श नहीं कर सकती, क्योंकि पुरुष छाया से भिन्न है।

व्याख्या---**छायया स्पृष्टम् शीतम् उष्णम् वा**--अपने शरीर की छाया से जल अग्नि, ठंडी अथवा गरम वस्तु का स्पर्श, या **सुष्ठु दुष्ठु वा**--अच्छी बुरी वस्तु का स्पर्श **तद्विलक्षणम्**--उस छाया से भिन्न **पुरुषम्**---पुरुष को **यत् किंचित् एव न स्पृशति**--किंचित्मात्र भी स्पर्श नहीं करता, छाया यदि जल पर पड़े तो पुरुष गीला नहीं होता और यदि अग्नि पर पड़े तो जलता नहीं। ऐसे ही पुण्य पाप जो शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण के धर्म हैं, मुझ आत्मा को स्पर्श नहीं करते ।।५०५।।

अब तत्त्ववेत्ता शिष्य दूसरा दृष्टान्त देता है।

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ।।५०६।।

अर्थ—जैसे घर के धर्म उसके प्रकाशक दीपक को स्पर्श नहीं करते वैसे ही शरीरेन्द्रियप्राणादि साक्ष्य वस्तुओं के धर्म मुझ विकाररहित, असंग, साक्ष्यवस्तुओं से विलक्षण साक्षी आत्मा को स्पृश नहीं करते ।

व्याख्या—यह श्लोक कुण्डिकोपनिषद में २३ वां मंत्र है। **गृहधर्माः प्रदीपवत्**—घरके धर्म, स्वच्छता मलिनतादि जैसे घर के प्रकाशक दीपक को स्पर्श नहीं करते वैसे ही **साक्ष्यधर्माः**—साक्ष्य वस्तुओं के, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण के धर्म **अविकारम्**—विकार रहित **उदासीनम्**—असंग **विलक्षणम्**—साक्ष्यवस्तु से भिन्न **साक्षिणम्**—मुझ साक्षी को **न संस्पृशन्ति**— स्पृश नहीं करते ।।५०६।।

मैं साक्षी हूँ, इसके लिये शिष्य सूर्य, अग्नि और रज्जु के तीन दृष्टान्त देता है।

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो, वह्नेर्यथा वाऽयसि दाहकत्वम् ।
रज्जोर्यथारोपितवस्तुसङ्ग, स्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ।।५०७।।

अर्थ—मनुष्य के कर्मों में जैसे सूर्य का साक्षीभाव है, अग्नि की दहनशक्ति जैसे लोहे में कल्पित है और आरोपित सर्प से जैसे रज्जुका सङ्ग है वैसे ही मुझ कूटस्थ चेतन आत्मा का पुण्य पाप से संग कल्पित है ।

व्याख्या—**रवेः यथा कर्मणि साक्षिभावः**—सूर्य का मनुष्य द्वारा सम्पादित कर्म में जैसे साक्षीभाव है, दृष्टापन है, कर्त्तापन नहीं। सूर्य उदय होते ही ब्राह्मण सन्ध्योपासनादि कर्म में प्रवृत्त होता है, क्षत्रिय शस्त्राभ्यास करता है, वैश्य वाणिज्य-व्यापार में लगता है, परन्तु सूर्य का उन कर्मों से संवन्ध नही है, **वन्हेः यथा वा अयसि दाहकत्वम्**—या अग्नि की जैसे लोह में दहनशक्ति। अग्नि में तापाया हुआ लोहा जालाता है। वास्तव में लोहा नहीं जलाता अग्नि जलाती है, लोहे में दाहकत्व कल्पित है **रज्जोः यथा आरोपितवस्तुसंगः**—रस्सी का जैसे उसमें आरोपित सर्प के साथ संग कल्पित है। आरोपित सर्प से रज्जु विषैली नहीं होती **तथा एव**—वैसे ही **कूटस्थचिदात्मनः**—मुझ निश्चल ज्ञानरूप आत्मा का मानसिक वाचिक शारीरिक पुण्य पापों से संग कल्पित है, देहेन्द्रियादि से संबंध मिथ्या है ।।५०७।।

साक्षी होने से मैं कर्तापन भोक्तापन से असंवद्ध हूँ।

कर्तापि वा कारयितापि नाहं, भोक्तापि वा भोजयितापि नाहम् ।
द्रष्टापि वा दर्शयितापि नाहं, सोऽहं स्वयंज्योतिरनीदृगात्मा ॥५०८॥

अर्थ——मैं न करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ, न भोगनेवाला हूँ, न भुगतानेवाला हूँ और न देखनेवाला हूँ, न दिखानेवाला हूँ । मैं सर्वधर्मवर्जित स्वयंप्रकाश आत्मा ही हूँ ।

व्याख्या——अहम् कर्ता अपि वा कारयिता अपि न—मैं कर्ता भी नहीं हूँ, और कर्म का प्रेरक भी नहीं हूँ । कर्तृत्व भाव बुद्धि का धर्म है, मेरा नहीं, ऐसे ही **भोक्ता अपि भोजियिता अपि न**—मैं भोक्ता भी नहीं, और भुगानेवाला भी नहीं हूँ, ये भी चिदाभास अर्थात् बुद्धि उपाधि के धर्म हैं, मुझ आत्मा के नहीं, **अहम् दृष्टा अपि वा दर्शयिता अपि न**—मैं दृष्टा तथा दिखानेवाला भी नहीं हूँ, क्योंकि चैतन्य के प्रकाश से चेतनीभूत अन्तःकरण गौण द्रष्टा और दर्शयिता है, मैं निरुपाधिक मुख्य आत्मा नहीं, तो मैं क्या हूँ ? **सः अहम् स्वयंज्योतिः**—वह मैं स्वयंप्रकाश हूँ । **अनीदृक् आत्मा**—परिभाषावद्ध होने में अयोग्य, सर्वधर्मवर्जित आत्मा हूँ । कर्ता-भोक्ता द्रष्टा, कारयिता, भोजयिता, दर्शयिता आदि भाव मुझ में मोहवश कल्पित हैं, वास्तव में नहीं हैं । ये उपाधि के धर्म हैं । 'उपाधिरायाति स एव गच्छति, स एव कर्माणि करोति भुंक्ते' ॥५०८॥

मूढ लोग मुझमें कर्तापन भोक्तापन क्यों देखते हैं ?

चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्यमौपाधिकं मूढधियो नयन्ति ।
स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं कर्तास्मि भोक्तास्मि हतोऽस्मि हेति ॥५०९॥

अर्थ——जिस प्रकार जलरूप उपाधि के चञ्चल होनेपर मूढबुद्धि पुरुष औपाधिक प्रतिविम्व की चंचलता को विम्वभूत सूर्य में आरोप करते हैं उसी प्रकार वे सूर्य के समान निष्क्रिय आत्मा में बुद्धि की स्फुरणा को आरोपित करते हैं । और कहते हैं 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, हाय मारा गया' इत्यादि ।

व्याख्या——मूढधियः—अशुद्ध, अस्थिर, असूक्ष्म बुद्धिवाले मूढजन **उपाधौ चलति**—उपाधि के चलायमान होने पर, यहाँ आत्मा की उपमा सूर्य के साथ है । अविद्या-जल उपाधि है, अन्तःकरण-सूर्य प्रतिविम्व है । **औपाधिकम् प्रतिबिबलौल्यम्**—उपाधि अन्तर्गत प्रतिविम्व की चंचलता को, जल में पड़ा सूर्य अक्स, जल हिलने से, हिलता दिखाई पड़ता है, बुद्धि की स्फुरणा को । **स्वबिम्बभूतम् नयन्ति**—उसके

आधारभूत विम्व आत्मा में लगाते हैं, उपाधिगत विक्षेप को, बुद्धि के गुणों को आत्मा में आरोपित करते हैं। उपाधि के क्रियावान होने से, आत्मा को, अधिष्ठान को क्रियावान समझते हैं। जल में सूर्य का अक्स हिलने से सूर्य को हिलता समझते हैं, परन्तु वास्तव में **रविवत् विनिष्क्रियम्**–आत्मा, सूर्य के सदृश, सर्व क्रियारहित निश्चल है। इस यथार्थ तथ्य के न जानने के कारण मूढ़, बुद्धि के धर्मों को, अपने स्वरूप में आरोपित करता है और कहता है **कर्ता अस्मि**–में कर्ता हूँ, **भोक्ता अस्मि**–मैं भोक्ता हूँ, **हा हतः अस्मि**–हाय ! मैं मारा गया ! वस्तुतः आत्मा अकर्ता अभोक्ता अविनाशी है ।।५०६।।

अपनी असंगता को सदृष्टान्त वताता है।

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ।।५१०।।

अर्थ—घड़े के धर्मों से जैसे घटाकाश लिपायमान नहीं होता वैसे ही यह जड देह जल में अथवा स्थल में कहीं भी लोटता रहे, मैं इसके धर्मों से लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—**एषः जडात्मकः**–यह जड़ देह, जो कि मेरी उपाधि मात्र है **वापि जले**–चाहे जल में **वापि स्थले**–चाहे स्थल में **लुठतु**–पड़ा रहे, लोटता रहे **तद्धर्मैः**–उस जड़ शरीर के धर्मों से जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से **घटधर्मैः नभः यथा**–घड़े के चोरस, गोल आकार धर्मों से जैसे घटाकाश लिपायमान नहीं होता वैसे ही **अहम्**–मैं असंग आत्मा **न विलिप्ये**–लिपायमान नहीं होता। घट के भंग होने पर आकाश भंग नहीं होता। शरीर पात से आत्मा नहीं मरता ।।५१०।।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-खलत्व-मत्तता-जडत्व-बद्धत्व-विमुक्ततादयः ।
बुद्धेर्विकल्पा न तु सन्ति वस्तुतः स्वस्मिन्परे ब्रह्मणि केवलेऽद्वये ।।५११।।

अर्थ—कर्तापन, भोक्तापन, दुष्टता, मस्तानापन, जडता, वन्धन और मोक्ष–ये सब बुद्धि की ही कल्पनाएं हैं, मेरे निजी स्वरूप केवल अद्वितीय परब्रह्म में वस्तुतः नहीं हैं।

व्याख्या—**कर्तृत्व**–कर्तापन, **भोक्तृत्व**-भोक्तापन, **खलत्व**–दुष्टता, **मत्तता**–मस्तानापन, **जडत्व** स्थूलता, मूढत्व, **बद्धत्व**–संसाररूपवन्धन, **विमुक्तता–आदयः**–संसार वन्धनों से मोक्ष, आदि पद से देहाभिमानी की जितनी भी भावनाएं

हैं वे सब समझनी चाहियें, ये सब **बुद्धेः विकल्पाः**—बुद्धि उपाधि की विविध कल्पनायें हैं **वस्तुतः**—यथार्थ में **स्वस्मिन् केवले अद्वये परे ब्रह्मणि न तु सन्ति**—अपने स्वरूप शुद्ध, अद्वितीय परम ब्रह्म में नहीं हैं। मैंने समाधि काल में अपने निर्भेद स्वरूप का दर्शन किया है, मैं अनुभव से कहता हूँ कि आत्मा में विकल्प नहीं है। मेरे स्वरूप में कर्तापनादि, बंध और मोक्ष त्रिकाल में भी नहीं हैं ।।५११।।

इसी भाव को पुनः विशद करता है।

सन्तु विकाराः प्रकृतेर्दशधा शतधा सहस्रधा वापि।
किं मेऽसङ्गचितेस्तैर्न घनः क्वचिदम्बरं स्पृशति ।।५१२।।

अर्थ—प्रकृति के दशों, सैंकड़ों और हजारों विकार क्यों न हों उनसे मुझ असङ्ग चेतन आत्मा का क्या सम्बन्ध? मेघ क्या कभी आकाश को छू सकता है?

व्याख्या—प्रकृतेः दशधा, शतधा, सहस्रधा वापि विकाराः सन्तु—माया के चाहे दशों, सैंकड़ों सहस्रों विकार हों, कार्य हों, **तैः**—उन विकारों से **असंगचितेः मे किम्**—मुझ असंग चैतन्य आत्मा का क्या? अर्थात् कोई सम्बन्ध नहीं। अब दृष्टान्त देता है **न घनः क्वचित् अम्बरम् स्पृशति**—क्या कभी मेघ, चाहे उनकी कितनी ही संख्या और कितने ही आकार हों, आकाश को स्पर्श कर सकता है? नहीं। अपने आकारों अथवा संख्या से क्या आकाश को आकारवान अथवा अवयवयुक्त कर सकता है? नहीं कर सकता ।।५१२।।

आत्मवेत्ता शिष्य अब अपने अनुभव का उपसंहार आरम्भ करता है। अपने निश्चय की दृढ़ता दिखाने के लिये अपने स्वरूप का तीन ओजस्वी श्लोकों में वर्णन करता है।

अव्यक्तादि-स्थूलपर्यन्तमेतद्विश्वं यत्राभासमात्रं प्रतीतम्।
व्योमप्रख्यं सूक्ष्ममाद्यन्तहीनं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ।।५१३।।

अर्थ—अव्यक्त से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त यह समस्त विश्व जिसमें छाया मात्र प्रतीत होता है, तथा जो आकाश के समान अलिप्त और आदि-अन्त से रहित अद्वैत ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ।

व्याख्या—अव्यक्तादि स्थूलपर्यन्तम् एतत् विश्वम्—मूल प्रकृति से लेकर स्थूलाकार तक यह विश्व **यत्र**—जिस ब्रह्म, अधिष्ठान में **आभासमात्रम् प्रतीतम्**—

छाया मात्र प्रतीत होता है, दर्पण में नगराभास की भांति **यत् व्योमप्ररव्यम्**–जो ब्रह्म आकाश की भांति **सूक्ष्मम् आदि-अन्त हीनम्**–असंग, अलिप्त आरम्भ और अन्तरहित **है,** कोई नहीं कह सकता कि आकाश कहाँ से आरम्भ होता है और कहाँ समाप्त होता है, **अद्वैतम् ब्रह्म**–जिसके तुल्य अन्य नहीं है, एक तत्त्व ब्रह्म **तत् एव अहम् अस्मि**–वही ब्रह्म मैं हूँ ।।५१३।।

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं सर्वाकारं सर्वगं सर्वशून्यम् ।
नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ।।५१४।।

अर्थ—जो सबका आधार, सब वस्तुओं का प्रकाशक, सर्वरूप, सर्वव्यापी, माया और माया के कार्य से रहित, नित्य, शुद्ध, निश्चल और विकल्परहित अद्वैत ब्रह्म है वही मैं हूँ ।

व्याख्या—**सर्वाधारम्**–सर्व दृश्य प्रपंच का अधिष्ठान, **सर्ववस्तुप्रकाशम्**–अपनी सत्ता स्फूर्ति से सर्व वस्तु का प्रकाशक 'तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति'–इति कठश्रुतिः २।२।१५, उसके ही प्रकाश से यह 'अव्यक्तादिस्थूलपर्यन्तमेतद्विश्वम्' प्रकाशता है, यह विश्व स्वयं प्रकाश नहीं है, **सर्वाकारम्**–सर्व नामरूप आकार उसी ब्रह्म में अध्यस्त हैं, रज्जु में सर्प, रेखा, धारा, नामों की भांति । विविध भूतों के आकार भी ब्रह्म में आरोपित हैं, **सर्वगम्**–सर्वव्यापी, अपरिच्छिन्न । **सर्वशून्यम्**–सर्व कल्पित नाम रूप वस्तु से संबंधरहित, **नित्यम्**–त्रिकाल अबाध्य, **शुद्धम्**–केवल, मायारहित, सर्वभेदशून्य **निश्चलम्**–निर्विकारी **निर्विकल्पम्**–निर्भेद **यत् अद्वैतम् ब्रह्म तत् एव अहम् अस्मि**–जो अद्वैत ब्रह्म है वह मैं ही हूँ, वही मेरा स्वरूप है । 'ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च । कर्माण्यपि समग्राणि विभर्तीति श्रुति र्जगौ ।।' योगशिखोपनिषद ।।६।। ब्रह्म ही सब नामों को, सब रूपों को, सब कर्मों को धारण करता है, श्रुति ने ऐसा गाया है।।५१४।।

यत्प्रत्यस्ताशेष-मायाविशेषं प्रत्यग्रूपं प्रत्ययागम्यमानम् ।
सत्य-ज्ञानानन्तमानन्दरूपं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ।।५१५।।

अर्थ—जो समस्त मायिक भेदों से रहित, अन्तरात्मारूप और मनवाणी द्वारा प्रतीति का अविषय तथा जो सत्, बोध, अनन्त और आनन्दरूप अद्वैत ब्रह्म है, वही मैं हूँ ।

व्याख्या—**प्रत्यस्ताशेष-मायाविशेषम्**—जिसमें माया की विशेषता, तीन गुण तथा उनके कार्य, सबके सब पूर्ण रूप मे अस्त हो गये हैं, माया कल्पित भेद जिसमें नहीं हैं, **प्रत्यग्रूपम्**—जो कूटस्थ चैतन्य अन्तरात्मा है, **प्रत्यय-अगम्यमानम्**—मन और इन्द्रियों से जो अगम्य है, मन और इन्द्रिय जिसको विषय नहीं कर सकतीं, **सत्य-ज्ञान-अनन्तम्**—'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' ब्रह्म'' इति तैत्तिरीयोपनिषद २।१, जो सत्यरूप, बोधरूप और अनन्त—देश, काल, वस्तु परिच्छेदरहित है, **आनन्दरूपम्**—आनन्दघन है, **यत् अद्वैतम् ब्रह्म**—जो अद्वैत ब्रह्म है **तत् एव अहम् अस्मि**—वह ही ब्रह्म मैं हूँ, उससे भिन्न नहीं हूँ ।।५१५।।

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि, निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि, निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ।।५१६।।

अर्थ—मैं क्रियारहित, विकाररहित, अवयवरहित निराकार , निर्विकल्प, नित्य, निरालम्ब और अद्वितीय हूँ ।

व्याख्या—यह श्लोक कुंडिकोपनिषद में २५ वां मंत्र है । इस श्लोक में तत्त्व-वेत्ता शिष्य निषेधमुख से अपना स्वरूप बताता है । **निष्क्रियः अस्मि**—मैं क्रिया-रहित हूँ, **अविकारः अस्मि**—षड्भावविकार रहित हूँ. **निष्कलः अस्मि**—मैं निरवयव हूँ, **निराकृतिः**—आकार रहित हूँ, **निर्विकल्पः अस्मि** मैं विकल्प रहित, भेदशून्य अद्वैत हूँ, **नित्यः अस्मि**—मैं त्रिकाल अबाध्य हूँ, **निरालम्बः अस्मि**—मैं स्वयंप्रकाश हूँ, स्व—अधिष्ठान हूँ, **निर्द्वयः**—भेदरहित अद्वय, अनपर हूँ ।।५१६।।

अब विधिमुख से अपना स्वरूप बताता है ।

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहमानन्दोऽहं निरन्तरः ।।५१७।।

अर्थ—मैं सबका आत्मा, सर्वरूप, सबसे परे और अद्वितीय हूँ, तथा शुद्ध अखण्ड ज्ञानस्वरूप और निरन्तर आनन्दरूप हूँ ।

व्याख्या—यह श्लोक कुण्डिकोपनिषद में २६ वां मंत्र है । **सर्वात्मकः अहम्**—मैं सर्व की आत्मा हूँ, **सर्वः अहम्**—मैं सर्व का अधिष्ठान हूँ, **सर्वातीतः अहम्**—मैं माया-तीत हूँ **अद्वयः**—एकतत्त्व हूँ, **केवल**—शुद्ध **अखण्डबोधः**—पूर्ण ज्ञानरूप हूँ, **आनन्दः अहम्**—मैं आनन्द रूप हूँ, **निरन्तरः**—मैं निरवकाश, देश काल वस्तुपरिच्छेदरहित पूर्ण परमात्मा हूँ ।।५१७।।

यहाँ तक शिष्य ने 'स्वनुभव' व्यक्त किया है। अब तीन श्लोकों में आत्मवेत्ता शिष्य श्रीगुरु की स्तुति करता है।

स्वाराज्य-साम्राज्य-विभूतिरेषा, भवत्कृपा-श्रीमहिम-प्रसादात्।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने, नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु ॥५१८॥

अर्थ—हे श्रीगुरो ! आपकी कृपा की उत्तम महिमा के प्रसाद से मुझे यह स्वाराज्य-साम्राज्य की विभूति प्राप्त हुई। आप महात्मा को मेरा नमस्कार हो, नमस्कार हो, वारंवार नमस्कार हो।

व्याख्या—**मया**–मुझे **भवत्कृपा-श्रीमहिमप्रसादात्**–आपकी कृपा की उत्तम-महिमा के प्रसाद से **एषा**–यह **स्वाराज्य-साम्राज्यविभूतिः**–आत्मराज्य के सम्पूर्ण साम्राज्य का वैभव, विभूति **प्राप्ता**–प्राप्त हुई है, स्वाराज्य क्या ? निरंकुश स्वतंत्रता, उसका साम्राज्य क्या ? ब्रह्मलोक के साम्राज्य से लेकर मृत्युलोक के साम्राज्य तक उसके साम्राज्य में सम्मिलित हैं, और वह बाहर भी है, उसके वैभव क्या ? श्लोक ४९० से ४९७ तक तथा श्लोक ५१३ से ५१७ तक वर्णित आत्मसाम्राज्य की विभूतियाँ मुझे प्राप्त हो गई है, ते **महात्मने श्रीगुरवे**–आप महात्मा श्रीगुरु के लिये **नमः नमः अस्तु**–वारम्वार मेरा प्रणाम है, **पुनः नमः अस्तु**–फिर मेरा प्रणाम है। त्रि-शरीर उपाधि भेदन के लिये तीन वार प्रणाम कृतज्ञता सूचक हैं। ॥५१८॥

महास्वप्ने मायाकृत-जनिजरामृत्यु-गहने
भ्रमन्तं क्लिश्यन्तं बहुलतरतापैरनुदिनम्।
अहङ्कारव्याघ्र-व्यथितमिममत्यन्त-कृपया
प्रबोध्य प्रस्वापात्परमवितवान्मामसि गुरो ॥५१९॥

अर्थ—हे गुरो ! दीर्घकाल स्वप्न में मैं माया से रचित जन्म, जरा और मृत्यु रूप वन में भटकता हुआ दिन-दिन नाना प्रकार के तापों से सन्तप्त हुवा, अहंकार-रूपी व्याघ्र से व्यथित मुझ को अत्यन्त कृपा करके मोह निद्रा से जगाकर आपने मेरी बहुत बड़ी रक्षा की है।

व्याख्या––**गुरो**–हे श्रीगुरो ! **महास्वप्ने**–दीर्घकालीन स्वप्न में **मायाकृत-जनि जरा मृत्यु गहने**–माया द्वारा विरचित जन्म बुढ़ापा मृत्युरूप वन में **भ्रमन्तम्**–भटकते हुए **अनुदिनम्**–प्रतिदिन **बहुलतरतापैः**–नाना प्रकार के तापों से, त्रितापों से **क्लिश्यन्तम्**–क्लेश पाते हुए, **अहंकार व्याघ्र व्यथितम्**–अहंकार ही अनर्थकारी व्याघ्र, उससे पीड़ित **इमम् माम्**–इस, मुझ वर्तमान शिष्य को **अत्यन्त कृपया**–अपार कृपा करके **प्रस्वपात् प्रबोध्य**–मोह निद्रा से जगाकर, खोटे स्वप्न को तोड़-कर **परम् अवितवान् असि**–आपने मेरी बड़ी रक्षा की, अज्ञान नाश करके आपने मुझे स्वरूप में जगा दिया ।।५१९।।

नमस्तस्मै सदेकस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ।
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते ।।५२०।।

अर्थ––हे गुरुराज ! यह जो विश्वरूप होकर प्रकाशता है, उस सदा एकरूप रहनेवाले किसी तेज को जो आप से अभिन्न हैं, उस आपके लिये मेरा वारम्वार प्रणाम है ।

व्याख्या––**हे गुरुराज**–गुरुओं में इन्द्र के तुल्य, अज्ञान नाश में समर्थ **यत्**–जो **एतत् विश्वरूपेण राजते**–यह विश्वरूप होकर प्रकाशता है, **तस्मै सदा-एकस्मै कस्मैचित् महसे**–उस सदा एकरूप रहनेवाले किसी तेज को जो तेज कि आपसे अभिन्न है, **ते**–उस आपके लिये **नमः नमः**–मेरा प्रणाम है, प्रणाम है । 'स्वामिन्नमस्ते नतलो-कवन्धो' इस आदि वाले श्लोक से 'कथं तरेयं भवसिंधुमेतम्' इस आदि वाले श्लोक के अन्त तक छः श्लोकों में अपना ज्ञातव्य पूछने के लिये शिष्य ने गुरु से प्रार्थना की थी । 'नमो नमस्ते गुरवे महात्मने' इस आदि वाले श्लोक से तीन श्लोकों में, प्राप्तव्य पाकर, शिष्य ने, कृतज्ञता प्रगट करने के लिये, गुरु की पहले स्तुति की है । अव पुनः स्तुति की है । इस स्तुति और पहली स्तुति में कुछ अन्तर है । पहली स्तुति में शिष्य को हाड-मांस का वना गुरु ज्ञानमूर्ति महामानव सा प्रतीत होता है, परन्तु अव श्रीगुरु साक्षात् परब्रह्म दिखाई दिया है । उसका अपना ही आत्मा उसको उपदेश देने के लिये गुरु रूप वनकर वैठ गया है । यही सही स्तुति है, 'गुरुरेव परं ब्रह्म' ।।५२०।।

इतना कहकर आत्मवेत्ता शिष्य श्रीगुरु को प्रणाम करके चुप हो जाता है । निर्गुण ब्रह्म के उपासक, अथवा निदिध्यासनशील मुमुक्षु 'नमो नमस्ते गुरवे' इस

आदि वाले श्लोक से आरम्भ करके 'नमस्तस्मै सदेकस्मै' आदि वाले श्लोक के अन्त तक अनुदिन सावधान होकर अभ्यास करें। ये चमत्कारी श्लोक हैं, और वाँछित फलदाता हैं।

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूडामणिः' पर पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा 'सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' का स्वनुभव नाम छटा प्रकरण समाप्त।

७—मुक्तावस्था प्रकरण—

इस प्रकरण में जीवन्मुक्त आत्मवेत्ताओं के आचरण, भोगविधि तथा विदेह मुक्ति के बारे में बताया है। आत्मोपनिषद के प्रायः सभी मंत्र इस प्रकरण में हैं।

इति नतमवलोक्य शिष्यवर्यं, समधिगतात्मसुखं प्रबुद्धतत्त्वम्।
प्रमुदितहृदयः स देशिकेन्द्रः, पुनरिदमाह वचः परं महात्मा ॥५२१॥

अर्थ—इस प्रकार समाधि में ब्रह्मानन्द का सुख अनुभव किये हुए अपने स्वरूप में जागे हुए उस शिष्य श्रेष्ठ को प्रणाम करते देख महात्मा गुरुदेव अति प्रसन्नचित्त से फिर इस प्रकार श्रेष्ठ वचन कहने लगे।

व्याख्या—**इति**—इस प्रकार **समधिगत-आत्मसुखम्**—समाधि सुख का जिसने अनुभव कर लिया, उस **प्रबुद्धतत्त्वम्**—जो अपने तत्त्व, स्वरूप में जाग चुका है, उस **शिष्यवर्यम्**—आत्मवेत्ता होने के कारण अब भगवत्पाद ने शिष्य को, 'शिष्यवर्यम्'—उत्तम शिष्य कहा है, उसको **नतम् अवलोक्य**—कृतज्ञताभार से प्रणाम करते हुए देखकर **प्रमुदित हृदयः**—अपने शिष्य की सफलता में स्वमहिमा को देखकर प्रफुल्लितमन हुआ **सः महात्मा**—वह महात्मा, परदुःखहारी, अकारण दयासिन्धु, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ **देशिकेन्द्रः**—गुरुओं में इन्द्र के समान **पुनः**—फिर **इदम् परम् वचः आह**—यह कल्याणकारी अनुभव वचन बोले ॥५२१॥

शिष्य ने जो पाना था सो पा लिया, गुरु ने जो देना था सो दे दिया। साधारणतः यहाँ ग्रंथ समाप्त हो जाना चाहिये था। परन्तु ग्रंथ चालू रहा है। इसका कारण यह है कि अभी श्रीगुरु ने श्लोक दो में कहे हुए 'ब्रह्मात्मना संस्थिति र्मुक्तिः' बताना है। शिष्यवर्य तत्काल ही आत्मवेत्ता हुआ है, आत्मवेत्ताओं के आचरण व्यवहार आदि उसको बताने हैं, ज्ञानवानों की विदेहमुक्ति अर्थात् देहपात भी बताना है। प्रमुदितहृदय श्रीगुरु अपने शिष्यवर्य को सब कुछ बताना चाहते हैं।

ब्रह्मप्रत्यय-सन्तति-जगदतो ब्रह्मैव सत्सर्वतः
पश्याध्यात्मदृशा प्रशान्तमनसा सर्वास्ववस्थास्वपि ।
रूपादन्यदवेक्षितुं किमभितश्चक्षुष्मतां विद्यते
तद्वद् ब्रह्मविदः सतः किमपरं बुद्धेर्विहारास्पदम् ॥५२२॥

अर्थ—ब्रह्म प्रतीति के प्रवाह का नाम जगत है। इसलिये अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से शान्तचित्त होकर सब अवस्थाओं में सब ओर सर्वथा सत्यस्वरूप ब्रह्म ही को देख। नेत्रोंवालों के लिये चारों ओर देखने के लिये रूप के अतिरिक्त और क्या रक्खा है? उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी की बुद्धि का विषय सत्यस्वरूप ब्रह्म से अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

व्याख्या—**जगत्-ब्रह्मप्रत्यय-सन्ततिः**—ब्रह्म की प्रतीति की अभिव्यक्ति जगत् है। ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है। आरोपित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती, जो स्वरूप ब्रह्म का है वही जगत् का है। ब्रह्म की तीन विशेषताएँ सत्, चित्, आनन्द, अथवा अस्ति, भाति, प्रिय जगत में भी हैं, इनके अतिरिक्त जगत् में नाम-रूप भेद हैं। नामरूप माया कल्पित हैं, इसलिये असत् हैं, परन्तु असत् का अधिष्ठान भी ब्रह्म ही है, असत् सर्प के अधिष्ठान रज्जु के सदृश। **अतः प्रशान्तमनसा-आयात्मदृशा**—इसलिये संकल्प विकल्प त्याग कर शान्त चित्त हो कर, ज्ञाननेत्र से **सर्वतः**—चारों ओर, ऊपर नीचे, दायें बायें, आगे पीछे **सर्वासु अपि अवस्थासु**—जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भी **सत् ब्रह्म पश्य**—इस जगत प्रतीति के नाम रूप में भी सत् रूप ब्रह्म अधिष्ठान को ही देख, 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्।' इति श्रुतिः। **चक्षुष्मताम् अभितः अवेक्षितम् रूपात् अन्यत् किम् विद्यते**—नेत्रवालों के लिये चारों तरफ देखने से रूप, आकार के अतिरिक्त और क्या रक्खा है, नेत्र रूप ही देखता है, शब्द नहीं सुनता। **तद्वत् ब्रह्मविदः**—उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता की **बुद्धेः विहारास्पदम्**—ब्रह्माकार वृत्ति का क्रीड़ास्थल **सतः अपरम् किम्**—ब्रह्म से भिन्न क्या हो सकता है, अर्थात् कुछ नहीं ॥५२२॥

कस्तां परानन्द-रसानुभूतिमुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् ।
चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत ॥५२३॥

अर्थ—कौन तत्त्ववेत्ता उस परमानन्दरस के अनुभव को छोड़कर अन्य असत् विषयों में रमण करेगा? अति आनन्ददायक पूर्णचन्द्र के प्रकाशित रहते हुए चित्र-लिखित चन्द्रमा को देखने की इच्छा कौन करेगा?

व्याख्या—**कः विद्वान्**–कौन तत्त्ववेत्ता **परानन्दरसानुभूतिम् उत्सृज्य**–समाधि सुख की अनुभूति को त्याग कर **शून्येषु**–सत्त्वहीन विषयों में **रमेत**–रमण करेगा, ब्रह्माकार वृत्ति से उतर कर शून्य विषयों को ग्रहण करने के लिये वहिर्मुख होगा। **महाल्हादिनि दीप्यमाने चन्द्रे**–परम सुख देनेवाले प्रकाशमान पूर्णिमा के चन्द्रमा से दृष्टि हटाकर **चित्र-इन्दुम्**–चित्र में लिखे चन्द्रमा को **आलोकयितुम् कः इच्छेत्**–देखने की कौन इच्छा करेगा। पूर्णात्मानन्द को त्याग कर, उसकी छायामात्रा विषयानन्द को कौन ग्रहण करे। 'सूरदास तज कामधेनु को छेरि कौन दुहावे।' ॥५२३॥

आत्मवेत्ता समाधि सुख को त्याग कर शब्दादि विषयसुख में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह निज अनुभव से जान चुका है कि:—

असत्पदार्थानुभवेन किञ्चिन्न ह्यस्ति तृप्तिर्न च दुःखहानिः।
तदद्वयानन्द-रसानुभूत्या तृप्तः सुखं तिष्ठ सदात्मनिष्ठया ॥५२४॥

अर्थ—असत् पदार्थों के अनुभव से न तो कुछ तृप्ति ही होती है और न दुःख का नाश ही; अतः उस अद्वयानन्दरस के अनुभव से तृप्त होकर सत् ब्रह्म में प्रतिष्ठित होकर सुखपूर्वक रहो।

व्याख्या—**असत्पदार्थ-अनुभवे**–शब्दादि पंचविषयों के भोग, अनुभव में, दुर्वासनातृप्ति में **न हि किंचित् तृप्तिः**–किंचित् मात्र भी स्थाई तृप्ति नहीं है, क्योंकि विषय अनुभव पुनः अन्य भोग में प्रेरित करता है, एक वासना तृप्त होते ही दूसरी वासना खड़ी हो जाती है। विषय भोग से वासना शान्त नहीं होती, अग्नि में घृत की आहुति डालने से अग्नि शान्त नहीं होती, 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥' भगवान मनुः। **न च दुःखहानि**–और न ही दुःख का नाश होता है, भोगों में प्रवृत्ति से जनन-मरण जरा व्याधि दुःखरूप संसार का नाश नहीं होता। इसके विपरीत **तत्-अद्वयानन्दरस-अनुभूत्या**–सत् रूप अद्वैत ब्रह्मानन्द के रस के अनुभव से, समाधि में जो निरुपम सुख होता है, उसके अनुभव से **तृप्तः**–निरंकुशा तृप्ति होती है, इसलिये **सदात्मनिष्ठया तिष्ठ**–सदा अपने स्वरूप में ब्रह्म रूप से स्थिर हो, जिससे सर्वदुःख की निवृत्ति और सर्वकामनाओं की तृप्ति हो जाये ॥५२४॥

'तिष्ठ सदात्मनिष्ठया' को अगले श्लोक में विशद करते हैं।

स्वमेव सर्वथा पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम्।
स्वानन्दमनुभुञ्जानः कालं नय महामते ॥५२५॥

अर्थ—हे महाबुद्धे ! सर्व विश्व में केवल अपने को ही देखता हुआ, अपने को अद्वितीय मानता हुआ और आत्मानन्द का अनुभव करता हुआ समय यापन कर ।

व्याख्या—**स्वम् एव सर्वथा पश्यन्**—अपने स्वरूप आत्मा को ही सर्व विश्व में व्याप्त देखते हुए, अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ न देखते हुए, **स्वम् अद्वयम् मन्यमानः**—केवल आत्मा की एक सत्ता को स्वीकार करते हुए, आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को मिथ्या जानकर तिरस्कार करते हुए, अपने को अद्वय जानकर **स्वानन्दम् अनुभुंजानः**—आत्मानन्द का उपभोग करते हुए, स्वरूप सुख में विभोर रहते हुए, असत् विषयानन्द को त्यागते हुए **महामते**—हे महाबुद्धि विद्वान् **कालम् नय**—लौकिक दृष्टि से काल यापन करो, जीवन्मुक्ति का आनन्द लो, क्योंकि स्वरूप में स्थिर होने से तुझ आत्मवित् को काल की सत्ता से कोई प्रयोजन नहीं, काल भी तुम्हारे स्वरूप में कल्पित है ।।५२५।।

ब्रह्मवेत्ता मौन धारण करे ।

अखण्ड-बोधात्मनि निर्विकल्पे, विकल्पनं व्योम्नि पुरः प्रकल्पनम् ।
तदद्वयानन्दमयात्मना सदा, शान्तिं परामेत्य भजस्व मौनम् ।।५२६।।

अर्थ—अखण्ड ज्ञानरूप निर्विकल्प आत्मा में किसी विकल्प का होना आकाश में नगर की कल्पना के समान है । इसलिये अद्वितीय आनन्दमय आत्मरूप से स्थित होकर परमशान्ति लाभ कर मौनावस्था सेवन करो ।

व्याख्या—**निर्विकल्पे**—सर्व कल्पनाशून्य **अखण्डबोधात्मनि**—निरन्तर ज्ञानरूप ब्रह्म में **विकल्पनम्**—भेद ज्ञान, द्वैतप्रपंच की कल्पना करना **व्योम्नि**—आकाश में **पुरः कल्पनम्**—नगर की कल्पना करने के तुल्य है, इसलिये **सदा**-सर्वदा **तदद्वयानन्दमयात्मना**—उस अद्वैत आनन्दपूर्ण ब्रह्म से अपने स्वरूप का तादात्म्य करते हुए **पराम्-शान्तिम्**—अनुपम स्वरूपसुख को **एत्य**—प्राप्त करके **मौनम्**—संकल्प विकल्प रहित, वासना रहित, त्रिगुणातीत अवस्था का **भजस्व**—सेवन करो ।।५२६।।

अब मौन क्या है, यह बताते हैं दो श्लोकों में ।

तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिः, बुद्धेरसत्कल्पविकल्पहेतोः ।
ब्रह्मात्मना ब्रह्मविदो महात्मनो, यत्राद्वयानन्दसुखं निरन्तरम् ।।५२७।।

अर्थ—मिथ्या विकल्पों की हेतुभूत मन की संकल्प-विकल्प रहित अवस्था ही तूष्णी अवस्था है, जिसमें कि ब्रह्मवेत्ता महात्मा के लिये निरन्तर ब्रह्मरूप से अवस्थान करने से निरन्तर अद्वयानन्द प्रवाह होता है।

व्याख्या—**असत्कल्पविकल्पहेतोः**—अज्ञानवश मिथ्या भूत कल्पनाओं के मूल कारण **बुद्धेः**—मन की **परमा-उपशान्तिः**—संकल्प विकल्प रहितता, मन का स्वरूप नाश, सब वासनाओं का उपशमन, अत्यन्त चित्तवृत्ति-निरोध ही **तूष्णीमवस्था**—तूष्णी अवस्था, मौन कहाता है, **यत्र**—जिस तूष्णी अवस्था में, जिह्वा को गाँठ लगाना मौन नहीं है। 'गिरामौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः', तेजोविन्दूपनिषद ॥२२॥' वाणी का मौन तो मूढ़ों के लिये है, ब्रह्मविद्या के अभिलाषियों के लिये यह मौन पर्याप्त नहीं। **ब्रह्मविदः महात्मनः**—ब्रह्मवेत्ता महात्मा के लिये **ब्रह्मात्मना**—ब्रह्मस्वरूप में निवास करने से **अद्वयानन्दसुखम् निरन्तरम्**—अनुपम आनन्द के सुख का प्रवाह है, अजस्र सुखानुभूति है ॥५२७॥

मौन ही परम सुख है।

नास्ति निर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम्।
विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः ॥५२८॥

अर्थ—जिसने आत्मस्वरूप को जान लिया है उस ब्रह्मानन्द रस पान करनेवाले के लिये वासनारहित मन से बढ़कर उत्तम सुखदायक और कुछ भी नहीं है।

व्याख्या—**विज्ञात-आत्मस्वरूपस्य**—जिसने अपने स्वरूप आत्मा का निर्विकल्प समाधि में साक्षात्कार कर लिया है, अतएव उस **स्वानन्दरसपायिनः**—आत्मानन्दरस पान करनेवाले का, विषयविषपान करनेवाले का नहीं, **निर्वासनात् मौनात्**—वासनारहित मन से, संकल्प विकल्प शून्य परमोपशान्ति से **परम्**—अधिक **उत्तमम्**—श्रेष्ठ **सुखकृत् नास्ति**—सुख देनेवाला अन्य कोई साधन नहीं है। जैसे कि पूर्व में कहा भी है, 'निवृत्तिः परमा तृप्तिः, आनन्दो ऽनुपमः स्वतः' ॥५२८॥

इसलिये 'स्वमेव सर्वथा पश्यन् मन्यमानः स्वमद्वयम्' तत्त्ववेत्ता चाहे किसी प्रकार का भी आचरण करे।

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥५२९॥

अर्थ—आत्मा में ही रमण करनेवाला जीवनमुक्त तूष्णी अवस्था सेवी चाहे गमन करे, चाहे ठहरे, चाहे सोये, चाहे खड़ा हो जाये सदा स्वेच्छापूर्वक रहे।

व्याख्या—यह श्लोक कुण्डिकोपनिषद में २८ वां मंत्र है। ब्रह्मवेत्ता परम स्वतन्त्र होते हैं, उनकी चेष्टाओं पर किसी प्रकार का नियम लागू नहीं है। **आत्मा-रामः**—बाह्य विषयों के बिना आलम्बन किये अपने स्वरूप में ही रमण करनेवाला, आत्मरति **विद्वान्**—जीवन्मुक्त तत्त्ववेत्ता **मुनिः**—मौन भजन करनेवाला, निश्चित वासनारहित, कल्पनाशून्य, तूष्णीपदप्राप्त मुनि **गच्छन्**—चाहे गमन करे **तिष्ठन्**—चाहे ठहरे, **उपविशन्**—चाहे बैठे, **शयानः**—चाहे शयन करे, सो जाये **वा अन्यथा अपि वा**—या शयन से अन्यथा खड़ा भी हो जाये **सदा यथेच्छया वसेत्**—सदा इच्छापूर्वक रहे, वह परम स्वतंत्र है। ब्रह्मवेत्ता की चेष्टाएं प्रारब्ध कर्म के आधीन होती हैं। जिसका जैसा प्रारब्ध, उसका वैसा ही आचरण। इसमें कोई नियम नहीं है। ब्रह्मवेत्ता राजा जनक राज्य भोगता था, विद्यारण्य मुनि संन्यास के पश्चात भिक्षा मांग कर जीवन-यापन करता था। अहंकार आसक्ति रहित होने से ब्रह्मवेत्ता का शारीरिक चेष्टाओं के साथ कुछ संबंध नहीं होता, 'मेघेनेव विहा-यसः'। शिशु की तरह उसकी चेष्टाएं स्वाभाविक होती हैं, और दूसरों को क्षुब्ध नहीं करतीं ॥५२९॥

साधक को ही देश कालासनादि के नियमों की अपेक्षा है, सिद्ध को नहीं।

न देश-कालासन-दिग्यमादिलक्ष्याद्यपेक्षाऽप्रतिबद्धवृत्तेः ।
संसिद्धतत्त्वस्य महात्मनोऽस्ति स्ववेदने का नियमाद्यपेक्षा ॥५३०॥

अर्थ—जिसकी चित्तवृत्ति प्रतिबंधरहित हो गई है तथा जिसे आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो गया है, उस तत्त्वज्ञ को देश, काल, आसन, दिशा, यम, नियम तथा लक्ष्य आदि की कोई अपेक्षा नहीं है। अपने आपको जान लेने पर भला नियम आदि की क्या अपेक्षा है ?

व्याख्या—**अप्रतिबद्धवृत्तेः**—जिसकी वृत्ति अहंकार, वासना, विषयचिन्तन, असत् ग्रहणादि प्रतिवन्धों से रहित है, ब्रह्माकारवृत्ति-सम्पन्न **संसिद्धतत्त्वस्य**—जस को तत्त्व, ब्रह्म सिद्ध हो गया है, साक्षात्कार हो गया है, जिसके लिये निर्विकल्प समाधि में ब्रह्मतत्त्व अनावरित हो गया है, उस **महात्मनः** महात्मा, ब्रह्मवेत्ता के लिये **अपेक्षा न अस्ति**—आवश्यकता नहीं है, नियम नहीं है, किसकी ? **देश**-पुण्य देश, **काल**—पुण्य तिथि ब्रह्मवेला, **आसन**—सिद्धासन, पद्मासन **दिक्**—पूर्व या उत्तर,

यमादि–यम, आदि पद से नियम लेना। **लक्ष्यादि**–ध्यान का विषय, निर्गुण ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्म। साधक के लिये देश, काल, आसनादि की अपेक्षा होती है, परन्तु जब सिद्ध हो जाता है तो बोध के लिये पूर्वोक्त सहकारी कारण विशेष महत्त्व के नहीं रहते, वह उनका पालन करे या न करे, 'यथेच्छया वसेत्।' अब उसका हेतु कहते हैं। **स्ववेदने**–अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने पर **का नियमादि-अपेक्षा**–ऊपर कहे हुए देश-कालासनादि की क्या अपेक्षा? जीवन्मुक्त महात्मा नियमातीत होते हैं ॥५३०॥

घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः को न्वपेक्ष्यते।
विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः ॥५३१॥

अर्थ—'यह घड़ा है' ऐसा जानने के लिये, जिससे वस्तु का ज्ञान होता है, उस उपयुक्त प्रमाण के अतिरिक्त भला और किस नियम की आवश्यकता है?

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में ५ वां मंत्र है। **अयम् घटः इति**–यह प्रत्यक्ष घड़ा है, इस प्रकार **विज्ञातुम्**–जानने के लिये **कः नियमः नु अपेक्ष्यते**–किस नियम की अपेक्षा है, अर्थात् देशकालासनादि नियमों की अपेक्षा नहीं है। 'देखो! यह सामने प्रत्यक्ष घट है' इस प्रकार घट के देखने के लिये किसी नियम की अपेक्षा नहीं है। **प्रमाणसुष्ठुत्वम् विना**–सिवाय सही, दोषरहित प्रमाण के अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति के, घट पक्ष में सम्यक प्रकाश और निर्दोष नेत्र के **यस्मिन् सति**–जिस सुष्ठु प्रमाण के होने पर **पदार्थधीः**–पदार्थ का, आत्मा का, घट का ज्ञान हो जाता है। जब घट प्रत्यक्ष है तो देख लो। गंगा तट पर, ब्रह्मवेला में सिद्ध आसन लगाने की आवश्यकता नहीं, घट देखने के लिये नेत्र और प्रकाश उपयुक्त प्रमाण की आवश्यकता है ॥५३१॥

ऐसे ही आत्म साक्षात्कार के लिये सुष्ठु प्रमाण की आवश्यकता है।

अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते।
न देशं नापि वा कालं न शुद्धिं वाप्यपेक्षते ॥५३२॥

अर्थ—यह आत्मा नित्यसिद्ध है, उपयुक्त प्रमाण होने पर वह भासने लगता है। वह देश, काल अथवा शुद्धि आदि किसी की अपेक्षा नहीं रखता।

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में छठा मंत्र है। **अयम् आत्मा**–यह आत्मा, अत्यन्त निकट होने से 'अयम्' शब्द का प्रयोग है **नित्यसिद्धः**–सामान्य रूप

से सदा ही सिद्ध है, सर्वाधिष्ठान सर्वान्तरात्मा होने से, यदि ऐसा है तो दर्शन क्यों नहीं होते ? होते हैं, कब ? **प्रमाणे सति भासते**–उचित साधन होने पर, श्रवण-मनन-निदिध्यासन से संस्कृत, सूक्ष्म स्थिर बुद्धिवृत्ति होने पर, अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति प्राप्त करने पर 'ब्रह्मात्मनोः शोधितयोः एकभावागाहिनी' प्रज्ञा, चिन्मात्र वृत्ति होने पर यह नित्यसिद्ध आत्मा विशेषरूप से प्रकाशित हो जाता है, आत्मदर्शन होते हैं। आत्मदर्शन के लिये। **न देशम् नापि वा कालम् न शुद्धिम् वा अपि अपेक्षते**–देश, काल, स्नानादि से शुद्धि की अपेक्षा नहीं है, वहिरंग साधन होने से, 'उपाया देशकालाद्याः सन्ति अस्मिन् सहकारिणः।' देश कालादि तो वहिरंग साधनों में सहायक हैं, इनकी महत्ता साधना के आरम्भ में होती है, पर अन्तिम वाजी तो प्रज्ञा से मारी जाती है। प्रज्ञा ही महावाक्य द्वारा लक्षित जीव ब्रह्म की एकता का निर्विकल्प समाधि में विषय कर सकती है, इसलिये यही अन्तरंग सुष्ठु प्रमाण है ।।५३२।।

अब दृष्टान्त देते हैं।

देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम्।
तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ।।५३३।।

अर्थ––'मैं देवदत्त हूँ' इस ज्ञान में किसी नियम की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता को 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान निरपेक्ष होता है।

व्याख्या––यह श्लोक आत्मोपनिषद में सातवां मंत्र है। **'देवदत्तः अहम्' इति**–मैं देवदत्त हूँ (जिसका जो भी नाम हो) इस प्रकार **एतत्-विज्ञानम्**–यह ज्ञान मेरे देवदत्त होने का ज्ञान **निरपेक्षकम्**–प्रत्यक्ष है, इसमें देशकालादि की अपेक्षा नहीं है। कोई भी आदमी मेले में खो जाने के भय से अपने कपड़ों पर नाम नहीं लिखता। जैसे मूढ अपने आपको निःसंशय देवदत्त समझता है, और देवदत्त नाम सुनते ही तुरन्त उत्तर देता है, जैसे उसको देवदत्त होने का अभ्रान्त ज्ञान होता है **तद्वत्**–वैसे ही **अस्य ब्रह्मविदः अपि**–इस ब्रह्मवेत्ता को भी **अहम् ब्रह्म इति**–मैं ब्रह्म हूँ ऐसा **वेदनम्**–निश्चयात्मक, निरपेक्षक ज्ञान होता है ।।५३३।।

अब तत्त्वज्ञों की दिनचर्या तथा भोग्य वस्तुओं का वर्णन करते हैं।

भानुनेव जगत्सर्वं भासते यस्य तेजसा।
अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम् ।।५३४।।

अर्थ––सूर्य के प्रकाश की तरह जगत् जिसके प्रकाश से प्रकाशित होता है क्या उस ब्रह्म को सत्ताहीन असत् और क्षुद्र प्रमाण भासित करनेवाला हो सकता है ?

व्याख्या––यह श्लोक आत्मोपनिषद में ८ वां मंत्र है। **भानुना इव**–सूर्य के प्रकाश की भांति **सर्वम् जगत्**–समस्त जगत **यस्य तेजसा**–जिस चैतन्य ब्रह्म के प्रकाश से समस्त जगत **भासते**–प्रकाशमान होता है, 'तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति' इति कठश्रुतिः २।२।१५ जिस के प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशता है, वह कैसा विश्व है ? **अनात्मकम् असत् तुच्छम्**–जड़, मिथ्याभूत, इसलिये देश कालामनादि क्षुद्र प्रमाण **किम् नु**–क्या अनात्मक, असत्, तुच्छ प्रमाण **तस्य**–उस स्वयंज्योति ब्रह्म का **अवभासकम्**–प्रकाशक हो सकता है। कोई प्रमाण भी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं करा सकता। 'तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा' गुरु और वेद भी जिस ब्रह्म को संकेत से बताते हैं, उस स्वतःसिद्ध ब्रह्म को अन्य कौन प्रमाण सिद्ध कर सकता है ?॥५३४॥

क्या शास्त्र ब्रह्म को सिद्ध कर सकते हैं ?

वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि।
येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत् ॥५३५॥

अर्थ––वेद, शास्त्र, पुराण और समस्त भूतमात्र जिससे अर्थवान् हो रहे हैं उस सर्व के जाननेवाले परमात्मा को क्या वे प्रकाशित कर सकते हैं ?

व्याख्या––यह श्लोक आत्मोपनिषद में ९ वां मंत्र है। जो सर्व को सिद्ध करनेवाले **वेद-शास्त्र-पुराणानि** चार वेद–ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व वेद, षट् शास्त्र–न्याय, वैशेषिक, साँख्य, योग पूर्व मीमाँसा तथा उत्तर मीमाँसा, अठारह महापुराण, अठारह उपपुराण, **भूतानि सकलानि अपि**–न केवल शास्त्र, वल्कि प्राणीमात्र अथवा कारणरूप पंच महाभूत, जो जगत का कलेवर रचते हैं **येन**–जिस ब्रह्म की सत्तामात्र से **अर्थवन्ति**–अर्थवान होते हैं, सप्रयोजन होते हैं, प्रकाशते हैं, सत्तावान से भासते हैं **तम् विज्ञातारम् किम् नु प्रकाशयेत्**–सर्व को विशेष रूप से जाननेवाले उस सर्व-साक्षी आत्मा को, स्व-अभिन्न कौन प्रकाशित करेगा, प्रमाणित करेगा, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्' इति श्रुतिः। बृह० २।४।१४ जिसके प्रकाश से इस सर्व जगत् को जाना जाता है, उस सर्व के

जाननेवाले को किस प्रमाण से जाना जाये, और उस विशेष ज्ञाता को किस प्रमाण से जाना जाये ।।५३५।।

अन्य प्रमाण से क्यों नहीं सिद्ध होता ।

एष स्वयंज्योतिरनन्तशक्तिरात्माप्रमेयः सकलानुभूतिः ।
यमेव विज्ञाय विमुक्तबन्धो जयत्ययं ब्रह्मविदुत्तमोत्तमः ।।५३६।।

अर्थ––यह आत्मा स्वयंप्रकाश, अनन्तशक्ति, अप्रमेय और सर्वानुभवरूप है, इसका ही साक्षात्कार कर लेने पर मुक्तबंधन हुआ यह ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ महात्मा जय पाता है ।

व्याख्या––**एषः**–यह अत्यन्त समीप अपना स्वरूप **स्वयंज्योतिः**–स्वयम् प्रकाश, स्वतः सिद्ध है, अपर-प्रकाश्य है, **आत्मा अनन्तशक्तिः**–आत्मा कल्पनातीत सामर्थ्य-वान है, अन्तरहित शक्ति सम्पन्न होने से **अप्रमेयः**–नापतोल से बाहर, प्रमाण से अगम्य है, क्योंकि **सकलानुभूतिः**–सर्व का अनुभवरूप है, चिति है **यम् एव विज्ञाय**–जिस अपने स्वयंज्योति स्वरूप का साक्षात्कार करके **विमुक्तबन्धः**–मिथ्या अध्यास से, उपाधियों से मुक्त हुआ **अयम्**–यह, **उत्तमोत्तमः ब्रह्मवित्**–उत्तमों में श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी **जयति**–जय पाता है, सर्वोपरि विराजता है, इस पर कोई नियम लागू नहीं होता, परम स्वतंत्र है ।।५३६।।

जीवन्मुक्त का विषयों के प्रति आचरण बताते हैं ।

न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते, न सज्जते नापि विरज्यते च ।
स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति स्वयं, निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः ।।५३७।।

अर्थ––दूसरों द्वारा विषयों के उपलब्ध कराने पर वह न खेद मानता है, न हर्षित होता है, न उनमें आसक्त होता है और न उनमें विरक्त होता है । वह तो निरन्तर आत्मानन्दरस से तृप्त होकर स्वयं अपने स्वरूप में ही क्रीडा करता और आनन्दित होता है ।

व्याख्या––**विषयैः**–शब्दादि विषयों के दूसरों द्वारा उपलब्ध किये जाने पर **न खिद्यते**–वह खेद नहीं करता, शोक नहीं करता, निर्वासित होने से **न प्रमोदते**–न हर्ष करता है, मोद मनाता है, अनासक्त होने से **न सज्जते**–न आसक्त होता है, साक्षी होने से **नापि च विरज्यते**–और न ही विरक्त होता है, असंग होने से । तो

उसकी तुष्टि का क्या साधन है? **निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः**–अखण्ड ब्रह्मानन्द रस से तृप्त हुआ, आनन्दवुरम हुआ **सदा स्वस्मिन् क्रीडति**–सदा अपने स्वरूप में ही रमण करता है, 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' **स्वयम् नन्दति** अपने आप ही सुखी रहता है, बाह्य सुख साधनों से निरालम्वित विना यत्न के सुखी रहता है ।।५३७।।

ब्रह्मवेत्ता अपने स्वरूप में ही रमण करता है।

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ।
तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ।।५३८।।

अर्थ––जिस प्रकार वालक अपनी भूख और शरीर पीड़ा को भी भूलकर खिलौने के खेल में लगा रहता है उसी प्रकार अहंकार और ममता से शून्य होकर आत्मवेत्ता अपने स्वरूप में ही आनन्दपूर्वक रमण करता है।

व्याख्या––यह श्लोक आत्मोपनिषद का १० वां मंत्र है। **बालः**–वालक अपने स्वाभाविक आचरण से जैसे **क्षुधाम् देहव्यथाम्**–भूख प्यास को, शरीर पीड़ा को **त्यक्त्वा**–अनादरित करके, ध्यान न देकर **वस्तुनि**–अपने खिलौने में **क्रीड़ति**–खेल में मग्न रहता है, **तथा एव**–उसी प्रकार **विद्वान्**–ब्रह्मवेत्ता **निर्ममः**–देह में तथा देहोपयोगी भोग्य वस्तुओं में ममता रहित हुआ **निरहम्**–देह में अभिमान रहित **सुखी**–सुखी हुआ **रमते**–अन्य विषयों में अनालम्वित, केवल आत्मरति आत्मक्रीडा रहता है, 'स्वयं नन्दति' ।।५३८।।

ब्रह्मवेत्ता की भिक्षा, जलपान, वस्त्रादि वताते हैं।

चिन्ताशून्यमदैन्य-भैक्षमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने ।
वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही
सञ्चारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडा परे ब्रह्मणि ।।५३९।।

अर्थ––ब्रह्मवेत्ता विद्वान् का चिन्ता और दीनतारहित भिक्षान्न ही भोजन, नदियों का जल ही पान होता है। उनकी स्थिति स्वतन्त्रतापूर्वक और निरंकुश होती है। वे वन अथवा श्मशान में निर्भय नींद सोते हैं। धोने-सुखाने आदि की अपेक्षा से रहित दिशा ही उनके वस्त्र हैं, पृथिवी ही विछौना है, उनका आना-जाना वेदान्त-वीथियों में ही हुआ करता है और परब्रह्म में ही उनकी क्रीडा होती है।

व्याख्या—तत्त्वज्ञों का भोजन कैसा होता है ? **विदाम्**—तत्त्ववेत्ताओं का **चिन्ताशून्यम् अदैन्यभैक्षम् अशनम्**—चिन्ता और दीनता रहित, परेच्छा से भक्तों द्वारा उपस्थित भिक्षा उनका भोजन है। प्रारब्ध शरीर की रक्षा करता है, इसलिये उनके शरीर की रक्षा का भार प्रारब्धाधीन होता है वस्तुतः तो मूढ़ों का शरीर भी प्रारब्ध द्वारा पोषित होता है, परन्तु वे समझते हैं कि अपने सामर्थ्य से उनके शरीर की रक्षा है, उनका जल कैसा ? **सरित्वारिषु पानम्**—सरिताओं का जल ही उनका पान है, वे जलघट साथ लिये नहीं फिरते। उनकी स्थिति कैसी ? **स्वातन्त्र्येण निरंकुशा स्थितिः**—अत्यन्त स्वतन्त्रतापूर्वक, सर्व प्रतिबंधरहित; अंकुश रहित नियमशून्य स्थिति है। श्रीभगवत्पाद आगे कहेंगे, 'दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः। उन्मत्तवद्वापि च वालवद्वा पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम् ।।' उनकी निद्रा कैसी ? **श्मशाने वने अभीः निद्रा**—भयानक पिशाचाकीर्ण श्मशान अथवा-व्याघ्रादि हिंसकजन्तुपूर्ण वन में निर्भय सोते हैं, 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतिः। दूसरे से भय होता है, अपने से नहीं, तत्त्वज्ञ अपने स्वरूप को ही विश्वरूप से देखता है। उनकी पोशाक कैसी ? **क्षालन-शोषणादिरहितम् दिक् वस्त्रम्**—धोना, सुखाना, आदि पद से सुख कर चौरादि के भय से सुरक्षित रखना जीर्ण होने से नवीन का प्रबन्ध करना। इन सब उपद्रवों से रहित दिशा ही उनके वस्त्र है, दरजी की आवश्यकता नहीं। उनकी शय्या कैसी ? **शय्या मही वा अस्तु**—विस्तृत भूमण्डल ही उनकी शय्या हो सकती है, उनका गमनागमन कहाँ होता है ? **निगमान्तवीथिषु संचारः**—वेदान्त, उपनिषदों की गलियों में ही उनका आना जाना है, ब्रह्म विचार में ही उनकी गति होती है, द्वैत की संभाल नहीं। उनका रमण कहाँ होता है ? **परे ब्रह्मणि क्रीडा**—परम ब्रह्म में ही उनकी क्रीडा होती है, अद्वैतानन्द में घुरम रहते हैं। सेवकों पर तथा अन्य साधनों पर अवलम्बित होने से चक्रवर्ती सम्राटों को भी ऐसी स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं होती। निरंकुशा स्वतन्त्रता का यह अनूठा चित्रण है। अनभिज्ञ गृहस्थजन ऐसी परम स्वतंत्रता से भय खाते हैं ।।५३९।।

विमानमालम्ब्य शरीरमेतद् भुनक्त्यशेषान्विषयानुपस्थितान् ।
परेच्छया बालवदात्मवेत्ता योऽव्यक्तलिङ्गोऽननुषक्तबाह्यः ।।५४०।।

अर्थ—जो प्रत्यक्ष चिन्ह रहित और विषयों में अनासक्त आत्मज्ञानी है वह इस शरीररूप विमान का आश्रय लेकर बालक के समान दूसरों के द्वारा उपस्थित किये समस्त विषयों को भोगता है;

व्याख्या—अब आत्मवेत्ता की भोग विधि बताते हैं । **अव्यक्त लिंगः**—जिसका कोई भी बाह्य चिन्ह नहीं, जिससे आत्मवेत्ता पहचाना जा सके, स्वसंवेद्य विषय होने से । अन्य लोग अनुमान से उसको आत्मवेत्ता जान सकते है, जीवन्मुक्ति के लक्षण घटाकर. **अननुषक्तबाह्यः**—बाह्य विषयों में आसक्ति रहित **यः आत्मवेत्ता**-जो आत्मज्ञानी है, वह **बालवत्**—शिशुवत्, **परेच्छया**—दूसरों की इच्छा से, वह स्वयं इच्छा रहित होता है **एतत् शरीरम् विमानम् आलम्ब्य**—इस शरीररूप विमान का अवलम्बन करके **उपस्थितान् अशेषान् विषयान्**—परेच्छा से उपस्थित किये हुए प्रारब्धाधीन सब विषयों को **भुनक्ति**—भोगता है 'यथेच्छया वसेत् विद्वान्' इस प्रकार जो पहले कहा है, उसी को इस श्लोक में विशद किया है ॥५४०॥

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा, त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः ।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा, पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम् ॥५४१॥

अर्थ—कभी वस्त्रहीन होकर कभी वस्त्रयुक्त कभी वल्कल अथवा मृगचर्मादि लपेटे हुवे ब्रह्मवेत्ता उन्मत्त के समान, बालक के समान अथवा पिशाच के समान स्वेच्छा से भूमण्डल पर विचरता है ।

व्याख्या—**दिगम्बरः**—कभी चारों दिशाओं को वस्त्र बनाकर अर्थात् नग्न, वस्त्ररहित होकर **वापि च साम्बरः**—या वस्त्र धारण करके **वा त्वगम्बरः**—या वल्कल वस्त्र अथवा वस्त्र के स्थान में मृत चर्म लटेपे हुए **वापि चिदम्बरस्थः**—अथवा दिगम्बर, साम्बर, त्वगम्बर से संबंधरहित, ज्ञानरूप वस्त्र धारण किये हुए, ब्रह्मवेत्ता **उत्मत्तवत् वा अपि च्**—दिगम्बर होकर उन्मत्त, पागल की भांति, **बालवत् वा**—वस्त्र युक्त होकर छलछिद्र रहित सरल स्वभाव अबोध शिशु की भांति **पिशाचवत् वापि**—चमड़ा लपेटे हुए भयानक हिंसक पिशाच की भांति **अवन्याम्**—वसुधा पर, (नगर ग्राम अथवा वन नहीं कहा है) क्योंकि देश सीमा से रहित 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वसुधा ही उसका कुटुम्ब है, क्रीडा स्थल है **चरति**—विचरण करता है । आचरण की अनियमता से आत्मवेत्ता अव्यक्त लिंगी कहलाता है ॥५४१॥

कामान्निष्कामरूपी संश्चरत्येकचरो मुनिः ।
स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ॥५४२॥

अर्थ—एकमात्र ब्रह्म में रमण करनेवाला सदा अपने आत्मा में ही तृप्त, सर्वात्मरूप से अवस्थान करनेवाला सर्ववासनाशून्य हुआ ब्रह्मवेत्ता भोगों को भोगता है।

व्याख्या—**एकचरः**—एक में ही, ब्रह्म में ही, रमण करनेवाला **सदा**—सर्वदा **स्वात्मना एव तुष्टः**—अपने आत्मा में ही तृप्त, आप्तकाम, तुष्टि के लिये संसारियों के सदृश विषयों का आश्रय न लेनेवाला **स्वयं सर्वात्मना स्थितः**—सर्व भूतों में अपने आत्मा को ही अधिष्ठानरूप से देखनेवाला, अपने को विश्वात्मा जाननेवाला **मुनिः**—संकल्प विकल्प शून्यता ही मौन है, मौनव्रतधारी मुनि, निर्वासित मुनि, ब्रह्मवेत्ता **निष्कामरूपी सन्**—सर्ववासनाशून्य हुआ, विषयग्रहण में अनिच्छावाला **कामान्**—भोगों को परेच्छा से **चरति**—भोगता है। 'अन्यावेदितभोग्यभोगकलनः' ॥५४२॥

अब तीन श्लोकों में आत्मवेत्ता के व्यवहार में विचित्रता और विषमता दिखाते हैं।

क्वचिन्मूढो विद्वान्क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः।
क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्द-सुखितः ॥५४३॥

अर्थ—ब्रह्मवेत्ता कभी मूढ़, कभी विद्वान्, कभी राजा-महाराजाओं जैसे ठाट-वाट से युक्त, कभी भ्रान्त, कभी शान्त, कभी अजगर के समान आचरणवाला, कभी पूज्य, कभी तिरस्कृत और कभी अज्ञात, इस प्रकार निरन्तर परमानन्द में मग्न हुआ, आत्मवेत्ता परम स्वतन्त्रता से विचरता है।

व्याख्या—**क्वचित् मूढः**—कभी संसार में मूढ की भांति **क्वचित् अपि विद्वान्**—कभी इसके विपरीत विद्वान् की भांति **महाराजविभवः**—कभी सम्राटों के से ऐश्वर्य वाला होकर **क्वचित् भ्रान्तः**—कभी पागल की भांति **सौम्यः**—कभी शान्त स्वभाव होकर **क्वचित् अजगराचारकलितः**—कभी अजगर, महान गुरुकाय व्याल, जो अपने स्थान में पड़ा रहता है, और भाग्यवश जो कुछ आहार उसके समीप आ जाये उसी को भक्षण कर लेता है, अजगर के आचरण से युक्त। भिक्षादि के लिये अयत्नशील। **क्वचित् पात्रीभूतः**—कभी पूजित होकर, **क्वचित् अवमतः**—कभी निरादरित होकर **क्वापि अविदितः**—कभी अज्ञात होकर **एवम्**—इस प्रकार, निरंकुशा स्वतन्त्रता

पूर्वक **सततपरमानन्दसुखितः प्राज्ञः चरति**–निरन्तर ब्रह्मानन्द रसपान के सुखी ब्रह्मवेत्ता वसुधा पर विचरण करता है ।।५४३।।

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः ।
नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः ।।५४४।।

अर्थ—वह निर्धन होने पर भी सदा सन्तुष्ट, असहाय होने पर भी महावलवान्, भोगों में अनासक्त भी नित्यतृप्त और विषमभाव से वर्तता हुआ भी समदर्शी होता है ।

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में १२ वां मंत्र है । **निर्धनः अपि सदा तुष्टः**–लौकिक दृष्टि से धनरहित होने पर भी आत्माराम होने से स्वरूप में ही अत्यन्त तुष्ट रहता है । अपनी तुष्टि के लिये उसे वाह्य धनादिक साधनों का आश्रय नहीं लेना पड़ता । **असहायः अपि महाबलः**–लौकिक दृष्टि से 'एकचरः' होने पर भी, मित्र पुत्र कलत्रादि रहित होता हुआ भी स्वरूप से वह महावलवान है, तभी 'ईश्वराणाम् परमं महेश्वरम् ।' इति श्रुतिः, श्वेताश्वतरोपनिषद ६।७, ईश्वरों का भी महा ईश्वर है, न कोई उसके समान है, न उससे अधिक, वह सर्व का शासक है, उसका शासक कोई नहीं, **अभुंजानः अपि नित्यतृप्तः**–स्वेच्छा से भोग न करता हुआ भी, भोगों में अहंकार रहित होते हुए भी, स्वरूपानन्द में घुरम रहता है, आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, इसलिये विना साधन सामग्री के भी नित्यतृप्त **असमः**–व्यवहार में असमता होने पर भी, 'क्वचिन्मूढो विद्वान्' आदि वाले श्लोक में ज्ञानवान के व्यवहार की असमता दिखाई है । **समदर्शनः**–समदर्शी है, सव भूतों में नामाकार न देखकर, उनके अधिष्ठान ब्रह्म को ही देखता है । वह सर्वत्र निर्दोष आत्मदर्शी है, वाह्यदर्शी नहीं । ।।५४४।।

अपि कुर्वन्नकुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ।
शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ।।५४५।।

अर्थ—वह महात्मा करता हुआ भी अकर्ता है, फल भोगता हुआ भी अभोक्ता है, शरीरधारी होनेपर भी अशरीरी है और सीमित होनेपर भी सर्वव्यापी है ।

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में १३ वां मंत्र है । **कुर्वन् अपि अकुर्वाणः**–कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करता हुआ भी कर्तृ भाव के अभाव से वह अकर्ता है,

फलभोगी-अपि अभोक्ता—कर्म के फलों को भोगता हुआ भी अहंकार के अभाव में असंग होने से वह अभोक्ता है **शरीरी अपि अशरीरी**—दूसरों की दृष्टि में शरीरधारी होते हुआ, चिज्जड़ ग्रंथि भेदन से वह शरीररूप उपाधि से असंबंधित रहता है, इसलिये अशरीरी है। ज्ञानाग्नि से दग्ध होने के कारण शरीर का आकार रहते हुए भी, वह शरीर सांप की केंचुली के सदृश निःसत्त्व है। **परिच्छिन्नः अपि सर्वगः एषः**—शरीररूपी उपाधि से सीमित हुआ भी स्वरूप से वह सर्वव्यापी है, सर्वाधिष्ठान आत्मा है, देश-काल वस्तु परिच्छेद रहित विश्वात्मा है ।।५४५।।

अब अशरीरी होने का फल बताते हैं।

अशरीरं सदा सन्तमिमं ब्रह्मविदं क्वचित्।
प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ।।५४६।।

अर्थ—शरीर से सदा असंबद्ध इस ब्रह्मवेत्ता को सुख दुःख तथा शुभ अथवा अशुभ कर्मफल कभी छू नहीं सकते।

व्याख्या—सदा अशरीरम् सन्तम्—निरन्तर अशरीरी, शरीर से संबंधरहित **सन्तम्**—होता हुआ **इमम् ब्रह्मविदम्**—इस ब्रह्मवेत्ता को **क्वचित्**—कभी भी, त्रिकाल में भी **प्रिय-अप्रिये** सुख-दुःख **तथा एव च**—और वैसे ही **शुभ-अशुभे**—शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल **न स्पृशतः**—स्पर्श नहीं करते, क्योंकि इन सब का संबंध शरीर से है। उसका शरीर ज्ञानाग्नि में दग्ध हो चुका है ।।५४६।।

बोधवान को सुख दुःख क्यों नहीं स्पर्श करते, यह बताते हैं।

स्थूलादिसम्बन्धवतोऽभिमानिनः, सुखं च दुख च शुभाशुभे च।
विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः, कुतः शुभं वाप्यशुभं फलं वा ।।५४७।।

अर्थ—स्थूल-सूक्ष्म आदि देहों में अभिमानी के लिये शुभ-अशुभ कर्म बनते हैं, और उनके सुख दुःख फल होते हैं। जिसका बन्धन टूट गया है, उस सत्स्वरूप मुनि को शुभ अथवा अशुभ कर्म कहाँ, और उन कर्मों के अभाव में फल कहाँ।

व्याख्या—स्थूलादि संबंधवतः अभिमानिनः—स्थूल, आदि पद से सूक्ष्म शरीर से संबंध रखनेवाले, अभिमानी को, शरीरों में जो आत्मबुद्धि रखता है, उसको, शरीर के धर्मों को अपने स्वरूप में आरोपित करनेवाले के लिये **सुखम् च दुःखम् च शुभ-अशुभे च**—शुभ और अशुभ कर्म बनते हैं और शुभ कर्म का फल प्रियरूप

सुख और अशुभ कर्म का फल अप्रिय रूप दुःख होता है परन्तु **विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनः मुनेः**—जिसका अज्ञानवन्ध, शरीरादि में, पंचकोषों में आत्माभिमान नष्ट हो गया है और जो सदा अपने को आत्मारूप मे जानता है, ऐसे तूष्णीपद प्राप्त आत्मवेत्ता को **शुभम् वा अपि अशुभम् वा फलम् कुतः**—शरीर संबंधित शुभ या अशुभ कर्म कहाँ, और शुभ अशुभ कर्मों के अभाव में उनका सुख दुःखरूप फल कहाँ ॥५४७॥

तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः ।
ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ॥५४८॥
तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम् ।
पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात् ॥५४९॥

अर्थ—वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण जैसे राहु से ग्रस्त न होने पर भी ग्रस्त-सा प्रतीत होने के कारण मूढ लोग भ्रमवश सूर्य को राहु-ग्रस्त कहते हैं; वैसे ही देहादि-वन्धन से मुक्त ब्रह्मवेत्ता का आभासमात्र शरीर देखकर अज्ञानीजन उसे देहाभिमानी मानते हैं ।

व्याख्या—ये दोनों श्लोक आत्मोपनिषद में १५, १६ वें मंत्र हैं । **तमसा ग्रस्त-वत् भानात्**—राहु से, अन्धकार से ग्रस्त ढका हुआ सा प्रतीत होने से **अग्रस्तः अपि रविः**—वस्तुतः निरन्तर प्रकाशवान सूर्य राहु से ग्रस्त नहीं होता, अन्धकार से अग्रस्त सूर्य **भ्रान्त्या**—मोहवश, **वस्तुलक्षणम् अज्ञात्वा हि**—वस्तु, सूर्य के लक्षण, स्व-भाव को विना जाने ही । अग्निपुंज सूर्य को कौन ग्रस सकता है, उसको ग्रसना तो दूर रहा उसके समीप जानेवाला भस्मीभूत हो जाता है । सूर्य ग्रहण के अवसर पर पृथ्वी और सूर्य के बीच में चन्द्रमा आ जाता है, जिसकी ओट में सूर्य दिखाई नहीं पड़ता, परन्तु **जनैः**—मूढों से, वस्तुलक्षण अनभिज्ञों से **ग्रस्तः इति उच्यते**—सूर्य ग्रस्त हो गया, राहु सूर्य को निगल गया, अन्धकार प्रकाश को खा गया, ऐसा कहा जाता है । यथार्थ में सूर्य सदा प्रकाशरूप है, यहाँ अन्धकार का क्या काम ॥५४८॥ **तद्वत्**—उसी प्रकार **मूढाः**—अज्ञानीजन **शरीराभास-दर्शनात्**—ज्ञानवान को शरीरधारी सा देखकर, वास्तव में शरीर नहीं है, ज्ञानवान की दृष्टि में दर्पण में नगराभास की भांति शरीर छायामात्र है, **देहादिबन्धेभ्यः विमुक्तम्**—देह, आदि पद से ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, कर्मेन्द्रिय, मन बुद्धि समझने चाहियें, इनसे संबंध रहित हुए अहंकार रहित हुए **ब्रह्मवित्तमम्**—ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ

को **देहिवत्**–देहाभिमानी की भांति **पश्यन्ति**–मूढ़ लोग देखते हैं, उसके परमभाव को नहीं देखते, उसे साधारण संसारी शरीरधारी की भांति देहात्मबुद्धि देखते हैं ।।५४६।।

देहविहीन ज्ञानवान अन्नपानादि भोग कैसे करता है इस शंका से कहते हैं ।

अहि-निर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति ।
इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किञ्चित्प्राणवायुना ।।५५०।।

अर्थ––साँप की केंचुली के समान देहबंध से मुक्त आत्मज्ञानी प्राण वायुद्वारा कुछ इधर-उधर चलायमान होकर चेष्टा सी करता हुआ रहता है ।

व्याख्या––यह श्लोक आत्मोपनिषद में १७ वां मंत्र है । **अहि–निर्ल्वयनी इव**–सांप जैसे अपनी केंचुली को छोड़ देता है, सर्प के शरीर का आकार होते हुए भी सर्प का उससे संबंध नहीं रहता, वह केंचुली सर्प नहीं होती, उसी प्रकार **अयम्**–यह ब्रह्मवेत्ता **मुक्तदेहः** तु–आत्मसाक्षात्कार के प्रताप से देहाध्यास भंजित होने के कारण, देह के आकार को धारण करते हुए भी आत्मवेत्ता देह से मुक्त रहता है, देह सम्बन्धरहित, देहबंध से मुक्त केंचुली से सर्प की भांति । यदि ऐसा है तो अन्न-पानादि की चेष्टा कैसे होती है ? **प्राणवायुना यत्किंचित् इतस्ततः चाल्यमानः तिष्ठति**–प्राणवायु के वल से थोड़ा वहुत प्रारब्ध भोगों में चेष्टा सा करता हुआ जीवित रहता है । जैसे सर्प की केंचुली वृक्ष की शाखा से लटकती हो, और वायु चल पड़े, तो वह केंचुली हिलती है, सर्परहित होने पर भी, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता का शरीर प्रारब्ध कर्म से संचालित किया हुआ चेष्टा सा करता भासता है, वस्तुतः ब्रह्मवेत्ता स्वयं शरीरविहीन हो चुका है ।।५५०।।

अब तीन श्लोकों में ब्रह्मवेत्ता का भोगों में साक्षीभाव बताते हैं ।

स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम् ।
दैवेन नीयते देहो यथाकालोपभुक्तिषु ।।५५१।।

अर्थ––जैसे जल के प्रवाह से लकड़ी ऊँचे-नीचे स्थानों में वहा ले जायी जाती है, उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म के द्वारा ही उसका शरीर यथासमय भोगों को प्राप्त करता है ।

व्याख्या––यह श्लोक आत्मोपनिषद में १८ वां मंत्र है । ज्ञानवान का शरीर नितान्त प्रारब्धाधीन होता है **यथा स्रोतसा**–जैसे पहाड़ी नदी के प्रवाह से **दारु**–वन

में काटा हुआ लक्कड़ **निम्न-उन्नतस्थलम्**–नीचे-ऊँचे स्थान को, तीव्रगामी जल-प्रवाह, मार्ग की भूमि के अनुसार, कभी नीचे वहता है, कभी ऊँचे उछलता है, और उसमें डाला हुआ काष्ठ नीचे ऊँचे **नीयते**–ले जाया जाता है, उसी प्रकार **दैवेन**–प्रारब्ध कर्म के वेग से **देहः**–ज्ञानवान का देह **यथाकाल उपभुक्तिषु**–जब प्रारब्ध-कर्म फलोन्मुख हो, उसी समय भोगों में **नीयते**–ले जाया जाता है। शरीर में ममत्व के अभाव से ज्ञानवान दूसरों से खिलाया जाने पर खाता पीता है, उस से शरीर की संभाल नहीं होती ।।५५१।।

प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभिः, संसारिवच्चरति भुक्तिषु मुक्तदेहः।
सिद्धः स्वयं वसति साक्षिवदत्र तूर्ष्णीं, चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्यः।।५५२।।

अर्थ—विध्वस्तदेहबंध तत्त्ववेत्ता प्रारब्धकर्म से कल्पित वासनाओं से भोगों में संसारी पुरुष के समान विचरता है। सिद्ध पुरुष तो स्वयं चक्र के धुरे की भांति, भ्रमणरहित, संकल्प-विकल्प से रहित मौन हुआ साक्षिवत् असंग रहता है।

व्याख्या—**मुक्तदेहः**–विध्वस्त देहबंध, अहिनिर्ल्वयनी इव शरीर से संवध रहित ब्रह्मवेत्ता **प्रारब्धकर्म-परिकल्पितवासनाभिः**–वर्तमानशरीर का आरम्भक जो प्रारब्ध कर्म हैं, उनसे कल्पित की हुई वासनाओं के कारण **भुक्तिषु**–विविध प्रारब्धकल्पित भोगों में आत्मावेत्ता **संसारिवत् चरति**–अज्ञानी जीव की भांति आचरण करता है, भोग भोगता है। वैसे तो अज्ञानी भी प्रारब्धवश ही भोगों को प्राप्त होता है परन्तु उसको अपने कर्तृत्व भोक्तृत्व में अभिमान होता है। ज्ञानवान की भोगों में चेष्टायें प्रारब्ध द्वारा संचालित होती है। आत्मवेत्ता का उन चेष्टाओं से संबंध नहीं होता। **अत्र**–इन संसारिवत् भोग चेष्टाओं में **सिद्धः**–तत्त्वज्ञ **चक्रस्य मूलम् इव**–चक्र के धुरे की भांति, धुरे के चारों ओर चक्र घूमता है, धुरा स्थिर रहता है **कल्पविकल्पशून्यः**–सर्व वासना रहित, संकल्प विकल्प रहित, भ्रमण रहित **तूष्णीम्**–मौन हुआ, स्वरूप में स्थिर रहता हुआ **स्वयं**–अपने आप, स्वरूप से **साक्षिवत्**–दृष्टा की भांति, उदासीनवत् **वसति**–असंग रहता है, चेष्टाओं से असंवद्ध ।।५५२।।

नैवेन्द्रियाणि विषयेषु नियुङ्क्त एष, नैवोपयुङ्क्त उपदर्शनलक्षणस्थः।
नैव क्रियाफलमपीषदवेक्षते स, स्वानन्द-सान्द्र-रसपान-सुमत्तचित्तः।।५५३।।

अपेक्षते - पाठभेद

अर्थ—यह ब्रह्मवेत्ता इन्द्रियों को न तो विषयों में लगाता है और न उन्हें विषयों से हटाता है। अत्यन्त सघन आत्मानन्द-रस के पान से मतवाला होकर साक्षीरूप से स्थिर हुआ कर्मों के फलों को किंचित् भी अपने स्वरूप में आरोपण नहीं करता।

व्याख्या—**नैव एषः**—न ही यह तत्त्ववेत्ता **इन्द्रियाणि विषयेषु नियुङ्क्ते**—इन्द्रियों में अभिमान रहित होने के कारण इनको स्व स्व विषयों में नियुक्त करता है। आँख को रूप निहारने के लिये प्रेरित नहीं करता **नैव उपदर्शनलक्षणस्थ उपयुङ्क्ते**—'चक्रस्य मूलमिव' साक्षीवत् होने से प्रारब्ध प्रेरित विषयों में लगी हुई इन्द्रियों को विषयों से नहीं हटाता है। 'न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।' गीता १४।२२, जीवन्मुक्त महात्मा की इन्द्रियाँ यदि विषयों में प्रवृत्त हों तो उनसे द्वेष नहीं करता, और न ही उनको विषयों से निवारण की आकाँक्षा करता है। 'उदासीनवदासीनो गुणै र्यो न विचाल्यते। गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।' गीता, ३।२८। उदासीन की भांति बैठा हुआ माया के गुणों से जीवन्मुक्त विचलित नहीं होता। इन्द्रिय, कारणरूप गुण, विषय, कार्यरूप गुण आपस में वर्तते हैं, इस निश्चय से जीवन्मुक्त विषयों में आसक्त नहीं होता। **नैव सः क्रियाफलम् ईषत् अवेक्षते**—वह जीवन्मुक्त कर्मों के शुभ अशुभ फलों को किंचित-मात्र भी अपने स्वरूप में लागू नहीं देखता, क्रियाफलों में असंग रहता है। **स्वानन्द-सान्द्र-रसपान-सुमत्तचित्तः**—अपने स्वरूप के घने आनन्द के रसपान से मस्तचित्त होने से, आनन्दघुरम रहने से विषयों को और कर्मफलों को ग्रहण करने के लिये उसकी ब्रह्माकार वृत्ति नीचे नहीं उतरती, अथवा नीचे उतरने में बड़ा खेद मानती है ॥५५३॥

लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥५५४॥

अर्थ—जो लक्ष्य और अलक्ष्य गति को त्याग कर केवल एक आत्मस्वरूप से स्थित रहता है, वह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ स्वयं साक्षात् शिव ही है।

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में १६ वां मंत्र है। **यः लक्ष्य**—जो प्रत्यक्ष, स्थूल, माया का कार्य—जीव जगत ईश्वर, अथवा ब्रह्म का सगुण ध्यान **अलक्ष्य**—अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म, अव्यक्त माया अथवा निर्गुण ब्रह्म का ध्यान, इनकी **गतिम्**—परिणाम अथवा इनमें अपनी वृत्ति के गमन को **त्यक्त्वा**—त्याग कर, प्रौढ आत्मानुभवी होने से लक्ष्यालक्ष्यगति वृत्ति द्वारा अग्रहण से, जगत् मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है

इस प्रकार के विचारों को भी धारण करने में वृत्ति अलसाती है, ऐसा जो ऊँची भूमिका का तत्त्ववेत्ता **केवलात्मना तिष्ठेत्**—केवल अपने स्वरूप में ही मस्त रहता है **अयम् ब्रह्मवित्-उत्तमः**—यह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ **शिवः एव**—ज्ञानमूर्ति, सुरगुरु शंकर ही है **स्वयम्**—निज में ही **साक्षात्**—प्रत्यक्ष। निरन्तर स्वरूप में अवस्थित ऊँची भूमिका का तत्त्ववेत्ता साक्षात् शंकर भगवान ही है। ऐसे महात्मा की सेवा सुश्रूषा से, भगवान् शंकर की सेवा की भांति, भक्तों की सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। साधना की अवस्था में जो साधक दीर्घ उपासना से अपने अन्तःकरण को स्थिर सा कर लेता है, जिसका विक्षेप शान्त सा हो जाता है, उसका जब आवरण भंग होता है, तो उसकी ज्ञान भूमिका सहसा ऊंची उठती है। ऐसा ही तत्त्ववेत्ता 'अजगराचारकलित' होता है, और निर्विकल्प-समाधि का भागी होता है ।।५५४।।

अब दो श्लोकों में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का भेद बताते हैं।

जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः।
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ।।५५५।।

अर्थ—ऐसा ब्रह्मज्ञानी जीवित रहते हुए भी सदा मुक्त और कृतार्थ ही है, शरीररूप उपाधि के नष्ट होनेपर वह ब्रह्माभाव में स्थित हुआ ही अद्वितीय ब्रह्म में लीन हो जाता है।

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में २० वां मंत्र है। **ब्रह्मवित्तमः**—ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ **जीवन् एव**—प्राणधारण रहते हुए भी **सदा मुक्तः**—सदा देह बन्धन से मुक्त ही रहता है, अतएव **कृतार्थः**—कृतकृत्य, करने के योग्य सब कर चुकता है, परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया है, यही जीवन्मुक्ति है। **उपाधिनाशात्**—देहपात होनेपर **ब्रह्म एव सन्**—ब्रह्म होता हुआ भी **ब्रह्माप्येति**—ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। क्योंकि **निर्द्वयम्**—ब्रह्म का विकल्प नहीं है, वह एकतत्त्व है। 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति', इति श्रुतिः, बृह० ४।४।६ ब्रह्मवेत्ता के प्राण कहीं नहीं जाते, वह ब्रह्म होता हुआ भी ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। उसके प्राण तो, शरीर पात से पहले ही, ज्ञानाग्नि से दग्ध हो चुके होते हैं। प्राणधारण रहते हुए बन्ध से मुक्ति जीवन्मुक्ति कहलाती है। देहपात के उपरान्त अथवा सप्तमी भूमिका में मुक्ति विदेहमुक्ति कहलाती है ।।५५५।।

शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ।
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ॥५५६॥

अर्थ—नट जैसे वेष-विन्यास धारण किये रहने पर अथवा उसके अभाव में भी पुरुष ही है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता उपाधियुक्त हो अथवा उपाधिमुक्त, सदा ब्रह्म ही रहता है, दूसरा नहीं ।

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में २१ वां मंत्र है । **यथा शैलूषः**—जसे नट **वेषसद्भाव-अभावयोः**—जनरंजन के लिये विचित्र वेषभूषा धारण करता है, तथा तमाशा समाप्ति के पश्चात् उस वेषभूषा को उतार देता है, उस वेष का अभाव हो जाता है । उन दोनों अवस्थाओं में वह अपने को नहीं भूलता और **पुमान्**—दोनों स्थितियों में आदमी तो रहता ही है । **तथा एव**—उसी प्रकार **ब्रह्मवित् श्रेष्ठः**—ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ उपाधि के भाव में देह रहते हुए, तथा उपाधि के अभाव में देहपात के पश्चात्, अथवा सप्तमी ज्ञान भूमिका में **ब्रह्म एव**—ब्रह्म ही रहता है, चाहे शरीर हो चाहे न हो **अपरः न**—दूसरा नहीं, ब्रह्म से भिन्न नहीं, जैसे राजा का अभिनय करने वाला नट राजा नहीं होता, आदमी ही रहता है । ज्ञानवान जीवन्मुक्ति की अवस्था में भी ब्रह्म ही होता है, और विदेहमुक्ति की अवस्था में भी ब्रह्म ही होता है ॥५५६॥

अब जीवन्मुक्त के देहपात अथवा विदेहमुक्ति के विषय में ११ श्लोकों में बताते हैं ।

यत्र क्वापि विशीर्णं सत्पर्णमिव तरोर्वपुःपतनात् ।
ब्रह्मीभूतस्य यतेः प्रागेव हि तच्चिदग्निना दग्धम् ॥५५७॥

अर्थ—वृक्ष के सूखे पत्ते के समान ब्रह्मीभूत यतिका शरीर जहाँ कहीं भी गिरे उससे तत्त्वज्ञ का कुछ भी नहीं बनता बिगड़ता क्योंकि देहत्याग से पहले ही देहाध्यास ज्ञानाग्नि में दग्ध हो चुकता है ।

व्याख्या—**ब्रह्मीभूतस्य यतेः**—जिस जीवन्मुक्त संन्यासी ने शरीर त्याग कर दिया है, जो ब्रह्मीभूत हो गया है, उसका, यदि तत्त्ववेत्ता संन्यासी प्राण त्याग करता है, तो उसको मरना नहीं कहते, ब्रह्मीभूत होना कहते हैं । ऐसे तत्त्वज्ञ का **वपुः**—शरीर **विशीर्णम् सत् तरोः पर्णमिव**—वृक्ष के सूखे पत्ते की भांति **यत्र क्व अपि**

पतनात्—जहाँ कहीं भी गिरने से तत्त्वज्ञ का, 'किंनु शुभाशुभम्' क्या शुभ अशुभ होगा? **हि प्राक् एव**—क्योंकि **तत्**—वह शरीररूप उपाधि तो पहले ही, देहत्याग से पहले ही, प्राण धारण काल में ही, जीवन्मुक्ति अवस्था में ही **चिदग्निना दग्धम्**—बोधरूप अग्नि में भस्म हो चुका था, देहाध्यास नष्ट हो चुका था ।।५५७।।

क्या ज्ञानवान शरीर त्यागने में उपयुक्त देश कालादि की अपेक्षा करे? इस पर कहते हैं।

सदात्मनि ब्रह्मणि तिष्ठतो मुनेः, पूर्णाद्वयानन्दमयात्मना सदा।
न देश-कालाद्युचित-प्रतीक्षा, त्वङ्मांस-विट्-पिण्डविसर्जनाय ।।५५८।।

अर्थ——सत्स्वरूप ब्रह्म में सदैव परिपूर्ण अद्वितीय आनन्दस्वरूप से स्थित रहनेवाले आत्मवेत्ता को इस त्वचा, माँस और मल-मूत्र पूर्ण शरीर को त्यागने के लिये किसी शुभ देशकाल आदि की अपेक्षा करनी उचित नहीं।

व्याख्या——**पूर्णाद्वयानन्दमयात्मना सदात्मनि ब्रह्मणि**—पूर्ण अद्वैतानन्द में डूबने से सद्रूप, अपने स्वरूप ब्रह्म में **सदा तिष्ठतः मुनेः**—निरन्तर निवास करनेवाले **मुनेः**—आत्मवेत्ता के लिये **त्वक्-मांस-विट्-पिंडविसर्जनाय**—त्वचा, माँस, विष्ठा, युक्त शरीर को त्यागने के लिये **देश-कालादि-उचित प्रतीक्षा न**—देश, पुण्य देश, गंगातट आदि, काल, पुण्य तिथि शुभ मुहूर्त्त, आदिपद से सिद्धासन, पद्मासन ग्रहण करने चाहियें, इनकी प्रतीक्षा करना उचित नहीं। 'तीर्थे चाण्डालगेहे वा यदि वा नष्टचेतनः। परित्यजन्देहमिमं ज्ञानादेव विमुच्यते।।' शिव गीता १३।३५ जीवन्मुक्त चाहे पुण्यतीर्थ में चाहे चाण्डाल के घर में, चाहे बेहोशी की अवस्था में इस देह को किसी प्रकार भी त्यागे, वह ज्ञान की महिमा से ही मुक्त होता है। देश कालासन मोक्ष के मुख्य साधन नहीं हैं।।५५८।।

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्या-हृदयग्रन्थि-मोक्षो मोक्षो यतस्ततः ।।५५९।।

अर्थ——देह अथवा दण्ड-कमण्डलु के त्याग का नाम मोक्ष नहीं है। अविद्या के कारण चिदाभास में जो आत्मबुद्धि की ग्रंथि है उसका नाश ही यथार्थ मोक्ष है।

व्याख्या——यतः—क्योंकि **देहस्य मोक्षः**—देह का त्याग, शरीर की मृत्यु **नो मोक्षः**—शरीरपातमात्र मोक्ष नहीं है, अविद्याकृत बन्धनों से मुक्ति नहीं है, निरतिशय

सुख प्राप्तिरूप मुक्ति नहीं है। **न दण्डस्य कमण्डलोः**—न दण्ड या कमण्डलु का त्याग ही मोक्ष है, तो मोक्ष क्या है? **ततः**—इसलिये **अविद्याहृदयग्रंथिमोक्षः**—अविद्या के कारण अन्तःकरण में, चैतन्य का प्रतिविम्ब गिरने से अन्तःकरण चेतनीभूत सा हो जाता है, आत्मा का उसके साथ तादात्म्य सा हो जाता है, वास्तव में आत्मा असंग है, परन्तु चैतन्य आत्मा और जड़ अन्तःकरण में जो ग्रंथि पड़ जाती है जिसके फलस्वरूप जीव, अन्तःकरण में अपने स्वरूप का अभिमान सा करता है, और अन्तःकरण के धर्मों को अपना धर्म समझने लगता है, इस चित्-जड़ ग्रंथि का भेदन, त्याग, नाश ही सही **मोक्षः**—कैवल्य मोक्ष है ॥५५९॥

कुल्यायामथ नद्यां वा शिवक्षेत्रेऽपि चत्वरे।
पर्णं पतति चेत्तेन तरोः किं नु शुभाशुभम् ॥५६०॥

अर्थ—वृक्ष का सूखा पत्ता नाली में, नदी में, शिवालय में अथवा किसी चबूतरे पर कहीं भी गिरे, उससे वृक्ष की क्या लाभ-हानि हो सकती है?

व्याख्या—कुल्यायाम्—अपवित्र जल की नाली में **अथ नद्याम्**—अथवा पवित्र नदी में, गंगादि पुण्य सरिताओं में **शिवक्षेत्रे**—भगवान शिव के क्षेत्र में जैसे बनारस, वैद्यनाथ धाम, गढ़मुक्तेश्वर आदि में **अपि चत्वरे**—या श्मशान के चबूतरे पर, अथवा सर्वपद दलित चौरस्ते पर **चेत्**—यदि **पर्णम् पतति**—वृक्ष से टूट कर सूखा पित्ता गिर जाये, तो **तेन**—उस पत्र के गिरने से, किसी भी पवित्र अथवा अपवित्र स्थान में **तरोः**—उस वृक्ष का जिसका कि पत्ता टूट कर गिरा है।

किं नु शुभ-अशुभम्—पत्र के पवित्र स्थान पर गिरने से वृक्ष का क्या शुभ है? अथवा अपवित्र ठौर पर गिरने से क्या अमंगल है? अर्थात् वृक्ष को कुछ भी लाभ हानि नहीं है, पत्र कहीं गिरे, इसी प्रकार आत्मवेत्ता का शरीर पावन अपावन किसी भी ठौर में गिरे, आत्मा का कुछ नहीं बनता विगड़ता ॥५६०॥

पत्रस्य पुष्पस्य फलस्य नाशवद् देहेन्द्रिय-प्राण-धियां विनाशः।
नैवात्मनः स्वस्य सदात्मकस्यानन्दाकृते-र्वृक्षवदस्ति चैषः ॥५६१॥

अर्थ—वृक्ष के पत्ते, फूल और फलों के समान देह इन्द्रिय, प्राण और बुद्धि का नाश होता है, सदानन्द मूर्ति अपने आत्मा का नाश कभी नहीं होता, वह तो वृक्ष के समान नित्य निश्चल है।

व्याख्या—पत्रस्य पुष्पस्य फलस्य नाशवत्—जैसे वृक्ष के पत्ते का, फूल का, फल का नाश होता है, वृक्ष से संबंधरहित होकर, वैसे ही ज्ञानवान के क्रमशः **देहेन्द्रिय प्राण-धियाम्**—देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि का वृक्ष के पत्र पुष्पादि की भांति **विनाशः**—विनाश होता है। किन्तु इसके विपरीत जो इनका अधिष्ठान है **आनन्दाकृतेः**—आनन्दमूर्त्ति **सदात्मकस्य**—सद्रूप आत्मा **स्वस्य आत्मनः नैव**—अपने स्वरूप आत्मा का नाश नहीं **एषः च वृक्षवत् अस्ति**—यह आत्मा तो वृक्ष की भांति निश्चल असंग रहता है। टूटे हुए पत्र पुष्पादि का वृक्ष संबंध से और ज्ञानाग्नि दग्ध देहेन्द्रियादि का आत्मा के संबंध से. नाश हो तो हो ।।५६१।।

प्रज्ञानघन इत्यात्मलक्षणं सत्यसूचकम् ।
अनूद्यौपाधिकस्यैव कथयन्ति विनाशनम् ।।५६२।।

अर्थ—'प्रज्ञानघन' इति श्रुतियां सत्यसूचक आत्मा का लक्षण वर्णन करके कल्पित उपाधि का ही विनाश वतलाती हैं।

व्याख्या—प्रज्ञानघनः इति सत्यसूचकम् आत्मलक्षणम्—ये बृहदारण्यक उपनिषद की ४।५।१३-१४ श्रुतियाँ हैं, 'स यथा सैन्धवघनो ऽ नन्तरो ऽ वाह्यः कृत्सनो रसघन एवैवं वा अरे ऽ यमात्मा ऽ नन्तरो ऽ वाह्यः कृत्सनः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञा ऽ स्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।।१३।। सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न न वा अहम् इमम् विजानामि इति स होवाच न वा अरे ऽ हं मोहं ब्रवीमि अविनाशी वा अरे ऽ यमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा ।।१४।।' जिस प्रकार नमक का डला भीतर और वाहर से रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, हे मैत्रेयि ! उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर्बाह्य भेद से शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। यह इन भूतों के साथ उदित होकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। मरने के उपरान्त इसकी संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि ! इस प्रकार मैं कहता हूँ—याज्ञवल्क्य ने ऐसा कहा ।।१३।। इस मंत्र का शव्द-विन्यास इस प्रकार का है कि साधारण मुमुक्षु इससे मोहित हो जाता है जैसे कि मैत्रेयी हुई। (वह मैत्रेयी बोली), 'यहीं आप भगवान ने मुझे मोह को प्राप्त करा दिया है। मैं इसे विशेष रूप से नहीं समझती हूँ।' उन्होंने कहा, 'अरी मैत्रेयि ! मैं मोह की वात नहीं कर रहा हूँ। अरी यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है ।।१४।।' 'प्रज्ञानघनः' ये श्रुतियाँ आत्मा के लक्षण को वतानी है, कैसा है वह लक्षण 'सत्यसूचक' सत्य को वतानेवाला। आत्मा के त्रिकाल

अबाधित स्वरूप का **अनूद्य**–वर्णन करके **औपाधिकस्य एव विनाशनम् कथयन्ति**–उपाधि के ही नाश को श्रुतियाँ कहती हैं ।।५६२।।

अविनाशी वा अरेऽयमात्मेति श्रुतिरात्मनः ।
प्रब्रवीत्यविनाशित्वं विनश्यत्सु विकारिषु ।।५६३।।

अर्थ—'अरे, यह आत्मा अविनाशी है' यह श्रुति विकारी देह आदि के नाश के बीच में आत्मा के अविनाशित्व का ही प्रतिपादन करती है।

व्याख्या—अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा–अरे यह आत्मा अविनाशी है **इति श्रुतिः**–इस प्रकार बृहदारण्यक की श्रुति (पिछले श्लोक में देखिये) **विकारिषु विनश्यत्सु**–देहादि विकारवान उपाधियों के नाश के बीच में **आत्मनः अविनाशित्वम्**–आत्मा के अविनाशित्व को, अमरता को **प्रब्रवीति**–भले प्रकार कहती है। इस श्लोक का सम्वन्ध बृहदारण्यक की ४।५।१४ श्रुति से है। यह श्रुति पिछले श्लोक की व्याख्या में उद्धृत की गई है ।।५६३।।

पाषाण-वृक्ष-तृण-धान्य-कटाम्बराद्या, दग्धा भवन्ति हि मृदेव यथा तथैव ।
देहेन्द्रियासु-मन-आदिसमस्तदृश्यं,ज्ञानाग्निदग्धमुपयाति परात्मभावम्।।५६४।।

अर्थ—जिस प्रकार पत्थर, वृक्ष, तृण, अन्न और चटाई आदि जलनेपर एकरूप भस्म ही हो जाते हैं उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जानेपर, नामरूप भेद खो देनेपर परमात्मस्वरूप ही हो जाते हैं।

व्याख्या–पाषण–कठोर पत्थर, **वृक्ष**–तरु, **तृण**–घास फूस, **धान्य**–चावल, अन्न, **कटाम्बराद्याः**–चटाई, आदि पद से वस्त्र लेने चाहियें **दग्धाः यथा मृत् एव हि भवन्ति**–जलकर जैसे भस्मावशेष होते हैं, अपना पूर्व का नाम आकार खोकर एक रूप भस्म ही हो जाते हैं **तथा एव**–वैसे ही ज्ञानवान का **देह-इन्द्रिय-असु-मन-आदि समस्तदृश्यम्**–स्थूल शरीर, ज्ञानकर्मेन्द्रिय, प्राण, मन आदि पद से बुद्धि सम्पूर्ण दृश्यवर्ग, प्रपंच, कल्पित उपाधि **ज्ञानाग्निदग्धम्**–आत्मसाक्षात्कार रूपी अग्नि से जलकर, नामरूप भेद खोकर **परात्मभावम्**–निर्भेद ब्रह्मत्व को **उपयाति**–प्राप्त होता है ।।५६४।।

विलक्षणं यथा ध्वान्तं लीयते भानुतेजसि ।
तथैव सकलं दृश्यं ब्रह्मणि प्रविलीयते ॥५६५॥

अर्थ--जैसे प्रकाश से विपरीत स्वभाववाला अन्धकार सूर्य के प्रकाश में लीन हो जाता है वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च ज्ञानोदय होनेपर ब्रह्म के तेज में लीन हो जाता है ।

व्याख्या--**यथा**-जैसे **विलक्षणम् ध्वान्तम्**-सूर्य प्रकाश से विपरीत स्वभाव वाला अन्धकार **लीयते भानुतेजसि**-विलीन हो जाता है, सूर्य के प्रकाश में, सूर्य में नहीं, **तथा एव**-वैसे ही, आत्मसाक्षात्कार होने पर **सकलम् दृश्यम्**-आत्मा के सद्रूप से भिन्न स्वभाव वाला विनाशी दृश्य प्रपंच 'देहेन्द्रियासु मन आदिसमस्त दृश्यम्' **ब्रह्मणि प्रविलीयते**-ब्रह्म के तेज में विलीन हो जाता है, ब्रह्म में नहीं, अवि-कारी होने से । ब्रह्म अव्यय है, घटता वढ़ता नहीं ॥५६५॥

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम् ।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ॥५६६॥

अर्थ--घड़े के नष्ट होनेपर जैसे घटाकाश ही महाकाश हो जाता है वैसे ही उपाधि के लय होने पर ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म ही रहता है ।

व्याख्या--यह श्लोक आत्मोपनिषद में २२ वां मंत्र है । **यथा**-जैसे **घटे नष्टे**-घट के नाश होने पर, उसकी दीवारें भंग होने पर **व्योम**-घट परिच्छिन्न घटाकाश **स्फुटम्**-प्रत्यक्ष ही, स्पष्टरूप से **व्योम एव भवति**-महाकाश ही वन जाता है, वस्तुतः घटाकाश पहले भी महाकाश ही था, पर उपाधियोग से सीमित हुआ घटाकाश सा भासता था, अव वह उपाधि के अभाव म पूर्व की भांति महाकाश का महाकाश रहता है । **तथा एव**-उसी प्रकार **उपाधिविलये**-उपाधि के, ज्ञानवान की देहे-न्द्रियादि के नाश होने पर **ब्रह्मवित्**-ब्रह्मवेत्ता, आत्मज्ञानी **स्वयम्**-अपने आप **ब्रह्म एव**-उपाधि के अभाव में, ब्रह्म ही अवशेष रहता है, वह पहले भी ब्रह्म ही है । उपाधि से उसका असंग संग था, उपाधि के नाश, देहपात होने के उपरान्त भी ब्रह्मवेत्ता केवल ब्रह्म ही है ॥५६६॥

आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त जीवित रहने पर वह जीवन्मुक्त कहलाता है, देहपान होने के उपरान्त जीवन्मुक्त ही विदेहमुक्त कहलाना है ।

क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तले जलं जले ।
संयुक्तमेकतां याति तथात्मन्यात्मविन्मुनिः ॥५६७॥

अर्थ––जैसे दूध में मिलकर दूध, तैल में मिलकर तैल और जल में मिलकर जल एक ही हो जाते हैं, वैसे ही आत्मज्ञानी मुनि निरुपाधिक ब्रह्म में लीन होनेपर वही हो जाता है।

व्याख्या––यह श्लोक आत्मोपनिषद में २३ वां मंत्र है। **यथा क्षीरम् क्षीरे**–जैसे किसी पात्र का दूध क्षीरसागर में **क्षिप्तम्**–डालने से **तैलम् तैले**–पात्र का तैल-तैल सागर में **जलम् जले**–पात्र का जल सागर में डालने से **संयुक्तम्**–दूध-दूध से, तैल-तैल से, जल-जल से मिलकर **एकताम् याति**–एकता को प्राप्त हो जाता है, भेद नष्ट हो जाता है **तथा**–वैसे ही **आत्मनि**–निरुपाधिक ब्रह्म में **आत्मवित् मुनिः**–आत्मवेत्ता प्राणधारी महात्मा, जीवन्मुक्त महात्मा विदेहमुक्ति में प्रवेश कर जाता है। 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति', ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है, उपाधि के नाश होने पर। इस दृष्टान्त का प्रयोजन जीवन्मुक्ति से विदेहमुक्ति का संबंध वताना है। दृष्टान्त सदा एकांगी ही होते हैं। दूध में दूध मिलने का यह अर्थ होता है कि पहला दूध दूसरे दूध से प्रथक था, मिलाने की क्रिया से दोनों दूधों की एकता हुई। आत्मा तो शरीर पतन से पहले भी एक है, शरीर पतन को वाद भी एक ही रहता है। यह केवल समझाने के लिये कहा गया है। यदि आत्मा का आत्मा से मिलन कहोगे तो आत्मा में विकार माना जायेगा। यह पक्ष वेदान्त शास्त्र को मान्य नहीं। प्रयोजन यह है कि उपाधि की आवृत्ति से ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अनावृत ब्रह्म और आवृत ब्रह्म स्वरूप से एक ही हैं, निस्तरंग सागर तरंगयुक्त सागर की भांति ॥५६७॥

अब विदेह मोक्ष वताते हैं।

एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ।
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः ॥५६८॥

अर्थ––ब्रह्मरूप से अखण्ड अवस्थान होना ही विदेह-कैवल्य है। इस प्रकार ब्रह्म-भाव को प्राप्त होकर यह यति फिर संसार-चक्र में नहीं पड़ता।

व्याख्या––यह श्लोक आत्मोपनिषद में २४ वां मंत्र है। **एवम्**–इस प्रकार, जिस प्रकार कि ऊपर वताया है **अखंडितम् सन्मात्रत्वम् विदेहकैवल्यम्**–अखंड

सत्तामात्रता विदेह कैवल्य कहलाता है। निरन्तर अपने स्वरूप में अवस्थान को विदेह मुक्ति कहते हैं। सप्तमी भूमिका के ज्ञानी को विदेहमुक्त कह सकते हैं, क्योंकि उसका निर्विकल्प समाधि से उत्थान नहीं होता। साधारणतः ज्ञानवान् के शरीर छूटने के उपरान्त विदेहमुक्ति होती है, जीते जी मुक्त होना जीवन्मुक्ति। जब जीवन्मुक्त का शरीर गिरता है तो विदेहमुक्ति होती है। **एषः यतिः**–यह जीवन्मुक्त संन्यासी **ब्रह्मभावम् प्रपद्य**–शरीरपात से ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर ज्ञान की सप्तमी भूमि में प्रवेश करके। **पुनः न आवर्तते**–फिर जन्म नहीं लेता, देह में आत्मबुद्धि नहीं करता, 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतिः। 'आगात् उद्धृतमाज्यम् यत्क्षिप्तं पयसि तत्पुनः। न तेन एव एकतां याति संसारे ज्ञानवान् तथा।' शिवगीता १३।१७ दही से घृत निकालने के पश्चात् जैसे वह घृत दोबारा डालने से दही में नहीं मिलता, वैसे ही ज्ञानवान संसार में। निर्विकल्प समाधि से उत्थान न होना ही विदेहमुक्ति है ॥५६८॥

'यति नवर्तते पुनः' इसका कारण बताते हैं।

सदात्मैकत्वविज्ञान-दग्धाविद्यादिवर्ष्मणः।
अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद् ब्रह्मणः कुत उद्भवः ॥५६९॥

अर्थ—ब्रह्म और आत्मा के एकत्व-ज्ञानरूप अग्नि से कारण शरीरादि के दग्ध हो जानेपर यति ब्रह्मरूप ही हो जाता है, ब्रह्म का फिर जन्म कैसा ?

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में २५ वाँ मंत्र है। **सत्-आत्मैक विज्ञान-दग्ध**–ईश्वर का लक्ष्यपद सत् ब्रह्म, और जीव का लक्ष्य पद चैतन्य कूटस्थ, प्रत्यगात्मा, इन दोनों की, निर्विकल्प समाधि में, एकता का साक्षात्कार करने से जो विशुद्ध अनुभव, विज्ञान हुआ, उससे जल गये हैं **अविद्यादि वर्ष्मणः**–कारण शरीर, आदि पद से सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर जिस यति के **अमुष्य**–उसके **ब्रह्मभूतत्वात्**–ब्रह्म होने से, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है। **ब्रह्मणः**–ब्रह्म का **कुतः उद्भवः**–फिर जन्म कहाँ ? जैसे कठश्रुति में कहा है, 'अजो नित्यः' इतिः–ब्रह्म अजन्मा और त्रिकाल–अबाध्य होता है ॥५६९॥

बन्ध और मोक्ष भी ब्रह्म में आरोपित मात्र हैं।

मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः।
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ॥५७०॥

अर्थ---बन्धन और मोक्ष माया से कल्पित हैं; वे यथार्थ में आत्मा में नहीं हैं. जैसे कि क्रियाहीन रज्जु में सर्प-प्रतीति का होना और फिर उस सर्पाभास का भाग जाना।

व्याख्या---यह श्लोक आत्मोपनिषद में २५ वां मंत्र है। **मायाक्लृप्तौ बन्ध-मोक्षौ**--बन्ध और मोक्ष दोनों ही माया द्वारा कल्पित किये गये हैं **वस्तुतः**--यथार्थ में **स्वात्मनि न स्तः**--अपने स्वरूप आत्मा में ये दोनों नहीं हैं। अब दृष्टान्त देते हैं। **यथा**--जैसे **निष्क्रियायाम् रज्जौ**--क्रियारहित रज्जु में **सर्पाभासविनिर्गमौ**--ईषत् अन्धकार में रज्जु ही सर्प दिखाई पड़ती है, प्रकाश होने पर रज्जु ही रहती है, सर्प नहीं रहता। जैसे रज्जु में सर्प का आना और फिर भाग जाना इन दोनों क्रियाओं से रज्जु असंबंधित रहती है, रज्जु में कोई क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का न बंध से संबंध है और न ही मोक्ष से। वह सर्वकाल में निष्क्रिय असंग ही रहता है ॥५७०॥

आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे।
नावृतिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम्।
यद्यस्त्यद्वैतहानिः स्याद् द्वैतं नो सहते श्रुतिः ॥५७१॥

अर्थ---उपाधि के रहने और न रहने से ही क्रमशः बन्ध और मोक्ष कहे जात हैं। ब्रह्म का कोई आवरण नहीं हो सकता, क्योंकि उससे अतिरिक्त और कोई वस्तु है नहीं; अतः वह अनावृत है। यदि ब्रह्म का भी आवरण माना जाय तो अद्वैत सिद्धान्त को हानि होगी इसलिये द्वैत को श्रुति सहन नहीं करती।

व्याख्या---इस श्लोक की प्रथम दो पंक्तियां आत्मोपनिषद में २७ वां मंत्र है। **आवृतेः**--आवरण के, उपाधि के **सत्-असत्त्वाभ्याम्**--रहने अथवा न रहने से **बन्ध मोक्षणे**--उपाधि के साथ तादात्म्य को बन्ध, सके के न होने को मोक्ष **वक्तव्ये**--कहे जाते हैं, वस्तुतः **ब्रह्मणः**--ब्रह्म को **काचित्**--कुछ भी, रंचमात्र भी **आवृतिः न**--माया का आवरण नहीं है, इसलिये **अन्य-अभावात्**--द्वैत के अभाव से **अनावृतम्**--सदा निरावृत ही रहता है, शुद्ध-स्वरूप ही रहता है 'स्वमहिम्नि' इति श्रुतिः, अपनी महिमा में स्थिर रहता है। **यदि अस्ति**--यदि ब्रह्म पर वस्तुतः माया का आवरण हो,तो **अद्वैतहानिः**--वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त को हानि होगी, और अमोक्ष का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि आत्मसत्ता के अतिरिक्त आवरण की सत्ता हो जायेगी।

इसलिये **द्वैतम् नो सहते श्रुतिः**—श्रुति भगवती द्वैत का सहन नहीं करती। 'य एको जालवान् ईशत ईशनीभिः' श्वेत० ३।१ वह अकेला ही ईश्वर अपनी शक्तियों से नियन्त्रण करता है। 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्युः' ३।२ एक ही ब्रह्म है, दूसरा नहीं है, 'एकमेवाद्वितीयम्' इति छान्दोग्योपनिषद ६।२।१, ।।५७१।।

बन्धं च मोक्षं च मृषैव मूढा बुद्धेर्गुणं वस्तुनि कल्पयन्ति।
दृगावृतिं मेघकृतां यथा रवौ यतोऽद्वयासङ्गचिदेकमक्षरम् ।।५७२।।

अर्थ—मूढ़ लोग झूठ-मूठ ही वन्ध और मोक्ष को जो कि बुद्धि के धर्म हैं, स्वरूप में कल्पित करते हैं, जैसे मेघ के द्वारा नेत्र के ढक जानेपर सूर्य को ढका हुआ कहते हैं, क्योंकि यह ब्रह्म तो सदैव अद्वितीय, असङ्ग, चैतन्यस्वरूप, एक और अवि-नाशी है।

व्याख्या—मूढाः—अज्ञानीजन **बन्धम् च मोक्षम् च**—बंध और मोक्ष को **बुद्धेः गुणम्**—जो कि बुद्धि के धर्म हैं **मृषा एव**—झूठ-मूठ ही **वस्तुनि**—आत्म में **कल्पयन्ति**—कल्पित करते हैं, आरोपित करते हैं। 'यो ऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपाद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।।' सनत्सुजातीय। असंग आत्मा में जो वद्धता, मोक्षता वताता है, आत्मा का अयथार्थ स्वरूप वताता है, उस आत्मा के स्वरूप को चुराने वाले ने क्या पाप नहीं किया? अर्थात् वह घोर पापी है। **मेघकृताम् दृगावृतिम् यथा रवौ**—वादल के आ जाने से नेत्र की दृष्टि अवरुद्ध हो जाती है, दृष्टि के सामने पड़दा आ जाता है, सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु मूढ़ लोग कहते हैं कि सूरज पर पड़दा आ गया, सूरज ढक गया, सूर्य तो निरन्तर ही प्रकाशमान रहता है। नेत्र के आवरण को सूर्य पर आरोपित करते हैं। यह किसी प्रकार संभव नहीं **यतः**—क्योंकि एतत् **अद्वय-असंग-चित्-एकम्-अक्षरम्**—यह ब्रह्म अद्वैत, निर्लिप्त, बोधरूप, एकतत्त्व, अव्यय है, इसमें आवरण कैसे हो सकता है ।।५७२।।

अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ।।५७३।।

अर्थ—ब्रह्म में आवरण की प्रतीति और अप्रतीति ये दोनों बुद्धि के ही गुण हैं, नित्य वस्तु आत्मा के नहीं।

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद में २८ वां मंत्र है। **वस्तुनि अस्ति इति**–ब्रह्म में वन्ध है, आवरण है **यः च**–जो यह प्रतीति है, **न अस्ति इति यः च प्रत्ययः**–और ब्रह्म में आवरण नहीं है यह जो प्रतीति है **एतौ गुणौ बुद्धेः एव**–ये दोनों धर्म, प्रतीतियां बुद्धि की हैं, **न तु नित्यस्य वस्तुनः**–नित्य, एकरूप वस्तु ब्रह्म के सम्वन्ध में नहीं हैं। ब्रह्म सदा ही निरावृत है, सर्वोपाधि विनिर्मुक्त, निर्गुण, निर्धर्म है ।।५७३।।

अव विषय का उपसंहार करते हैं।

अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि।
निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने।
अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ।।५७४।।

अर्थ—इसलिये वन्ध और मोक्ष दोनों माया से कल्पित हैं, आत्मा में वस्तुतः नहीं हैं, **क्योंकि** आकाश के समान निरवयव, निष्क्रिय, शान्त, निर्मल, निरञ्जन और अद्वितीय परमतत्त्व में कल्पना कैसे हो सकती है?

व्याख्या—**अतः**–वन्ध मोक्ष माया के प्रत्यय होने से **तौ बन्धमोक्षौ**–ब्रह्म में वन्ध और मोक्ष दोनों ही **मायया**–माया द्वारा **क्लृप्तौ**–कल्पित किये गये हैं, वस्तुतः **न च आत्मनि**–निजस्वरूप आत्मा में बंध मोक्ष नहीं हैं। **निष्कले**–निरवयव, **निष्क्रिये**–क्रियारहित, **शान्ते**–वासनारहित **निरवद्ये**–निर्दोष, **निरंजने**–निष्कलंक 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्' इति श्वेताश्वुतरोपनिषद **अद्वितीये**–असंग **परे तत्त्वे**–परम ब्रह्म में **कल्पना कुतः**–उपाधिभेद, आवरण, वन्ध मोक्ष की कल्पना कहाँ? **व्योमवत्** जैसे भागरहित, क्रियारहित, उपद्रवरहित, निर्मल, वायु-अग्नि आदि से असंस्पृष्ट, एकमात्र आकाश में भेद नानापन, उपाधियां संभव नहीं ।।५७४।।

अव अन्तिम तथ्य कहते हैं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।५७५।।

अर्थ—परमार्थ वात तो यही है कि न किसी का नाश है, न उत्पत्ति है, न कोई वद्ध है, और न कोई साधक है न मुमुक्षु है और न मुक्त है।

व्याख्या—यह श्लोक आत्मोपनिषद् में ३१ वां मंत्र है, और अमृतविन्दु उपनिषद् में १० वां मंत्र है, और माण्डूक्योपनिषद के वैतथ्यप्रकरण में ३२ वीं कारिका है। **न विरोधः**—न प्रलय है, **न च उत्पत्तिः**—और न ही उत्पत्ति, जन्म है **न बद्धः**—न संसारी जीव है **न च साधकः**—न मोक्ष के लिये साधना करने वाला है, **न मुमुक्षुः**—न मोक्ष की इच्छा करने वाला है **न वै मुक्तः**—निश्चय ही न मुक्तबन्धन है, उत्पत्ति प्रलय के अभाव के कारण बद्धादि भी नहीं हैं। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति।' बृ० २।४।१४ द्वैत की असत्यता होने से ब्रह्म द्वैत-जैसा होता है। 'य इह नानेव पश्यति' कठ० २।१।१०-११ जो यहाँ नानात्व देखता है, वह मर मर कर जन्म लेता है. 'आत्मैवेदं सर्वम्' छा० ७।२५।२ यह सब दृश्य आत्मा ही है। 'एकमेवाद्वितीयम्' छा० ६।२।१ ब्रह्म एक ही अद्वितीय है 'ब्रह्मैवेदम् सर्वम्' नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद ।७। यह सब दृश्य ब्रह्म ही है 'इदं सर्वं यदयमात्मा' बृहदारण्यकोपनिषद २।४।६, ४।५।७ जो यह सब दृश्य जगत् यही आत्मा है इत्यादि उपनिषद प्रमाण हैं। **इति एषा परमार्थता**—यह ही परम अर्थ है, अन्तिम सत्य है, ब्रह्म सर्वांगीण पूर्ण है, इसमें आपेक्षिक कुछ भी नहीं, इसलिये यह मन और वाणी का विषय ही नहीं है। यही दृढ़ यथार्थ है ॥५७५॥

यहां ग्रंथ समाप्त होता है, अब श्रीगुरु अपने उपदेश की विशेषतायें बताते हैं।

सकल-निगम-चूडास्वान्त-सिद्धान्तरूपं, परमिदमतिगुह्यं दर्शितं ते मयाद्य।
अपगतकलिदोषं कामनिर्मुक्तबुद्धिं, स्वसुतवदसकृत्त्वां भावयित्वा मुमुक्षुम्॥५७६॥

अर्थ—कलिके दोषों से रहित, कामनाशून्य तुझ मुमुक्षु को अपने पुत्र के समान समझकर मैंने वारंवार सकल उपनिषदों का सार-शिरोमणि यह अति गुह्य उत्कृष्ट ब्रह्मविद्या तेरे सामने प्रकट की है।

व्याख्या—**सकलनिगम**—सर्व उपनिषदों का **चूडा**-सर्वश्रेष्ठ, **स्वान्त**—हृदय, भीतर का **सिद्धान्तरूपम्**—सिद्धान्त, सिद्ध किया हुआ, अनुभव किया हुआ निर्णय **परम्**—सर्वोत्कृष्ट, **अतिगुह्यम्**—अतिगोपनीय, **इदम्**—यह ब्रह्मज्ञान **मया**—मुझ सद्गुरु द्वारा **अद्य**—आज **असकृत्**—वारम्वार समझा कर **सुतवत्**—पुत्र की भांति बड़े स्नेह से विना कोई रहस्य छिपाये **दर्शितम्**—प्रकाशित किया गया है। अब शिष्य के गुण बताते हैं। **अपगतकलिदोषम्**—कलिदोष, छल छिद्र, इन से रहित, सरल-स्वभाव, **कामनिर्मुक्तबुद्धिम्**—वासनाओं ने जिसकी बुद्धि त्याग दी है, निराशी, विरक्त **त्वाम्**—तुझ अधिकारी शिष्य को **मुमुक्षुम् भावयित्वा**—मोक्ष की इच्छा

वाला जानकर। मैंने यह ब्रह्मविद्या इसलिये सुनाई है कि तू अधिकारी है अन्यथा यह विद्या अत्यन्त गोपनीय है ॥५७६॥

अब शिष्य विदा होता है।

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं प्रश्रयेण कृतानतिः।
स तेन समनुज्ञातो ययौ निर्मुक्तबन्धनः ॥५७७॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीगुरु के वचन सुनकर मुक्तबंधन नम्रता से नतमस्तक वह शिष्य श्री गुरु से भली प्रकार आज्ञा पाकर विदा हो गया।

व्याख्या—**इति**–जैसा ऊपर कहा है **गुरोः वाक्यम् श्रुत्वा**–श्रीगुरु के वाक्य को सुनकर **निर्मुक्तबन्धनः**–मायाकृत सर्वबन्धनों से मुक्त होकर, आत्मवेत्ता होकर **सः शिष्यः**–वही शिष्य जिसने पहले प्रार्थना की थी, 'दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः। भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः, शरण्यमन्यं यदहं न जाने। **प्रश्रयेण**–नम्रता से आदरसहित **कृतानतिः**–प्रणाम करते हुए **तेन**–श्रीगुरु से **समनुज्ञातः**–भली प्रकार आज्ञा पाकर **ययौ**–विदा हो गया ॥५७७॥

शिष्य के विदा होने पर श्रीगुरु ने क्या किया ?

गुरुरेषः सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः।
पावयन्वसुधां सर्वां विचचार निरन्तरम् ॥५७८॥

अर्थ—यह श्रीगुरुजी भी सच्चिदानन्दसमुद्र में मग्नमन हुए सम्पूर्ण पृथिवी को पवित्र करते निरन्तर विचरने लगे।

व्याख्या—**एषः गुरुः**–यह श्रीगुरु, ब्रह्मवेत्ताओं में उत्तम **सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः**–आनन्द सागर में सदा विलीन रहता है मन जिसका, ऐसा **सर्वाम् वसुधाम्**–समस्त पृथ्वी को, विशेष भूखंड को नहीं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' **पावयन्**–अपनी स्थिति से पवित्र करते हुए **निरन्तरम् विचचार**–पूर्व की भांति विचरने लगे, किसलिये ? लोक हिताय तथा मुमुक्षुओं के विशेष कल्याण के लिये ॥५७८॥

अब ग्रंथ का अनुबंध त्रय बताते हैं।

इत्याचार्यस्य शिष्यस्य संवादेनात्मलक्षणम्।
निरूपितं मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥५७९॥

अर्थ——इस प्रकार गुरु और शिष्य के संवादरूप से मुमुक्षुओं को सुगमता से बोध कराने के लिये ब्रह्मविद्या का निरूपण किया गया है।

व्याख्या——अब अनुबन्ध त्रय कहते हैं। ग्रंथकर्ता किसी उद्देश्य को लेकर ग्रंथ रचना करता है, इत्यादि। संबंध श्रेणी को अनुबंध कहते हैं। साधारणतः अनुबंध तीन हैं। (१) ग्रंथ विषय (२) ग्रंथ प्रयोजन, (३) ग्रंथ पढ़ने का अधिकारी, किसके लिये ग्रंथ लिखा जाता है, **इति**–इस प्रकार, अब ग्रंथ का उपसंहार करते हैं, शिष्य और श्रीगुरु दोनों चले गये, अब ग्रंथकार लिखते हैं **आचार्यस्य शिष्यस्य संवादेन**–श्रीगुरु और शिष्य के संवाद से, प्रश्नोत्तर से, **आत्मलक्षणम् निरूपितम्**–आत्मा के स्वरूप का निरूपण किया है। ब्रह्मविद्या निरूपण इस ग्रंथ का विषय है। किसके लिये किया है? **मुमुक्षूणाम्**–मोक्ष की इच्छावालों के लिये, मुमुक्षु इस ग्रंथ का अधिकारी है, प्रयोजन क्या है? **सुखबोधोपपत्तये**–मुमुक्षुओं को सुगमतापूर्वक बोध कराना सरलता से बोध कराना, इस ग्रंथ का प्रयोजन है।

वेद अपार सागर हैं। श्रीभगवत्पाद ने वेदों में से ब्रह्मविद्या का उद्धार किया है। उपनिषदें भी बहुत हैं, उनमें विभिन्न वचन भी मिलते हैं। उन सब उपनिषदों के सार को श्रीभगवत्पाद ने विवेक चूडामणि नामक ग्रंथ में भर दिया है। इसके विधिपूर्वक पठन, मनन निदिध्यासन से मुमुक्षुओं को सरलता से आत्मबोध होता है ॥५७९॥

हितमिदमुपदेशमाद्रियन्तां, विहित-निरस्त-समस्त-चित्तदोषाः।
भवसुख-विरताः प्रशान्तचित्ताः, श्रुति-रसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥५८०॥

अर्थ——शास्त्र विहित कर्मों से जिनके चित्त के समस्त दोष निकल गये हैं और जो संसारसुख से विरक्त, शान्तचित्त, श्रुति प्रेमी और मोक्षकामी हैं वे यतिजन इस हितकरी उपदेश का आदर करें।

व्याख्या——**इदम्**–यह आत्मलक्षण **हितम्**–हितकारी, कल्याणपद प्राप्त कराने वाला **उपदेशम्**–गुरु शिष्य संवादरूप से निरूपित ब्रह्मविद्या, इसका **आद्रियन्ताम्**–आदर करें, कौन आदर करें? **विहित-निरस्त-समस्तचित्तदोषाः**–विहित–शास्त्रोक्त कर्मोपासना के अनुष्ठान से निरस्त, नष्ट हो गये हैं अशुद्धि और चंचलता रूप बुद्धि के सारे दोष जिनके, शुद्धस्थिरचित्तवाले **भवसुखविरताः**–विषय जन्य भोगों से विरक्त, इहलोक परलोक, दृष्ट श्रुत भोगों से विरक्त **प्रशान्तचित्ताः**–

विवेक वैराग्य के होने से मन निगृहीत हो गया है जिनका वे, जिनके संकल्प-विकल्प शान्त हो गये हैं, अथवा अशुभवासनारहित **श्रुतिरसिकाः**—वेदभगवान की वाणी में रस लेनेवाले, वेदों को सर्वोपरि प्रमाण माननेवाले, वेदप्रेमी **ये मुमुक्षवः यतयः**—जो मोक्ष की इच्छा वाले हैं, संन्यासी हैं। इन उपरोक्त विशेषताओं वाले साधक इस ग्रंथ से लाभ उठा सकते हैं ।।५८०।।

संसाराध्वनि ताप-भानुकिरण-प्रोद्भूत-दाहव्यथा-
खिन्नानां जलकाङ्क्षया मरुभुवि श्रान्त्या परिभ्राम्यताम् ।
अत्यासन्न-सुधाम्बुधिं सुखकरं ब्रह्माद्वयं दर्शय-
न्त्येषा शङ्करभारती विजयते निर्वाणसन्दायिनी ।।५८१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतो विवेकचूडामणिः समाप्तः ।

अर्थ—संसार-मार्ग में नाना प्रकार के तापरूपी सूर्य की प्रचंड किरणों से उत्पन्न हुए जलन की व्यथा से क्लान्त होकर मरुस्थल में जल की इच्छा से भटकते हुए थके-मांदे पुरुषों को अति निकट में ही अद्वितीयब्रह्मरूप अत्यन्त सुखदायक अमृत का समुद्र दिखानेवाली यह श्रीशंकराचार्यजी की मोक्षदायिनी वाणी निरन्तर विजय को प्राप्त होती है ।

व्याख्या—**संसार-अध्वनि**—संसार मार्ग में, 'असदनुसंधिम् बंधहेतुं' के अनुसरण में **ताप**—त्रिताप, आध्यात्मिकताप—देह कष्ट, मनोव्यथा, आधिदैविक ताप—तूफान भूचालादि से कष्ट, आधिभौतिकताप—सिंहसर्पादि जन्तुओं से कष्ट, ये त्रिताप ही हैं **भानुकिरणप्रोद्भूतदाहव्यथा**—सूर्य, उसकी प्रचंड किरणें जिनसे उत्पन्न दाह की पीड़ा, उससे **खिन्नानाम्**—पीड़ितों के वास्ते, **मरुभुवि**—मरुभूमि में, मरुमरीचिका में, शून्य विषयों में **श्रान्त्या**—थके हुए **जलकांक्षया**—दहन व्यथा शमन के लिये जल की इच्छा में, चित्त शान्ति के लिये, आनन्द की खोज में **परिभ्राम्यताम्**-भटकने वालों के लिये, जिनको मृगतृष्णिकानदी में तापहारी शीतल जल, विषयेच्छा में सुख नहीं मिल सकता, उनके लिये **अति-आसन्न सुधाम्बुधिम्**—अति समीप ही अमृत का सागर, जो दूर मरुभूमि में जल खोजते हैं, उनके लिये तो अति समीप, केवल जल खोजनेवालों के लिये अमृत का भरा अथाह सागर, वह सागर भी कैसा ? **सुखकरम्**—निरतिशय सुख देनेवाला **अद्वयम् ब्रह्म दर्शयन्ती**—अपने नित्यप्राप्त स्वतः

सिद्ध स्वरूप अद्वैत ब्रह्म रूप सागर को तटस्थ होकर दिखाने वाली **एषा**—यह परम [illegible] **निर्वाणसदायिनी**—त्रितापों से छुटकारा देनेवाली, निरतिशय सुखरूप मोक्ष पद की प्राप्ति के रहस्य निरूपण करनेवाली **शंकर भारती**—साक्षात् कैलासपति भगवान शंकर की, जगद्गुरु दिग्विजयी भगवान शंकराचार्य के रूप में कही हुई आत्मलक्षणा वाणी **विजयते**—विजय को प्राप्त होती है। जो साधक श्रीगुरुमुख से आदर के साथ, अपगतकलिदोष, कामनिर्मुक्तबुद्धि, विहित-निरस्त-समस्त-चित्तदोष, भवसुखविमुख प्रशान्तचित्त होकर इस ग्रंथ को पढ़ेगा, सुनेगा, विचारेगा, अभ्यास करेगा, वह निस्संदेह ही 'स्वात्मसुधाम्बुधि' ब्रह्मपद को प्राप्त होगा, वाणी की यह अमोघता ही विजय है ।।५८१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महामहामण्डलेश्वर महावेदान्तकेसरी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित स्वामी ओंकाराश्रम जी दण्डी के शिष्य हरियाणा प्रदेश निवासी पं० हेमराजशर्मा के सुपुत्र पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत विवेकचूडामणि पर विरचित 'सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका' हिन्दी व्याख्या समाप्ता ।

प्रदीपिका-प्रशस्ति

संसारतापवहनेऽनुदिनं प्रतप्ता
ह्यज्ञानवारिधिसुवेलनिषेवका ये ।
तेषां हिताय व्यदधात् कुशलोक्तिसाध्यां
टीकामिमां सुनिपुणां सुमनोहराख्यः ।।१।।

जो व्यक्ति संसार के विषादपूर्ण वातावरण में अनुक्षण तपायमान और अज्ञान-वारिधि के उत्ताल तरङ्गों से पीड़ित हैं उन दुःखी संसारी लोगों को मार्ग दर्शन हेतु नाना प्रकार के चतुर वचनों से युक्त सुनिपुण टीका को मनोहरलाल शर्मा नामक व्यक्ति ने बनाया है ।

गुरोः प्रसादेन यदेव जाने,
तदेव बुद्धया विशदीकृतं हि ।
ततोऽखिलाधारधरः स एष,
प्रसीदतां विज्ञजनाभिलाषः ।।२।।

जो कुछ गुरुचरणों के प्रसाद से मुझे ज्ञात हुआ उसे ही बुद्धि से विशद किया है इस प्रयत्न से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवनाधार सम्पूर्ण ज्ञानियों के आराध्य वह अचिन्त्य अव्यक्त सर्वनियन्ता प्रसन्न हो ।

रमणीयकृतापाङ्गा सुष्ठ्वलंकारशोभिता ।
तरुणीरमणीवाऽयं ग्रंथो व्याख्यानभूषितः ।।३।।

जैसे कोई सुन्दर अंगों वाली रमणी अपने लावण्यानुकूल सुरम्य अलंकारों से शोभा पाती है वैसे ही मेरी व्याख्या से विवेकचूडामणि चमत्कृत हो उठी है ।

सद्वादार्थविचारिणीं सुरसिकां मोक्षे मनोदायिनीम्,
द्वैताभासनिवारिणीं सुविशदां ग्रंथार्थसंग्राहिणीम् ।
पट्टश्लाघ्यविधानविद्यचतुरः शर्मा मनोहारकः
ओंकारीमकरोत् सदैव सुखदां विद्योदितां शर्म्मदाम् ।।४।।

यथार्थ सिद्धान्त पर विचार करनेवाली, रसयुक्त, मोक्षलक्ष्य में मन को स्थापन करनेवाली, द्वैत के आभास को निवारण करनेवाली, ग्रंथ के तात्पर्य को स्पष्ट प्रतिपादन करने वाली, सदा सुख देने वाली, गंभीराध्ययन से उत्पन्न, शान्ति देने वाली इस सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका को पाट-बोरे-हैसियन व्यापार के विशेषज्ञ श्री मनोहरलाल शर्मा ने लिखा है।

तीक्ष्णांकुशवदादेशाऽपालने पीड्यते मनः।
सम्मोदः सुमहाञ्जातः कृत्वा तत्कार्यमुत्तमम् ॥५॥

श्रीगुरुदेव का आदेश पालन न होने तक वह आदेश अंकुश की भाँति मुझे पीड़ित करता था, परन्तु इस उत्तम कार्य के सम्पादित होने पर, मुझे अब महान हर्ष होता है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्ति!!!

श्रीविवेकचूडामणिः

शुद्धिपत्र

छपते समय कुछ पाठ्य सामग्री प्रधानतः श्लोकों की ऊपर की मात्राएँ टूट गई हैं, अतः यह शुद्धिपत्र लगाया जाता है। इसकी सहायता से पाठक पहले पाठशुद्धि कर लें।

पृष्ठ	श्लोक	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
ग		८	में का	का
छ		११	को	का
,,		१६	चव	चैव
,,		अन्तिम	विबेक	विवेक
ज		२०	चूड़ा	चूडा
१		१२	वह्	वह
६		१२	शुचिव्रताः	ऽशुचिव्रताः
१०	६		...त्मान, मग्न	...त्मानं, मग्नं
१४	१५		अता	अतो
४२	५१		कथ	कथं
४४	५३		···माचन···	···मोचन···
४५	५४		दुःखमन्यनिर्वायते	र्दुखमन्यै-निवार्यते
	५६		वस्तुस्वरूप	वस्तुस्वरूपं
५३	७०		समुदीयते	समुदीर्यते
६३	८३		···विषम···	···विपय···
६५	८५		अनुक्षण	अनुक्षणं
	८७		माहा	मोहो
६५	१२५		कार्य, सव	कार्यं, सर्वं
६७	१२६		सव	सर्वं
१११	१४७		वीज	वीजं
११२	१४८		नसागिको	नैसागको
१२५	१६६		···ततस्त्व···	···ततस्त्वं···
१३७	१८२		वियेनैव	येनैव
१३८	१८३		···गोचन	···गोचनं
१५८	२१३		या, ज्यातिः, काश	यो, ज्योतिः, कोश
१६२		अन्तिम	मर्त्ता	मर्त्वो
१६४	२२१		···विम्वं	···विम्बं
१६५	२२२		···बाध	···बोधं
१६७	२२५		विज्ञान	विज्ञानं

पृष्ठ	श्लोक	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७३	२३५		चाह्	चाह्
१७६	[illegible]		ज्यानि:	ज्योंनि
१७८	[illegible]		मनावाचामगाचरम्	मनोवा[illegible]म्
१८०	[illegible]		एक्य,···न	ऐक्यं,···न
१९२	२६२		···मक्षर	···मक्षर
२०५		७	दुःसाध्यनानि	दुःसा[illegible]
२११	२९०		···प्ठान	···प्ठान
२१३	२९४		···दशनात्	···दर्शनात्
२१७	२९८		···मान	···मान
२२१	३०५		विदन्ते	विन्दते
२२८	३१७		सवत्र	सर्वत्र
२३४	३२५		आवृणाति	आवृणोति
२३९	३३३		चोर	चौर
२४०	३३६		वाह्य	वाह्ये
२४४	३४१		···ग्रहण, कथ, तिप्ठता	···ग्रहणं, कथं, तिष्ठतो
२४८	३४६		···पदाथ···	···पदार्थ···
२५०	३५०		अयाऽ	अयोऽ
२५१	३५१		···रहमु···,विपयांश्च	···रहंमु···,विषयाश्च
२५८	३६१		मूक्ष्म	सूक्ष्मं
२६०	३६४		···विनाशा	···विनाशो
२७१	३८०		कश्मल	कश्मलं
२७३	३८३		···त्मत्व, दृढा···	···त्मत्वं, दृढी···
२७४	३८६		···गगन	···र्गगन
२७८	३९२		जगदवगत	जगदवगतं
२८०	३९५		ब्रह्माभूय	ब्रह्मीभूय
२८७	४०३		अद्विताये	अद्वितीये
२९८	४२२		कम	कर्म
३०३	४२८		प्रज्ञति	प्रज्ञेति
३०९	४३८		श्रुतेवलात्	श्रुतेर्वलात्
३१२	४४४		संसरताति	संसरतीति
३२२	४६१		दहात्मना	देहात्मना
३३६		१७	परब्रह्मावुधे:	परब्रह्माम्बुधे: वैभवम्
३४१	४९१		शुद्धवाव	शुद्धबोध
३४९	५०७		···यथा	···र्यथा